ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन

ग २० | नवम्बर १९४२ | क्रमसंख्या ७१
ख्या १

धान सम्पादक—

डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप एम. ए., डी. फिल. (आक्सफोर्ड),
आफिसर अकेडेमी (फ्रांस).

सूचना—

सम्पादक लेखकों के लेख का उत्तरदाता नहीं होगा।

प्रकाशक—मि० सदीक अहमदखां।

ाकृष्णा दीक्षित प्रिंटर के प्रबन्ध से बाम्बे मैशीन प्रेस, मोहनलाल रोड,
लाहौर ने मि० सदीक अहमद खां पब्लिशर ओरियण्टल कालेज
लाहौर के लिये छापा।

॥ ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन ॥

विज्ञप्ति

उद्देश्य—इस पत्रिका के प्रकाशन का उद्देश्य यह है कि प्राच्यवि सम्बन्धी परिशीलन तथा तत्त्वानुसन्धान की प्रवृत्ति को यथासम्भव प्रोत्साहन दिया जाय और विशेषतः उन विद्यार्थियों में अनुसन्धान का शौक पैदा किया जाय जो संस्कृत, हिन्दी और पञ्जाबी के अध्ययन में संलग्न हैं।

किस प्रकार के लेखों को प्रकाशित करना अभीष्ट है—

यत्न किया जायगा कि इस पत्रिका में ऐसे लेख प्रकाशित हों जो लेखक के अपने अनुसन्धान के फल हों। अन्य भाषाओं से उपयोगी लेखों का अनुवाद स्वीकार किया जायगा और संक्षिप्त तथा उपयोगी प्राचीन हस्तलेख भी क्रमशः प्रकाशित किए जायंगे। ऐसे लेख जो विशेषतः इसी पत्रिका के लिए न लिखे गए हों, प्रकाशित न होंगे।

प्रकाशन का समय—

यह पत्रिका अभी साल में चार बार अर्थात् कालेज की पढ़ाई के साल के अनुसार नवम्बर, फरवरी, मई और अगस्त में प्रकाशित होगी।

मूल्य—

इसका वार्षिक चन्दा ३) रुपये होगा; विद्यार्थियों से केवल १॥) लिया जायगा।

पत्र-व्यवहार और चन्दा भेजना—

पत्रिका के खरीदने के विषय में पत्र-व्यवहार और चन्दा भेजना आदि प्रिंसिपल ओरियण्टल कालेज लाहौर के नाम से होना चाहिये। लेखसम्बन्धी पत्र-व्यवहार सम्पादक के नाम होने चाहिएं।

प्राप्तिस्थान—

यह पत्रिका ओरियण्टल कालेज लाहौर के दफ्तर से खरीदी जा सकती है।

पञ्जाबी विभाग के सम्पादक सरदार बलदेवसिंह बी. ए. हैं। वही इस विभाग के उत्तरदायी हैं।

प्रस्तावना

इस वर्ष के जनवरी मास में जब पंजाब यूनिवर्सिटी ने मुझे "मेयो पटियाला रिसर्च स्कालरशिप" प्रदान किया, तो मुझे संस्कृतविभाग के अध्यक्ष (तथा अब ओरियंटल कालिज के प्रिन्सिपल) डा० लक्ष्मण स्वरूप के निरीक्षण में काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने मुझे 'पृथ्वीराज रासो' की उपलब्ध सामग्री के अवलोकन करने पर नियुक्त किया ताकि इससे रासो के प्राचीन पाठ का निर्माण किया जा सके, प्राचीन ग्रन्थों का संपादन भी अब एक सायंस बन गया है। इस के अपने सिद्धान्त हैं जिन को भली प्रकार समझे बिना सम्पादन में सफलता नहीं मिल सकती। डा० स्वरूप महोदय भारतीय ग्रन्थों के सम्पादन में अपार अनुभव रखते हैं। उन की कृपा से जब मुझे भी इस में कुछ गति होने लगी, तब डाक्टर महोदय ने मुझे आज्ञा की कि रासो की सामग्री के अवलोकन से जो कुछ अनुभव प्राप्त हुआ है उसे हिंदी में लेखबद्ध कर दो ताकि इस से संस्कृत और हिंदी के जानने वालों को भी सम्पादन कार्य में सहायता मिले। इस आज्ञा के फलस्वरूप यह लेख तय्यार किया गया है।

इस के लिखने में निम्नलिखित ग्रन्थों से सहायता ली गई है जिस के लिए मैं उन के लेखकों तथा प्रकाशकों का ऋणी हूं।

1. S. M. Katre : Introduction to Indian Textual Criticism. Bombay. 1941. यह संस्कृत ग्रन्थों के सम्पादन से सम्बन्ध रखने वाली अंगरेज़ी की पहली पुस्तक है।

2. F. W. Hall : Companion to Classical Texts. Oxford, 1913. इस में ग्रीक और लैटिन ग्रन्थों के सम्पादन करने की विधि वर्णन की गई है, साथ ही सम्पादन के सामान्य नियम भी बड़ी विशद रीति से समझाए गए हैं।

3. V. S. Sukthankar : Prolegomena to the critical edition of the Adiparvan of the Mahābhārata, Poona, 1933. इसे भारतीय सम्पादन-शास्त्र की नींव समझना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों के सम्पादन-शास्त्रीय अनुभव का महाभारत के सम्पादन में प्रयोग किया गया है।

4. F. Edgerton : Pancatantra Reconstructed. 1924.

5. L. Sarup : The Nighaṇṭu and the Nirukta. Oxford, 1920.

६. गौरीशंकर हीराचंद ओझा—भारतीय प्राचीन लिपिमाला।

अन्त में मैं डा० लक्ष्मण स्वरूप का हार्दिक धन्यवाद करता हूं जिन्होंने मुझे इस शास्त्र में प्रवेश कराया और इसे हिंदी में लेख-बद्ध करने पर उत्साहित किया। यह लेख प्रेस में भेजा ही था कि मैं श्री आत्मानन्द जैन कालिज, अम्बाला शहर का प्रिन्सिपल नियुक्त किया गया। अतः मुझे लाहौर छोड़ कर अम्बाले जाना पड़ा। मेरी अनुपस्थिति में प्रूफ़-संशोधन का कष्ट मेरे पूज्य पिता डा० बनारसीदास को उठाना पड़ा। इस का मुझे बड़ा खेद है।

मूलराज जैन

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

पुराणोपपुराणान्तर्गतानि राजनीतिप्रकरणानि—

एम० ए०, एम० ओ० एल० इत्युपाधिजुषा जगदीशलालशास्त्रिणा संकलितानि।

तत्रेत्थं विन्यासः—

(क्रमशः)

विषयसूची

पुराणोपपुराणान्तर्गतानि राजनीतिप्रकरणानि—

एम०ए०, एम०ओ०एल० इत्युपाधिजुषा जगदीशलालशास्त्रिणा संकलितानि।

तत्रेत्थं विन्यासः—

भारतीय संपादन-शास्त्र

पहिला अध्याय

भूमिका

संपादन-शास्त्र वह शास्त्र है जिसके द्वारा किसी प्राचीन रचना की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतिलिपियों आदि के आधार पर हम उस रचना को इस प्रकार संशोधन कर सकें कि जहां तक संभव हो स्वयं रचयिता की मौलिक रचना या उसकी प्राचीन से प्राचीन अवस्था का ज्ञान हो सके। इसमें प्रतियों का परस्पर संबंध क्या है, उनका मूलस्रोत कौनसा है, उन में क्रमश: कौन कौनसे परिवर्तन हुए और क्यों हुए, उन से प्राचीनतम पाठ कैसे निश्चित किया जाए, उन की अशुद्धियों का सुधार कैसे करना चाहिए, आदि बातों पर विवेचन किया जाता है। संक्षेपतः इस शास्त्र की सहायता से किसी रचना की उपलब्ध प्रतियों आदि के मिलान से जहां तक हो सके उस के मौलिक अथवा प्राचीनतम रूप का निश्चय किया जा सकता है। मौलिक रूप से हमारा तात्पर्य किसी रचना के उस रूप से है जो उसके रचयिता को अभीष्ट था।

इस शास्त्र का संबंध प्राय: प्राचीन रचनाओं से है। 'रचना' की और भी अनेक संज्ञाएं हैं जैसे पुस्त, पुस्तक, पोथी, सूत्र, ग्रंथ, कृति आदि। 'पुस्त' और 'पुस्तक'[1] संस्कृत धातु 'पुस्त' (बांधना) से निकले हैं। चूंकि प्राचीन काल में जिन पत्रादि पर रचना लिखी जाती थी उन को धागे से बांधते थे, इसलिए रचना को 'पुस्त' या 'पुस्तक' कहते थे। 'पुस्तक' शब्द से ही प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का 'पोथी' शब्द निकला है। 'सूत्र' उस सूत्र या डोरी की स्मृति दिलाता है जिस से पत्रादि बांधे जाते थे। 'ग्रंथ' 'ग्रथ्' (बांधना, गांठ देना) धातु से निकला है और पत्रादि को बांधने के लिए सूत्र में दी हुई गांठ का सूचक है। यह रचनाएं प्राय: वनस्पति से प्राप्त सामग्री (ताडपत्र, भोजपत्र, कागज़, लकड़ी, वस्त्रादि[2]) पर लिखी जाती थीं अत: इन के विभागों को स्कंध, कांड, शाखा, वल्ली आदि नाम

---

१. संभव है कि 'पुस्त', 'पुस्तक' शब्द फ़ारसी से लिए गए हों क्योंकि उस भाषा में 'पुश्त', 'पोस्त' (=सं० पृष्ठ) का अर्थ 'पीठ,' 'चर्म होता है, और फ़ारस के लोग चर्म पर लिखते थे।

२. लेख धातु, चर्म, पाषाण, ईंट, मिट्टी की मुद्रा आदि पर भी मिलते हैं।

दिए गए। यह नाम वनस्पति से संबंध रखते हैं। पत्र और पन्ना (= सं० पर्ण) भी वृक्षों के पत्तों के ही स्मारक हैं।

आज यह रचनाएं हमें हस्तलिखित प्रतिलिपियों के रूप में प्राप्त होती हैं। हमें खेद से कहना पड़ता है कि भारत में अति प्राचीन प्रतियों का प्राय: अभाव है। सिंधु-सभ्यता के ज्ञान से पहले अजमेर ज़िले के 'वड़ली' ग्राम से प्राप्त जैन शिलालेख, 'पिप्रावा' से उपलब्ध बौद्ध लेख[1], और अनेक स्थानों पर विद्यमान, महाराज अशोक की शिलोत्कीर्ण धर्मलिपियां ही प्राचीनतम लेख माने जाते थे। और कोई भी पुस्तक विक्रम से पूर्व लिपिकृत प्राप्त नहीं हुई। प्राचीन लेखों के अभाव का कारण ब्यूलर आदि कई पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार यह था कि उस काल में भारतीय लेखन-कला से अनभिज्ञ थे। उन का मत है कि भारत की पुरानी लिपियां—ब्राह्मी और खरोष्ठी—प्राचीन पाश्चात्य लिपियों से निकली हैं। परंतु हड़प्पा, महिंजोदड़ो आदि स्थानों पर खुदाई होने से निश्चित रूप से ज्ञात हो गया है कि भारतीय उस सभ्यता के समय लिपि का आविष्कार कर चुके थे और उन में लिखने का प्रचार काफ़ी था। यह लिपि चित्रात्मक है और प्राचीन काल की पाश्चात्य लिपियों से बहुत मिलती है। संभव है कि इस सभ्यता का मिश्र आदि देशों की तात्कालिक सभ्यता से घनिष्ठ संबंध और संपर्क हो। अत: यह निश्चित है कि जिस समय पाश्चात्य लोग लिपि का प्रयोग करते थे (यदि उस से पूर्व काल में नहीं तो) उस समय भारत में लिपि का प्रयोग अवश्य होता था।

महिंजोदड़ो और हड़प्पा से अभी तक कोई लम्बा लेख नहीं मिला परंतु कुछ लेखान्वित मुद्राएं और मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं। खुदाई में थोड़े ताम्रपत्र और मिट्टी के कड़े भी हाथ लगे हैं, जिन पर अक्षर उत्कीर्ण किए हुए हैं। इन लेखों की लिपि को पढ़ने में अभी पूरी सफलता नहीं हुई। अब तक यहां से कुल ३९६ चित्र-चिह्न मिले हैं। कुछ चिह्न समस्त रूप में हैं और कई चिह्नों का रूप मात्राओं के लगने से परिवर्तित हो गया है। १२ मात्राओं तक के समूह भी दृष्टिगोचर होते हैं। संभवत: यह उच्चारण-शास्त्र के अनुसार हैं। यह चिह्न दाएं से बाएं हाथ को लिखे जाते थे। इन चिह्नों की इतनी बड़ी संख्या से यह सूचित होता है कि यह लिपि वर्णात्मक न थी, अपितु अक्षरात्मक या भावात्मक थी[2]। कम लेखों के मिलने से यह अनुमान हो सकता है कि उस समय की लेखन-सामग्री चिरस्थायी न थी।

---

१. ओझा—भारतीय प्राचीन लिपिमाला (दूसरा सं०), पृ० २-३।

२. राधाकुमुद मुकरजी—हिंदू सिविलाइज़ेशन, पृ० १८-१९।

संभवत: वह लोग वृक्षों के पत्र, छाल या लकड़ी, वस्त्र, चर्म आदि पर लिखते होंगे। अत: समय के साथ साथ लेख भी नष्ट होते गए[1]।

प्राचीन भारतीय साहित्य में कई ऐसे स्थल हैं जिन में लेखन-कला का स्पष्ट उल्लेख है, और बहुत से ऐसे हैं जिन के आधार पर तत्तत्काल में इस कला के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है[2]। पाश्चात्य लेखक भी लिखते हैं कि ख्रीष्ट से ४०० वर्ष पूर्व भारतीयों को लेखन-कला का ज्ञान था और वह अपनी दिनचर्या में इसका प्रयोग करते थे। चंद्रगुप्त मौर्य के समकालीन यवन लेखक निअर्कस ने तो यहां तक लिखा है कि हिंदुस्तान के लोग रूई को कूटकर लिखने के लिए कागज़ बनाते हैं[3]। इसलिए हम निश्चय से कह सकते हैं कि पाश्चात्य देशों के समान भारत में भी लेखन-कला का ज्ञान और प्रयोग बहुत प्राचीन है।

फिर भी भारत में बहुत पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों का अभाव है। इस के कारण निम्नलिखित हैं।

(१) स्मरण-शक्ति का प्रयोग और लिखित पुस्तकों का अनादर— हमारे पूर्वज पठन-पाठन में स्मरण-शक्ति का प्रयोग बहुत करते थे। यज्ञ में वेदमंत्रों का शुद्ध प्रयोग आवश्यक था। इन में स्वर और वर्ण की अशुद्धि यजमान का नाश कर सकती थी। अत: इन का शुद्ध उच्चारण गुरु-मुख से ही सीखा जाता था। इसलिए वैदिक लोग न केवल मंत्रों को, वरन उन के पदपाठ को, दो दो पद मिलाकर क्रम पाठ को और इसी तरह पदों के उलट-फेर से घन, जटा आदि पाठों को भी स्वरसहित कंठस्थ करते थे। गुरु अपने शिष्यों को मंत्र का एक एक अंश सुनाता और वह उन्हें ज्यों का त्यों रट लेते थे। स्वर आदि की मर्यादा नष्ट न होने पाए, इसलिए लिखित पुस्तकों से वेद-पाठ का निषेध किया गया[4]। परंतु वेद लिपिकृत अवश्य किए जाते थे[5]। वेद के पठन-पाठन में लिखित पुस्तक का अनादर एक

---

१. मार्शल—महिंजोदड़ो, पृ० ३५।

२. लिपिमाला, पृ० ४-१५।

३. लिपिमाला, पृ० १४४।

४. यथैवान्यायविज्ञाताद्वेदाल्लेख्यादिपूर्वकम्।
शूद्रेणाधिगताद्वापि धर्मज्ञानं न संमतम्॥ (कुमारिल का तंत्रवार्त्तिक, जैमिनि-मीमांसा-दर्शन के अ० १, पाद ३, अधिकरण ३, सूत्र ७ पर, पृ० २०३)

५. वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः।
वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः॥
(महाभारत, अनुशासन पर्व, ६३। २८)

प्राचीन रीति हो गई और उसी की देखा-देखी और शास्त्र भी जहां तक हो सके कंठस्थ किए जाने लगे। यहां तक कि आज भी वेद लोगों को कंठस्थ हैं। और भारतीय लोग कंठस्था विद्या को ही विद्या मानने लगे। गीता में आत्मा के विषय में लिखा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ (२, २३)

यह उक्ति इस कंठस्था विद्या के लिए पूरी तरह लागू होती है। हिंदुओं की परिपाटी शताब्दियों तक यही रही है कि मस्तिष्क और स्मृति ही पुस्तकालय का काम दें वह कहते हैं कि पुस्तकों से विद्या लेने वाला पुरुष कभी विद्वत्सभा में चमक नहीं सकता[1]। इसी लिए सूत्र ग्रंथों की संक्षेप शैली से रचना हुई। इसी लिए ज्योतिष, वैद्यक, अंकगणित, बीजगणित आदि वैज्ञानिक विषयों के ग्रंथ भी बहुधा श्लोकबद्ध लिखे जाने लगे। और तो और कोश जैसे ग्रंथ भी छंदोबद्ध लिखे गए ताकि शीघ्र कंठस्थ हो सकें।

२—लेखन-सामग्री की नश्वरता—प्राचीन काल में जिस सामग्री पर पुस्तकें लिखते थे, वह सब चिरस्थायी न होगी, और समय के व्यतीत होने के साथ साथ लिपिबद्ध पुस्तकें भी नष्ट भ्रष्ट होती गईं।

३—भारत में यह परिपाटी है कि लिखित पुस्तकें जब काम की न रहें तब वह गंगा आदि पवित्र नदियों की भेंट कर दी जाती हैं[2]।

४—राज-विप्लव आदि के कारण भी बहुत सी लिखित पुस्तकों का नाश हुआ है।

साहित्यक्षेत्र में लेखन ने स्मरण-शक्ति का स्थान शनैः शनैः लिया होगा। परंतु कब लिया—इस बात का निर्णय कठिन है। जैन और बौद्ध साहित्य में निश्चयपूर्वक बतलाया गया है कि किस किस समय उनका धार्मिक साहित्य लिपिबद्ध किया गया। जैनों ने जब देखा कि हमारा आगमिक साहित्य नष्ट भ्रष्ट होता आ रहा है तो उन्होंने समय समय पर कई विद्वत्परिषदें पाटलिपुत्र (विक्रम से पूर्व चौथी शताब्दी में) मथुरा, वलभी आदि स्थानों में कीं। वलभी की परिषद् विक्रम की छठी शताब्दी में हुई और इस में सब आगमों को लिपिबद्ध किया गया। बौद्ध साहित्य की संभाल के लिए भी कई सभाएं हुईं—अशोक के समय

---

१. पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसंनिधौ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः ॥
की माधवीय टीका (पराशर धर्म संहिता (१, ३८) भाग १, पृ० १५४) में उद्धृत नारद का वचन।

२. काणे स्मारक ग्रंथ (अंग्रेजी) पृ० ७५।

में पाटलिपुत्र में, कनिष्क के समय में काश्मीर में कुंडलवन में। काश्मीर वाली सभा के वर्णन में यह आता है कि सकल सिद्धांत को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण करके एक स्तूप में रख दिया ताकि नष्ट न होने पाए। परंतु हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि यह सिद्धांत लिपिबद्ध थे या स्मृति द्वारा ही उन तक पहुंचे थे। ब्राह्मण साहित्य में कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि ब्राह्मणों ने अपने धार्मिक साहित्य को लिपिबद्ध करना कब आरंभ किया।

एक या अनेक कर्ता की अपेक्षा से भारतीय साहित्य दो श्रेणियों में विभक्त हो सकता है।

१—समष्टि-रचित साहित्य—भारत का कुछ प्राचीन साहित्य ऐसा है जिसके सर्जन में किसी व्यक्ति विशेष का हाथ न होकर किसी संप्रदाय का हाथ होता था। सारा ऋग्वेद किसी एक ऋषि को दिखलाई नहीं दिया (या किसी एक कवि की कृति नहीं), किंतु कई ऋषियों को दिखाई दिया। वेद में जितने मंत्र किसी एक ऋषि के नाम के साथ आते हैं वह सब उसी एक ऋषि द्वारा नहीं अपितु उस ऋषि तथा उसकी शिष्य परम्परा द्वारा देखे या बनाए होते हैं। वेदादि धार्मिक साहित्य में शुद्धता वांछित थी इसलिए इस की रक्षा के लिए पद, क्रम, घन, जटा आदि पाठों को प्रयोग में लाया गया। इस के परिणाम-स्वरूप स्मृतिपट से लिपिपट पर आते समय वैदिक साहित्य में अशुद्धियां कम हुईं और पाठ शुद्ध रूप से चला आया है। परंतु जिन रचनाओं के साथ धार्मिकता एवं पवित्रता का इतना घनिष्ठ संबंध नहीं, उन में शुद्धता पूर्ण रूप से नहीं मिलती, जैसे महाभारत, पुराण आदि। भिन्न भिन्न विद्या-केंद्रों पर इन की स्थानीय धाराएं बन गईं। प्रायः देखा जाता है कि ऐसा साहित्य पहले स्मरण-शक्ति द्वारा ही प्रचलित होता था और कुछ काल पीछे लिपिबद्ध किया जाता था। इस अंतर में इस में कुछ न कुछ परिवर्तन आ जाता था क्योंकि कई वाचकों और पंडितों ने अपनी बुद्धि का प्रभाव इस पर डाला होगा। इस साहित्य के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक प्रति में मूलपाठ मिलता है या मिलता था। हम केवल इतना कह सकते हैं कि वह रचना अमुक प्रति में प्रथम बार लिपिबद्ध की गई।

२—व्यक्ति-रचित साहित्य—इस साहित्य के विषय में यह संभावना प्रबल होती है कि रचयिता ने अपनी कृति को या तो स्वयं लिपिबद्ध किया हो या अपने निरीक्षण में किसी से लिखवा कर स्वयं शुद्ध कर लिया हो। ग्रंथकार की स्वयं लिखी हुई या लिखाई हुई इस प्रति को मूल प्रति कहते हैं। इस साहित्य में मूल रचना

और मूल प्रति के लिपिकाल में इतना अंतर नहीं पड़ता और न ही स्थानीय धाराओं की इतनी संभावना होती है जितनी समष्टि-रचित साहित्य में।

इस प्रकार रचनाओं के दो भेद हो गए— एक तो वह रचनाएं जिन की मूल प्रतियां थीं, चाहे वह अब उपलब्ध हों या न हों। दूसरी वह रचनाएं जिन की मूल प्रतियां थीं ही नहीं। यह प्राय: स्मरण-शक्ति द्वारा प्रचलित होती रहीं, और समय पाकर लिपिबद्ध हो गईं।

मध्यकालीन भारत में लिखित पुस्तकों का बहुत प्रचार था यहां तक कि चीनी यात्री ह्यूनसांग यहां से चीन लौटते समय बीस घोड़ों पर पुस्तकें लाद कर अपने साथ ले गया जिन में ६५७ भिन्न भिन्न पुस्तकें थीं[1]। मध्य भारत का श्रमण पुण्योपाय वि० सं० ७१२ में १५०० से अधिक पुस्तकें लेकर चीन को गया था[2]। पुस्तकें इतनी बड़ी संख्या में मिलती थीं, इस के भी कारण थे। अपनी रचना को वर्षा अग्नि आदि के कारण नष्ट होने से बचाने के लिए और उसे अन्य इच्छुक विद्वानों तक पहुंचाने के लिए रचयिता स्वयं अपनी मूल प्रति के आधार पर अनेक प्रतिलिपियां करता या दूसरों से करवाता था। राजशेखर ने काव्यमीमांसा[3] में लिखा है कि कवि अपनी कृति की कई प्रतियां करे या कराए जिस से वह कृति सुरक्षित रह सके और नष्ट भ्रष्ट न होने पाए।

यदि वह रचना शीघ्र प्रसिद्ध हो जाती तो उस की मांग होने लगती और विद्याप्रेमी राजा और विद्वान अपनी अपनी प्रतियां बनाते या बनवाते थे।

---

१. वी० ए० स्मिथ—अरली हिस्टरी आफ़ इंडिया (चौथा संस्करण), पृ० ३६५।

२. लिपिमाला, पृ० १६।

३. (गायकवाड़ सिरीज़, प्रथम सं०) पृ० ५३—
सिद्धं च प्रबन्धमनेकादर्शगतं कुर्यात्। यदित्थं कथयन्ति—

"निक्षेपो विक्रयो दानं देशत्यागोऽल्पजीविता।
त्रुटिको वह्निरम्भश्च प्रबन्धोच्छेदहेतवः॥
दारिद्र्यं व्यसनासक्तिरवज्ञा मन्दभाग्यता।
दुष्टे द्विष्टे च विश्वासः पञ्च काव्यमहापदः॥"

पुनः समर्पयिष्यामि, पुनः संस्करिष्यामि, सुहृद्भिः सह विवेचयिष्यामीति कर्तुराकुलता राष्ट्रोपप्लवश्च प्रबन्धविनाशकारणानि।

मध्यकाल में लोग पुस्तक-दान का काफ़ी माहात्म्य मानते थे[1]। दान देने के लिए भी पुस्तकें लिपिबद्ध होती थीं। प्राचीन यात्रियों का इतनी बड़ी संख्या में प्रतियों को विदेश ले जाना भी यही सिद्ध करता है कि उस समय दान में पुस्तकें बहुत दी जाती थीं, क्योंकि बौद्ध भिक्षु कोई योरुप या अमेरिका के धनाढ्य टूरिस्ट तो थे नहीं कि यहां तोड़े खोलकर पुस्तकें मोल ले लेते। उन्हें जितनी पुस्तकें मिलीं वह गृहस्थों, भिक्षुओं, मठों या राजाओं से दान में मिली होंगी[2]।

यह पुस्तकें प्रायः राजदरबार, मंदिर, पाठशाला, विहार, मठ, उपाश्रय आदि से संबद्ध पुस्तकालयों में या व्यक्तिगत रूप से निर्मित पुस्तक-संग्रहों में रखी जाती थीं। संस्कृत भाषा में इन पुस्तकालयों को 'भारती भांडागार' या 'सरस्वती भांडागार' कहते हैं। इसी 'भांडागार' शब्द से आधुनिक 'भंडार' शब्द की उत्पत्ति हुई है। बाण[3] स्वयं लिखता है कि उस के पास एक पुस्तक-वाचक था, जिस का कर्तव्य उसे पुस्तकें पढ़ कर सुनाना था। इस से अनुमान किया जा सकता है कि बाण

---

१. विप्राय पुस्तकं दत्त्वा धर्मशास्त्रस्य च द्विज।
पुराणस्य च यो दद्यात् स देवत्वमवाप्नुयात्॥
शास्त्रदृष्ट्या जगत् सर्वं सुश्रुतञ्च शुभाशुभम्।
तस्मात् शास्त्रं प्रयत्नेन दद्याद् विप्राय कार्त्तिके॥
वेदविद्यां च यो दद्यात स्वर्गे कल्पत्रयं वसेत्।
आत्मविद्याञ्च यो दद्यात् तस्य संख्या न विद्यते॥
त्रीणि तुल्यप्रदानानि त्रीणि तुल्यफलानि च।
शास्त्रं कामदुघा धेनुः पृथिवी चैव शाश्वती॥
पद्म पुराण, उत्तर खंड, अध्याय ११७ (?)
वेदार्थयज्ञशास्त्राणि धर्मशास्त्राणि चैव हि।
मूल्येन लेखयित्वा यो दद्याद् याति स वैदिकम॥
इतिहास-पुराणानि लिखित्वा यः प्रयच्छति।
ब्रह्मदानसमं पुण्यं प्राप्नोति द्विगुणीकृतम॥
गरुड पुराण, अध्याय २१५ (?)
(शब्दकल्पद्रुम में 'पुस्तक' शब्द के विवरण से उद्धृत)

२. लिपिमाला पृ० १६।

३. हर्षचरित, तृतीय उच्छ्वास, जीवानंद का दूसरा संस्करण पृ० २००-२०२ अथवा कॉवल का अनुवाद पृ० ७२-७३।

के पास एक अच्छा खासा पुस्तक भंडार होगा। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में धारा के राजा भोज के महल में भारी पुस्तक-संग्रह था। वि० सं० १२०० के लगभग सिद्ध-राज जयसिंह इसे अपने पुस्तकालय में मिलाने के लिए अणहिलवाड़ पाटण में ले आया था। इसी प्रकार राज-भंडारों में बहुत सी पुस्तकें संगृहीत हो जाती थीं। खम्भात के दो जैन भंडारों में ३०००० से भी अधिक पुस्तकें हैं। तंजोर की राजलाइब्रेरी में १२००० से ऊपर पुस्तकें हैं[1]। इसी प्रकार पाटण के जैन भंडारों में १२००० से अधिक कागज़ की हस्तलिखित पुस्तकें हैं और ६५८ ताडपत्रीय पुस्तकें हैं[2]। चौलुक्य वीसलदेव (वि० सं० १२९९-१३१९) के पुस्तकालय में 'नैषध' की वह प्रति थी जिस के आधार पर विद्याधर ने इस काव्य पर पहली टीका लिखी। इसी पुस्तकालय में सुरक्षित 'कामसूत्र' की एक प्रति के आधार पर यशोधर ने 'जयमंगला' टीका रची। बॉन (जर्मनी) के विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में रामायण की एक प्रति है जो वीसलदेव के संग्रह के आदर्श की प्रतिलिपि है[3]। इस से हम कह सकते हैं कि भारत में सातवीं शताब्दी में पुस्तकालयों का अस्तित्व था और भारत के बाहर से तो इस काल से भी बहुत पहले की पुस्तकें प्राप्त हुई हैं।

दूसरा अध्याय

सामग्री

किसी प्राचीन ग्रंथ के संपादन करने के लिए संपादक को चाहिए कि वह उस ग्रंथ की सब सामग्री की पूरी पूरी खोज करे। यह सामग्री दो प्रकार की है—मूल और सहायक।

मूल सामग्री

मूल सामग्री वह है जिस के आधार पर किसी रचना का संपादन किया जाता है। यह प्राय: हस्तलिखित प्रतियों के रूप में होती है। हस्तलिखित प्रतियों से हमारा तात्पर्य किसी ग्रंथ की उन प्रतियों से है जो उस ग्रंथ की छपाई से पहले हाथ द्वारा

---

१. कात्रे—इंडियन टैक्स्चुअल क्रिटिसिज़्म, पृ० १३।

२. डिस्क्रिप्टिव कैटॅलॉग ऑफ़ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि जैन भंडारज़ एट पाटण, भूमिका, पृ० ४१।

३. कात्रे, पृ० १३।

लिखी गई हों। इन प्रतियों का परिचय प्राप्त करने के लिए सूचियों का प्रयोग करना पड़ता है। सूची-साहित्य बृहत्काय हो गया है। कई विवरणात्मक सूचियां छप चुकी हैं और अब भी छप रही हैं। सब से प्राचीन सूची काशी के पंडित कवींद्राचार्य (वि० सं० १७१३) की है।

परंपरा की अपेक्षा प्रतिएं कई प्रकार की हैं—

मूलप्रति—जैसा कि पहले बतलाया गया है मूलप्रति उस प्रति को कहते हैं जिस को ग्रंथकार ने स्वयं लिपिबद्ध किया हो या अपने निरीक्षण में किसी से लिपिबद्ध करवा कर स्वयं शुद्ध कर लिया हो। प्राचीन मूलप्रतियों में पाठ की अशुद्धियां हो जाती होंगी क्योंकि हम देखते हैं कि आधुनिक लेखों की मूलप्रतियों में भी छोटी मोटी अशुद्धियां हो जाती हैं। प्राचीन अथवा अर्वाचीन मूल प्रतियों का संपादक इन्हीं को शोधता है।

प्रथम प्रति—प्रथम प्रति वह प्रति होती है जो किसी कृति की मूलप्रति से तय्यार की जाए, जैसे शिलालेख, ताम्रपत्र आदि। यदि किसी मूल प्रति से कई प्रतियां की जावें तो वह सभी प्रथम प्रतियां ही कहलावेंगी। पुस्तकों की भी प्रथम प्रतियां मिलती हैं। उत्कीर्ण लेखों और पाषाण आदि पर खुदे हुए काव्य आदि की रक्षा का यदि उचित प्रबंध न हो तो वह टूट फूट जाते हैं। ऋतुओं के विरोधी आघातों को सहते सहते वह घिस कर मद्धम पड़ जाते हैं। और उन को खोदते समय करणक भी थोड़ी बहुत अशुद्धियां कर ही जाता है। इन त्रुटित अंशों को पूरा करना और अशुद्धियों को सुधारना संपादक का कार्यक्षेत्र है।

प्रतिलिपि—भारत में मूल और प्रथम प्रतिएं बहुत ही कम संख्या में उपलब्ध होती हैं। संपादकों को प्राय: मूल अथवा प्रथम प्रति की प्रतिलिपियां या इन प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियां ही मिलती हैं जिन के आधार पर इन्हें रचना का मौलिक या प्राचीनतम रूप प्राप्त करना पड़ता है।

प्रतियां आधुनिक काल की तरह मुद्रण-यंत्रों से नहीं बनती थीं। इन को मनुष्य अपने हाथों से तय्यार करते थे। जिस प्रति को देख कर कोई प्रतिलिपि की जाती है, उसे उस प्रतिलिपि का 'आदर्श' कहते हैं। प्रतिलिपि कभी भी अपने आदर्श के बिलकुल समान नहीं हो सकती, इस में अवश्य कुछ न कुछ अंतर पड़ जाता था। इस में थोड़ी बहुत अशुद्धियां आ ही जाती थीं। इसलिए प्रतिलिपि अपने आदर्श से सदा कम विश्वसनीय होती है। एक प्रति से अनेक प्रतियां और इन से फिर और प्रतियां तय्यार होती रहती थीं। इस प्रकार ज्यों ज्यों प्रतिलिपि मूल या प्रथम प्रति से दूर

हटती जाती है, त्यों त्यों उस में अशुद्धियों की संख्या भी बढ़ती जाती है। उदाहरणार्थ कल्पना कीजिए कि किसी कृति की प्रति 'क' पूर्ण रूप से शुद्ध है अर्थात् शत प्रतिशत शुद्ध है। इस प्रति 'क' से एक प्रतिलिपि 'ख' तय्यार की गई और इस प्रतिलिपि 'ख' से एक और प्रतिलिपि 'ग' बनाई गई। प्रत्येक लिपिकार कुछ न कुछ अशुद्धियां अवश्य करता है—मान लीजिये कि प्रथम लिपिकार ने ५ प्रतिशत अशुद्धियां कीं और दूसरे ने भी इतनी ही। तो 'ख' और 'ग' की शुद्धता ९५ और ९०·२५ प्रतिशत रह जायेगी। इसी प्रकार यदि 'ग' से 'घ' प्रतिलिपि की जाए तो इस 'घ' की शुद्धता केवल ८५·७४ प्रतिशत रह जावेगी। इसलिए किसी प्रति की पूर्वपूर्वता काफ़ी हद तक उस की शुद्धता का द्योतक होती है।

प्रतियों की विशेषताएं

प्रतियों की सामग्री—प्राचीन प्रतियां प्रायः ताड़पत्र, भोजपत्र, काग़ज़, और कभी कभी वस्त्र, लकड़ी, धातु, चमड़ा, पाषाण, ईंट, आदि पर भी मिलती हैं।

पंक्तियां—प्राचीन शिलालेखों का खरड़ा बनाने वाले पंक्तियों को सीधा पर रखने का प्रयत्न करते थे। अशोक की धर्मलिपियों में यह प्रयत्न पूर्णतया सफल नहीं हुआ, परंतु उसी काल के अन्य लेखों में सफल रहा है। केवल उन्मात्राएं (ि, ी, े, ै, ँ, ॆ) ही रेखा से ऊपर उठती हैं। प्राचीन से प्राचीन पुस्तकों में पंक्तियां प्रायः सीधी होती हैं। प्राचीन ताड़पत्र और काग़ज़ की पुस्तकों में पृष्ठ के दाईं और बाईं ओर खड़ी रेखाएं होती हैं जो हाशिए का काम देती हैं।

एक चौड़ी पाटी पर निश्चित अंतरों पर सूत का डोरा कस देते थे, इस पर पत्रादि रख कर दबा दिए जाते थे जिस से उन पर सीधी रेखाओं के निशान पड़ जाते थे। इन पर लिखा जाता था।

शब्द-विग्रह—पंक्ति, श्लोक या पाद के अंत तक शब्द साधारणतया एक दूसरे के साथ जोड़ कर लिखे होते हैं। परंतु कुछ प्राचीन लेखों में शब्द जुदा जुदा हैं। कई प्रतियों में समस्त पद के शब्दों को जुदा करने के लिए छोटी सी खड़ी रेखा शब्द के अंत में शीर्ष-रेखा के ऊपर लगा दी जाती थी।

विराम-चिह्न—खरोष्ठी शिलालेखों में विराम-चिह्न नहीं मिलते, परंतु धम्मपद में प्रत्येक पद्य के अंत में बिंदु से मिलता जुलता चिह्न पाया जाता है और वर्गों के अंत में वैसा ही चिह्न मिलता है जैसा कई शिलालेखों के अंत में होता है जो शायद कमल का सूचक है। ब्राह्मी लिपि के लेखों में कई प्रकार के विराम-चिह्न हैं।

विक्रम संवत् से पहले शिलालेखों में यह चिह्न बहुत कम दिखाई देते हैं—उनमें कहीं कहीं सीधे और टेढ़े दंड होते हैं। विक्रम की पांचवीं शताब्दी से यह चिह्न नियमित रूप से आते हैं—पाद के अंत पर एक दंड और श्लोक के अंत पर दो दंड। दक्षिण में आठवीं शताब्दी तक के कई लेख और शासन इन के बिना मिलते हैं।

संकेत—जिस शब्द को दुहराना होता है, उसको लिखकर '२' का अंक लगा दिया जाता है। हाशिए में ग्रंथ का नाम संक्षिप्त रूप से दिया होता है। कहीं कहीं अध्याय आदि का नाम भी संक्षेप से मिलता है। जैन तथा बौद्ध सूत्रों में एक स्थान पर नगर, उद्यान आदि का वर्णन कर दिया होता है। फिर जहां इन का वर्णन देना हो वहां इसे न देकर केवल 'वण्णओ' (वर्णनम्) शब्द लिख दिया जाता है। इस से पाठक को वहां पर उचित पाठ समझ लेना पड़ता है।

पत्र-गणना—प्रतियों में पत्रों की संख्या दी होती है, पृष्ठों की नहीं। दक्षिण में पत्रे के प्रथम पृष्ठ पर और अन्यत्र दूसरे पर संख्या दी होती है। यह पत्रे के हाशिए में होती है—बाईं ओर वाले में ऊपर और दाईं ओर वाले में नीचे। कई प्रतियों में संख्या केवल एक ही स्थान पर होती है।

कुछ प्राचीन प्रतियों में पत्र-संख्या अंकों में नहीं दी होती। अपितु अक्षरों द्वारा संकेतित होती है। पत्र-गणना में अंकों को अक्षरों द्वारा संकेतित करने की कई रीतियां हैं[1]। उदाहरण—ऋगर्थदीपिका, भाग १, भूमिका पृष्ठ ३६ से उद्धृत।

१	के लिए	न	६	के लिए	द्रु
२	,,	त्र	१०	,,	म
३	,,	न्य	११	,,	मन
४	,,	ष्क	१२	,,	मत्र
५	,,	झ	१३	,,	मन्य
६	,,	ह्रा	१४	,,	मष्क
७	,,	ग्र	१५	,,	मझ
८	,,	प्र	१६	,,	मह्रा

१. डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित ऋगर्थदीपिका, भाग १, भूमिका पृष्ठ ३८-३६; डिस्क्रिप्टिव कैटॉलॉग आफ़ दि गवर्मेंट कोलेक्शनज़ आफ़ मैनुस्क्रिप्टस डिपोज़िटेड एट दि भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, भाग १७,२, परिशिष्ट ३।

१७	के लिए	मम्र	६०	के लिए	त्र
१८	,,	मम्र	७०	,,	त्रु
१९	,,	मद्रे	८०	,,	छ
२०	,,	थ	९०	,,	ग्गा
३०	,,	ल	१००	,,	ञ
४०	,,	म	२००	,,	ञ्ञ
५०	,,	व			

लिपिकार—

प्रतिलिपियां करने वाले विशेष व्यक्ति हुआ करते थे। पुस्तकें लिखना ही इनकी आजीविका थी। विक्रम के पूर्व चौथी शताब्दी में इनको 'लिपिकर', 'लिपिकार' या, 'लिबिकर' कहते थे। विक्रम की सातवीं और आठवीं शताब्दियों में इन को 'दिविरपति' (फ़ारसी 'दबीर') कहते थे। ग्यारहवीं शताब्दी से लिपिकारों को 'कायस्थ' भी कहने लगे जो आज भारत में एक जाति विशेष का नाम है। शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों को उत्कीर्ण करने वालों को करण(क), करणिन्, शासनिक, धर्म-लेखिन कहते थे। जैन भिक्षुओं और यतियों ने जैन तथा जैनेतर साहित्य को लिपिबद्ध करने में बहुत परिश्रम किया। भारतीय लौकिक साहित्य का बृहत् भाग जैन लिपिकारों द्वारा लिपिकृत मिलता है। इस लिए भारतीय साहित्य के सर्जन, रक्षण और प्रचार में जैनों का स्थान बहुत ऊंचा है। विद्यार्थी अपनी अपनी प्रतियां भी बनाया करते थे, जिनका आदर्श प्रायः गुरु की प्रति होती थी।

लिपिकार प्रायः दो प्रकार के होते थे, एक तो वह जो स्वयं रचयिता की, या उसके किसी विद्वान प्रतिनिधि की, या किसी विद्या-प्रेमी राजा आदि द्वारा नियुक्त विद्वानों की देख रेख में काम करते थे। इन लिपिकारों द्वारा की हुई प्रतियों में पाठ की पर्याप्त शुद्धि होती है। रचयिता की अपेक्षा अन्य विद्वानों के निरीक्षण में की गई प्रतियों में दोष होने की संभावना अधिक होती है। दूसरे लिपिकार वह होते थे जो किसी विद्वान् के निरीक्षण में तो पुस्तकों की लिपि नहीं करते थे पर अपनी आजीविका कमाने के लिए दूसरों के निमित्त प्रतियां बनाते रहते थे। जैसे जैसे किसी मनुष्य को किसी रचना की आवश्यकता पड़ी, उसने किसी लिपिकार को कहा और उसने प्रस्तुत रचना की लिपि कर दी। यह लिपिकार प्रायः कम पढ़े होते थे। अतः इनकी लिखी हुई प्रतियों में दोष अधिक होते हैं। कुछ मनुष्य अपनी मनःसंतुष्टि और निजी प्रयोग के लिए भी पुस्तकों की लिपियां बनाते थे।

वही लिपिकार आदर्श है[1] जो अपनी आदर्श प्रति पर अंध विश्वास रखता है, उसका यथासंभव ठीक ठीक अनुसरण करता है, मक्खी पर मक्खी मारता है। परंतु ऐसे लिपिकार प्राय: कम मिलते हैं। वह शब्द लिखते हैं, अक्षर नहीं, अर्थात् वह अपनी आदर्श प्रति से थोड़ा सा पाठ पढ़ लेते हैं और उसे अपनी प्रति में लिख लेते हैं, फिर थोड़ा सा पढ़ लेते हैं और लिख लेते हैं, और इसी तरह लिखते जाते हैं। इस से कहीं न कहीं प्रस्तुत पाठ में अंतर आ जाता है। मूढ़ पुरुष अच्छी प्रतिलिपि उतार सकता है क्योंकि लिपि करते समय वह अपनी बुद्धि को पीछे हटाए रखता है और केवल अपनी आदर्श प्रति से ही काम लेता है। जो लिपिकार अपने आदर्श के छूटे हुए अथवा त्रुटित पाठों को ज्यों का त्यों छोड़ देता है, उनको पूरा करने का प्रयत्न नहीं करता, जो अपनी प्रति में आदर्श की मामूली से मामूली अशुद्धि को भी रख देता है, वह प्राय: विश्वसनीय होता है।

लिपि करने का काम इतना सहज नहीं जितना प्रतीत होता है। लिखते लिखते लिपिकारों की कमर, पीठ और ग्रीवा दुखने लगते हैं। इस कठिनाई का उल्लेख वह स्वयं अपनी प्रशस्तियों में करते हैं, जैसे—

---

१. मत्स्य पुराण अध्याय १८६ में लेखक (लिपिकार) का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै ॥
शीर्षोपेतान सुसंपूर्णान् समश्रेणिगतान समान् ।
अक्षरान् वै लिखेद् यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः ॥
उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः ।
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्याद् भृगूत्तम ॥
वाक्याभिप्रायतत्त्वज्ञो देशकालविभागवित् ।
अनाहार्यो नृपे भक्तो लेखकः स्याद् भृगूत्तम ॥

चाणक्यनीति में इस का लक्षण ऐसे किया है—

सकृदुक्तगृहीतार्थो लघुहस्तो जिताक्षरः ।
सर्वशास्त्रसमालोकी प्रकृष्टो नाम लेखकः ॥
(शब्द-कल्प-द्रुम के 'लेखक' के विवरण से उद्धृत)

काव्य मीमांसा पृष्ठ ५०—

सदःसंस्कारविशुद्धयर्थं सर्वभाषाकुशलः शीघ्रवाक् चार्वक्षर इङ्गिताकारवेदी नानालिपिज्ञः कविः लाक्षणिकश्च लेखकः स्यात् ।

भग्नपृष्ठकटिग्रीवः स्तब्धदृष्टिरधोमुखम् ।
कष्टेन लिखितं ग्रन्थं यत्नेन प्रतिपालयेत्[1] ॥

वह यह भी जानते थे कि हम अपने आदर्श की प्रतिलिपि पूरी तरह नहीं कर पाए, हमारी प्रति में कुछ न कुछ दोष अवश्य हो गए हैं। जैसे—

अदृश्यभावान्मतिविभ्रमाद्वा पदार्थहीनं लिखितं मयात्र ।
तत्सर्वमार्यैः परिशोधनीयं कोपं न कुर्युः खलु लेखकेषु ॥
मुनेरपि मतिभ्रंशो भीमस्यापि पराजयः ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मह्यं दोषो न दीयताम्[1] ॥

परंतु कई प्रशस्तियों में वह अपने आप को निर्दोष बतलाते हैं और सब अशुद्धियां आदर्श के सिर मढ़ देते हैं, जैसे—

यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न विद्यते ॥

इस से स्पष्ट है कि प्रतियों में लिपिकार अशुद्धियां कर ही जाते थे। अशुद्धियां दो प्रकार की हैं—(१) दृष्टिविभ्रम और (२) मति-विभ्रम से उत्पन्न हुई अशुद्धियां। अक्षरों आदि का व्यत्यय, आगम अथवा लोप दृष्टिदोष के उदाहरण हैं जो लिपिकार के नेत्र अपने दौर्बल्य से और एकाग्रचित्तता के अभाव से करते हैं। वह अपने आदर्श की अशुद्धियों को भी सार्थ समझने का प्रयत्न करता है जिस से विचारदोष पैदा हो जाते हैं।

कई बार ऐसा होता है कि लिपिकार की अशुद्धियां उस के आदर्श अथवा मूल या प्रथम प्रति से ही आई होती हैं। यदि आदर्श कहीं से टूट फूट गया हो, तो लिपिकार उन त्रुटित अंशों को अपनी मति के अनुसार पूरा करने का प्रयत्न करता है। इस से प्रतिलिपि में कुछ अशुद्धियां आजाती हैं।

प्रतियों का शोधन—

लिपिकार को अपनी कुछ अशुद्धियों का ज्ञान होता है। वह स्वयं इन को दूर कर देता है। पर कभी कभी अपने लेख में कांट छांट न करने की इच्छा से उन का सुधार नहीं करता। यदि उस के अक्षर सुंदर हुए-जैसा कि प्राचीन काल में प्रायः होता था—तो यह प्रलोभन और भी ज़ोर पकड़ता है। कहीं पर वह इन का सुधार इस लिये भी नहीं करता था कि इन से अर्थ में कोई विपर्यय नहीं होता था।

---

१. मैक्सम्यूलर संपादित ऋग्वेद (दूसरा संस्करण) भाग १, भूमिका पृ० १३, टिप्पण।

अशोक की धर्मलिपियों और अन्य प्राचीन शिलालेखों में अशुद्ध अथवा फ़ालतू अक्षर, शब्द आदि को काटा होता है। प्राचीन पुस्तकों में ऐसे अक्षरों के ऊपर या नीचे बिंदु अथवा छोटी छोटी खड़ी रेखाएं बनाई मिलती हैं। कुछ शताब्दियों से इसी निमित्त हड़ताल (हरिताल) का प्रयोग भी मिलता है। कभी कभी हड़ताल से कटे हुए भाग पर भी लिखा होता है।

प्राचीन लेखों में छुटे हुए अक्षर, शब्द आदि पंक्तियों के ऊपर, नीचे या बीच में, या अक्षरों के बीच में लिखे मिलते हैं। परंतु यह बतलाने के लिए कोई संकेत नहीं होता कि यह पाठ कहां पर आना है। अर्वाचीन लेखों और पुस्तकों में इस स्थान का संकेत काकपाद या हंसपाद (+, ×, ^, v, $\overset{v}{\wedge}$) या स्वस्तिक से किया होता है। पाठ प्राय: पन्ने के चारों ओर के हाशिए में दिया होता है। किसी किसी प्रति में जिस पंक्ति से वर्ण छूटे हों, उस की संख्या भी पाठ के साथ मिलती है।

जान बूझ कर छोड़े हुए पाठ को, या आदर्श के त्रुटित अंश को सूचित करने के लिए उस का स्थान रिक्त छोड़ दिया जाता है। कहीं कहीं इस स्थान पर बिंदुओं का या छोटी खड़ी रेखाओं का प्रयोग मिलता।

कुंडल या स्वस्तिक अपाठ्य पाठ के सूचक हैं।

कई प्रतियां स्वयं रचयिता द्वारा संशोधित भी मिलती हैं। शोधन करके वह सारी पुस्तक फिर से लिखता था, या मूलप्रति को ही शुद्ध कर लेता था। रचयिता द्वारा शोधित यह मूलप्रति लिपिकारों की आदर्श प्रति बन जाती थी। इस से पाठांतरों की उत्पत्ति हो सकती है—कहीं पर आदर्श में दो पाठ हुए, एक तो पहला पाठ और दूसरा उस का शुद्ध रूप। चूंकि इन में से शुद्ध पाठ को सूचित करने का कोई संकेत न होता था इसलिए इन में से लिपिकार एक को ग्रहण करता था और दूसरे को छोड़ देता था या हाशिए आदि में लिख लेता था। इस प्रतिलिपि के आधार पर लिखी हुई कुछ प्रतियों में दूसरे पाठ बिलकुल छूट सकते हैं। मालती-माधव की प्रतियों के निरीक्षण से वृद्ध भांडारकर[1] ने निर्णय किया कि भवभूति ने स्वयं अपनी मूलप्रति का शोधन किया होगा। इसी प्रकार टोडर मल[2] ने महावीरचरित के संबंध में कहा है।

शोधन-कार्य तीर्थस्थानों पर बड़ी सुगमता से हो सकता था। कई धनिक अपने विद्वान् मित्रों के साथ अपनी प्रतियों को भी तीर्थों पर ले जाते थे। वहां

---

१. भांडारकर संपादित मालतीमाधव, भूमिका पृ० ६।

२. टोडर मल संपादित महावीरचरित, भूमिका पृ० ८-६।

इन को अपनी पुस्तकें शोधने का अवसर मिलता था क्योंकि इन स्थानों पर विद्वानों का समागम होता था ।

विद्या-प्रेमी राजाओं द्वारा नियुक्त विद्वान् भी शोधन किया करते थे ।

सहायक सामग्री

किसी रचयिता की कृतियां पूर्ण रूप से अपनी नहीं होतीं। इस में संदेह नहीं कि वह उस रचयिता के व्यक्तित्व की छाप लिए रहती हैं, परंतु उन की भाषा, भाव, शैली आदि उस के पूर्ववर्त्ती ग्रंथकारों से प्रभावान्वित होते हैं। उन पर तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों का प्रभाव भी यथोचित रूप में होता है। इसी प्रकार उस रचयिता का प्रभाव उस के परवर्त्ती ग्रंथकारों पर भी पड़ता है। अतः इस संसार में कोई रचयिता एकाकी नहीं होता। इसलिए उस रचयिता की कृतियों की अपनी प्रतिलिपियों के अतिरिक्त कुछ सामग्री ऐसी भी प्राप्त हो जाती है जो उस रचना विशेष के अवतरण, भाषांतर, टीका, टिप्पण इत्यादि के रूप में हो सकती है। इसको हम **सहायक सामग्री** कहते हैं क्योंकि यह मूल ग्रंथ के संपादन में सहायता मात्र होती है। इस के आधार पर संपादन नहीं किया जाता।

यदि कोई रचयिता ऐसा हो जिस का दूसरों से संबंध स्थापित न हो सके, और उस की कृति केवल प्रतियों के आधार पर ही हमें उपलब्ध हो, तो कोई नहीं जान सकता कि उसकी प्राचीनतम प्रति के लिपिकाल के पूर्व उस रचना की क्या अवस्था थी। उस की प्रतियों का निरीक्षक केवल इतना बतला सकता है कि अमुक रचना की उपलब्ध प्रतियां किसी काल, देश और लिपि विशेष के प्रथमादर्श के आधार पर लिखित हैं। वह नहीं कह सकता कि उपलब्ध प्राचीनतम प्रति के लिपिकाल से बहुत पहले उस कृति की क्या दशा थी, वह कौन कौन से देश में प्रचलित थी, आदि। संपादक सहायक सामग्री के आधार पर उस रचना के इतिहास का अनुमान कर सकता है।

यह सहायक सामग्री निम्नलिखित रूपों में प्राप्त हो सकती है—

उद्धरण—

पुस्तक लिखते समय, ग्रंथकार अपने सिद्धांत की पुष्टि के लिए अन्य पुस्तकों से समान पंक्तियां ज्यों की त्यों ग्रहण कर लेता है; इन को उद्धरण या अवतरण कहते हैं।

उद्धरण प्रायः सारे साहित्य में मिलते हैं और काव्य, व्याकरण छंदस आदि

पारिभाषिक साहित्य में प्राचुर्य से मिलते हैं। पारिभाषिक ग्रंथों के रचयिता प्राचीन सिद्धांतों के विशद विवेचन तथा आलोचन के लिए और अपने नियमों को समझाने के लिए उदाहरण रूप में पूर्ववर्ती मौलिक ग्रंथों से पाठ उद्धृत करते हैं। परंतु यह आवश्यक नहीं कि जिस लेखक या ग्रंथसे पाठ उद्धृत किया हो उस का नाम दिया हो—प्रायः बिना नाम के ही उद्धरण मिलते हैं।

उदाहरण—बृहद्देवता का लगभग पांचवां भाग षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी की टीका में, सायण ने अपने भाष्यों में और नीतिमञ्जरी में उद्धृत किया गया है। इनकी सहायता से मॅक्डॅानल ने बृहद्देवता के कई पाठों का निश्चय किया जो कि वैसे संदिग्ध रह जाते; कहीं कहीं पाठ-सुधार भी किया है, जैसे –(अध्याय ५, श्लोक ३४) "ददौ च रौशमः" के स्थान पर *fk* प्रतियों में "ददौ न रौशनो", *b* में "ददै रागो रौशनो", *r* में "ददौ तदौ शनौ", और *m* में "ददौ तदाशनो" पाठ थे और नीतिमंजरी (५, ३०, १५) के आधार पर उपर्युक्त पाठ निश्चित किया गया। (अ० ७, श्लो० ९८) 'अयमन्तःपरिष्यसुः' के स्थान पर प्रतियों में भिन्न भिन्न अपपाठ थे जिन को सायण (ऋग्० १०, ६०, ७) के अनुसार सुधारा है। इन्हीं के आधार पर बृहद्देवता की बृहद्वारा B के कई स्थलों को मॅक्डॅानल ने मौलिक माना है और उन का पुनर्निर्माण किया है। जैसे अ० ४ श्लो० २३; ५, ५६-५८; ५, ६५, ६६; ६, ५२-५६; ७, ४२-४३; ७, ६५ आदि नीतिमंजरी और सर्वानुक्रमणी की षड्गुरुशिष्यप्रणीता टीका में मिलते हैं, अतः इन में मौलिकता हो सकती है।

उद्धरणों के विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन ग्रंथों में उद्धरण मिलते हैं वह तुलनात्मक रीति से संपादित हो चुके हैं या नहीं। यदि नहीं तो उन के पाठान्तरों को अवश्य देखना चाहिए। संभव है इन पाठांतरों में से ही कोई पाठ मौलिक हो। दूसरी बात यह है कि प्राचीन लेखक अन्य पुस्तकों को प्रायः अपनी स्मृति से ही उद्धृत करते थे और उन को मूलपंक्ति से मिलाने का प्रयत्न न करते थे। अतः ऐसे उद्धरणों का महत्त्व इतना अधिक नहीं। परंतु सिद्धांत ग्रंथों में उद्धरणों को सावधानता से ग्रहण किया जाता था, इसलिए यह अधिक विश्वसनीय होते हैं।

• सुभाषित-संग्रह—

यदि संपादनीय कृति के कुछ अवतरण किसी सुभाषित-संग्रह में मिलते हों, तो वह संग्रह संपादन में यथोचित सहायता दे सकता है, क्योंकि वह संग्रह प्रस्तुत ग्रंथ की उपलब्ध प्रतियों से प्रायः अधिक प्राचीन होता है। कुछ सुभाषित संग्रह यह हैं—संस्कृत—कवीन्द्रवचनसमुच्चय (दशवीं शताब्दी विक्रम);

श्रीधरदास की सदुक्ति (सूक्ति) कर्णामृत (वि० सं० १२६२); जल्हण की सदुक्तिमुक्तावली (वि० सं० १३०४); शार्ङ्गधरपद्धति (वि० सं० १४२०) आदि।

प्राकृत—हाल की सत्तसई; मुनिचन्द्र का गाथाकोश (वि० सं० ११७६); जयवल्लभ का वज्जालग्ग; समयसुन्दर की गाथासहस्री (वि० सं० १६८७) आदि।

भाषांतर या अनुवाद—किसी शब्द वाक्य या पुस्तक के आधार पर दूसरी भाषा में लिखे हुए शब्द, वाक्य, पुस्तक आदि को अनुवाद या भाषान्तर कहते हैं।

अनुवाद से अनूदित और अनूदित से अनुवाद ग्रंथों के संपादन में पर्याप्त सहायता मिलती है। जब यह अनुवाद प्रस्तुत ग्रंथ की उपलब्ध प्रतियों से प्राचीन हो, तो यह संपादन-सामग्री का एक अनुपेक्षणीय और महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है।

बौद्ध धर्म की महायान शाखा का साहित्य बहुधा संस्कृत भाषा में था। इन के अनुवाद चीनी तथा तिब्बती भाषाओं में अति प्राचीन काल में हो चुके थे। अतः इन अनूदित ग्रंथों के संपादन में अनुवादों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है जैसे जॉनस्टन ने अश्वघोष के बुद्धचरित में किया है। इसी प्रकार महाभारत के ग्यारहवीं शताब्दी में किए हुए भाषा अनुवाद तलगू तथा जावा की भाषा में मिलते हैं। इन का प्रयोग महाभारत के संपादन में पूना वालों ने किया है। कई स्थानों पर इन अनुवादों ने संपादकों द्वारा अंगीकृत पाठ को प्रामाणिक सिद्ध किया है[1]।

अनूदित परंतु अब अनुपलब्ध रचना के पुनर्निर्माण में अनुवाद ही का आश्रय लेना पड़ता है जैसे कुमारदास का जानकीहरण जो चिरकाल से भारत में लुप्त हो चुका था। इस का संस्कृत संस्करण लंका की भाषा (Simhalese) के शब्दशः अनुवाद के आधार पर निकला था। अश्वघोष के बुद्धचरित के सर्ग ६ के २६-३७ श्लोकों का कुछ अंश त्रुटित हो गया था। इसका पुनर्निर्माण जॉनस्टन ने तिब्बती अनुवाद के आधार पर किया है[2]।

टीका, टिप्पनी, भाष्य, वृत्ति आदि—

टीकाओं में प्रायः प्रतीक (ग्रंथ की पंक्ति या श्लोक का अंश) को उद्धृत करके उस का अर्थ और मूल व्याख्या दी जाती है। इन प्रतीकों से उस ग्रंथ के तात्कालिक पाठों का पता चल सकता है। कई बार टीकाकार अपने समय में उपलब्ध प्रतियों का मिलान कर के सम्यक् या समीचीन पाठ ग्रहण कर लेते थे और

१. देखो महाभारत उद्योगपर्वन् (पूना १६४०), भूमिका पृ० २२।

२. डा० ई० एच० जॉनस्टन संपादित बुद्धचरित (लाहौर, १६३५), भूमिका पृ० ८।

दूसरे पाठ का निर्देश कर देते थे। कहीं कहीं तो त्यक्त पाठ के साथ असम्यक्, अपपाठः, प्रायशः पाठः, अर्वाचीनः पाठः, प्रमादपाठः आदि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है[1]। कई बार टीकाकार पाठ की समीचीनता को भी सिद्ध करते थे[2]।

संपादन में टीका आदि का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। जहां किसी प्रकरण पर टीका न मिलती हो वहां यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह प्रकरण प्रस्तुत ग्रंथ में था ही नहीं, क्योंकि हो सकता है कि टीकाकार ने उस को सुगम समझ कर छोड़ दिया हो। यदि वह प्रकरण कठिन हो तो ऐसा समझ लेने में आपत्ति नहीं। कणिकनीतिप्रकरण[3] पर देवबोध की टीका का अभाव है परंतु नीलकंठ तथा अर्जुनमिश्र ने विस्तृत व्याख्या की है। यह प्रकरण है काफ़ी कठिन और महाभारत की शारदा तथा काश्मीरी धाराओं में मिलता भी नहीं। इसलिए इस को प्रक्षेप मानने में दोष नहीं।[4] निरुक्त के दुर्गप्रणीत भाष्य में निरुक्त का पाठ अक्षरशः मिलता है, अतः इस से निरुक्त के पाठ-निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है[5]।

सार ग्रंथ—

सार से मूल और मूल से सार ग्रंथ के संपादन में यथोचित सहायता मिलती है। काश्मीरी कवि क्षेमेंद्र की भारतमंजरी महाभारत की काश्मीरी धारा का सारमात्र है, अतः यह ग्यारहवीं शताब्दी में काश्मीर प्रांत में महाभारत की क्या परिस्थिति थी इस पर प्रकाश डालती है। इसी कवि की रामायणमंजरी, अभिनंद का कादम्बरी-कथासार आदि अनेक सार ग्रंथ हैं।

अनुकरण ग्रंथ—

अनुकरण ग्रंथ और अनुकृत ग्रंथ एक दूसरे के पाठ-सुधार में प्रचुर सहायता देते हैं। क्षेमेंद्र ने पद्यबद्ध कादम्बरी लिखते समय बाण की कादम्बरी का अनुकरण किया है।

किसी श्लोक के अंतिम पाद या टुकड़े के आधार पर पूरा श्लोक बनाने को समस्या-पूर्त्ति कहते हैं। इस रीति से ग्रंथ भी बनाए जा सकते हैं। कालिदास के

---

१. महा० उद्योग० भू० पृ० १५ डा० लक्ष्मणस्वरूप संपादित निरुक्त (लाहौर, १६२०) भूमिका पृ० ४५।

२. पी० के० गोडे का लेख, वूलनर कोमेमोरेशन वाल्यूम (लाहौर, १६४०)।

३. महा० बम्बई संस्करण, पर्व १; अध्याय १४०, पूना संस्करण पर्व १, परिशिष्ट १, ८१।

४. महा० १, भूमिका पृ० २५।

५. डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित निरुक्त, भूमिका पृ० ४४।

मेघदूत काव्य की समस्या-पूर्ति के रूप में जिनसेन ने एक स्वतंत्र ग्रंथ 'पार्श्वाभ्युदय' की रचना की।

समान पाठ—

महाभारत, पुराण आदि कई ग्रंथ किसी व्यक्ति विशेष की कृति नहीं प्रत्युत किसी संप्रदाय, आम्नाय या शाखा के गुरुओं की कई पीढ़ियों द्वारा निर्मित हुए हैं। ऐसे ग्रंथों में प्राय: समान वृत्त, पाठ, प्रकरण आदि मिलते हैं जो संपादन में पर्याप्त सहायता देते हैं। महाभारत (पर्व १, ६२-) में आया हुआ शकुंतलोपाख्यान पद्मपुराण में भी मिलता है। पुराणों में आए हुए समान प्रकरणों को किर्फ़ल (Kirfel) ने 'डास पुराणं पंच लक्षणं में संगृहीत किया है।

किसी ग्रंथकार के अन्य ग्रंथ—

नीचे उद्धृत किए गए संदर्भ से यह स्पष्ट हो जाए गा कि किसी रचना के संपादन में उसी ग्रंथकार के अन्य ग्रंथों का पर्यवलोकन कैसे सहायता देता है।

"गोस्वामी (तुलसीदास) जी की वाणी का तथ्य जितना उन्हीं के ग्रंथों द्वारा समझा जा सकता है उतना और किसी प्रकार से नहीं। किसी भी शब्द, वाक्य या भाव का गोस्वामी जी ने ऐकान्तिक प्रयोग नहीं किया है। किसी न किसी दूसरे स्थान से उस की पुष्टि, उस का समर्थन और स्पष्टीकरण अवश्य होता है। यदि ध्यानपूर्वक मिलान किया जाय तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने सभी प्रकरणों का उपक्रम और उपसंहार बड़ी ही सुंदरता से किया है। एक प्रकार के वस्तुवर्णन में भिन्न भिन्न स्थलों पर शब्दों की कुछ ऐसी समानता रख दी है कि जिन पर दृष्टि न रखने से लोग भटक जाते हैं। कहीं कहीं तो एक ग्रंथ का भाव दूसरे ग्रंथ की सहायता से अधिक स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए नीचे रामचरितमानस के कुछ स्थल दिए जाते हैं जहां मिलान न करने के कारण लोगों को धोखा हुआ है और पाठ में गड़बड़ी की गई है।

(१) सकइ उठाइ सरासुर मेरु। सोउ तेहि सभा गएउ करि फेरु।

१ । २९१ । ७

सर+असुर=बाणासुर—इस अर्थ को न समझ कर बहुत लोगों ने 'सुरासुर' पाठ कर दिया है। यदि निम्नलिखित अवतरणों पर ध्यान दिया गया होता तो 'सरासुर' ऐसा सुंदर आलंकारिक शब्द न बदला जाता।

रावन बान महा भट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे।

जिन के कछु बिचार मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं।

१ । २४६ । २

रावन बान छुआ नहिं चापा । हारे सकल भूप करि दापा ।

१ । २५५ । ३

(२) ओर निबाहेहु भायप भाई । करि पितु मातु सुजन सेवकाई ।

२ । १५१ । ५

'ओर निबाहेहु' का अर्थ होता है अंत तक निबाहना । इस का पाठ लोगों ने 'और निबाहेहु' वा 'अउर निबाहेहु' बदल दिया है । निम्नलिखित अवतरणों पर ध्यान न देने से यह भूल हुई है ।

सेवक हम स्वामी सिय नाहू । होउ नात यह ओर निबाहू । २ । २३ । ६

प्रनतपाल पालहिं सब काहू । देव दुहूं दिसि ओर निबाहू । २ । ३१३ । ४

(पद-पद्म गरीब निवाज के ।)

देखिहौं जाइ पाइ लोचन फल हित सुर साधु समाज के ।

गई बहोरि ओर निरबाहक साजक बिगरे साज के ॥

गीतावली (सुंदर कांड) पद सं० २६

(मों पै तो न कछू है आई ।)

ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यौ लषन सो भाई ॥

गीतावली (लंका कांड) पद सं० ६

... ...

सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभय पद ओर निबाहैं ।

करि आईं, करिहैं करती हैं तुलसीदास दासनि पर छाहैं ॥

गी० (उत्तर कांड) पद सं० १३

दुखित देखि संतन कह्यो सोचै जनि मन माहूँ ।

तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहू ।

विनयपत्रिका पद सं० २७५

... ...

(५) सोइ सिसुपन सोइ सोभा सोइ कृपाल रघुबीर ।

भुवन भुवन देखत फिरौं प्रेरित मोह समीर ॥ ७ । ८१

'समीर' पाठ लोगों ने बदल कर 'सरीर' कर दिया है । प्रेरणा करने का गुण समीर का है, यथा—

पुनि बहु बिधि गलानि जियमानी । अब जग जाइ भजौं चक्रपानी ।
ऐसेहि करि बिचार चुप साधी । प्रसव पवन प्रेरेउ अपराधी ।
प्रेरेउ जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यौ ।
सो ज्ञान ध्यान बिराग अनुभव जातना पावक दह्यौ ।

विनयपत्रिका पद १३६ (५)"

तीसरा अध्याय

प्रतियों का मिलान

संपादक को चाहिए कि जो सामग्री मिल सकती हो उसे इकट्ठा करे । प्रतिलिपियों का सूक्ष्म अवलोकन करे । उन की व्यक्तिगत विशेषताओं की देख भाल करे। यह देखे कि उन की कौन कौन सी बात मौलिक या प्राचीनतम पाठ के निर्णय में सहायता दे सकती है । इस प्रकार की जांच को प्रतियों का **मिलान** कहते हैं। मिलान से हमें यह पता चलता है कि अमुक प्रति की कौन कौन सी बात उस के आदर्श में विद्यमान थी । सब प्रतियों का निरीक्षण और मिलान कर चुकने पर प्रस्तुत ग्रंथ के मौलिक अथवा प्राचीनतम पाठ का निश्चय करने के निमित्त संपादक प्रामाणिक और विश्वसनीय सामग्री को जुदा करे । वह इस सामग्री का बार बार सूक्ष्म अवलोकन करे और इसी के आधार पर मूलपाठ का निश्चय करे ।

प्रत्येक प्रति का साधारण रूप किसी पाठ के निश्चय में विशेष सहायता देता है। किसी ग्रंथ की 'क' और 'ख' दो प्रतियां हैं । इस के परस्पर मिलान से यदि ज्ञात हो कि जहां इन में पाठभेद है वहां 'ख' की अपेक्षा 'क' में शुद्ध, मौलिक एवं संभव पाठों की संख्या अधिक है, तो 'क' के पाठ 'ख' के पाठों से प्राय: अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय होंगे ।

परंतु यह नियम सर्वथा सिद्ध नहीं क्योंकि जो प्रतियां प्राय: अशुद्ध होती हैं उन में भी कहीं कहीं शुद्ध और मौलिक पाठ हो सकते हैं । और शुद्ध[1] पाठों वाली प्रतियों में अशुद्ध और दूषित पाठ मिलते हैं । पिशल के शाकुंतल (दूसरा संस्करण) में प्रयुक्त B प्रति प्राय: अशुद्ध पाठों से भरी पड़ी है जैसे 'आयुष्मान' के स्थान पर निरर्थक 'आमुष्मान' आदि । इस में मौलिक पाठों की कमी है । फिर भी इस में कहीं कहीं

---

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वैशाख १९९९ में 'शंभुनारायण चौबे' का 'मानस-पाठ भेद' नामक लेख, पृ० ३-७ ।

मौलिक पाठ मिलते हैं जैसे १, ४/५ में 'अहिणीदु' के स्थान पर इस प्रति में 'अहिअरीअदु' पाठ है जो शाकुंतल की दक्षिणी धारा में भी मिलता है । अतः यह पाठ मौलिक है ।

यह देखना आवश्यक है कि किसी प्रति में सारा पाठ समान रूप से लिखा गया है या कि नहीं । हो सकता है कि एक ही प्रति के भिन्न भिन्न भाग भिन्न भिन्न आदर्शों के आधार पर एक या अनेक लिपिकारों द्वारा लिपिकृत हों । यह प्रायः महाभारत, पुराण, पृथ्वीराजरासो आदि बृहत्काय ग्रंथों में अधिक संभव होता है। इस से सारी प्रति की विश्वसनीयता और प्रामाणिकता समान नहीं रहती । ऐसी परिस्थिति में भिन्न भिन्न भागों की विश्वसनीयता का जुदा जुदा निर्णय करना पड़ता है । कई बार ऐसा होता है कि आदर्श के कुछ पत्रे गुम हो चुके होते हैं या उस में कुछ पाठ उपलब्ध न हो तो भी लिपिकार इन लुप्त अंशों को किसी दूसरे आदर्श के आधार पर पूरा कर सकता है । इस से भी सारी प्रति की विश्वसनीयता एक सी नहीं रहती ।

देखने में आता है कि प्रतिलिपि हम तक अपने असली रूप में नहीं पहुंचती । प्रायः इस में अशुद्धियों को दूर करने का प्रयत्न किया होता है । इस के पाठ को कांटा छांटा होता है । यह शोधन स्वयं प्रति का लिपिकार, रचयिता या कोई अन्य विद्वान करता था । यदि एक ही प्रति को कई शोधकों ने शुद्ध किया हो तो भिन्न भिन्न शुद्धियों की विश्वसनीयता में अंतर होगा । कई बार तो ऐसा भी होता है कि शोधक अपनी ओर से तो विद्वत्ता दिखलाने का प्रयत्न करता है परंतु वास्तव में वह शुद्ध पाठ को अशुद्ध कर देता है । इसलिए हमें भली प्रकार जान लेना चाहिए कि प्रति में कौन कौन से हाथों ने काम किया है । इसी लिए इस बात का निर्णय करना भी आवश्यक है कि शोधन से पहले प्रति में क्या पाठ था । अकसर देखा जाता है कि शोधनीय प्रति में जो पाठ अन्य प्रतियों से भिन्न हो, शोधक प्रायः उस को हटा कर उपलब्ध प्रतियों के साधारण पाठ को रख देता है, चाहे पहला पाठ शुद्ध ही क्यों न हो ।

लिपिकाल—

प्रतिलिपियों की तुलनात्मक विश्वसनीयता की जांच काफ़ी हद तक उन के लिपिकाल पर भी निर्भर होती है । इसलिए हमें संपादनीय ग्रंथ की जितनी प्रतियां उपलब्ध हों उन को उन के लिपिकाल के अनुसार क्रमबद्ध कर लेना चाहिए । योरुप में प्रतियों का लिपिकाल प्रायः नहीं दिया होता, इसलिए उनका क्रम उनकी लिपि,

लेखन-सामग्री आदि के आधार पर निश्चित करना पड़ता है[1]। परंतु भारत में यह दशा इतनी शोचनीय नहीं। यहां पर लिपिकाल अधिकतर प्रतियों में दिया होता है। कई प्रतियों में आदर्श का काल भी दिया होता है। यदि कोई प्रति अंत में त्रुटित या खंडित हो तो अवश्य इस के निश्चय में कठिनाई पड़ती है। तब लिपि, लेखन-सामग्री आदि के आधार पर इन का लिपिकाल निर्धारित किया जाता है। लिपिकाल प्रति के अंत में दी हुई लिपिकार की प्रशस्ति या पुष्पिका में दिया होता है जिस में वह अपना व्यक्तिगत वृत्तांत भी देता है। प्रति जितनी प्राचीन होगी, उस की विश्वसनीयता भी उतनी ही अधिक होगी। परंतु कहीं कहीं यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि हो सकता है कि कोई अर्वाचीन प्रति 'ग' किसी अति प्राचीन आदर्श 'ख' के आधार पर लिखित हो। दूसरी और प्रतियां 'ज', 'झ', 'ञ' भी हों जो इस से हों तो प्राचीनतर, परंतु जिन का आदर्श 'छ' पहली प्रति के आदर्श 'ख' से कम प्राचीन हो। ऐसी अवस्था में अर्वाचीन प्रति 'ग' दूसरी 'ज' 'झ' आदि प्राचीन प्रतियों से अधिक विश्वसनीय हो सकती है। यह बात निम्नलिखित चित्र से भली प्रकार स्पष्ट हो जावेगी।
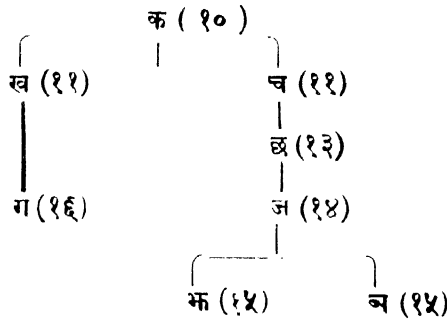
(नोट—इस चित्र मे 'क', 'ख' आदि अक्षर प्रतियों के नाम हैं और (१०), (११) आदि अंक प्रतियों के लिपिकाल की शताब्दियां हैं।)

यदि हर एक लिपिकार पांच प्रति शत अशुद्धियां करे, तो 'ग' ९०·२५ प्रति शत और 'ज' ८५·७५ प्रति शत और 'झ' तथा 'ञ' तो ८१·५ प्रतिशत शुद्ध हों गी। इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'ज', 'झ', और 'ञ' की अपेक्षा 'ग' अधिक विश्वसनीय है।

लिपिकाल-निर्धारण

जब प्रतियों के लिपिकाल का निश्चित ज्ञान न हो, तो उन का परस्पर संबंध

१. हाल— कम्पैनिअन टु क्लासिकल टैक्स्टस, पृ० १२८।

निर्धारित करने में कठिनाई होती है। ऐसी परिस्थिति में इन के संबंध जांचने के साधारण नियम यह हैं—

(१) पाठ-लोप और पाठ-व्यत्यय—जब अनेक प्रतियों में पाठ-लोप अथवा पाठ-व्यत्यय समान रूप से हो तो उन प्रतियों का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ होता है। इन में से लोप तो अधिक प्रामाणिक है क्योंकि यह बात प्राय: संभव नहीं होती कि अनेक प्रतियों में एक ही पाठ लुप्त हो गया हो। यह भी नहीं होता कि किसी प्रति में अन्य प्रतियों का मिलान करके पाठ लोप किया गया हो। इस से यह भी सिद्ध हो सकता है कि एक प्रति दूसरी प्रति का आदर्श है। इसी प्रकार अनेक प्रतियों में समान पाठ-व्यत्यय भी उन के लिपिकारों ने अपने आदर्श से ही लिया होता है।

(२) जब अनेक प्रतियों में विशेष पाठों का स्वरूप समान हो या उन प्रतियों की विशेषताएं समान हों, तो उन में परस्पर सम्बन्ध होता है। मॅकडौनॅल ने बृहद्देवता के संस्करण में जिन प्रतियों का प्रयोग किया उन में से '*h*', '*m*', '*m*³' और '*d*' परस्पर संबद्ध हैं क्योंकि उन सब के अन्त में "अमोघनन्दनशिक्षायां लक्षणस्य विशेषोऽपि ....शौनककारिकायामुक्तम्"—यह पाठ समान रूप से मिलता है जो अन्य प्रतियों में नहीं मिलता। इसी प्रकार इन में बृहद्देवता से ही संकलित "अथ वैश्वदेवसूक्त देवताविचार: —भिन्ने सूक्ते वदेदेव च" (१. २०) आदि कुछ उद्धरण समान रूप में प्राप्त होते हैं[१]।

(३) जब आदर्श और प्रतिलिपि दोनों उपलब्ध हों तो उनके निरीक्षण से यह संबंध ज्ञात हो जाता है। यदि एक प्रति में कुछ ऐसी विचित्र अशुद्धियां हों जिन का समाधान किसी अन्य प्रति के अवलोकन से हो जाए तो दूसरी प्रति पहली का आदर्श होती है।

प्राय: देखा जाता है कि दो प्रतियों का परस्पर संबंध इतना शुद्ध और सरल नहीं होता जितना कि हम ऊपर मानते रहे हैं। यह आवश्यक नहीं कि कोई प्रति किसी एक ही आदर्श के आधार पर लिखित हो। संभव है कि लिपिकार ने दूसरी प्रतियों की सहायता लेकर अपने पाठ बनाए हों। इसी कारण जो प्रतियां अंतत: एक ही मूलादर्श से लिखित हों उन में भी प्राय: पूर्ण समानता नहीं होती। उन में कुछ न कुछ अंतर अन्य आदर्शों के कारण आ जाता है। इस से ज्ञात हुआ कि प्रतियों का परस्पर संबंध दो प्रकार का है—शुद्ध और संकीर्ण।

---

१. ए० ए० मॅक्डौनल संपादित बृहद्देवता, भाग १, भूमिका पृ० १३–१४

शुद्ध संबंध—

शुद्ध संबंध से हमारा अभिप्राय उस संबंध से है जो ऐसी दो प्रतियों में हो जो केवल एक ही आदर्श के आधार पर लिखित हों, या जब उन में एक आदर्श हो और दूसरी उस की प्रतिलिपि। इन प्रतियों के लिपि करने में आदर्श के अतिरिक्त अन्य किसी प्रति से सहायता नहीं ली होती।

उदाहरण—किसी रचना की सात प्रतियां उपलब्ध हैं जिनके नाम क, ख, ग, घ, ङ, च, छ हैं। यदि इन में से क और शेष ६ प्रतियों में कोई विशेष समानता न हो तो क इन सब से भिन्न होगा। यदि इन ६ प्रतियों में से ख, ग, घ, ङ परस्पर बहुत मिलती हों परंतु क और च, छ से काफ़ी भिन्न हों, और इसी प्रकार यदि च, छ आपस में मिलती हों, तो हम कह सकते हैं कि क अकेली है, ख, ग, घ, ङ एक शाखा या वंश की हैं और च, छ दूसरे की। इन प्रतियों के निरीक्षण से ज्ञात हुआ कि ख, ग, घ, ङ एक ही काल्पनिक आदर्श "य" के आधार पर लिखित हैं और च छ अन्य किसी काल्पनिक आदर्श "र" के। हम पहले बतला चुके हैं कि लिखने समय प्रति में अशुद्धियां आ जाती हैं, अतः प्रतिलिपि की शुद्धि आदर्श की शुद्धि से कम होती है। क्योंकि "य" ख, ग, घ, ङ का आदर्श है इसलिए 'य" के पाठ इन के पाठों की अपेक्षा अधिक शुद्ध अधिक प्राचीन और अधिक प्रामाणिक होंगे। ख, ग,घ,ङ के मिलान से "य" के पाठों का पुनर्निर्माण हो सकता है। यदि "य" उपलब्ध होता तो हम देख सकते थे कि "य" के पाठ वास्तव में ख ग घ ङ में से किसी एक प्रति के पाठों से अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक हैं। और हम ख ग घ ङ के लिपिकारों की कुछ अशुद्धियों का समाधान भी कर सकते थे। इसी प्रकार "र" के पाठ च, छ में से किसी एक प्रति के पाठों से अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक होंगे। यदि ख ग,घ, ङ प्रतियों में ख, ग परस्पर बहुत मिलती हों और कुल-मर्यादा भी न छोड़ती हों तो ख, ग किसी काल्पनिक आदर्श "ल" की प्रतिलिपियां होंगी। अतः "ल" के पाठ ख, ग में से किसी एक के पाठों से अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक होंगे।

यदि क और काल्पनिक आदर्श 'य,""र"" का परस्पर संबंध स्पष्ट झलके तो वह किसी अन्य काल्पनिक आदर्श "व" पर आश्रित होंगे। अतः "व" के पाठ क,"य,र," की अपेक्षा अधिक शुद्ध, प्राचीन और प्रामाणिक होंगे। वह "व" इन सब प्रतियों का मूल स्रोत होगा। इस को उपलब्ध सब प्रतियों का **काल्पनिक मूलादर्श** कहेंगे हैं। 'क, य, र," (ख, ग, घ,ङ,च,छ) के आधार पर "व" का पुनर्निर्माण हो सकता है।

निम्नलिखित चित्र इन प्रतियों के परस्पर संबंध को सूचित करता है—
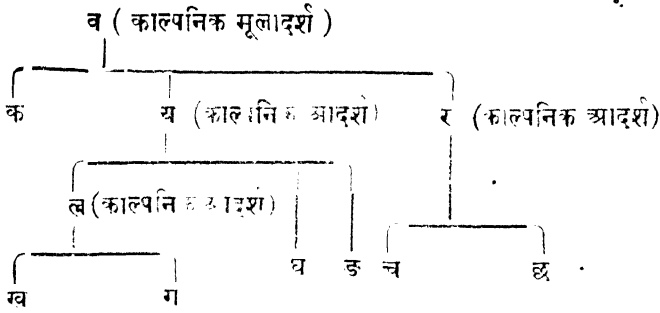
इस उदाहरण की सब प्रतियों का परस्पर संबंध शुद्ध है—वह सब किसी एक काल्पनिक मूलादर्श के आधार पर लिखित है।

संकीर्ण संबंध

उपर्युक्त उदाहरण में हमने कल्पना की थी कि "य" गण की किसी प्रति में "र" गण के विशेष पाठ नहीं आते और इसी प्रकार "र" गण की प्रतियों में "य" गण के विशेष पाठ नहीं मिलते। परंतु वास्तव में ऐसा नहीं होता। किसी प्रति की पाठ-परम्परा उसके सब भागों में समान नहीं होती। जब एक प्रति एक ही आदर्श के आधार पर लिखित नहीं होती प्रत्युत अनेक आदर्शों के आधार पर लिपिकृत होती है तो ऐसी अवस्था में प्रतियों के परस्पर संबंध को संकीर्ण कहते हैं। निम्नलिखित चित्र से यह स्पष्ट हो जाएगा।
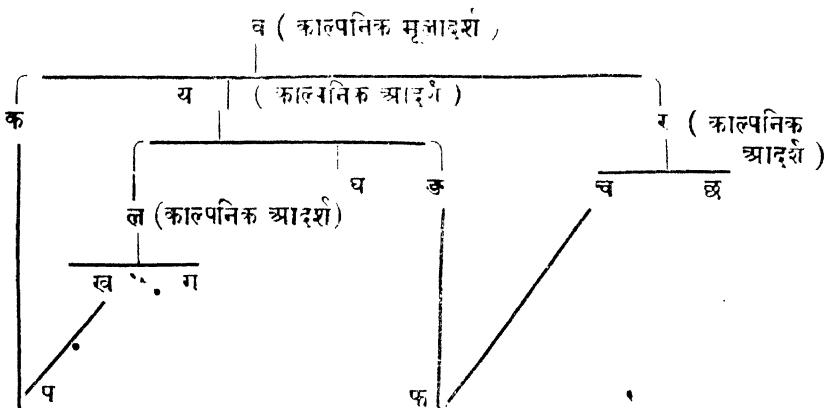
इस चित्र में क, ख, ग, घ, ङ, च, छ का परस्पर संबंध तो शुद्ध है। परंतु क और ख के आधार पर प और ङ और च के आधार पर फ लिपिकृत हैं अतः प, फ का परस्पर **संकीर्ण संबंध** है।

संकर के बढ़ने के साथ साथ उस का सुलझाना भी कठिन होता जाता है। इस से प्रतियों में शुद्धता एवं अशुद्धता का समावेश तो अवश्य होता है परंतु इस बात का निर्णय सरल नहीं कि किस प्रति में इसके कारण कितनी शुद्धता और कितनी अशुद्धता आई है। संकीर्ण प्रति को लिखते समय लिपिकार के सामने कई पाठांतर उपस्थित होते हैं। इन में से लिपिकार अपनी बुद्धि के अनुसार पाठ चुन लेता है। परंतु लिपिकारों की विद्वत्ता प्रायः कम ही होती है, इसलिए उनका चुनाव सदा शुद्ध नहीं हो सकता जब कि विद्वान् शोधक भी पूरी तरह शोधन नहीं कर पाते[1]। अतः संकर प्रायः पाठ-अशुद्धि को बढ़ाता है। फिर भी संकीर्ण प्रतियों की अपनी महत्ता होती है। जब किसी संकीर्ण प्रति के अनेक आदर्शों में से कोई एक आदर्श लुप्त हो चुका हो तो इसी संकीर्ण प्रति के आधार पर उस लुप्त आदर्श के पाठों का अनुमान किया जाता है। पंचतंत्र की पूर्णभद्रीय धारा में कुछ पाठ एवं स्थल ऐसे हैं जिन के आधार पर हर्टल और इजर्टन उस में पंचतंत्र की एक लुप्त धारा की पुट मानते हैं।

पंचतंत्र की संकीर्ण धाराएं—पंचतंत्र की कुछ धाराएं संकीर्ण संबंध का अच्छा उदाहरण हैं। पंचतंत्र पुनर्निमाण में इजर्टन[2] पंचतंत्र की निम्नलिखित धाराएं मानता है—

१. तंत्राख्यायिका, साधारण अथवा प्रचलित पंचतंत्र तथा पूर्णभद्रीय पंचतंत्र।

२. दक्षिणी और नेपाली पंचतंत्र, तथा हितोपदेश।

३. सोमदेव का कथासरित्सागर और क्षेमेंद्र की बृहत्कथामंजरी, जो बृहत्कथा की दो भिन्न धाराएं हैं।

(४) पहलवी भाषांतर।

इन धाराओं का चित्र इस प्रकार है।

---

१. हर्टल ने तंत्राख्यायिका में कई पाठ-सुधार किए, परंतु इजर्टन के मतानुसार वह नहीं होने चाहिएं। उन में से वह कुछ सुधारों को ही ठीक मानता है। देखो पंचतंत्र रीकन्स्ट्रक्टिड भाग २, पृष्ठ २६०-२६३।

२. वही, अध्याय २।
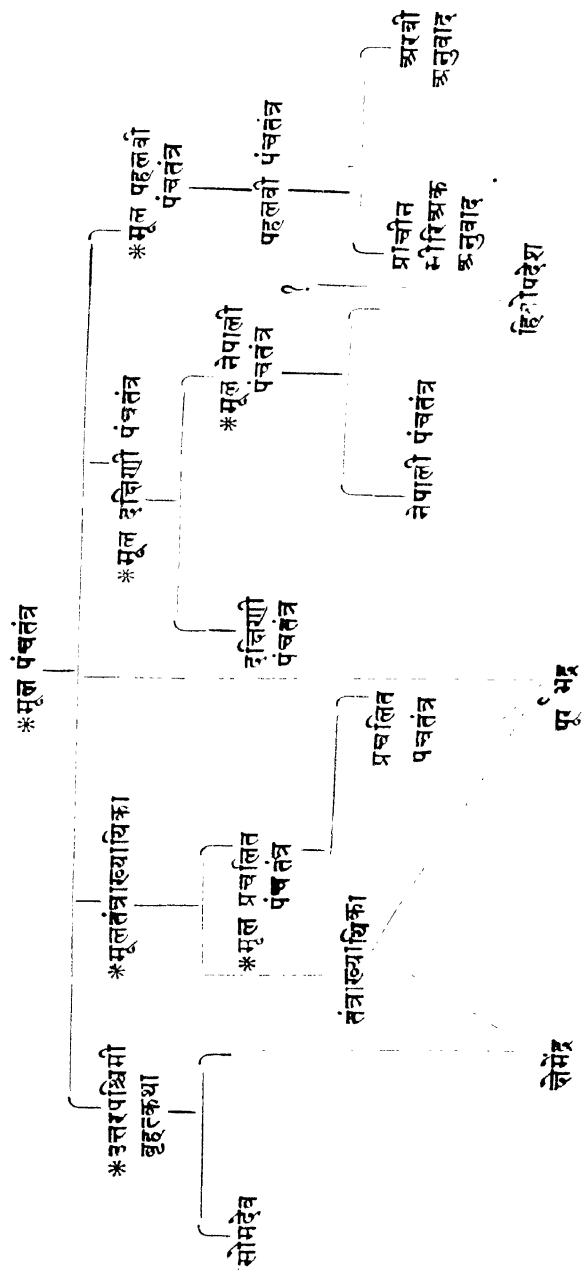
[नोट—यह चिह्न * काल्पनिक धाराओं का सूचक है।

क्षेमेंद्र संकीर्ण है, क्योंकि इस में तंत्राख्यायिका की पुट स्पष्ट प्रतीत होती है। अतः जब इसके पाठ धारा नं० २ और ४ के पाठों से मिलते हैं तभी महत्त्वपूर्ण हैं; जब नं० १ से मिलते हैं तब नहीं। पूर्णभद्र का पंचतंत्र भी संकीर्ण है क्योंकि इस में पंचतंत्र की एक पांचवीं धारा से सहायता ली गई है जो अब स्वतंत्र रूप में अलभ्य है। इस अलभ्य धारा का अन्य धाराओं से इतना ही संबंध है कि इन सब का मूल-स्रोत एक है। इस धारा को हर्टल[1] प्राकृतमयी मानता है क्योंकि पूर्णभद्र में कई स्थल ऐसे हैं जो तंत्राख्यायिका और प्रचलित पंचतंत्र से भिन्न हैं और इन स्थलों की भाषा पर प्राकृत का प्रभाव स्पष्ट है। प्राकृत-प्रभाव के उदाहरण—वणिग्जारक (पृ० ७३, पंक्ति १४); स्वपिमि लग्नः (१०२, १८); अप्यहं खेटयमान (२२४, २८) संप्रहार (१६६, २); चंद्रमती (१४८, ४); दंडपाशिक, दंडपाशक के स्थान पर (१४७, १२.१६; १५१,२-६) आदि आदि। हो सकता है कि हर्टल का यह मत मान्य न हो और यह अलभ्य धारा जैन संस्कृत में हो। क्योंकि जैनों द्वारा प्रणीत संस्कृत ग्रंथों की भाषा (जैन संस्कृत) के अध्ययन ने सिद्ध कर दिया है कि इस में प्राकृत-प्रभाव आदि कई अपनी ही विशेषताएं हैं जो साधारण संस्कृत में नहीं हैं[2]। परंतु यह निश्चित है कि पूर्णभद्र का पंचतंत्र पंचतंत्र की पांचवीं धारा की सत्ता को प्रमाणित करता है और उस धारा के लिए इस का अपना महत्त्व है।

प्रतिएं हम तक किस परिस्थिति में पहुंची हैं।

किसी ग्रंथ के संपादन में उस की उपलब्ध प्रतिएं हम तक किस परिस्थिति में पहुंची हैं, उन की संख्या और विशेषताएं क्या हैं—इन सब बातों से भी संपादक के कार्य में अंतर पड़ जाता है। इन बातों के अनुसार निम्नलिखित परिस्थितियां उपस्थित होती हैं—

(१) जब किसी रचना की एक ही प्रति उपलब्ध हो।

(२) जब किसी रचना की समान पाठ-परम्परा वाली अनेक प्रतियां उपलब्ध हों।

(३) जब किसी रचना की भिन्न भिन्न पाठ-परम्परा की अनेक प्रतियां हों।

---

१. हर्टल संपादित पूर्णभद्र का पंचतंत्र, भाग २, १४, १६-२० पृ०।

२. फ़ेस्टश्रीफ़्ट जेकब वाकरनागल में ब्लूमफ़ील्ड का लेख पृ० २२०—३०; हर्टल—ऑन दि लिट्रेचर आफ् दि श्वेतांबर जैनज़; लेखक द्वारा संपादित चित्रसेन-पद्मावतीचरित्र, भूमिका, पृ० २३-३०।

(१) एक प्रति—

जब संपादनीय कृति की केवल एक ही प्रति मिलती हो, तो संपादक का कर्तव्य है कि उस प्रति को ध्यान पूर्वक पढ़े और जहां तक संभव हो उस के शुद्ध रूप में ही उस के पाठों को उपस्थित करे। इस के लिए आवश्यक है कि वह उस का बार बार सूक्ष्म निरीक्षण करे, उस का पूरा पूरा परिचय प्राप्त करे। अधिकतर यह बात शिलालेखों और ताम्रपत्रों के विषय में लागू होती है। मध्य एशिया से बौद्ध पुस्तकों के जो अंश मिले हैं उन की प्रायः एक एक ही प्रति उपलब्ध हुई है। कई पुस्तकें भी एक ही प्रति के आधार पर हम तक पहुंची हैं, जैसे विश्वनाथ का कोशीकल्पतरु, नान्यदेव का भरतभाष्य, पृथ्वीराजविजय आदि।

(२) समान पाठ-परम्परा की अनेक प्रतियां—

जब संपादनीय कृति की समान पाठ-परम्परा वाली अनेक प्रतियां विद्यमान हों, तो उन के पारस्परिक संबंध के परिज्ञान से पहले उन के आदर्शों और काल्पनिक मूलादर्श का पता लगाया जाता है।

(क) जब सब प्रतियों का मूलादर्श उपलब्ध हो तो संपादक का कार्य सरल हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में प्रतिलिपियों की उपेक्षा की जा सकती है। इस से संपादक को केवल एक मूलादर्श पर ही आश्रित होना पड़ता है। परंतु जहां प्रतिलिपि होने के पश्चात मूलादर्श का कुछ भाग नष्ट भ्रष्ट हो चुका हो, तो हमें उस नष्ट भाग के लिए प्रतिलिपियों की सहायता लेनी पड़ेगी।

(ख) जब मूलादर्श विद्यमान न हो, परंतु उस की सत्ता के बाह्य प्रमाण मौजूद हों, तो पहले मूलादर्श का पुनर्निर्माण करना चाहिए। रायल एशियाटिक सोसायटी की बंबई ब्रांच की पृथ्वीराजरासो की प्रति नं B. D. २७४ के अवलोकन से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इस का आदर्श अमुक प्रति थी क्योंकि इस में कई स्थानों पर समयों की अंतिम प्रशस्तियों को लिखा हुआ है जो कि इस के आदर्श में विद्यमान थीं।

(ग) जब किसी मूलादर्श के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले बाह्य प्रमाण तो विद्यमान नहीं परंतु प्रतियों की पाठ-समानता से अनुमान हो सके कि यह सब एक ही मूलादर्श के आधार पर लिखित हैं तो इस प्रकार के मूलादर्श को **काल्पनिक या अनुमित मूलादर्श** कहते हैं। अगर्थदीपिका के संपादन में प्रयुक्त P, D, M व्यपदेश की तीनों प्रतियों में से कोई भी एक दूसरे की प्रतिलिपि नहीं और न ही कोई

बाह्य प्रमाण यह सिद्ध करता है कि वह सब एक ही मूलादर्श की प्रतियां हैं। उन के पाठों की समानता के कारण ही उन को एक काल्पनिक मूलादर्श के आधार पर लिखित माना है[१]।

(३) भिन्न पाठ-परम्परा की अनेक प्रतियां—

जब संपादनीय कृति की भिन्न भिन्न पाठ-परम्परा वाली अनेक प्रतियां उपलब्ध हों, तो उन के पाठभेद के कारणों का विवेचन भी करना चाहिए जो इस तरह हो सकता है—

(क) क्या पाठ-भेद स्वयं रचयिता द्वारा हुआ है ? यदि रचयिता स्वयं अपनी मूल प्रति का शोधन करे तो उस प्रति में कहीं कहीं दो दो या अधिक पाठ हो जावेंगे। इन में से एक तो मूल पाठ में होगा और दूसरे शुद्ध पाठ हाशिए में या पंक्तियों के बीच लिखे होंगे। इस मूल प्रति से प्रतिलिपि करते समय एक लिपिकार एक पाठ को ले सकता है, तो दूसरा दूसरे पाठ को। इस प्रकार वह प्रतियां एक आदर्श की प्रतिलिपियां होते हुए भी भिन्न भिन्न पाठ-परम्परा को धारण करलेंगी। भवभूति[२] के विषय में भांडारकर और टोडरमल का मत है कि उस ने स्वयं मालती-माधव और महावीरचरित की मूल प्रतियों को शोधा है। इस कारण उपलब्ध प्रतियों में कहीं कहीं पाठ-भेद हो गए। मालतीमाधव के संपादन में भांडारकर ने ६ प्रतियों का प्रयोग किया है। यदि किसी पाठ विशेष के लिए इन प्रतियों के दो गण बनते हैं— K_1, K_2, N, O और A, B, Bh, C, D, तो किसी दूसरे पाठ के लिए इस प्रकार दो गण बन जाते हैं—A, B, C, D, K, N, और Bh, K_2, O। उदाहरण – मालतीमाधव अंक १। पं०। १२—

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमर्ते (A, B, D, K_1, N)

कल्याणानां त्वमिह महसां ईशिषे त्वं विधत्ते (Bh, K_2, O)

कल्याणानां त्वमसि महसां ईशिषे त्वं विधत्से (C)

इस से ज्ञात होता है कि भिन्न भिन्न पाठों के लिए भिन्न भिन्न गण बन जाते हैं। इस का समाधान संकीर्ण संबंध के आधार पर हो सकता है, परंतु अधिक संभव यही है कि कवि ने स्वयं अपनी मूलप्रति का शोधन किया था क्योंकि समग्र ग्रंथ में प्रायः यही परिस्थिति देखने में आती है[३]। भवभूति द्वारा शोधित मूलप्रति से एक लिपिकार ने एक पाठ लिया तो दूसरे ने दूसरा और इस तरह पाठ भेद उत्पन्न हो गया।

---

१. डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित भाग १, पृ० ४०।

२. देखो ऊपर, अध्याय २, टिप्पण नं० ५ और ६।

३. भांडारकर संपादित मालतीमाधव, भूमिका, पृ० ६।

(ख) क्या पाठ-परम्परा में भेद स्थान-भेद से उत्पन्न हो गया है ? यह बात रामायण, महाभारत आदि बृहत्काय ग्रंथों के विषय में प्राय: सत्य होती है, विशेषत: जब वह ग्रंथ समष्टि-रचित हो। महाभारत की उत्तरी, दक्षिणी, काश्मीरी, नेवारी (नेपाली), बंगाली आदि धाराएं प्रसिद्ध हैं। टोडरमल[1] ने महावीरचरित, की दो शाखाएं मानी हैं—उत्तरी और दक्षिणी। वह उत्तरी शाखा को स्वयं भवभूति द्वारा शोधित मानता है, और दक्षिणी को शोधन से पूर्व रूप में जो केवल पहले पांच अंकों तक ही था। फिर भी दक्षिणी शाखा में कहीं कहीं बहुत अच्छे पाठ मिलते हैं। टोडरमल के मतानुसार इस का कारण यह था कि दक्षिणी विद्वानों ने भवभूति के मूल पाठ का संशोधन कर लिया था क्योंकि दक्षिण कुछ काल तक विद्वत्ता का भारी केंद्र रहा।

(ग) क्या पाठ-भेद का कारण रचयिता या अन्य व्यक्तियों द्वारा शोधन के अतिरिक्त कुछ और है ? कई बार मूलादर्श में अनेक पाठ स्थित होते हैं। जैसे किसी पाठक ने अपनी प्रति में आसानी के लिए शब्दार्थ और अन्य टिप्पण लिख लिए— इस तरह उस प्रति में एक पाठ के स्थान पर दो दो या तीन तीन पाठ मालूम पड़ेंगे या दो दो समानार्थ शब्द इकट्ठे मिलेंगे, जिस से पुनरुक्ति हो जाएगी। यदि यह प्रति प्रतिलिपियों के लिए आदर्श बने तो पाठ-भेद का कारण बन जाएगी।

(घ) लोप, प्रक्षेप, संक्षेप, परिवर्तन आदि से भी किसी रचना की पाठ-परम्पराओं में भेद पड़ सकता है।

चौथा अध्याय

प्रतियों में दोष और उन के कारण

संपादनीय कृति के संबंध में उपलब्ध सामग्री के सूक्ष्म अवलोकन और मिलान से प्राय: इस बात का परिज्ञान प्राप्त होता है कि कौन कौन सी सामग्री लिपिकाल तथा अन्य विशेषताओं के कारण विश्वसनीय है। इसके आधार पर प्राचीनतम पाठ का पुनर्निर्माण किया जासकता है। यह पुनर्निर्मित पाठ रचयिता की मौलिक कृति के काफ़ी निकट होता है। इसमें कुछ पाठ ऐसे रह जाते हैं जो अपने मौलिक रूप में नहीं होते। इन पाठों की संख्या रचना विशेष के विषय, भाषा आदि और उन की प्रतियों के इतिहास के अनुसार न्यूनाधिक होती है। इन को साधारणतया 'दूषित पाठ'

---

१. महावीर चरित, भूमिका पृ० ६।

कहते हैं। संपादित पाठ में दूषित पाठों का समावेश करने से पहले हमें यह सोचना चाहिए कि किसी प्रकार इन को शुद्ध किया या सुधारा भी जा सकता है। इस बात के लिए आवश्यक है कि उपलब्ध प्रतियों के दोषों और उन को पैदा करने वाले कारणों का निर्णय हो।

बाह्य दोष—

कुछ दोष ऐसे होते हैं जिन का संबंध प्रति के बाह्य रूप आदि से होता है[1]। प्रति के सतत प्रयोग से और नमी आदि के प्रभाव से प्रति की लिपि-मद्धम पड़ जाती है और कई स्थलों में बिलकुल मिट जाती है। यदि प्रति पुस्तक रूप में है और ताड़पत्र, भोजपत्र, काग़ज़ आदि पर लिखित है, तो इस के पत्रों के किनारे त्रुटित हो सकते हैं। अतः पत्रे की पंक्तियो के आदिम और अंतिम भाग नष्ट हो जाते हैं। यदि प्रति के पत्रे खुले हों। तो इन में से कुछ गुम हो सकते हैं और कुछ उलट पुलट हो सकते हैं। शिलालेख भी ऋतुओं के विरोधी आघातों को सहते सहते घिस जाते हैं। जब इस तरह काफ़ी पाठ नष्ट हो चुका हो तो संपादक के पास इस के पुनर्निर्माण का कोई साधन नहीं। परंतु यदि इन के संबंध में सहायक सामग्री उपलब्ध हो तो इस का पुनर्निर्माण भी किया जा सकता है। प्रायः छोटी छोटी त्रुटियों को तो संपादक स्वयं ही ठीक कर लेता है।

आंतरिक दोष—

कुछ दोष उपलब्ध पाठ में ही उपस्थित होते हैं। इन दोषों का मुख्य कारण लिपिकार होता है; परंतु कहीं कहीं शोधक भी होता है। इन दोषों का जानने के लिए हमें चाहिए कि किसी विशेष देश, काल, लिपि, विषय आदि की उन प्रतियों का सूक्ष्म अवलोकन करें जिन के आदर्श भी विद्यमान हों और इन के आधार पर साधारण दोषों का विवेचन करें। इस से समान देश, काल, लिपि, विषय आदि की प्रतियों के दोषों का समाधान ठीक रीति से हो सकेगा।

---

१. देखो—एयस्स य कुलिहियदोसो न दायव्वो सुयहरेहिं। किंतु जो चेव एयस्स पुव्वायरिसो आसि तत्थेव कत्थइ सिलोगो कत्थइ सिलोगद्धं कत्थइ पयक्खरं कत्थइ अक्खरपंतिया कत्थइ पन्नगपुट्टिय (या) कत्थइ बे तिन्नि पन्नगाणि एवमाइ बहुगंथं परिगलियं ति। महानिशीथसूत्र के एक हस्त लेख से—डिस्क्रिप्टिव कैटॅलॉग आफ़ दग वमंट कोलेक्शनज़ आफ़ मैनुस्क्रिप्ट्स डिपोज़िटेड एट दि भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, भाग १७, २, पृ० ३२।

इन दोषों के कई भेद हैं—

(१) लिपि भ्रम—

प्रायः हर लिपि में कुछ वर्ण और अक्षर ऐसे होते हैं, जिनकी आकृति में भेद बहुत कमहोता है। ऐसे समान वर्णों या अक्षरों को लिखते समय लिपिकार एक के स्थान पर दूसरे को लिख सकता है। आदर्श में यदि एक वर्ण या अक्षर हो तो लिपिकार उसके स्थान पर उसके समान आकृति वाले वर्ण अथवा अक्षर को समझ कर दूसरे को लिख सकता है। किसी लिपि में कौन कौन से वर्ण या अक्षर समान आकृति वाले हैं, इस बात का ज्ञान लिपि विज्ञान के क्षेत्र में सम्मिलित है। परंतु यहां पर इस के कुछ उदाहरण देते हैं—

उदाहरण—देवनागरी में प, य; घ, ध; ख, रव; भ, म आदि का विपर्यय हो सकता है। जैसे तुलसी-रामायण[1] १। २८। ३ 'भोरि' 'मोरि'। जैनों द्वारा प्रयुक्त देवनागरी में इन अक्षरों में समानता है—व ब और च; त्थ और च्छ; थ और घ; ब्भ और ज्झ; द्ध, द्द, द्व, और द्ढ।

टोडरमल संपादित महावीर चरित—

स्थ, च्छ—'स्वस्थाय' (१, १) के स्थान E प्रति में 'स्वच्छाय'।

ओ, आ—'महादोसो' (२, १३। १४)[2] के स्थान पर B_0 प्रति में 'महादासो'

प, य—'वाक्यनिष्यंद' (१, ४) के स्थान पर E, K, B_0 प्रतियों में '०निष्पद'।

ण, प—'कल्पापाय' (३, ४०) के स्थान पर Md, Mt, My प्रतियों में कल्याणाय।

प्रस्तुत लिपि और भाषा का यथोचित ज्ञान न होने से भी लिपिकार अशुद्धियां कर सकता है, जैसे पंचतंत्र[3] की Bh प्रति में 'भो बिल्ला ३ ।' (२१८, १२, १३) के स्थान पर 'भो विल भो विल भो बिल' मिलता है। इस प्रति के लिपिकार को इस बात का ज्ञान न होगा कि यहां '३' स्वर के प्लुतत्व का निर्देश करता है और यहां

---

१. तुलसी-रामायण के उदाहरण नागरी प्रचारिणी पत्रिका ४७, १ के आधार पर हैं।

२. नाटक के गद्य भाग का संकेत उसके पूर्वापर श्लोकों की संख्या से किया है, जैसे २, १३। १४ का अर्थ है दूसरा अंक १३ और १४ श्लोकों के बीच का गद्य भाग।

३. हर्टल संपादित पूर्णभद्र का पंचतंत्र।

पर इस वाक्य में प्लुति का प्रयोग 'दूराद्धूते च' (पाणिनि ८, २, ८४) के अनुसार दूर से बुलाने के लिए हुआ है। इस प्रति के आदर्श में ' भो बिल २ ' पाठ होगा जिस के स्थान पर 'भो बिल भो बिल भो बिल' लिख देना कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि ' २ ', प्रायः दुहराने के लिए आता ही है, जैसे ' भो २ ' = 'भो भो ' ।

जब कोई प्रति एक लिपि के आदर्श पर से किसी अन्य लिपि में लिखी गई हो, और आदर्श की लिपि में प्रतिलिपि की लिपि के अक्षरों से मिलते जुलते परंतु भिन्न उच्चारण वाले अक्षर हों, तो इस प्रति में ऐसे समान अक्षरों का उलट फेर काफ़ी हो सकता है।

उदाहरण—महाभारत आदिपर्व के शारदा आदर्श S' से देवनागरी में लिपिकृत K_1 प्रति में यह दोष प्रायः दृष्टिगोचर होता है क्योंकि शारदा और देवनागरी लिपियों के कुछ अक्षरों में बहुत समानता है। जैसे—स,म (शा० संकुले 7 ना० मंकुले) ;त, उ और थ ष (शा० तथा 7 ना० उषा) ; ऋ, द (शा० ऋष्या 7 ना० दृष्या) ; म, श (शा० प्रकामं 7 ना० प्रकाशं); च, श (शा० पांचालीं 7 ना० पांशालीं); र्त, तु (शा० आर्तस्वरं 7 ना० आतु०) ; त्त, तु (शा० सत्तमः 7 ना० सतुमः) आदि ।[1]

इसी प्रकार जैन देवनागरी के आदर्श से प्रचलित देवनागरी में लिखते समय भ के स्थान पर त, क्ख के स्थान पर रक आदि हो जाते हैं।

इस सरणी का अनुसरण करते हुए किसी लिपि के समान आकृति वाले अक्षरों की, और भिन्न भिन्न लिपियों के परस्पर समान अक्षरों की विस्तृत सूचियां तय्यार की जा सकती हैं।

(२) शब्द-भ्रम

यदि किसी भाषा में कुछ शब्द ऐसे हों जो परस्पर मिलते जुलते हों परंतु जिन के अर्थ में भेद हो, तो लिपिकार ऐसे शब्दों में हेर फेर कर सकता है।

उदाहरण—तुलसी रामायण (१ । २६१ । ७) 'बरासुर' (=बाणासुर), २, ४, ६, ७, ८ प्रतियों में 'सुरासुर'।

(३) लोप

लोप के मुख्यतया दो कारण होते हैं—

(क) लिपिकार की असावधानता और लेख प्रमाद—इस कारण से तो किसी भी अक्षर, मात्रा, शब्दांश, शब्द, वाक्य, श्लोक, पृष्ठ आदि का लोप हो सकता है।

१. भूमिका पृ० ११ ।

उदाहरण—महावीरचरित २ ६ । १० अभिचरंति, E प्रति में अचरंति है ; (२, १३ । १४) महाद्दोसा, B_0 प्रति में महादासो है । चित्रसेनपद्मावती-चरित्र[1] (५४८) 'संजममि य चारियं' Z में 'य' का लोप है । इसी को Z प्रति में श्लो० ३८३ छूट गया है ।

(ख) अक्षर, शब्द आदि की समानता से—

अक्षर-समानता के कारण दो समान अक्षरों में से एक छूट जाता है ।

उदाहरण—महाभारत आदि (१०३, १३) 'अभ्यसूयथाम्', K $D_n D_{1-5}$ में 'अभ्यसूयाम्' है । महावीरचरित (२, ७ । ८) 'लोललोअणो', I_2 में 'लोलअणो' ; (३, १८ । १९) पाषण्डखण्डीर, B_0 में पाखण्डीर ; (३, १६ । २०) प्रसवपांसन, E में प्रसवासन ।

शब्द-समानता के कारण लिपिकार की आंख किसी शब्द से उस के समान-रूप वाले अन्य शब्द पर जा टिकती है जो उस से परे हो । इस से बीच के शब्द छूट जाते हैं । यह साधारण दोष है ।

उदाहरण—निरुक्त[2] में 'सोऽदेवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम् । असोरसुरान-सृजत तदसुराणाम्........' को लिखते समय C_3 प्रति के लिपिकार की आंख प्रथम असृजत से आगे वाले असृजत पर पहुंच गई । परिणाम-स्वरूप 'तत्सुराणां सुरत्वम् । असोर-सुरान्' छूट गया । (६, २२) स्थूरं राधः शताश्वं कुरंगस्य दिविष्टिषु । (RV. VIII. 4. 19) स्थूरः समाश्रितमात्रो महान्भवति' को लिखते समय C_3 प्रति के लिपिकार की दृष्टि 'स्थूरं' से तत्समान 'स्थूरः' पर जा पड़ी और मध्यस्थित 'राधः शताश्वं कुरंगस्य दिविष्टिषु' का लोप हो गया ।

(४) आगम

मात्रा, अक्षर, शब्द आदि के बढ़ जाने को आगम कहते हैं ।

उदाहरण—महावीर चरित (१, २) ' महापुरुषसंरम्भो ' B_0 में ' महापुरुष-समारम्भो ' है।

(५) अभ्यास—

किसी अक्षर, शब्दांश, शब्द वाक्य आदि के दुहराए जाने को अभ्यास कहते हैं।

---

१. लेखक द्वारा संपादित ।

२. डा० लक्ष्मण स्वरूप संपादित । भूमिका पृ० ४० ।

उदाहरण—महाभारत आदि० (५७, २१) ' हास्यरूपेण' K, प्रति में हास्य हास्य रूपेण (हास्य हास्य रूपेण) का अशुद्ध रूप है।

निरुक्त २, २८ उतस्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि। क्रतुं दधिक्रा..........' को लिखते समय CS प्रति के लिपिकार की दृष्टि ' क्रतुं लिखने के पश्चात् फिर ' वाजो पर ' चली गई और वाजो क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो ; दुबारा लिखा गया। निरुक्त ६, ८ 'गृह्णाति कर्मा वा ' Mi में दुहराया गया है।

(६) व्यत्यय—

अक्षर, शब्द आदि के परस्पर उलट फेर को व्यत्यय कहते हैं।

उदाहरण—महावीर चरित ३,३७ 'ज्ञानेन चान्यो,' Mt, Md में 'ज्ञाने च नान्यो'। (१,१३।१४) 'मैथिलस्य राजर्षेः', $T_1 \times T_2$ में 'राजर्षे मैथिलस्य'। किलान्यत्,T_1 अन्यत् किल। ३, १८। १६ Mt 'अरे रे अनड्वन पुरुषाधम', Mg रे पुरुषाधम अनडवन्।

महाभारत आदि० (१, २३) उत्तरी शाखा में 'महर्षेः पूजितस्येह सर्व लोके महात्मनः' =दक्षिणी शाखा में 'महर्षेः सर्वलोकेषु पूजितस्य महात्मनः'। (६२,१) उत्तरी० 'ततः प्रतीपो राजा स ' =द० 'प्रतीपस्तु ततो राजा'।

इसी प्रकार पंक्तियों का व्यत्यय भी हो सकता है। इस दोष की उत्पत्ति प्रायः ऐसे होती है कि लिखते समय किसी लिपिकार से कुछ पंक्तियां छूट गईं। अपने लेख में कांट-छांट से बचने के लिए लुप्त पाठ को पन्ने पर अन्यत्र लिख दिया। इस प्रति को आदर्श मान कर लिखने वाला इस पाठ को उचित स्थान पर न रख कर अशुद्ध स्थान पर लिख सकता है। इस से उस प्रति को आदर्शभूत मानने वाली प्रतिलिपियों में सदा के लिए पंक्तिव्यत्यय हो जाएगा।

उदाहरण—कर्पूरमंजरी[१] प्रथम अंक, T प्रति में दूसरे और चौथे श्लोकों का व्यत्यय है।

(७) समानार्थशब्दांतरन्यास—

किसी शब्द अथवा शब्द-समूह के स्थान पर समान अर्थ वाले किसी अन्य शब्द अथवा शब्द-समूह के लिखे जाने को समानार्थशब्दांतरन्यास कहते हैं।

---

१. स्टेन कोनो संपादित, पृ० १।

उदाहरण—पंचतंत्र (१, ४) 'महिलारोप्यं नाम नगरम्', A प्रति में 'प्रमदारोप्यं नाम नगरम्'। महाभारत आदि पर्व[1] में रोष, कोप, क्रोध; ऋषि, मुनि; द्विज, विप्र; नरेश्वर, नरोत्तम, नराधिप, नरर्षभ; उवाच वद्नंतरं, पुनरेवाभ्यभाषत; निःश्वसंतं यथा नागं, श्वसंतमिव पन्नगम् इत्यादि का व्यत्यय।

इसी प्रकार विपरीतार्थशब्दांतरन्यास भी हो सकता है।

(८) हाशिए के शब्दों, टिप्पणों आदि का मूलपाठ में समावेश—

पढ़ते समय पाठक या शोधक अपनी प्रति के हाशिए में टिप्पण, अवतरण आदि लिख लेते थे। ऐसी प्रति को आदर्श मानकर लिखने वाला इनको भी मूलपाठ का अंग समझ कर पुस्तक में ही लिख सकता है।

उदाहरण—संदेशरासक की प्रति (नं० १८१—८२ पूना की भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट) में कुछ छन्दों की परिभाषाएं मूल पाठ में ही लिखी हैं। हरिषेण विरचित धम्मपरिक्खा की अम्बाले वाली प्रति[2] में शब्दार्थों को मूल पाठ में मिला दिया है जो इस रचना की अन्य प्रतियों में नहीं हैं। संभव है यह हाशिए आदि से ही मूल पंक्ति में आए हों।

(९) वाक्य के अन्य शब्दों के प्रभाव से किसी शब्द के रूप में परिवर्तन हो जाता है।

उदाहरण—महाभारत आदि० (६६, ८) 'आहूय दानं कन्यानां गुणवद्भ्यः स्मृतं बुधैः।' T, प्रति में 'बुधैः' के प्रभाव से 'गुणवद्भिः' है। रामायण[3] (१, १२, ८) 'त्वं गतिर्हि मतो मम', As में 'हि मतिर्मम'। (१, १६, २) 'सृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम्', A_7 (K_8) में 'सहस्रैश्च' पाठ है, जो 'वानराणां' के बहुवचन के प्रभाव से विकृत हुआ है।

(१०) विचार-विभ्रम से—

अपने सामने के लेख्य पाठ को देख कर लिपिकार को कोई अन्य बात सूझ जाती है और वह लेख्य पाठ को भूल कर अपने विचारों को लिख देता है।

उदाहरण—निरुक्त (२, २६) 'देवोऽनयत्सविता। सुपाणिः कल्याणपाणिः।

१—भूमिका पृ० ३७।

२—इसके परिचय के लिए देखो 'जैन विद्या' अंक २, पृ० ५५–६२ [हिंदी]

३—रामायण के उदाहरण कात्रे से उद्धृत किए हैं।

पाणिः पणायतेः पूणाकमेणाः । प्रगृह्य पाणी देवान्पूजयन्ति । तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः।' 'देवोऽनयत्सविता' ऋग्वेद (३, ३३, ६) का प्रथम पाद है। C_4 के लिपिकार को उत्तरपाद याद था अतः उसने प्रथम पाद को लिखकर उत्तरपाद को ही लिख डाला। परिणाम स्वरूप C_4 प्रति में 'कल्याणपाणि .....पूजयन्ति' लुप्त हो गया।

महाभारत उद्योग (१२७, २६) 'वश्येन्द्रियं जितामात्यम्' पाठ है। (१२७, २२ के 'विजितात्मा' और (१२७, २७) के 'अजितात्मा' की स्मृति से K, D, T, $G_{1\ 3\ 4}$ प्रतियों में 'वश्येन्द्रियं जितात्मानम्' पाठ हो गया।

(११) ध्वनि अथवा उच्चारण से—

पृथ्वीराज रासो की कई प्रतियों में अनुनासिकता का प्रयोग बहुत मिलता है जैसे नांम, रांम ... ... यह इस लिए हो सकता है कि इन प्रतियों के लिपिकार की ध्वनि में अनुनासिकता होगी। इसी प्रकार कई प्रतियों में 'व', 'ब' का भेद बहुत कम होता है कई प्रतियों में केवल 'व' मिलता है और कई में केवल 'ब'। बंगाली में 'व' नहीं इसलिए बंगालियों द्वारा लिखित संस्कृत भाषा में भी 'ब' का प्रयोग होता है, 'ज्ञ' का उच्चारण कई प्रदेशों में 'ग्य' के समान है, अतः कई प्रतियों में इसके स्थान पर 'ग्य' मिलता है जैसे—तुलसी रामायण (१, १७) ज्ञान, प्रति नं० १, २, ३ में ग्यान है।

(१२) भाषा की अनियमितता से—

प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी आदि भाषाएं इतनी नियमित नहीं हैं जितनी संस्कृत। अतः इन की प्रतियों में वर्ण विन्यास समान रूप से नहीं मिलता—अर्थात् एक ही शब्द भिन्न भिन्न प्रकार से लिखा जाता है।

उदाहरण—तुलसी रामायण (१ । २२० । १) यहु, यह, येह; (१ । २२८ । १) दुइ, दोउ; (२ । ५०) दूसर, दूसरि; (२ । ११५ । १) सुना एउ, सुनायेहु, सुनायेउ।

(१३) भाषा-व्यत्यय—

हिन्दी भाषा की प्रतियों में मूल में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का प्रांतीय तथा तद्भव रूप मिलता है।

उदाहरण—तुलसी रामायण (१ । १०, 'ग्राम्य', ४, ५ में 'ग्राम'; (३।१०।१०) 'कमारी,' ७ में 'कुँआरी'; आदि।

इसी प्रकार तद्भव तथा प्रांतीय शब्दों के स्थान पर संस्कृत रूप मिलते हैं।

उदाहरण—तुलसी रामायण (३ । ३२ । ५) 'सत' १, २, ३, ६ में 'सत्य'; (५ । ५४) विकटासि, ४ में विकटास्य आदि।

(१४) परिवर्तन

(क) जहां संधि संभव हो परंतु मूलपाठ में न हो, या जहां संधि संभव न हो परंतु आभास ऐसा हो कि संधि हो सकती है, वहां संस्कृत पुस्तकों की प्रतियों में प्रायः च, हि, अपि आदि पूरकों के प्रयोग से संधि की प्राप्ति का अभाव किया मिलता है।

उदाहरण—महाभारत आदि० (२,१५०) 'यत्र राज्ञा उलूकस्य', K₄ V₁ B D (B₄ D₁ के अतिरिक्त) प्रतियों में 'यत्र राज्ञा ह्युलूकस्य'। (२, २१२) 'तत आश्रम वासाख्यं', कई प्रतियों में 'ततश्चाश्रम०', 'ततश्चाश्रमवासश्च', पाठ हैं। महाभारत उद्योग० (३०, ६) उत्तरी धारा 'आचार्याश्च ऋत्विजो' —दक्षिणी धारा आचार्याश्चाप्यृत्विजो'; (३३, ३५) उ० 'अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो' —द० 'अनाहूतः संप्रविशेदपृष्टो'; (८६,६) द० 'मधुपर्कं च उपहृत्य' उ० 'मधुपर्कं चाप्युदकं च'; (१३६, ३६) उ० 'कृष्ण अस्मिन्यज्ञे' —द० 'कृष्ण तस्मिन्यज्ञे'।

(ख) व्याकरण आदि के अशुद्ध प्रयोगों को सुधारना।

उदाहरण—महाभारत आदि—(१, १६०) 'ये च वर्तन्ति'—पाठांतर 'वर्तन्ते ये च', 'ये वर्तन्ते च'; (२, ६३) 'हरणं गृह्य संप्राप्ते'—पाठांतर 'गृहीत्वा हरणं प्राप्ते', 'दत्त्वा चाहरणं तस्मै'; (७, २६) 'पुलोमस्य'—पाठांतर 'पुलोम्नस्तु', 'पुलोम्नश्च', 'पुलोम्नोथ'।

महाभारत उद्योग० (८६, १६) उ० 'व्यथिता विमनाभवन्'—द० 'विमना व्यथितोभवन्'; (३८, ८) 'अपकृत्वा'—'अपकृत्य'।

(ग) आर्ष, असाधारण अथवा कठिन प्रयोगों का दूर करना।

उदाहरण – महाभारत उद्योग० (३४, ३८) उ० 'अपाचीनानि'—द० 'अपनीतानि'; (७, २८) उ० 'कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा युद्धान् मेने जितं जयम्'——— द० 'कृष्णं चापि महाबाहुमामन्त्र्य भरतर्षभ'।

तुलसी रामायण (१ । ३४४ । ३) 'तनु धरि धरि दसरथ गृहं छाए'—३-८ में '...आए'; (३ । २१ । ५) 'मन डोला'—४, ५ 'मति डोली'; (७ । ७५) अति सैसव—६ 'अति सै सब'; ४, ५ 'अतिसय सब'; ७ 'अतिशय सुखद'; (७ । ८६।७) 'अखिल बिस्व यह मोर उपाया— ६ में 'अखिल बिस्व यह मम उपजाया'।

(घ) छंदोभंग को दूर करना।

उदाहरण – महाभारत उद्योग० (२०, २०) 'विनतां विषण्णवदनां'—पाठांतर 'विषण्णरूपां विनतां', 'विनतां दीनवदनां', विषण्णवदनां कद्रूः ; (६२, ४) 'करवाणि किं ते कल्याणि'—'किं ते करोमि कल्याणि', 'किं ते कल्याणि करवै', 'करवाणि किमद्याह'।

महाभारत उद्योग० (७, १३) द० 'मया तु दृष्टः प्रथमं कुन्तीपुत्रो धनंजयः'—

उ० 'दृष्टस्तु प्रथमं राजन्मया पार्थो धनंजयः' उ० 'अभिवादयन्ति वृद्धांश्च ;—द० 'अभिवादयते वृद्धान्' ; द० 'दयितोऽसि राजन्कृष्णस्य —उ० प्रियोऽसि......'।

(१५) प्रक्षेप—

किसी रचना में जान बूझ कर पाठ बढ़ाने को प्रक्षेप कहते हैं। शब्द, वाक्य और श्लोक के प्रक्षेप से लेकर बड़े अवतरणों और सर्गों तक का प्रक्षेप दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण प्रायः करके शोधक या पाठक होता है।

(क) किसी वस्तु की संख्या सूची में आधिक्य।

उदाहरण—निरुक्त (२, ६) B धारा में 'वृक्षो व्रश्चनात्। नियतामीमयत् ... ...'है। A धारा में 'वृक्षो व्रश्चनात्। वृत्वा क्षां तिष्ठतीतिवा। क्षा क्षियतेर्निवास-कर्मणः। नियतामीमयत् ... ...' है।

(२, १३) B धारा में 'सूर्यमादितेयमेवम्' है।

A धारा में 'सूर्यमादितेयमदितेः पुत्रमेवम्' है।

महाभारत आदि० अध्याय ६४ में दक्षिणधारा में विद्याओं की सूची लम्बी कर दी है —

*५८६ 'शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः।
द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभिः॥
जल्पवादवितण्डज्ञैर्व्यासग्रन्थसमाश्रितैः।
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम्॥'

(ख) किसी विशेष दृश्य आदि के प्रस्तुत वर्णन को विस्तृत करना।

उदाहरण—पृथ्वीराजरासो की कई प्रतियों में युद्ध, विवाह आदि का वर्णन अन्य कई प्रतियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

महाभारत आदि०, परिशिष्ट १, ७८ में युद्ध-वर्णन को विस्तृत किया है—उ० में २ पंक्तियां, द० में ११६ पंक्तियां हैं।

(ग) आख्यान, युद्ध, विवाह आदि को कई बार वर्णन करना।

उदाहरण—महाभारत आदि० द० में कृष्णा और धृष्टद्युम्न के जन्म का अद्भुत वृत्तांत अध्याय १५५ और परिशिष्ट १,७६ में दुहराया है।

पृथ्वीराज रासो की कई प्रतियों में पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों, आखेटों आदि का वर्णन बार बार किया हैं, परंतु अन्य प्रतियों में यह वर्णन इतनी बार नहीं आते।

(घ) उचित स्थान पर सदुक्ति का प्रयोग करना। महाभारत आदि० की दक्षिणी धारा में निम्नलिखित श्लोक हैं जो उत्तरी धारा में नहीं हैं—

५६५* अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापेनावृतो मूर्खस्तेन आत्मापहारकः।

६०५* पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।

११८६* पुत्रं वा किल पौत्रं वा कासांचिद् भ्रातरं तथा।
रहसीह नरं दृष्ट्वा योनिरुत्क्लिद्यते ततः। आदि।

(ङ) सैद्धांतिक अवतरणों का डालना।

उदाहरण—रामानुज[1] आम्नाय में प्रचलित रामायण (R_1) में ५, २७, २०-३२ मिलता है जो अन्यत्र नहीं मिलता।

(च) आदर्श के त्रुटित अंशों को पूरा करने के निमित्त।

उदाहरण—बुद्धचरित की प्राचीन प्रति त्रुटित थी। इस से प्रतिलिपि करते समय अमृतानंद ने त्रुटित अंशों को आप पूरा कर दिया[2]।

(छ) पूर्वापर विरोध को दूर करने के लिए।

उदाहरण—महाभारत आदि० (परिशिष्ट १,८०) = बम्बई संस्करण अ० १३९ में युधिष्ठिर की युवराजपद पर नियुक्ति और अर्जुन का अपने गुरु से युद्ध करने का प्रायश्चित्त प्रक्षेप हैं।

(ज) नाटकों को रंगमंच पर खेलते समय नट नटी अपनी परिस्थिति के अनुकूल कुछ न कुछ परिवर्तन कर लेते थे। संभव है कि इसी कारण से कालिदास के शाकुंतल के कई पाठ भेद हो गए हों।

---

१. कात्रे पृ० ६२।

२. जानस्टन संपादित बुद्ध-चरित, भाग १, भूमिका पृ० ८।

पाचवां अध्याय

पुनर्निर्माण

उपलब्ध मूल और सहायक सामग्री के निरीक्षण और विवेचन से हम काल्पनिक मूलादर्श के पाठ का अनुमान कर सकते हैं । यही प्राचीनतम पाठ है जिस तक हम पहुंच सकते हैं । इस प्राचीनतम पाठ के स्वरूप को मालूम करना उस का **पुनर्निर्माण** कहलाता है । इस पुनर्निर्मित पाठ और रचयिता के मौलिक पाठ के बीच कई प्रतिलिपियों का अंतर हो सकता है जो अब विलुप्त हो चुकी हों। इन प्रतियों के लिपिकारों ने भी मौलिक पाठ में अवश्य विकार उत्पन्न किया होगा। इस लिए यह आवश्यक नहीं कि यह पाठ मौलिक पाठ से मिलता जुलता हो । प्राय: करके यह पाठ किसी भी उपलब्ध प्रति के पाठ से थोड़ा बहुत भिन्न होगा । हम निश्चित रूप से यह भी नहीं कह सकते कि यह पाठ सब से उत्तम है । परंतु यह उपलब्ध प्रतियों के पाठों से प्राचीन होगा क्योंकि यही तो इन सब का आधारभूत है । इस में लिपिकार की अशुद्धियों का और अप्रामाणिक शोधन का इतना स्थान नहीं, जितना कि उपलब्ध प्रतियों में होता है । पुनर्निर्मित पाठ और मौलिक पाठ के बीच इतने लिपिकारों और शोधकों का हस्तक्षेप नहीं जितनों का उपलब्ध प्रतियों के पाठ और मौलिक पाठ के बीच होता है क्योंकि काल्पनिक मूलादर्श या इस पुनर्निर्मित पाठ से उपलब्ध प्रतियों तक पाठ कई लिपिकारों तथा शोधकों के हाथ से गुजर कर आता है । इन्हों ने प्रस्तुत पाठ पर अपनी छाप छोड़ी होती है । इन के अस्तित्व का ज्ञान प्रतियों के निरीक्षण से प्राप्त हो जाता है । अत: यह पाठ उपलब्ध प्रतियों के पाठों से अधिक शुद्ध होगा और मौलिक के अधिक निकट होगा ।

पुनर्निर्माण की विधि—

काल्पनिक मूलादर्श के पुनर्निर्माण की विधि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी ।

एक संपादनीय ग्रंथ की आठ प्रतियां उपलब्ध हुईं—क ख ग घ ङ च छ ज। इन के पाठों के विवेचन और मिलान से पता चला कि इन में से क ख ग घ ङ प्रतियों का एक गण बनता है और च छ ज का दूसरा गण । अर्थात् क ख ग घ ङ काल्पनिक आदर्श " य " के आधार पर लिखित हैं और शेष " र " के । इन के निरीक्षण से पता लगा कि "य" गण के तीन उपगण हो सकते हैं—क ख, ग घ,

और ङ। ङ अकेला है। क ख का काल्पनिक आदर्श "ल" है और इन में से भी ख क की प्रतिलिपि है। और ग घ का काल्पनिक आदर्श "व" है। इन सब प्रतियों का मूल स्रोत काल्पनिक मूलादर्श "श" है। इन प्रतियों के परस्पर संबंध का चित्र इस प्रकार बनता है।
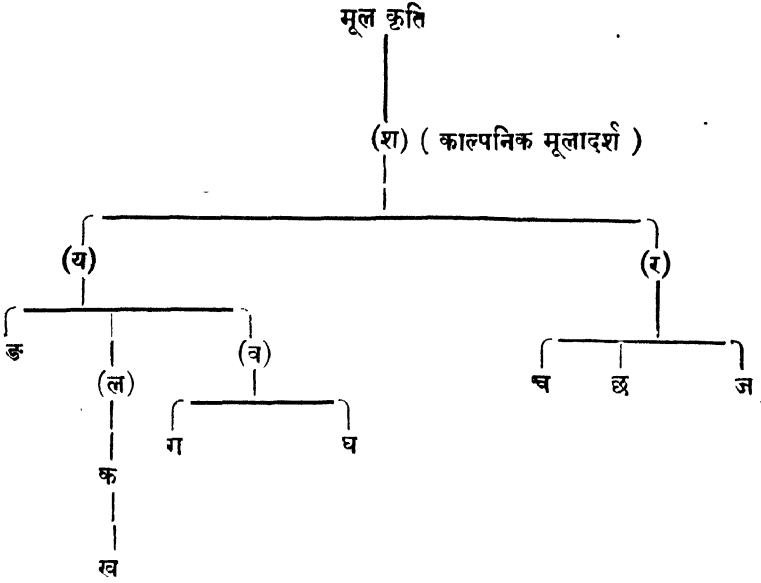
इस उदाहरण में सब प्रतियों को असंकीर्ण माना है। यदि यह निश्चित है कि ख क की प्रतिलिपि है, तो पाठ-पुनर्निर्माण में इस की उपेक्षा हो सकती है। इस का प्रयोग केवल उन स्थलों में किया जाएगा जहां ख के लिपिकृत होने के बाद क त्रुटित हो गया हो। अतः अब क ग घ ङ च छ ज (और उचित स्थल पर ख) प्रतियों के आधार पर काल्पनिक मूलादर्श "श" का पुनर्निर्माण करना है।

(१) जो पाठ सब प्रतियों में समान रूप से विद्यमान है, वही "श" का पाठ है। यह संपादन का मूल सिद्धांत है कि सब प्रतियों का समान पाठ मौलिक पाठ है।

(२) यदि "य" गण में एक पाठ है और "र" गण मे दूसरा, तो हम निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि "श" का पाठ कौन सा था। यह दोनों पाठ मौलिक हो सकते हैं। हम किसी पाठ को केवल इस लिए मौलिक नहीं मान सकते कि उस पाठ को धारण करने वाली प्रतियों की संख्या न धारण करने वाली प्रतियों से अधिक है, और न ही इस लिए कि "य" गण के उपगणों में वह पाठ समान रूप से मिलता है।

'प्रतियों की संख्या नहीं देखी जाती, उन की विश्वसनीयता की जांच की जाती है'—यह संपादन का अन्य मूल सिद्धांत है।

उदाहरण—मालतीमाधव के संस्करण में भांडारकर ने अंक ३ श्लोक ७ के पूर्वपाद का पाठ N प्रति के आधार पर 'स्खलयति वचनं ते स्रसयत्यंगमंगम्' माना है। शेष आठ प्रतियों में समान पाठ था 'स्खलयति वचनं ते संश्रयत्यंगमंगम्'। इस का कारण है कि N प्रति का पाठ जगद्धर की टीका में भी मिलता है। अतः बहु संख्यक प्रतियों के पाठ को भी त्याज्य समझना पड़ा।

यदि इन दो (या अनेक) पाठों में से भाषा, लिपि आदि के कारण किसी एक पाठ का शेष पाठ विकृत रूप हो सकते हों तो यह पाठ मूल पाठ है।

उदाहरण १—यदि "य" गण की प्रतियां उत्तर भारत की लिपियों में लिखित हों और "र" गण की दक्षिण भारत की लिपियों में हों, और यदि "य" गण में पाठ 'धिष्ठिता' हो और "र" गण में 'विष्ठिता', तो 'धिष्ठिता' मूल पाठ हो सकता है क्योंकि विष्ठिता' लिपि-भ्रम से 'धिष्ठिता' का विकृत रूप हो सकता है। उत्तर भारत की प्राचीन लिपियों में 'ध' और 'व' की आकृति समान होती थी। इस प्रसंग से एक और बात भी ज्ञात होती है कि 'र' गण का काल्पनिक आदर्श उत्तर भारत की लिपि में था या वह उत्तर भारत की लिपि के किसी आदर्श की प्रतिलिपि था। अतः रचना उत्तर से दक्षिण को गई थी।

उदाहरण २—यदि सब प्रतियां शारदा लिपि के आदर्श के आधार पर देवनागरी लिपि में लिखी गई हों अर्थात् 'श' शारदा लिपि में हो, और यदि 'य' गण में 'उषा' और 'र' गण में 'तथा' पाठ हों, तो 'तथा' मूल पाठ होगा क्योंकि शारदा लिपि के 'त' और 'थ' देवनागरी लिपि के 'उ' और 'ष' से मिलती जुलती आकृति वाले होते हैं।

(३) यदि 'य' गण की प्रतियों में पाठ-भेद हो, अर्थात् 'व' गण का पाठ ङ और 'ल' गण के सम पाठ से भिन्न हो, तो (य) गण में दो पाठ हो गए। इन में से कोई एक (मान लो कि (व) गण का) पाठ (र) गण की प्रतियों के पाठ से मिलता है तो (य) का पाठ (र) (व) के आधार पर निर्धारित किया जाएगा न कि ङ, (ल) के आधार पर। (व) और (र) की पाठ-समानता का समाधान उन धाराओं के संकर और आकस्मिक सरूपता के अतिरिक्त इस बात से हो सकता है कि (व) में (य) और (र) का साधारण पाठ अर्थात् (श) का पाठ मिलता है। ऐसी अवस्था में

ङ और (ल) के पाठ को अपपाठ, अशुद्ध या अनिष्ट पाठ कहते हैं। यह ग्राह्य नहीं।

इस विधि से दो प्रकार का लाभ है। पहला तो यह कि कुछ पाठांतर छोड़े जा सकते हैं, और दूसरा यह कि काल्पनिक मूलदर्श (श) के कुछ ऐसे पाठों का अनुमान किया जा सकता है जो सब प्रतियों का साधारण पाठ न हों।

काल्पनिक आदर्श और मूलादर्श का पुनर्निर्माण

भिन्न भिन्न काल्पनिक आदर्शों और मूलादर्श के पुनर्निर्माण की विधि निम्नलिखित है। प्रतियों के संकेत सब ऊपर वाले चित्र ही के अनुसार हैं।

(१) (व) का पुनर्निर्माण इस प्रकार हो सकता है—

ग घ के सम पाठ (व) के पाठ हैं।

यदि ग और घ में पाठ-भेद है और इन में एक पाठ (य) गण की शेष प्रतियों से मिलता है, तो वह (व) का पाठ है। क्योंकि कई भिन्न परम्परा वाली प्रतियों के सम पाठों का आधार मूलपाठ (श) हो सकता है, इसलिए ग घ की व्यक्तिगत अशुद्धियां (व) के पुनर्निर्माण में सहायक नहीं हो सकतीं।

इसी प्रकार यदि ग घ में पाठ-भेद है और इन में से कोई एक पाठ (र) गण या उस की किसी प्रति से मिलता है; तो वही (व) का पाठ है।

यदि ग घ के पाठ न परस्पर मिलते हों और न ही अन्य किसी प्रति से, तो हम नहीं कह सकते कि कौनसा पाठ (व) का है, अतः इस का पाठ संदिग्ध रह जाता है।

(२) (ल) का पुनर्निर्माण भी ऊपर वाली विधि से क, ङ (व) और (र) के मिलान से होगा। इस में उसी प्रकार निश्चय या सन्देह विद्यमान रहेंगे।

(३) (य) का पुनर्निर्माण उपर्युक्त नियमों के अनुसार ङ, (ल) (व) (र) के आधार पर होगा।

(४) (र) का पुनर्निर्माण इस प्रकार होगा—

च छ ज के सम पाठ (र) के पाठ हैं।

यदि इन प्रतियों में पाठ-भेद हो और इन में से कोई एक पाठ (य) गण या उस के उपगणों या उस की किसी प्रति के पाठ से मिलता हो, तो यह समान पाठ ही (र) का पाठ होगा। इस पाठ-समता का समाधान इन धाराओं के संकर और आकस्मिक सरूपता के अतिरिक्त इसी बात से हो सकता है कि सम पाठ ही (र) का पाठ था और यही (श) का पाठ भी था।

यदि च छ ज के पाठ न परस्पर मिलते हों और न ही अन्य किसी प्रति के पाठ से, तो (र) का पाठ संदिग्ध रह जाएगा।

इस सब का सार यह है कि क ख ग घ ङ च छ ज प्रतियों में से किसी एक प्रति में उपलब्ध वह पाठ, जो दूसरी प्रतियों के पाठ से भिन्न हो, (य) या (र) के पुनर्निर्माण में प्रायः सहायता नहीं कर सकता। इसलिए इस को अपपाठ मान कर, इस की उपेक्षा की जा सकती है।

यदि काल्पनिक मूलादर्श (श) से (य) और (र) के अतिरिक्त अन्य धाराएं भी निकलती हों, तो भी (य) (र) आदि का पुनर्निर्माण ऊपर बतलाई विधि से ही होगा।

(५) काल्पनिक मूलादर्श (श) का पुनर्निर्माण इस प्रकार होगा—

(य) (र) के पुनर्निर्मित समपाठ (श) के पाठ होंगे।

यदि इन में पाठ भेद हो, अर्थात् (य) का एक पाठ हो और (र) का दूसरा, तो इन में से कोई सा भी पाठ (श) का हो सकता है। यह पाठ संदिग्ध रहेगा। परंतु यदि वर्णों के आकार आदि के कारण एक पाठ दूसरे पाठ का विकृत रूप हो सके, तो दूसरा पाठ ही मूल पाठ होगा।

यदि (य) में भी पाठ-भेद हो और (र) में भी, तो इन में से किन्हीं दो या अधिक प्रतियों का सम पाठ (श) का पाठ हो सकता है। यदि किसी भी प्रति का पाठ दूसरी के पाठ से न मिले तो (श) का पाठ संदिग्ध होगा।

(६) यदि काल्पनिक मूलादर्श (श) से (य) (र) (ह) आदि अनेक धाराओं का उद्गम हुआ हो, तो (श) पाठ का पुनर्निर्माण इन में से किन्हीं दो या अधिक धाराओं के समपाठ से होगा। परन्तु जब इन धाराओं में भिन्न भिन्न पाठ हों, या जब किन्हीं दो या अधिक धाराओं की पाठ-समानता आकस्मिक हो, या परस्पर मिलान के कारण हो तो (श) का पाठ संदिग्ध होगा।

(७) संकीर्ण धाराओं के आधार पर (श) का पुनर्निर्माण—

पुनर्निर्माण के विषय में ऊपर जो लिखा गया है उस में भिन्न भिन्न धाराओं को शुद्ध माना गया है। परन्तु प्रायः देखने में आता है कि धाराएं शुद्ध नहीं होतीं, उन में अन्य धाराओं का संकर दृष्टिगोचर होता है। (श) की तीन धाराएं हैं— (य) (र) और (ह)। यदि (य) (र), (र) (ह), और (ह) (य) का परस्पर संकर हुआ हो, तो (य) (र) (ह) में से किसी एक धारा के पाठ को पाठांतर मानना पड़ेगा जो साधारण परिस्थिति में ग्राह्य नहीं होता। हम नहीं कह सकते कि इन भिन्न पाठों में कौन सा पाठ मौलिक है। अतः इन पाठों की महत्ता पुनर्निर्माण के लिए बराबर है।

पुनर्निर्माण के कुछ नियम—

पुनर्निर्माण में पाठ को ग्रहण करते समय सब से पूर्व यह प्रश्न उठता है कि 'क्या रचयिता ने यही पाठ लिखा था ?' इस बात का निर्णय करते समय हमें उस रचयिता के भाव, भाषा, शैली आदि का और पूर्वापर प्रसंग का ध्यान रखना पड़ता है। हम यह तो कह सकते हैं कि अमुक पाठ यहां पर हो ही नहीं सकता, परन्तु यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि यहां पर यही पाठ होना चाहिए। हम अपनी समझ के अनुसार पाठ को ग्रहण करते हैं। भिन्न भिन्न विद्वान भिन्न भिन्न निर्णय पर पहुंच सकते हैं और भिन्न भि: पाठ को मौलिक मान सकते हैं। इन पाठों के औचित्य की परस्पर तुलना कैसे की जाए ? इन में से कौन सा पाठ अन्य पाठों से अधिक उचित है ? किस को ग्रहण करें ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए संपादक को चाहिए कि सब प्रतियों के उपलब्ध पाठों पर अच्छी तरह विचार करे। यदि कोई पाठ अर्थहीन हो, पूर्वापर विरोधी हो, अप्रासंगिक हो, व्याकरण आदि के नियमों का उल्लंघन करता हो, रचयिता की व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुकूल न हो, पुनरुक्ति हो, रचयिता द्वारा प्रयुक्त छंदों के नियमों के प्रतिकूल हो, प्रसंग को नष्ट भ्रष्ट करता हो, विचारधारा में ऐसी अड़चन डालता हो जिसका समाधान न हो सके, तो हम निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि वह पाठ मौलिक नहीं, अशुद्ध है, दूषित है। इसको मूल पाठ में ग्रहण नहीं कर सकते। इसका सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह दोष किसी प्रकार भी दूर न हो सके, तो पाठ को अति दूषित समझ कर छोड़ देना पड़ता है।

प्राय: देखा जाता है कि इन दूषित पाठों के स्थान में कोई न कोई ऐसा पाठ रखा जा सकता है। जो प्रस्तुत प्रकरण में संगत हो। इसको सुधार कहते हैं।

पाठ वही उचित है जो ठीक अर्थ दे, जो प्रकरण में संगत हो, रचयिता के भावों के अनुकूल हो, उस की साधारण शैली और भाषा के प्रतिकूल न हो, जिस से छंदोभंग न हो, विचार-धारा न टूटे, और पुनरुक्ति न हो। जो पाठ इन सब बातों को पूरा करे, उसे विषयानुसंगत कहते हैं। उस के इस गुण को विषयानुसंगति कहते हैं।

प्राचीन और अप्रचलित भाषाओं के विषय में एक और बात का ध्यान रखना चाहिए। हम उन के शब्दों का वह अर्थ लगा सकते हैं जो हमारे लिए तो संतोषप्रद हो, अभीष्ट हो परन्तु मूल रचयिता के लिए ऐसा न हो। हम नहीं कह

सकते कि उसे भी हमारा अर्थ ही अभीष्ट था। अब भी देखने में आता है कि रचयिता के शब्दों को न समझ कर या कुछ का कुछ समझ कर पत्र आदि के संपादक कई स्थानों पर अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। हम किसी प्राचीन रचना को अपनी भाषा, भाव, शैली आदि के नियमों और विचारों से न जांचें, अपितु उस रचना के समय प्रचलित विचार, भाव, भाषा, शैली आदि के नियमों से जांचें। हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि अमुक रचयिता ने यहां पर क्या लिखा या सोचा होगा या वह क्या लिख या सोच सकता था। सपादक को इस बात से कोई वास्ता नहीं कि उस रचयिता को यहां पर क्या लिखना या सोचना चाहिए था।

पाठ औचित्य के विषय में एक यह बात भी देखनी पड़ती है कि उपलब्ध प्रतियों का समपाठ या उन के सब पाठ-भेद गृहीत पाठ के विकृत रूप हो सकते हों, और "लिपिकारों ने यह अशुद्धियां कैसे कीं", इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता हो। इस के लिए पिछले अध्याय में निरूपित दोष और उन के कारणों का परिज्ञान आवश्यक है। जो पाठ उपलब्ध पाठ भेदों का मूल कारण हो सके उस पाठ को **लेखानुसंगत** और उस के इस धर्म को **लेखानुसंगति** कहते हैं।

लेखानुसंगति के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि प्रस्तुत पाठ उपलब्ध प्रतियों में हो सकता हो। उदाहरण—किसी रचना की प्रतियों में 'विष्ठिता' और धिष्ठिता पाठ हैं, इन में से कौन सा ऐसा शब्द रखा जाए जो विषयानुसंगत भी हो और लेखानुसंगत भी। 'धिष्ठिता' विषयानुसंगत है। यह लेखानुसंगत भी है क्यों कि उत्तर भारत की प्राचीन लिपियों में 'ध' और 'व' समान आकृति वाले हैं।

प्रत्येक पाठ की इस प्रकार की परीक्षा के पश्चात् चार परिणाम हो सकते हैं—स्वीकृति, संदेह, त्याग और सुधार।

स्वीकृति—यदि संपादक निश्चयपूर्वक कह सके कि अमुक पाठ रचयिता को अभीष्ट था या हो सकता था, तो वह उसे मूल पाठ में स्वीकार करेगा। इस को स्वीकृति कहते हैं।

पाठ को स्वीकृति में विशेष ध्यान देने योग्य यह बात है कि कठिन पाठ प्रायः आसान पाठों से अच्छे होते हैं, और छोटे पाठ प्रायः लम्बे पाठों से प्राचीन होते हैं। 'कठिन' से हमारा अभिप्राय 'लिपिकार के लिए कठिन' और 'आसान' से 'लिपिकार के लिए आसान' है। हम पहले बतला चुके हैं कि जिस पाठ को लिपिकार नहीं समझता, उसे प्रायः वह अशुद्ध मान कर अपनी मति से सुधार देता है। परन्तु लिपिकार के सुधार ऊपरी होते हैं, वह पाठ की तह तक नहीं पहुंचते। वह उपयुक्त

दिखाई देते हैं। वास्तव में वह उपयुक्त नहीं होते। इसलिए आदि के टिप्पण मूल पाठ में आकर पाठ को लम्बा कर देते हैं। अतः लम्बे पाठ की अपेक्षा छोटे पाठ प्रायः अधिक शुद्ध, प्राचीन और मौलिक होते हैं।

संदेह—यदि संपादक यह निर्णय न कर पाए कि कौन सा पाठ मौलिक है, तो इस अवस्था को संदेह की अवस्था कहते हैं।

संदेह तब पैदा होता है जब विषयानुसंगति के कारण एक पाठ प्रामाणिक हो, परन्तु लेखानुसंगति किसी अन्य पाठ की पुष्टि करती हो, या संपादक को स्वयं इस बात का विश्वास न हो कि उस ने सब सामग्री का प्रयोग किया है। संपादक प्रायः दूसरी प्रकार के संदेह की अनुभूति तो करता है परन्तु इस बात को स्वीकार नहीं करता।

संपादन में संदिग्ध पाठों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कोई पाठ 'संदेह पूर्वक स्वीकृत' है अथवा 'संदेह पूर्वक त्यक्त' है, इस बात का भी स्पष्ट निर्देश होता है।

त्याग—जब संपादक को यह विश्वास हो जाता है कि अमुक पाठ मौलिक नहीं, तो वह उस को त्याग देता है। ऐसी अवस्था में उस पाठ को या तो उड़ा दिया जाता है या ब्रैकटों में रख दिया जाता है।

सुधार—जब संपादक इस निश्चय पर पहुंचे कि भिन्न भिन्न पाठों में से कोई पाठ भी विषयानुसंगत और लेखानुसंगत ,नहीं, तो वह उस पाठ को सुधारने का प्रयत्न करता है। सुधारा हुआ पाठ विषयानुसंगत भी हो और लेखानुसंगत भी। इस का विशद विवेचन अगले अध्याय में किया जाएगा।

अध्याय ६

पाठ-सुधार

सुधार की आवश्यकता—

हम ऊपर बतला चुके हैं कि पुनर्निर्मित पाठ सदा मौलिक पाठ से मिलता जुलता हो ऐसा नहीं होता। उस में कुछ न कुछ दोष होते हैं जो उपलब्ध सामग्री के आधार पर दूर नहीं किए जा सकते। इस लिए मूल पाठ तक पहुंचने के निमित्त हमें और आगे जाना पड़ता है। इन दोषों को यथाशक्ति हटाने के लिए पाठ-सुधार करना होगा।

सुधार की परीक्षा—

संपादक पूर्ण निश्चय से नहीं कह सकता कि किसी दूषित पाठ को हटा कर इसके स्थान पर कौनसा दूसरा पाठ रखा जा सकता है। इस बात के लिए उसे अपनी बुद्धि और ज्ञान पर आश्रित होना पड़ता है। भिन्न भिन्न विद्वान् भिन्न भिन्न सुधार उपन्यस्त कर सकते हैं। इस लिए यह देखना है कि इन में से कौन सा सुधार अन्य सुधारों से अधिक उचित है ? किस को ग्रहण करें ? इस के उत्तर में हमें पुनः पिछली दोनों बातों अर्थात् विषयानुसंगति और लेखानुसंगति पर ध्यान देना होगा जिन के आधार पर पुनर्निर्माण में अनेक पाठांतरों में से मौलिक पाठ को मालूम किया था, सुधार के सम्बन्ध में भी इन्हीं दोनों बातों से परीक्षा की जाती है।

सुधार वही उपयुक्त है जो विषयानुसंगत भी हो और लेखानुसंगत भी।

जो सुधार ठीक अर्थ दे, प्रकरण में संगत हो, रचयिता के भावों के अनुकूल हो, उसकी भाषा और शैली के प्रतिकूल न हो, वह विषयानुसंगत है।

वह सुधार लेखानुसंगत भी हो, अर्थात् वह उपलब्ध प्रतियों के पाठ भेद का स्रोत हो। यह पाठ भेद लिपिकारों द्वारा कैसे उत्पन्न हुआ, इस बात का समाधान कर सके।

लेखानुसंगति के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि प्रस्तुत शोध्य दोष उपलब्ध प्रतियों में लिपि-भ्रम से उत्पन्न हुआ हो जैसे—किसी रचना की प्रतियों में 'विष्ठिता' पाठ है और यह अर्थ नहीं देता। इस के स्थान पर कौन सा ऐसा शब्द रखा जाए जो विषयानुसंगत भी हो और लेखानुसंगत भी। यहां पर 'धिष्ठिता' लेखानुसंगत है क्योंकि उत्तर भारत की प्राचीन लिपियों में 'ध' और 'व' समान आकृति वाले होते हैं। यदि यह शब्द विषयानुसंगत भी हो तो यह ग्राह्य है।

यदि कोई सुधार यौगपद्येन विषयानुसंगत और लेखानुसंगत न हो, तो यह विषयानुसंगत है या लेखानुसंगत इस बात के अनुसार इस की ग्राह्यता में अन्तर पड़ जाता है। जो सुधार लेखानुसंगत न हो परन्तु पूर्ण रूप से विषयानुसंगत हो, वह तो ग्राह्य हो सकता है। जो लेखानुसंगत तो हो परन्तु विषयानुसंगत न हो, वह कदापि ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी लिए तो आवश्यक है कि सम्पादक को लिपिज्ञान के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ जानना जरूरी है। उसे रचियता की भाषा, शैली, भाव आदि का विशेष अध्ययन करना चाहिए।

संपादन-पद्धतियां—

सम्पादन में सुधार का क्या स्थान है, इस के अनुसार सम्पादन-कार्य की दो पद्धतियां हैं—प्राचीन और नवीन।

प्राचीन पद्धति में सुधार को कोई स्थान नहीं। इसके अनुयायी प्रस्तुत पाठ में सुधार किए बिना ही येन केन प्रकारेण अर्थ लगाते हैं। वह प्रस्तुत शब्दों से पूर्वापर प्रसंग द्वारा ज्ञात अर्थ को निकालने का प्रयत्न करते हैं, चाहे वह अर्थ उन में हो चाहे न हो। यदि वह अपने इस प्रयत्न में सफल नहीं होते, तो वह प्रस्तुत पाठ को दूषित या अशुद्ध प्रयोग मान कर रचयिता के माथे मढ़ देते हैं। वह उस को रचियता का असाधारण प्रयोग या उस की व्यक्तिगत विशेषता बतलाते हैं। इस में सन्देह नहीं कि धुरंधर विद्वान् और सुप्रसिद्ध ग्रंथकार की कृतियों में भी असाधारण प्रयोग और अशुद्धियां मिलती हैं। इस का यह अर्थ नहीं कि हम इन अशुद्धियों को संपादित पाठ में ज्यों का त्यों छोड़ दें—केवल यह सोच कर कि शायद यह पाठ मौलिक हो। इस से रचना को अधिक हानि पहुंचने की संभावना है।

इस पद्धति के अनुसार वही पाठ मौलिक हो सकता है जो प्रतियों आदि के आधार पर हम तक पहुंचा हो। सम्पादक यदि कहीं पर सुधार करे भी, तो इस को टिप्पणों में या परिशिष्ट में रखे। इस से पाठ तो अवश्य वही रहेगा जिस के प्रमाण हमारे पास विद्यमान हैं परन्तु पढ़ने में अड़चन पड़ेगी। पदे पदे पाठक को अर्थ समझने के निमित्त ठहरना पड़ेगा और अपनी बुद्धि पर जोर देना होगा।

नवीन पद्धति के अनुसार अशुद्ध पाठ का सुधार करना अच्छा है परन्तु क्लिष्ट कल्पना से केवल अर्थ लगाना अच्छा नहीं। सम्पादक मूल में उस पाठ को देगा जो विषयानुसंगति और लेखानुसंगति के परस्पर तौल से मौलिक सिद्ध हो। मूलपाठ से संबद्ध सब सामग्री को वह तुलनात्मक टिप्पणों में देगा। हर बार उपस्थित पाठ की ही जांच करेगा, वह यह नहीं देखेगा कि अन्यत्र उसने क्या निर्णय किया था।

इस में संदिग्ध पाठों को विशेष रूप से दिखलाना होता है कोई पाठ 'सन्देह-पूर्वक स्वीकृत' है या 'सन्देह पूर्वक त्यक्त', इस बात का संकेत भी रहता है।

शोधक को प्रायः अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिए। उस के लिए इस बात का कोई महत्त्व नहीं कि किसी पाठ को पूर्ववर्ती संपादक या संपादकों ने ग्रहण कर रखा है। हम यह नहीं जान सकते कि उन्हों ने किसी पाठ को निजी ऊहापोह से अपनाया था या पहले सम्पादकों के विचारों से प्रभावान्वित हो कर। अतः जब तक कोई सम्पादक किसी पाठ की मौलिकता को स्वयं सिद्ध न कर ले, वह उसे मूल पाठ में न रखे।

इस बात का निर्णय करना बड़ा कठिन है कि लिपिकार की बजाए मूल रचयिता के माथे कौन कौन सी अशुद्धियां मढ़ी जायें। इस विषय में कोई उत्सर्ग नियम नहीं बनाया जा सकता। परिस्थिति के अनुसार ही निर्णय करना चाहिए। यदि मूल प्रति उपलब्ध न हो तो हम लिपिकार और रचयिता के दृष्टि मूलक दोषों में भेद नहीं कर सकते। वास्तव में यह लिपिकार के ही दोष होते हैं क्योंकि यदि रचयिता मूल प्रति को स्वयं लिखे तो वही उसका लिपिकार है।

यदि रचयिता ने कहीं जान बूझ कर अशुद्ध पाठ का प्रयोग किया हो, तो उस का सुधार नहीं करना चाहिए।

संदिग्ध पाठ—

कई विद्वानों का मत है कि संदिग्ध पाठ का निर्णय न करके उसे ज्यों का त्यों छोड़ देना चाहिए। यह सिद्धांत आसानी से प्रयुक्त किया जा सकता है परन्तु मानव स्वभाव के कारण इस का परिणाम अच्छा नहीं होता। प्राचीन साहित्य उस की अशुद्धियों को दूर करने के लिए नहीं पढ़ा जाता, वस्तुतः उस से आनन्द लिया जाता है। पाठक को उसे समझने में जितना कष्ट होगा उतना ही वह उसे कम पढ़ेगा। यदि उस दूषित पाठ को मूल में रहने दिया जाए जिस का सुधार हो सके और जिस का शोधित रूप ऐसा अर्थ दे सके जो पूर्वापर प्रसंग द्वारा आकांक्षित हो, तो द्विविध परिणाम होता है। प्रथम, उस संदर्भ का अभिप्राय ही पाठक के मस्तिष्क से दूर हो जायगा क्योंकि वह उसे समझने का काफ़ी परिश्रम न करेगा। इस का अर्थ यह होगा कि पाठक के लिए उस का अभाव प्राय हो जाएगा। दूसरे, पाठक आगे पीछे के शब्दों के वास्तविक अर्थ को तोड़ मोड़ कर उस संदर्भ से पूर्वापर प्रसंग द्वारा वांछित अर्थ को प्राप्त कर लेगा। अर्थ तो निकल आया परन्तु इस से पाठक को हानि होती है। वह उस पाठ के अर्थ को सम्यग् रूप से नहीं जान पाता, अतः जब

फिर कभी उसे समान पाठ मिलता है तो उस के मस्तिष्क में अशुद्धि और संदेह की लहर दौड़ जाती है।

अर्थ और सुधार—

प्राचीन पद्धति के अनुयायियों में यह कमज़ोरी है कि वह सुधार की अपेक्षा अर्थ लगाने को ही अच्छा समझते हैं चाहे वह कितनी ही क्लिष्ट कल्पना से लगे। इस पद्धति के कई विद्वानों ने तो यहां तक कहा है कि किसी पाठ का अर्थ लगा देना उसके सुधार से अधिक महत्त्व-पूर्ण और प्रशंसनीय है। दूसरी पद्धति के विद्वान् इस के बिलकुल विपरीत हैं। वह कहते हैं कि सुधार ही सम्पादक का कार्य-क्षेत्र है, क्लिष्ट कल्पना से अर्थ लगाना नहीं। वास्तव में दोनों परिस्थितियां ठीक नहीं। सुधार और क्लिष्ट कल्पना दोनों ने ही किसी पूर्व अस्पष्ट पाठ पर प्रकाश डालना है। परन्तु सुधार कठिन कार्य है, इस लिए यह अधिक प्रशंसनीय है। सुधार भी वही उचित है जो प्रस्तुत संदर्भ के साधारण और संगत अर्थ के साथ चले।

प्राचीन पद्धति के विद्वानों का परम ध्येय यह रहा है कि जो पाठ जिस रूप में हम तक पहुंचा है उस की उसी रूप में रक्षा करनी चाहिए। वह इस बात में किसी हद तक ठीक भी है क्योंकि यदि सुधार की बागडोर ढीली छोड़ दी जाए, तो यह पाठ को कुछ का कुछ बना देगा। कुछ ही पीढियों में इस बात का निश्चय करना असम्भवप्राय हो जाएगा कि कौन सा पाठ मौलिक था। यही दशा आज हमारे प्राचीन साहित्य की है। इस पर अनेक सुधारकों के हाथ लग चुके हुए हैं। अतः सम्पादक को मूल पाठ का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त घोर परिश्रम करना पड़ता है।

महाभारत और सुधार—

भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना द्वारा संपादित और प्रकाशित महाभारत आदि पर्व में सुधार बहुत कम किए गए हैं—सात आठ सहस्र श्लोकों में केवल ३५ पाठों का सुधार किया गया है, वह भी शब्दों का, वाक्यों का नहीं। सुधार प्रायः ऐसे हैं जिन से पूर्वापर संगत अर्थ में फ़रक नहीं पड़ा। जहां सन्देह रहा वहां भी उपलब्ध प्रतियों के किसी न किसी सार्थक पाठांतर को ही ग्रहण किया है। इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि वह अर्थ पूर्णतया संतोषप्रद है, और मौलिक है या नहीं। इस का कारण यह है कि हमें महाभारत काल की परिस्थिति और उस समय प्रचलित व्याकरण आदि के प्रयोगों का पूर्ण ज्ञान नहीं। हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि सारे का सारा महाभारत एक ही भाषा और एक ही शैली में लिखा गया था। हमें उपस्थित शब्दों से अर्थ लगाना चाहिए। जब अर्थ न लगे, तभी सुधार की ओर अग्रसर होना

चाहिए। जब प्रतियों में परस्पर विरोध हो, तो विरोध को दूर करना ही सुधार का कार्य-क्षेत्र है। परन्तु जब प्रतियों में पाठैक्य हो तो सुधार की कोई आवश्यकता नहीं। महाभारत में सुधार के इन सिद्धांतों का अनुसरण किया गया है। जब नेपाल से महाभारत के आदिपर्व की प्राचीनतम उपलब्ध प्रति मिली और इस का अवलोकन किया गया तो महाभारत के सुधार पचास प्रतिशत ठीक उतरे[1]।

व्यक्ति-रचित साहित्य और सुधार—

व्यक्ति-रचित साहित्य के विषय में यह बात सर्वथा लागू नहीं होती। वहां परिस्थिति भिन्न है। किसी रचयिता की कृतियों में जो मौलिक पाठ उपलब्ध हों, उनके आधार पर हम उस की शैली, भाषा, भाव, विचार आदि का अध्ययन कर सकते हैं। संभव है हमें कोई समान संदर्भ ही मिल जावें। इन शुद्ध और मौलिक संदर्भों के परिज्ञान से हम उचित सुधार कर सकते हैं। समान संदर्भों की अनुपस्थिति में हम रचयिता सम्बन्धी अपने विचारों के अनुसार दो पाठांतरों में से एक को अपनायेंगे। यह सम्भव है कि जिस पाठ को हम चुनते हैं, वह मौलिक न हो। शायद रचयिता को दूसरा पाठांतर ही अभीष्ट हो और उस समय वही उस के लिए सन्तोष-प्रद हो। सम्भव है वह किसी ऐसे भाव या विचार को सूचित करता हो जिसे समझने में आज हम असमर्थ हैं। जब पाठांतरों के विषय में यह बात है तो सुधार के विषय में तो कभी निश्चय नहीं हो सकता।

उचित विधि—

इस लिए सब से अच्छी विधि तो यही है कि हम इन दोनों पद्धतियों के बीच के मार्ग पर चलें। हमें चाहिए कि पहले प्रस्तुत संदर्भ को उपलब्ध पाठांतरों की सहायता से समझने का प्रयत्न करें। जब हमें निश्चय हो जाए कि पाठ दूषित है, तब विषयानुसंगति और लेखानुसंगति की परीक्षा से उपयुक्त सुधार कर लें। यदि कोई प्राचीन समान पाठ या प्रयोग मिल जाए तो हमारा प्रयत्न निश्चित रूप से सफल है। अन्यथा भी हमें काफ़ी हद तक निश्चय हो सकता है कि हमारा सुधार उपयुक्त है।

---

१ भूमिका पृ० ६२-६४

परिशिष्ट १

प्रतियों के मिलान की रीति

प्रतियों का मिलान बड़ी सावधानी और मेहनत का काम है। पहले उपलब्ध सामग्री में से सब से अधिक प्रामाणिक और शुद्ध प्रति का निर्धारण करना चाहिये। फिर श्लोकबद्ध ग्रन्थ के एक एक पाद, श्लोकार्ध या श्लोक को, और गद्य ग्रन्थ के एक एक छोटे अंश को जो कागज़ पर एक पंक्ति में आ सके, पृथक २ कागज़ की शीटों पर लिखना चाहिये। शीट के दोनों ओर हाशिया रहना चाहिये। बायें हाशिये में मिलान वाली प्रतियों के नम्बर A B C आदि और दायें हाशिये में प्रक्षिप्त आदि पाठ या अन्य टिप्पनी लिखनी चाहिये। कागज़ों पर मुख्य प्रति का समग्र पाठ उतारा जायगा और मिलान वाली प्रतियों का केवल पाठांतर या भेद दिखाया जायगा।

शीटों की संख्या संपाद्य ग्रन्थ के परिमाण पर, और शीटों की लंबाई मिलान वाली प्रतियों की संख्या पर निर्भर है। यदि शीटों पर चार-खाना लकीरें खिंची हों तो मिलान में सुविधा और शुद्धता रहेगी क्योंकि इस तरह पाठांतर का प्रत्येक अक्षर अपने मूल अक्षर के नीचे २ आता जायगा। शेष बातों में संपादक को परिस्थिति के अनुसार अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये।

पूने से महाभारत का जो संस्करण निकल रहा है उसके तय्यार करने में समग्र पाठ के लिए कम से कम दस प्रतियां मिलाई गई हैं। बहुत से पर्वों के लिये बीस प्रतियों का, कुछ के लिये तीस और चालीस प्रतियों का, और आदि पर्व के पहले दो अध्यायों के लिये साठ प्रतियों का मिलान किया गया क्योंकि इसी के आधार पर महाभारत के संपादन-सिद्धान्त आश्रित हैं।

मिलान करने के लिये एक प्रति का सारा पाठ एक एक श्लोक करके एक एक शीट पर उतारा गया। मिलान के पश्चात् दूसरे व्यक्तियों ने उन का पुनरीक्षण किया*।

---

* महाभारत, आदि पर्व—अंग्रेज़ी उपोद्घात—पृष्ठ IV-V

मिलान की शीटों का नमूना

शीट नं० १

A	ं	प	इ	अ	व	र	जा	सु	सि	रि	क	ट्ठ	इं	तीनों प्रतियों में समान पाठ है।
B														
C														

शीट नं०

A	ता	सु	जि	अं	ग	इ	म	ज्झ	म	णि	ट्ठ	इ	
B													
C								ज्झु					C Adds मेल्ल bet. इ म-

शीट नं० ३

A	भ	णु		लि	को	ल	उ	सो	म	हु	जो	ळ्व	णा
B													णो
C													णो

शीट नं० ४

A	अ	ण्ण	हो	मु	य	घ	ल्ले	ज्ज	सु	स	-व	व	णो	
B			हं		व									
C	अ	ह	वा		अ		ल्लि		हु		*		णि	* Adds मसाणि bet. स-व, apparently a gloss on सववणो

यह मिलान हरिषेण कृत "धम्मपरिक्खा" की प्रतियों का है। A B प्रतियें भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट की हैं और C अम्बाला शहर के जैन भंडार की। पाठ दूसरी सन्धि के दूसरे घत्ते का है।

परिशिष्ट २

प्राचीन लेखन-सामग्री

काव्यमीमांसा में कवि के उपकरण की चर्चा करते हुए राजशेखर ने कहा है—

'तस्य सम्पुटिका सफलकखटिका, समुद्गकः, सलेखनीयकमषीभाजनानि ताडपत्राणि भूर्जत्वचो वा, सलोहकण्टकानि तालदलानि, सुसम्मृष्टा भित्तयः सतत-सन्निहिताः स्युः।'[1]

इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस काल में ताडपत्र, भोजपत्र, फलक और सम्मृष्ट भित्ति आदि पर लिखने की परिपाटी थी। इसी प्रकार योगिनीतंत्र[2] में वृक्षों के पत्तों के अतिरिक्त धातु के प्रयोग का भी उल्लेख है।

अद्यावधि जिस जिस सामग्री पर लेख मिले हैं, वह निम्नलिखित है—

(१) ताड़पत्र—ताड़ वृक्ष दक्षिण भारत में समुद्र तट के प्रदेशों में अधिक होता है। पुस्तक लिखने के लिये जो ताड़पत्र काम में आते थे उन को सुखा कर पानी में उबालते या भिगो रखते थे। इन को पुनः सुखा कर शंख, कौड़े, चिकने पत्थर आदि से घोंटते थे। इन की लंबाई एक से तीन फुट तक और चौड़ाई एक से चार इंच तक होती है।

पश्चिमी और उत्तरी भारत वाले इन पर स्याही से लिखते थे परन्तु उड़ीसा और दक्षिण के लोग उन पर तीखे और गोल मुख की शलाका को दबा कर अक्षर कुरेदते थे। फिर पत्रों पर काजल फिरा कर अक्षर काले कर देते थे। कम लम्बाई के पत्रों के मध्य

---

१. काव्य मीमांसा (बड़ोदा संस्करण) पृ० ५० ।

२. भाग ३, पटल ७ में निम्नलिखित श्लोक आते हैं जो शब्दकल्पद्रुम में से 'पुस्तक' शब्द के वर्णन से उद्धृत किए हैं :—

"भूर्जे वा तेजपत्रे वा ताले वा ताड़िपत्रके ।
अगुरुणापि देवेशि ! पुस्तकं कारयेत् प्रिये ! ॥
सम्भवे स्वर्णपत्रे च ताम्रपत्रे च शङ्करि ।
अन्यवृक्षत्वचि देवि ! तथा केतकिपत्रके ॥
मार्त्तण्डपत्रे रौप्ये वा वटपत्रे वरानने ! ।
अन्यपत्रे वसुदले लिखित्वा यः समभ्यसेत् ।
स दुर्गतिमवाप्नोति धनहानिर्भवेद् ध्रुवम् ॥"

में एक, और अधिक लम्बाई वालों के दो—मध्य से कुछ अन्तर पर दाईं और बाईं ओर एक एक—छिद्र किये जाते थे। इन छिद्रों में सूत्र पिरो कर गांठ दे देते थे।

सातवीं शताब्दी में ह्यूनत्सांग लिखता है कि लिखने के लिए ताड़पत्र का प्रयोग सारे भारत में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह इस समय से भी बहुत पूर्व भारत में प्रचलित था, क्योंकि तक्षशिला से प्रथम शताब्दी का एक ताम्रपत्र मिला है जिस का आकार ताड़पत्र से मिलता है।

ताड़पत्रों पर स्याही से लिखी हुई पुस्तकों में सब से पुराना अश्वघोष के दो नाटकों का त्रुटित अंश है जो दूसरी शताब्दी के आसपास का लिपिकृत है। गॉडफ्रे संग्रह के कुछ ताड़पत्र चौथी शताब्दी में लिखे प्रतीत होते हैं। 'जापान के होरियूज़ि विहार में सुरक्षित 'प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र' और 'उष्णीषविजयधारणी' नामक बौद्ध ग्रंथ छठी शताब्दी के आस पास लिपिबद्ध किये गए थे। ग्यारहवीं शताब्दी और उस के पीछे के तो अनेक ताड़पत्रीय पुस्तकें गुजरात, राजपूताना, नेपाल आदि प्रदेशों में विद्यमान हैं। लोहशलाका से उत्कीर्ण ताड़पत्रों की पुस्तकें पंद्रहवीं शताब्दी से पूर्व की नहीं मिलीं।

(२) भूर्जत्वचा—इस को भूर्जपत्र या भोजपत्र भी कहते हैं। यह 'भूर्ज' नामक वृक्ष की भीतरी छाल है, जो हिमालय पर्वत पर प्रचुरता से होता है। इस के अतिरिक्त 'उम्र' आदि अन्य वृक्षों की छाल पर भी लिखते थे परन्तु बहुत कम। वृक्षत्वचा का प्रयोग प्राचीन काल में पाश्चात्य देशों में भी होता था क्योंकि ग्रीक और लैटिन भाषाओं में छाल-सूचक शब्द -- बिब्लोस (biblos) और लीब्र (libre) ही पुस्तक-सूचक शब्द बन गए।

ग्रीक लेखक कर्टियस (Curtius) ने लिखा है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत में भोज वृक्ष की छाल पर लिखा जाता था। अलबेरूनी लिखता है कि "मध्य और उत्तरीय भारत में लोग तूज़ वृक्ष की छाल का प्रयोग करते हैं।......इस वृक्ष को भूर्ज कहते हैं। वे लोग इस का एक गज़ लम्बा और हाथ की खूब फैलाई हुई उंगलियों जितना, या उससे कुछ कम चौड़ा टुकड़ा लेते हैं, और इसे अनेक रीतियों से तैयार करते हैं। वे इसे चिकनाते और खूब घोंटते हैं जिस से यह दृढ़ और स्निग्ध बन जाता है। तब वे इस पर लिखते हैं[1]।"

भोजपत्रों पर लिखी सब से प्राचीन पुस्तक मध्य एशिया से मिली है जो खरोष्ठी लिपि का धम्मपद है और जो दूसरी या तीसरी शताब्दी में लिपि किया गया

---

१. "अलबेरूनी का भारत" (हिन्दी), भाग २, पृ० ८६-७।

होगा। संयुक्तागमसूत्र' चौथी शताब्दी का है। तत्पश्चात् गॉड्फ्रे संग्रह की अपूर्ण प्रतियां और बौवर (छटी श०) और बख़शाली (आठवीं श०) प्रतियां हैं। इन के अनन्तर काश्मीर हस्तलेख हैं जो अब संसार के प्रसिद्ध पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। यह प्राय: पंद्रहवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं मिलते।

(३) कपड़ा—इस को संस्कृत भाषा में पट, पटिका, या कार्पासिक पट कहते हैं। लेखन-सामग्री के रूप में इस का उल्लेख स्मृतियों[1] और सातवाहन के समकालीन कई शिलालेखों[2] में मिलता है। दक्षिण में लिखने के लिए इस का प्रयोग अब भी होता है।

कपड़े का प्रयोग जैनों में बहुलता से मिलता है। ब्यूलर को जैसलमेर में चीनांशु पर जैन आगमों की सूची मिली थी। और पीटरसन ने लिखा है कि पाटण के एक जैन भंडार में श्री प्रभसूरिविरचित 'धर्मविधि' नामक पुस्तक, उदयसिंह की वृत्ति सहित, २५ इंच चौड़े कपड़े के ९२ पत्रों पर सं० १४१८ का लिपिकृत विद्यमान है। बड़ोदा के जैन भंडार में 'जयप्राभृत' कपड़े पर लिखा मिलता है। कपड़े पर विज्ञप्तियां भी लिखी जाती थीं जिन को हमने बड़ोदा में डा० हीरानन्द जी शास्त्री के निजी संग्रह में देखा है।

ओरियंटल कालेज के भूतपूर्व प्रिन्सिपल सर् ऑरल स्टाइन को मध्य एशिया से भी अनेक प्रकार के कपड़ों पर लेख मिले थे।

(४) लकड़ी का पाटा और पाटी—ललितविस्तर[3], जातक[4] आदि बौद्ध ग्रंथों में लकड़ी की पाटियों (फलक) का उल्लेख है[3]। शाक्यमुनि को अक्षरारंभ के समय चंदन की पाटी दी गई थी। विद्यार्थी अपने अपने फलक पाठशाला में ले जाते और वहां उन पर लिखते थे[4]।

रंगीन फलकों पर लिपिकृत पुस्तकें ब्रह्मदेश में बहुत मिलती हैं और आसाम भी एक पुस्तक मिली है जो बोडलेअन पुस्तकालय में सुरक्षित है।

---

१. दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यन्तु कारयेत।
आगामिभद्रनृपति: परिज्ञानाय पार्थिव:।
पटे वा ताम्रपट्ट वा समुद्रोपरिचिह्नितम्॥ (मिताक्षरा, अध्याय १, ३१६, ३१७)

२. कात्रे, पृ० ५।

३. ललितविस्तर अध्याय १० (अंग्रेज़ी अनुवाद) पृ० १८१-८५।

४. कटाहक जातक।

(५) धातु—लिखने के लिए सोना, चांदी, कांसी, पीतल, तांबा, लोहा आदि अनेक धातुओं का प्रयोग होता था। सोने और चांदी का प्रयोग बहुत कम होता था परंतु तांबे का बहुत अधिक।

राजाओं तथा सामंतो की ओर से मंदिर, मठ, ब्राह्मण, साधु आदि को दान में दिए हुए गांव, खेत, कूप आदि की सनदें तांबे पर खुदवा कर दी जाती थीं। इन को दानपत्र, ताम्रपत्र, ताम्रशासन, या शासनपत्र कहते हैं। दानपत्रों की रचना दानी स्वयं करता या किसी विद्वान से कराता था। फिर उस लेख्य को सुंदर अक्षर लिखने वाला लेखक स्याही से तांबे के पत्रों पर लिखता और सुनार, ठठेरा या लुहार उसे खोदता था।

इन पत्रों की लंबाई और चौड़ाई लेख्य, लेखनी आदि पर निर्भर होती थी। इन का आकार ताड़, भोज आदि आदर्श पत्रों के अनुसार होता था। लंबे ताम्रपत्र प्रायः दक्षिण में मिलते हैं क्योंकि वहां ताड़पत्रों का प्रयोग बहुत होता था। यदि एक ही दानपत्र दो या अधिक ताम्रपत्रों पर खुदा हो तो इन को तांबे के एक या दो छल्लों से जोड़ा जाता था। कभी कभी इस छल्ले की संधि पर राजमुद्रा भी लगाई जाती थी।

सुवर्णपत्रों का उल्लेख जातकों[1] में मिलता है—इन पर लोग अपने कुटुंब संबंधी विषयों, राजकीय शासनों और धर्म नियमों को खुदवाते थे। तक्षशिला के गंगू नामक स्तूप से खरोष्ठी लिपि के लेख वाला, और ब्रह्मदेश से अनेक सुवर्णपत्र प्राप्त हुए हैं।

रजतपत्र तक्षशिला और भट्टिप्रोलू से मिले हैं। जैन मंदिरों में चांदी के गट्टे और यंत्र मिलते हैं जिन पर 'नमस्कार मंत्र' खुदा रहता है।

बुद्धकालीन ताम्रशासनों का ज्ञान फ़ाहियान के लेखों से होता है।

तांबे और पीतल की जैन मूर्तियों पर भी लेख मिलते हैं।

(६) चर्म—योरप और अरब आदि देशों में प्राचीनकाल में चमड़े पर लिखा जाता था। परंतु भारत के लोग इसे अपवित्र मानते हैं इसलिए इस का प्रयोग यहां शायद ही होता होगा। फिर भी चर्म पर लिखने के उदाहरण मिलते हैं। सुबंधु[2] ने अपनी 'वासवदत्ता' में अंधेरे आकाश में चमकते हुए तारों को स्यायी से काले किए हुए चमड़े पर चंद्रमा रूपी खड़िया से बनाए हुए शून्यबिन्दुओं से उपमा दी है।

---

१. कण्ह, रुरु, कुरुधम्म और तेसकुन नाम के जातक।

२. विश्वं गणयतो विधातुः शशिकठिनीखण्डेन तमोमषीश्यामेऽजिन इव नभसि संसारस्यातिशून्यत्वाच्छून्य बिन्दव इव—हाल संपादित वासवदत्ता, पृ० १८२।

स्ट्रेबो[1] ने लिखा है कि आगस्टस सीज़र (मृत्यु विक्रम सं० ७१) को भारत से चर्म पर एक लेख आया था। स्टाइन को मध्य एशिया से चर्म पर खरोष्ठी लिपि के लेख मिले थे और ब्यूलर को जैसलमेर के 'बृहत् ज्ञानकोश' नामक जैन भण्डार में हस्तलेखों के साथ अलिखित चर्मपत्र भी मिला था।

(७) पाषाण—प्राचीन काल से भारत में कई प्रकार का पाषाण लिखने के काम आता था। इस पर अनेक राजकीय शासन और कुछ ग्रंथ मिले हैं। बीजोल्या (राजपूताना) से शिलाओं पर उत्कीर्ण 'उन्नतशिखर पुराण' और अजमेर से विग्रहराज चतुर्थ और उस के राज कवि सोमेश्वर द्वारा रचित दो नाटकों (हरकेलिनाटक और ललितविग्रहराजनाटक) के अंश मिले हैं[2]।

(८) ईंटों पर खुदे हुए बौद्ध सूत्र उत्तर-पश्चिम प्रांत में मिले हैं। कच्ची ईंटों पर अक्षर उत्कीर्ण करके उन को पकाया जाता था।

महिंजोदड़ो, हड़प्पा, नालंदा, पाटलिपुत्र आदि स्थानों से मिट्टी की मुद्राएं और पात्र मिले हैं जिन पर लेख खुदे हैं।

(९) कागज़ (कार्पासपत्र)—कहते हैं कि पहिले पहिल चीन वालों ने सं० १६२ में कागज़ बनाया[3]। परंतु निअर्कस[4] अपने व्यक्तिगत अनुभव से लिखता है कि "हिंदुस्तान के लोग रूई को कूट कर लिखने के लिए कागज़ बनाते हैं।" ब्यूलर आदि कई पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि योरप की नाईं भारत में भी कागज़ का प्रचार मुसलमानों ने किया था। परंतु इन के आने से पूर्व के भारतीय साहित्य में कुछ उल्लेख ऐसे मिलते हैं जिन के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत

---

१. मॅक्रिंडल—एन्शंट इंडिआ ऐज़ डिस्क्राइब्ड बाइ स्ट्रेबो, पृ० ७१।

२. भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० १५० का टिप्पण नं० ६।

३. भारत पर आक्रमण करने वाले यवन बादशाह सिकंदर का निअर्कस एक सेनापति था। वह उस के साथ पंजाब में रहा और वापसी पर भी वही सेनापति था। उस ने आक्रमण का विस्तृत वृत्तांत लिखा था जिस का सार एरिअन ने अपनी इंडिका नामक पुस्तक में दिया है।

४. इस विषय में मैक्समूलर लिखता है कि 'निअर्कस कहता है—भारतवासी रूई से कागज़ बनाना जानते थे' (देखो—हिस्टरी ऑफ़ एन्शंट संस्कृत लिट्रेचर पृ० ३६७), और ब्यूलर का आशय है "अच्छी तरह कूट कर तय्यार किये हुए रूई के कपड़ों के 'पट'" (इंडियन पेलिओग्राफ़ी पृ० ९८) जो भ्रमपूर्ण है क्योंकि पट अब तक बनते हैं और वह सर्वथा कूट कर नहीं बनाए जाते। निअर्कस का अभिप्राय कागज़ों से ही है। (भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १४४ का टिप्पण ३)।

में कागज़ का प्रचार था। धारा के राजा भोज के समय में लिखी गई 'प्रशस्ति-प्रकाशिका'[1] में और वररुचिप्रणीत 'पत्रकौमुदी' में बतलाया गया है कि राजकीय पत्रों की कैसे तह की जाए, कितना हाशिया छोड़ना चाहिए, बाईं ओर के निचले किनारे को थोड़ा सा काटना चाहिए, पिछले पृष्ठ पर 'श्री' शब्द अनेक बार लिखना चाहिए –यह सब ऐसी बातें हैं जिन का संबंध ताड़ या भोज या धातु के पत्रों से नहीं हो सकता प्रत्युत कागज़ से ही हो सकता है[2]।

देसी कागज़ चिकने न होने से पक्की स्याही उन के आर पार फैल जाती थी इसलिए उन पर गेहूं या चावल के आटे की पतली लेई लगा कर और उस को सुखा कर, शंख आदि से घोंट लेते थे। इस से कागज़ चिकने और कोमल हो जाते थे। कभी कभी लेई में संखिया या हरिताल भी डाल देते थे। इस से कागज़ को कीड़ा नहीं लगता था।

जैन लेखकों ने कागज़ की पुस्तकें लिखने में ताड़पत्रों का अनुकरण किया है, क्योंकि कागज़ की पुरानी पुस्तकों के प्रत्येक पत्रे का मध्य भाग बहुधा खाली छोड़ा हुआ मिलता है। चौदहवीं शताब्दी की लिखी हुई कुछ प्रतियों में प्रत्येक पन्ने और ऊपर नीचे की पाटियों में छेद किए हुए भी देखने में आते हैं।[3]

भारत में कागज़ की प्राचीनतम पुस्तकें तेरहवीं शताब्दी की मिलती हैं, परन्तु मध्य एशिया में भारतीय गुप्तलिपि की चार पुस्तकें और कुछ संस्कृत पुस्तकें मिली हैं जो लग भग पांचवीं शताब्दी की हैं। कई विद्वान इनको न भारतीय कागज़ पर और न भारत में लिखी हुई मानते हैं।

स्याही (मषी)

भारत में नाना वर्णों की स्याही का प्रयोग हुआ मिलता है जैसे काली, लाल, पीली, हरी, सुवर्णमयी, रजतमयी आदि। इन के बनाने की विधि निम्नलिखित है।

१. शब्दकल्पद्रुम में 'पत्र' शब्द के विवरण में उद्धृत—

पत्रं तु त्रिगुणीकृत्य ऊर्द्ध्वे तु द्विगुणं त्यजेत् ।
शेषभागे लिखेद्वर्णान् गद्यपद्यादिसंयुतान् ॥
दक्षिणे पत्रकोणस्य अधस्ताच्छेदयेत् सुधीः ।
एकाङ्गुलप्रमाणेन राजपत्रस्य चैव हि ॥

२. गफ़—पेपर्ज़ रिलेटिंग टु दि कोलेक्शन अंड प्रेज़र्वेशन ऑफ़ दि रिकार्डज़ ऑफ़ एन्शंट संस्कृत लिट्रेचर ऑफ़ इंडिया, पृ० १६।

३. भारतीय प्राचीनलिपिमाला, पृ० १४५ और उसी पृष्ठ का टिप्पण १।

काली स्याही[1]—कागज़ पर लिखने की काली स्याही दो प्रकार की होती है—पक्की और कच्ची। पक्की स्याही से पुस्तकें लिखी जाती हैं और कच्ची से साधारण काम लिया जाता है। पक्की स्याही बनाने के लिए मिट्टी की हंडिया में जल और पीपल की पिसी हुई लाख को डाल कर आग पर रख देते हैं। फिर इस में पिसा हुआ सुहागा और लोध मिलाते हैं। जब यह मिश्रित पदार्थ कागज पर लाल लकीर देने लगे तो इसे उतार कर छान लेते हैं। इस को अलता (अलक्तक) कहते हैं। फिर तिलों के तेल के दीपक के काजल को बारीक कपड़े में बांध कर, इस में फिराते रहते हैं जब तक कि उस से काले अक्षर बनने न लग जावें।

कच्ची स्याही काजल, कत्था, बीजाबोर और गोंद को मिला कर बनाई जाती है

भोजपत्र पर लिखने की स्याही बादाम के छिलकों के कोयलों को गोमूत्र में उबाल कर बनाते हैं।

लाल स्याही[1]—एक तो अलता, जिस की निर्माण विधि काली स्याही के विवरण में बतलाई गई है, लाल स्याही के रूप में प्रयुक्त होता है और दूसरे गोंद के पानी में घोला हुआ हिंगलू।

हरी, पीली आदि स्याही—सूखे हरे रंग को गोंद के पानी में घोल कर हरी, हरिताल से पीली और जंगाल से जंगाली स्याही भी लेखक लोग बनाते हैं। केवल हरिताल का प्रयोग भी मिलता है।

सोने और चांदी की स्याही[1]—सोने और चांदी के वरकों को गोंद के पानी में घोंट कर सुवर्णमयी और रजतमयी स्याहियां बनाई जाती थीं। इन स्याहियों से लिखने के पहले पत्रे काले या लाल रंग से रंगे जाते थे। कलम से लिख कर पत्रों को कौड़ी या अकीक आदि से घोंटते थे जिस से अक्षर चमक पकड़ लेते थे।

प्रयोग की प्राचीनता—मोहिंजोदड़ो से एक खोखला पात्र मिला है जिस को मैके आदि विद्वान् मषीपात्र मानते हैं। निअर्कस और कर्टियस के लेखों से भी पता चलता है कि भारत में विक्रम से तीन सौ वर्ष पूर्व भी स्याही का प्रयोग किया जाता था। मध्य एशिया से प्राप्त खरोष्ठी लिपि के लेख स्याही से लिखे हुए हैं—इन के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रम की प्रथम शताब्दी में स्याही से लिखा जाता था। स्याही का प्राचीनतम लेख सांची के एक स्तूप से निकला है जो कम से

---

१ भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० १५४-६

कम विक्रम से पूर्व तीसरी शताब्दी का होगा। अजंता की गुहाओं में विविध वर्णों के लेख और चित्र मिलते हैं।

हस्तलिखित पुस्तकों में वैदिक स्वरों के चिह्न, अध्याय-समाप्ति की पुष्पिका, 'भगवानुवाच', 'ऋषिरुवाच' आदि वाक्य, विराम आदि चिह्न प्राय: रंगीन स्याहियों से लिखे जाते थे। जैन पुस्तकों में इन का प्रयोग विशेष रूप से मिलता है। पत्रे के दाएं और बाएं हाशिए की दो दो खड़ी लकीरें प्राय: अलता या हिंगलू से लगाई जाती थीं। जिन अक्षरों या शब्दों को काटना होता था उन पर आम तौर पर हरिताल फेर देते थे। जैन पुस्तकों के लिखने में सोने और चांदी की स्याहियों का प्रयोग भी काफ़ी मिलता है।

स्याही-संबंधी एक आख्यान—द्वितीय राजतरंगिणी[1] का कर्ता जोनराज अपने ही एक मुकद्दमे की बाबत लिखता है कि मेरे दादा ने दस प्रस्थ भूमि में से एक प्रस्थ बेची थी। उस की मृत्यु के पश्चात् खरीदने वाले दसों प्रस्थ जबरदस्ती भोगते रहे और विक्रय पत्र में 'भूप्रस्थमेकं विक्रीतं' का भूप्रस्थदशकं विक्रीतं' कर लिया[2]। मैंने जब राज सभा में मुकद्दमा किया तो राजा ने विक्रय पत्र को पानी में डाल दिया जिस से नई स्याही के अक्षर तो धुल गए परन्तु पुराने के रह गए। इस से स्पष्ट है कि स्याही की सहायता से उस राजा ने पूर्ण रूप से न्याय किया।

कलम (लेखनी)—स्याही से पुस्तकें लिखने के लिए नड़ या बांस की लेखनियां काम में आती थीं। अजंता की गुहाओं के रंगीन चित्र महीन बालों की कूर्चिका (वर्तिका, या तूलिका) से लिखे गए होंगे। दक्षिण में ताड़पत्रों पर तीखे गोल मुख वाली धातु शलाका द्वारा अक्षर उत्कीर्ण किए जाते थे।

---

१. देखो श्लोक ८००-८०७।

२. 'म' से पूर्व लगने वाली रेखा-रूप 'ए' की मात्रा को 'द' और 'म' को 'श' बनाने से विक्रयपत्र में यह परिवर्तन हो पाया। यह इस लिए सम्भव था कि शारदा आदि प्राचीन लिपियों में 'ए' के लिए पड़ी मात्रा का प्रयोग होता था जो व्यंजन से पूर्व छोटी या बड़ी खड़ी लकीर के रूप में लगती थी— इस का 'द' आसानी से बन सकता है—और 'म' के ऊपर सिर की लकीर नहीं लगती परन्तु 'श' में लगती है, इस लिए सिर की लकीर भर देने से 'श' बन गया।

योगिनीतंत्र' के अनुसार बांस की कलमें और कांसी की सिलाइयां अच्छी नहीं होतीं, परन्तु नल (अर्थात् काने) की लेखनी तथा सोने, तांबे और रैत्य की सिलाइयां अच्छी होती हैं।

रेखा-पाटी—कागज़ पर सीधी लकीरों के निशान डालने के लिये यह लकड़ी या गत्ते की पाटी होती है जिस पर यथेष्ट अन्तर पर धागे कसे या चिपकाए होते हैं।

परिशिष्ट ३

सूची-साहित्य

जब से पाश्चात्य लोग भारत में आए तभी से वह भारतीय साहित्य को एकत्रित करने और उसके अध्ययन में लग गए। चेम्बर्ज़, मैकॅन्ज़ी आदि कई विद्वानों ने व्यक्तिगत पुस्तक-संग्रह बनाए जिन में से कई में तो संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की संख्या सहस्रों तक पहुंच गई थी। भारत और विदेश में इस संगृहीत साहित्य का सूची-निर्माण होने लगा। इस प्रकार साहित्य के इस अंग की नींव पड़ी। इस समय की छपी हुई कुछ सूचियां निम्नलिखित हैं -

सन् १८०७ —सर विलियम और लेडी जोन्ज़ द्वारा रायल सोसायटी को भेंट किए गए संस्कृत तथा अन्य प्राच्य हस्तलेखों की सूची (सर विलियम जोन्ज़ के वर्क्स भाग १३, पृ० ४०१-१५, लंदन, १८०७)।

सन् १८२८—डिस्क्रिप्टिव कैटॅलाग आफ़ दि ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट्स कोलेक्टिड बाइ दि लेट लैफ़्टिनेंट कर्नल कोलिन मैकॅन्ज़ी, कलकत्ता।

---

१. भाग ३, पटल ८; शब्दकल्पद्रुम में 'लेखनी' के विवरण में उद्धृत—

"वंशसूच्या लिखेद्वर्णां तस्य हानिर्भवेद् ध्रुवम्।
ताम्रसूच्या तु विभवो भवेन्न तत्क्षयो भवेत्॥
महालक्ष्मीर्भवेन्नित्यं सुवर्णस्य शलाकया।
बृहन्नलस्य सूच्या वै मतिवृद्धिः प्रजायते॥
तथा अग्निमयैर्देवि पुत्रपौत्रधनागमः।"
अग्निमयैश्चित्रकाष्ठमयैः।
"रैत्येन विपुला लक्ष्मीः कांस्येन मरणं भवेत्॥"

सन् १८३८—सूची पुस्तक, कलकत्ता।

सन १८४६—आटो बोटलिंक द्वारा निर्मित एश्याटिक म्यूज़ियम की सूची, सेंट पीटर्ज़बर्ग।

सन १८५७-६१—मद्रास बोर्ड आफ़ एग्ज़ामिनर्ज़ के पुस्तकालय के प्राच्य हस्तलेखों की सूचियां, मद्रास, १८५७, १८६१।

सन् १८६५—आर० रोट द्वारा निर्मित सूची (जर्मन भाषा में)।

संस्कृत साहित्य की एक पूर्ण और बृहत् सूची की महत्ता का अनुभव करते हुए लाहौर के प्रसिद्ध पं० राधा कृष्ण ने भारत सरकार को एक पत्र लिखा जिस में इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि भारत तथा योरप में उपलब्ध सारे संस्कृत साहित्य की विस्तृत और सर्वांगपूर्ण सूची का निर्माण किया जाए। इस के फल-स्वरूप भारत सरकार ने इस कार्य के निमित्त प्रति वर्ष कुछ धन लगाने का निर्णय किया। इस का व्यय इन बातों के लिए निश्चित हुआ—(१) हस्तलेखों का खरीदना, (२) जो हस्तलेख खरीदे न जा सकें उन की प्रतिलिपि करवाना, (३) संस्कृत साहित्य की खोज और सूची निर्माण, और (४) एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल को उसके साहित्य प्रकाशन कार्य में सहायता देना। यह धन बंगाल बम्बई और मद्रास प्रांतों में बांट दिया गया। इस आयोजना के अनुसार जो सूचियां छपीं उन में से कुछ नीचे दी जाती हैं :—

बंगाल—

राजेन्द्रलाल मित्र—नोटिसिज़ आफ़ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, ६ भाग, कलकत्ता, १८७१—१८९८। ३ भाग–१९००, १९०४, १९०७। मित्र ने नेपाल के बौद्ध हस्त-लेखों की और बीकानेर दरबार लाइब्रेरी की भी सूचियां बनाई थीं।

देवीप्रसाद—अवध प्रांत की संस्कृत हस्तलिखित प्रतियों की सूचियां, अला-हाबाद, १८७८-१८९३।

हर प्रसाद शास्त्री—नोटिसिज़ आफ़ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स १०, ११ भाग १८९०, ९५, दूसरी सिरीज़ ४ भाग, कलकत्ता १८९८-१९११। रिपोर्ट फार दि सर्च आफ़ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, १८९५-१९००, १९०६। इन्होंने सन् १९०५ में नेपाल दरबार की लाइब्रेरी के ताड़पत्र और कागज़ के ग्रन्थों की सूची बनाई।

बम्बई—

एफ़० कीलहोर्न ने १८६९ में दक्षिण भाग के, १८७४ में मध्य प्रदेश के, १८८१ में सरकार द्वारा खरीदे हुए, और १८८४ में विश्रामबाग पूना के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियां तय्यार कीं।

जी० ब्यूलर—गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिंध और खानदेश के व्यक्तिगत पुस्तकालयों के हस्तलेखों की सूचियां, ४ भाग १८७१-७३। रिपोर्ट आन दि रिज़ल्टस आफ़ दि सर्च फ़ार संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, १८७२, १८७४, १८७५। काश्मीर, राजपूताना और मध्य प्रदेश में संस्कृत हस्तलेखों की खोज का परिणाम, १८७७।

पी० पीटरसन—बम्बई प्रांत में संस्कृत हस्तलेखों की खोज पर रिपोर्टें, छ भाग, १८८३, ८४, ८७, ६४, ६६, ६६। अलवर दरबार लाइब्रेरी की सूची सन १८६२।

भांडारकर—अ रिपोर्ट आन दि सर्च आफ़ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, १८८२, ८४, ८७, ६४ और ६७। व्यक्तिगत पुस्तकसंग्रहों के संस्कृत हस्तलेखों की सूची १८६३। विश्रामबाग, पूना की सूची, भाग २, १८८४।

मद्रास—

गुस्टाव आपर्ट—लिस्ट्स आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ आफ सदर्न मद्रास, १८८०, १८८५।

इ० हुल्श—दक्षिण भारत के संस्कृत हस्तलेखों की रिपोर्ट, १८६५ और १६०३।

पंजाब—

काशीनाथ कुण्टे—१८७६, १८८० और १८८२ की रिपोर्टें।

सन १६०० के लग भग से इस कार्य में भारत सरकार का इतना हस्तक्षेप न रहा जितना पहले था। अब इस सिलसिले को विश्वविद्यालयों तथा अन्य विद्वत्सभाओं ने जारी रखा और निम्नलिखित सूचियां तय्यार हुई—

डिस्क्रिप्टिव कैटॉलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्मेंट ओरियंटल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास—भाग १ उपभाग १ एम० शेषगिरि शास्त्री, भाग १ उपभाग २-३ एम० शेषगिरि शास्त्री और एम० रंगाचार्य, भाग २-१५ और १८ एम० रंगाचार्य, भाग १६, १७ और १६ एम० रंगाचार्य और एम० कुप्पुस्वामी शास्त्री भाग २०-२७ एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा प्रणीत। मद्रास से त्रैवार्षिक रिपोर्टें भी प्रकाशित होती हैं।

अ कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स अक्वायर्ड फार दि गवर्मेंट संस्कृत लाइब्रेरी, सरस्वती भवन, काशी, १८६७-१६१६। इसी की विवरणात्मक सूची भाग १, १६२३।

भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना के सूचीपत्र, भाग १, १९१६; २, १९३८; १२, १९३६; १३, १९४०; १४, १९३७; १६, १९३६; १७, १९३५, १९३९, १९४०।

एशियाटिकसोसायटी आफ बंगाल का विवरणात्मक सूचीपत्र भाग १, १९१७; २ और ४, १९२३; ३ और ५, १९२५; ६, १९३१; ७, १९३४; और ८, १९३९।

मिथिला के हस्तलेखों की विवरणात्मक सूची पटना, १९२७ और १९३२।

रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की सूची, भाग १-४, १९२५-३०।

सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजोर, के संस्कृत हस्तलेखों की सूची, १९ भाग।

पंजाब युनिवर्सिटी लाइब्रेरी की सूची लाहौर, १९३२, १९४२।

पंजाब जैन भंडारों की सूची, लाहौर १९३९।

बड़ोदा से बड़ोदा सेंट्रल लाइब्रेरी, जेसलमेर और पाटण के जैन भंडारों के हस्तलेखों की सूचियां प्रकाशित हुईं, १९२५, १९२३, १९३७।

इन के अतिरिक्त विदेश से भी बहुत सी सूचियां प्रकाशित हुई हैं—जैसे इंग्लैंड में आक्सफ़ोर्ड, केम्ब्रिज, लंडन से सूचियां निकली हैं। १९३५ में कीथ और टौमस ने इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरी के संस्कृत और प्राकृत हस्तलेखों की सूची बनाई जो बृहत्काय और विवरणात्मक है। इसी प्रकार जर्मनी, फ्रांस, रूस, अमरीका आदि देशों से भी सूचियां प्रकाशित हो चुकी हैं।

सन् १८९१ तक जितनी सूचियां छपी थीं उनके आधार पर औफ्रैष्ट ने एक बृहत् सूची तय्यार की जिस का नाम कैटॅलोगस "कैटॅलोगरम" है। इस में ग्रंथों के नाम अकारादिक्रम से दिए हैं। ग्रंथ नाम के साथ जिन सूचियों में वह ग्रंथ वर्णित हो उनका उल्लेख भी कर दिया है। १८९६ और १९०३ में इस ग्रंथ के दो परिशिष्ट भी निकले जिन में इस कालांतर में उपलब्ध और ज्ञात ग्रंथों का समावेश किया गया। इन परिशिष्टों के साथ ग्रंथकारों की सूचियां भी हैं। मूल कैटॅलोगस कैटॅलोगरम को प्रकाशित हुए ५० से अधिक वर्ष हो चुके हैं और इस के दो भाग परिशिष्ट रूप से निकल चुके हैं। इस अन्तर में बहुत सा साहित्य उपलब्ध हो चुका है और बहुत सी सूचियां भी बन चुकी हैं। अतः पिछले दिनों मद्रास विश्वविद्यालय ने एक नव कैटॅलोगस कैटॅलोगरम के निर्माण की आयोजना की है जिसका नमूना १९३७ में छपा था।

प्रांतीय जागृति के साथ साथ प्रांतीय साहित्यों की खोज प्रारम्भ हुई और उन की सूचियां प्रकाशित हुईं। यहां पर हिंदी साहित्य की खोज की रिपोर्टों का उल्लेख करना अनुचित न होगा। १९०० से लेकर १९०६ तक तो वार्षिक रिपोर्टें, और १९०६ के पश्चात् त्रैवार्षिक रिपोर्टें निकलीं। इन का निर्माण श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, हीरालाल आदि महानुभावों द्वारा हुआ था।

ੴ (ਏਕੰਕਾਰ)

(੧)

ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦਾ ਕੀ ਸਰੂਪ ਹੈ, ਅਸੀਂ ਏਸ ਉੱਤੇ ਵਿਚਾਰ ਕਰਨੀ ਹੈ। ਅਸਲ ਵਿਚ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦੇ ਸਰੂਪ ਦਾ ਗਿਆਨ ਸਾਡੇ ਆਪਣੇ ਅਸਲੀ, ਨਿਜ ਸਰੂਪ ਦਾ ਗਿਆਨ ਹੈ, ਕਿਉਂਕਿ ਅਸੀਂ ਤੇ ਉਹ ਵਖਰੇ ਨਹੀਂ[1]। ਪਰਮਾਤਮਾ ਨੂੰ ਉਸਦੀ ਰਚਨਾ ਨਾਲੋਂ ਵਖਰਾ[2] ਕਰਨਾ ਜੁਗਤ, ਦਲੀਲ ਦੇ ਵਿਰੁੱਧ ਹੈ। ਉਹ ਇਹ ਸਾਰੀ ਰਚਨਾ ਵੀ ਹੈ, ਇਸ ਤੋਂ ਹੋਰ ਵੀ, ਤੇ ਵਿਅਕਤ ਤੇ ਅਵਿਅਕਤ, ਹੈ ਵੀ ਤੇ ਨਹੀਂ ਵੀ, ਤੇ ਦੋਹਾਂ ਤੋਂ ਪਰੇ ਹੈ, ਪਹਿਲੀ, ਦੂਜੀ, ਤਰੀਜੀ ਤਿੰਨੇ ਅਵਸਥਾਂਵਾਂ ਹੈ। ਇਹੀ ਸਾਡਾਂ ਹਾਲ ਹੈ। ਆਤਮਾ ਹੀ ਜਾਗਰਤ ਵਿਚ ਕੰਮ ਕਰ ਰਹਿਆ ਹੈ। ਸੁਫ਼ਨੇ ਵਿਚ ਵੀ ਉਹਦੀ ਹੀ ਸੱਤਾ ਖੇਡਦੀ ਹੈ ਤੇ ਸੁਖੋਪਤ ਵਿਚ ਵੀ ਉਹੀ ਤਾਰ ਹਿਲਾ ਰਹਿਆ ਹੈ। ਆਪ ਉਹ ਚੌਥੀ ਅਵਸਥਾ ਵੀ ਹੈ। ਪਹਿਲਾਂ ਉਹ ਲਫ਼ਜ਼ ਲੈਂਦੇ ਹਾਂ ਜਿਹੜੇ ਉਸਦੇ ਸਰੂਪ ਉੱਤੇ ਸਿੱਧਾ ਤੇ ਸੌਖਾਂ ਸਮਝ-ਆਊ ਚਾਨਣਾ ਪਾਂਦੇ ਹਨ।

---

(੧) ਜਬ ਇਸ ਤੇ ਸਭ ਬਿਨਸੇ ਭਰਮਾ। ਭੇਦੁ ਨਾਹੀ ਹੈ ਪਾਰਬ੍ਰਹਮਾ।੨੧੯)
ਜਬ ਇਨਿ ਕਿਛੁ ਕਰਿ ਮਾਨੇ ਭੇਦਾ। ਤਬ ਤੇ ਦੂਖ ਡੰਡ ਅਰੁ ਖੇਦਾ॥

(੨) ਕਰਨ ਕਰਾਵਨ ਸਭੁ ਕਿਛ ਏਕੈ। ਆਪੇ ਬੁਧਿ ਬੀਚਾਰਿ ਬਿਬੇਕੈ।
ਦੂਰਿ ਨ ਨੇਰੈ ਸਭ ਕੈ ਸੰਗਾ। ਸਚੁ ਸਾਲਾਹਣੁ ਨਾਨਕ ਹਰਿ ਰੰਗਾ।

ਪਰਕਾਸ਼ । ਤਾਕੈ ਆਤਮੈ ਹੋਇ ਪਰਗਾਸੁ । (੨੨੦)

ਪੇਖਿਓ । ਗੁਰ ਕੈ ਬਚਨਿ ਪੇਖਿਓ ਸਭੁ ਬ੍ਰਹਮੁ । (੨੨੩)

ਭੇਟਿਆ । ਨਾਨਕ ਗੁਰੁ ਭੇਟਿਆ ਪਾਰਬ੍ਰਹਮੁ । ,,

ਸੁੰਦਰੁ
ਸੁਘੜੁ
ਚਤੁ_
ਜੀਅਦਾਤਾ
ਭਾਈ
ਪੂਤੁ
ਪਿਤਾ
ਪ੍ਰਭੁ
ਮਾਤਾ
ਜੀਵਨ
ਪ੍ਰਾਨ ਅਧਾਰ
ਰਾਸਿ

ਸੁੰਦਰੁ ਸੁਘੜੁ ਚਤੁਰੁ ਜੀਅ ਦਾਤਾ ।
ਭਾਈ ਪੂਤੁ ਪਿਤਾ ਪ੍ਰਭੁ ਮਾਤਾ ।
ਜੀਵਨ ਪ੍ਰਾਨ ਅਧਾਰ ਮੇਰੀ ਰਾਸਿ । (੨੨੩)

ਰਿਦੈ ਨਿਵਾਸ । ਪ੍ਰੀਤਿ ਲਾਈ ਕਰਿ ਰਿਦੈ ਨਿਵਾਸ । (੨੨੩)
ਗੋਪਾਲਿ

ਪੂਰਨ ਪੁਰਖੁ
ਨਵਤਨੁ
ਨਿਤਬਾਲਾ
ਰਖਵਾਲਾ

ਪੂਰਨ ਪੁਰਖੁ ਨਵ ਤਨ ਨਿਤ ਬਾਲਾ ।
ਹਰਿ ਅੰਤਰਿ ਬਾਹਰਿ ਸੰਗਿ ਰਖਵਾਲਾ । (੨੨੪)

(ਹਰਿ) ਪਦੁ । ਕਹੁ ਨਾਨਕ ਹਰਿ ਹਰਿ ਪ_ ਚੀਨੁ । (੨੨੪)

ਰਤਨ । ਜਨ ਨਾਨਕ ਲਧਾ ਰਤਨੁ ਅਮੋਲ ਅਪਾਰੀਆ ,,

ਆਤਮ ਰਾਮ ਨਿਹਾਰਿਆ — ਨਿਵਿ ਨਿਵਿ ਪਾਇ ਲਗਉ ਗੁਰ ਅਪੁਨੇ ਆਤਮ ਰਾਮੁ ਨਿਹਾਰਿਆ । (੩੨੮)

ਅਸਥੂਲ
ਸਖਮ

ਆਪੇ ਸੂਖਮ ਆਪ ਅ_ਥੂਲ ।
ਹਉਮੈ ਮਨੁ ਅਸਥੂਲੁ ਹੈ ਕਿਉ ਕਰਿ ਵਿਚੁਦੇ ਜਾਇ ।

(੩)

ਉਪਾਇ, ਵਿਗ ਸੀਤਾ, ਜਾਣੈ, ਕਰੇ ਵਸ ਕੀਤਾ	ਪ੍ਰਭਿ ਸੰਸਾਰੁ ਉਪਾਇਕੈ ਵਸਿ ਆਪਣੈ ਕੀਤਾ। ਸਭ ਕਿਛੁ ਜਾਣੈ ਕਰੇ ਆਪਿ ਆਪੇ ਵਿਗਸੀਤਾ ੫੧੧
ਪਿਆਰਾ ਅੰਮ੍ਰਿਤੁ	ਗੁਰ ਕਿਰਪਾ ਤੇ ਪਾਈਐ ਪਿਆਰਾ ਅੰਮ੍ਰਿਤੁ
ਅਗਮ ਅਥਾਹ	ਅਗਮ ਅਥਾਹ (੫੫੮)
ਉਝੜ ਪਾਇਦਾ ਵਿਖਾਲੇ ਰਾਹੁ	ਆਪੇ ਉਝੜ ਪਾਇਦਾ ਪਿਆਰਾ ਆਪਿ ਵਿਖਾਲੇ ਰਾਹੁ ॥ (੧੧)
ਪਤਣ, ਪਾਤਣੀ ਪਾਰਿ ਲੰਘਾਹੁ ਪਿਆਰਾ	ਆਪੇ ਪਤਣੁ ਪਾਤਣੀ ਪਿਆਰਾ ਆਪੇ ਪਾਰਿ ਲੰਘਾਹੁ। ਆਪੇ ਸਾਗਰੁ ਬੋਹਿਥਾ ਪਿਆਰਾ ਗੁਰੁ ਖੇਵਟੁ ਆਪਿ ਚਲਾਹੁ। ਆਪੇ ਹੀ ਚੜਿ ਲੰਘਦਾ ਪਿਆਰਾ ਕਰਿ ਚੋਜ ਵੇਖੈ ਪਾਤਿਸਾਹੁ। (੫੫੯)

ਚੌਥੀ ਪਾਤਸ਼ਾਹੀ ਜੀ ਨੇ ਤਾਂ ਕੁਝ ਬਾਕੀ ਛਡਿਆ ਹੀ ਨਹੀ। ਸਾਰੇ ਤਿੰਨ ਤਿੰਨ ਕੱਠੇ ਕਰ ਦਿਤੇ ਹਨ। ਉਸ ਨੂੰ ਤਿੰਨੇ ਦਸਿਆ ਹੈ ਤੇ ਅਖ਼ੀਰ ਤਿੰਨਾਂ ਤੋਂ ਪਰੇ ਚੌਥਾ ਵੀ ਦਸ ਦਿੱਤਾ ਹੈ।

ਆਪੇ ਅਲਖੁ ਨ ਲਖੀਐ ਪਿਆਰਾ ਆਪਿ ਲਖਾਵੈ ਸੋਇ।
ਸਭਿ ਘਟ ਆਪੇ ਭੋਗਵੈ ਪਿਆਰਾ ਵਿਚਿ ਨਾਰੀ ਪੁਰਖ ਸਭੁ ਸੋਇ।(੫੫੯)
ਨਾਨਕ ਗੁਪਤੁ ਵਰਤਦਾ ਪਿਆਰਾ ਗੁਰਮੁਖਿ ਪਰਗਟੁ ਹੋਇ। (੧੧)
ਆਪੇ ਲੇਖਣਿ ਆਪਿ ਲਿਖਾਰੀ ਆਪੇ ਲੇਖੁ ਲਿਖਾਹਾ (੫੬੦)

(੨)

੧. ਸਭ ਕੁਝ ਉਹੀ ਹੈ, ਅਸੀਂ ਪਰਮਾਤਮਾ ਨੂੰ ਸਰਿਸ਼ਟੀ ਨਾਲੋਂ ਵਖਰਿਆਂ ਨਹੀਂ ਕਰ ਸਕਦੇ।

ਆਪੇ ਅੰਡਜ ਜੇਰਜ ਸੇਤਜ ਉਤਭੁਜ ਆਪੇ ਖੰਡ ਆਪੇ ਸਭ ਲੋਇ।
ਆਪੇ ਸੂਤੁ ਆਪੇ ਬਹੁ ਮਣੀਆ ਕਰਿ ਸਕਤੀ ਜਗਤੁ ਪਰੋਇ। (੫੫੯)

੨. ਜੋ ਪਰਮਾਤਮਾ ਦਾ ਹਾਲ ਹੈ, ਉਹੀ ਆਤਮਾਂ ਦਾ ਹੈ। ਉਹੀ

ਗੁਣ, ਓਦਾਂ ਹੀ ਵਰਤਣਾ, ਤੇ ਅੰਦਰੋਂ ਉਸ ਨਾਲ ਇਕ ਮਿਕ ਹੋਇਆ ਰਹਿਣਾ।

ਇਹੁ ਜੀਉ ਸਦਾ ਮੁਕਤੁ ਹੈ ਸਹਜੇ ਰਹਿਆ ਸਮਾਇ।

੩. ਆਤਮਾ ਤੇ ਪਰਮਾਤਮਾ, ਜਾਂ ਬ੍ਰਹਮ ਜਾਂ ਰਾਮ (ਜਿਹੜੇ ਅਸਲ ਵਿਚ ਇਕ ਆਤਮਾ ਰਾਮ ਹਨ) ਦਾ ਇਸ ਸਰਿਸ਼ਟੀ ਨੂੰ ਰਚਣ ਤੋਂ, ਆਪ ਪਰਗਟ ਹੋਣ ਦਾ, ਮਤਲਬ, ਮਕਸਦ, ਸਿਰਫ਼ ਚੋਜ, ਲੀਲਾ, ਵਿਗਸਣਾ ਹੈ। ਇਹ ਲੀਲਾ ਵੇਖ ਕੇ ਕਿ ਕਿਵੇਂ ਅਸੀਂ ਸਭ ਕੁਝ ਹਾਂ ਤੇ ਕੁਝ ਵੀ ਨਹੀਂ, ਅਸਾਂ ਸੁਆਦ ਲੈਣਾ ਹੈ, ਇਸ ਵਿਚ ਹਿੱਸਾ ਲੈਂਦਿਆਂ, ਕਿਤੇ ਨਾਲੇ ਵਖਰਿਆਂ ਖਲੋ ਕੇ।

੪. ਇਹ ਪਰਗਟ ਹੋਣਾ, ਲੀਲਾ ਮਾਤਰ ਕਿਵੇਂ ਹੁੰਦਾ ਹੈ? ਦ ਹੋਣ ਨਾਲ ਤੇ ਤਿੰਨ ਹੋਣ ਨਾਲ, ਤੇ ਇਸਦਾ ਖ਼ਾਤਮਾ ਆਰਜ਼ੀ ਤੌਰ ਤੇ, ਥੋੜੇ ਚਿਰ ਲਈ, ਕਰਦਾ ਹੈ, ਵਿਚ ਚੌਥਾ ਹੋ ਕੇ ਜਾਂ ਫਿਰ ਇਕ ਹੋ ਕੇ। ਲੀਲਾ ੧, ੨ ਤੇ ੩ ਦੀ ਹੈ। ਇਸ ਦੇ ਕੁਝ ਹੋਰ ਪਰਮਾਣ _ਣੇ।

੨ ਹੈ ਦੁਬਧਾ, ਸ਼ਿਵ-ਸ਼ਕਤੀ, ੨, ੬, ੧੮ ਆਦਿਕ

੩ ਗੁਣ, ਦੇਵਤੇ. ਕਾਲ, ਦੇਸ਼, ਨਮਿੱਤ ਆਦ, ੩, ੯, ੨੭

ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਮਾਇਆ ਭਰਮਿ ਭੁਲਾਇਆ ਹਉਮੈ ਬੰਧਨ ਕਮਾਏ।

ਤ੍ਰੈਗੁਣ ਹੀ ਹਉਮੈ ਹੈ, ਹਉਮੈ ਹੀ ਮਨ ਹੈ ਤੇ ਅਸਥੂਲ ਹੈ, ਬੰਧਨ ਹੈ, ਭਰਮ ਹੈ, ਤੇ ਦੁਬਧਾ ਹੀ ਹਉਮੈ ਹੈ।

(ਜੰਮਣੁ ਮਰਣੁ ਸਿਰ ਊਪਰਿ ਊਭਉ ਗਰਭ ਜੋਨਿ ਦੁਖੁ ਪਾਏ)

ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਵਰਤਹਿ ਸਗਲ ਸੰਸਾਰਾ ਹਉਮੈ ਵਿਚਿ ਪਤਿ ਖੋਈ। (੫੫੮)

ਇਹ ਹਉਮੈ ਓਸੇ ਦੀ ਹੈ, ਉਹੀ ਹੈ ਜਦੋਂ ਲੀਲਾ ਵਲ, ਮਨ ਵਲ, ਬਾਹਰ ਵਲ, ਉਹਦਾ (ਤੇ ਸਾਡਾ) ਮੁਖ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਹਉਮੈ ਉਹ ਦੂਰ ਕਰਦਾ ਹੈ ਜਦੋਂ ਆਪਣੇ ਵਲ, ਅੰਦਰ ਵਲ, ਆਪਣੇ ਨਾਮੀ ਹੋਣ ਵਲ ਮੂੰਹ

ਕਰਦਾ ਹੈ (ਤੇ ਅਸੀਂ ਗੁਰੂ ਵਲ, ਅਰਥਾਤ ਆਪਣੇ ਅੰਦਰਲੇ ਵਲ ਮੂੰਹ ਕਰਦੇ ਹਾਂ, ਸਹਜ ਵਲ, ਨਾਮ ਵਲ) ।

ਗੁਰਮੁਖਿ ਹੋਵੈ ਚਉਥਾ ਪਦੁ ਚੀਨੈ ਰਾਮ ਨਾਮਿ ਸੁਖੁ ਹੋਈ । (੫੫੮)

ਮਤਾਂ ਤੁਹਾਨੂੰ ਉਤਲਿਆਂ ਲਫ਼ਜ਼ਾਂ ਤੋਂ ਭੁਲੇਖਾ ਲਗ ਜਾਏ, ਗੁ. ਸਾਹਿਬ ਝਟ ABSOLUTE POSITION ਤਤ ਵਿਚਾਰ ਵਲ ਤੁਹਾਡੀ ਤਵੱਜੋ ਦਿਵਾਂਦੇ ਹਨ :-

ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਸਭਿ ਤੇਰੇ ਤੂ ਆਪੇ ਕਰਤਾ ਜੋ ਤੂ ਕਰਹਿ ਸੁ ਹੋਈ । ੫੫੮

ਜਦੋਂ ਨਹੀਂ ਜੀ ਕਰਦਾ ਤਾਂ ਆਪਣੇ ਅੰਦਰ ਝਾਤੀ ਮਾਰਦਾ ਹੈ, ਅੰਦਰ ਸ਼ਬਦ ਸਣਦਾ, ਬਾਹਰਲੇ ਸ਼ਬਦਾਂ ਨੂੰ ਭੁਲਾਂਦਾ । ਇਹੀ ਸਾਡਾ ਕਾਰਜ ਤੇ ਧਰਮ ਤੇ ਲੱਖ਼ਸ਼ ਹੈ :-

ਫ਼ਰਕ ਸਰਿਸ਼ਟੀ –ਪਰਲੈ, ਆਤਮਾ – ਰਾਮ, ਬੰਧਨ – ਮੁਕਤੀ ਦਾ ਸਰਫ਼ ਬਾਹਰ ਅੰਦਰ, ਸਿਧ ਉਲਟ, ਮਨ ਗੁਰ ਦਾ ਹੈ । ਉਲਟ ਲਓ :

ਸਤਿਗੁਰ ਮਿਲਿਐ ਉਲਟੀ ਭਈ ਭਾਈ
ਜੀਵਤ ਮਰੈ ਤਾਂ ਬੂਝ ਪਾਇ ॥ (੫੫੭)

ਪਰ ਇਹ ਉਲਟ ਮਾਰਗ ਵੀ ਉਹ ਚਲਾਏ ਤਾਹੀਓਂ ਚਲੀਦਾ ਹੈ ਨਹੀਂ ਤਾਂ ਤਿਨਾਂ ਵਿਚ ਬੰਦਾ ਗ਼ਲਤਾਨ ਰਹਿੰਦਾ ਹੈ ।

ਤਿਹੀ ਗੁਣੀ ਤ੍ਰਿਭਵਣੁ ਵਿਆਪਿਆ ਭਾਈ ਗੁਰਮੁਖਿ ਬੂਝ ਬੁਝਾਏ ।
ਮਨ ਰੇ ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਛੋਡਿ ਚਉਥੈ ਚਿਤ ਲਾਇ ॥

ਜਿਨਾ ਚਿਰ ਹਉਮੈ ਹੋਵੈ, ਇਹ ਵੀ ਓਸੇ ਦਾ ਭਾਣਾ ਸਮਝੋ ।

ਬਸ ਮਜ਼ੇ ਨੇ, ਫੇਰ ਹਉਮੈਂ ਵਿਚ, ਤ੍ਰੈ ਗੁਣਾਂ ਵਿਚ ਰਹਿੰਦਿਆਂ ਵੀ ਦੁਖ ਨਹੀਂ ਹੋਵੇਗਾ । ਕਿਹਨੂੰ, ਸਾਨੂੰ, ਨਹੀਂ ਓਸ ਨੂੰ ।

ਹਉਮੈ ਜਗਤੁ ਦੁਖਿ ਰੋਗਿ ਵਿਆਪਿਆ ਮਰਿ ਜਨਮੈ ਰੋਵੈ ਧਾਹੀ ।
(੫੫੭)

ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਧਾਤੁ ਬਹੁ ਕਰਮ ਕਮਾਵਹਿ ਹਰਿ ਰਸ ਸਾਦ ਨ ਆਇਆ ।
(੫੫੭)

ਓਹਨੂੰ ਕਰਮ ਦਾ ਸੁਆਦ ਆਉਂਦਾ ਹੈ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਨਿਹਕਰਮ ਹੋ ਕੇ ਕੰਮ ਕਰਦਾ ਹੈ, ਅਸੀਂ ਨਹੀਂ ਕਰਦੇ ਸੋ ਦੁਖੀ ਹਾਂ।

(ੜ)

ਸਾਡੇ ਤਜਰਬੇ ਅਨੁਸਾਰ ਉਹ ਕੀ ਹੈ ਤੇ ਜੋ ਕੁਝ ਸਾਡੇ ਡੂੰਘੇ ਤੋਂ ਡੂੰਘੇ ਤੇ ਉੱਚੇ ਤੋਂ ਉਚੇ ਤੇ ਸਿੱਧੇ ਤੋਂ ਸਿੱਧੇ ਤੇ ਸਾਫ਼ ਤੋਂ ਸਾਫ਼ ਤੇ ਬਾਹਰਲੇ ਤੋਂ ਬਾਹਰਲੇ ਤਜਰਬੇ ਅਨੁਸਾਰ ਹੈ, ਉਹ ਹੀ ਅਸੀਂ ਖ਼ੁਦ ਵੀ ਹਾਂ, ਸਾਡਾ ਅਸਲਾ, ਬੇ ਪਰਵਾਹ ਅਸਲਾ, ਸਾਡਾ ਸਤ ਸਤ ਚਿੱਤ ਆਨੰਦ ਅਸਲਾ ਵੀ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬਾਂ ਨੇ ਓਹਨੂੰ ਵੇਖਿਆ ਹੈ, ਵੇਖ ਕੇ ਵਿਖਾਲਿਆ ਹੈ, ਅਲਖ ਲਖਿਆ ਤੇ ਉਹਦੀ ਦਇਆ ਨਾਲ ਅਕਥ ਕਹਿਆ ਹੈ। ਕਿਉਂ ਜੀ ਕੀ ਕਹਿਆ ਹੈ, ਕਿ ਉਹ ਕੇਹੋ ਜਹਿਆ ਹੈ ਜੋ ਅਸੀਂ ਵੀ ਓਹੋ ਜਹੇ ਹੋ ਰਹੀਏ? ਜੀ, ਇਕ ਤਾਂ ਉਹ ਕਿਸੇ ਤੋਂ ਡਰਦਾ ਨਹੀਂ ਤੇ ਦੂਜਾ ਬੜਾ ਸੋਹਣਾ ਹੈ ਤੇ ਤਰੀਜਾ ਬੜਾ ਬੇ ਪਰਵਾਹ ਹੈ – ਸੁਣੇ ਤਾਂ ਝਟ ਹੀ ਸੁਣ ਲਏ, ਨਾ ਸੁਣੇ ਤਾਂ ਮਾਰੀ ਜਾਓ ਅਵਾਜ਼ਾਂ, ਖੜਕਾਈ ਜਾਓ ਬੂਹਾ। ਕਿਥੇ ਕਹਿਆ ਹੈ ਨਿਤ ਦਰਸ਼ਨ ਕਰਣ ਵਾਲਿਆਂ ਨੇ ਬਾਣੀ ਵਿਚ?

ਸਰਗੁਣ ਨਿਰਗੁਣ ਨਿਰੰਕਾਰ ਸੁੰਨ ਸਮਾਧੀ ਆਪ।
ਆਪਨ ਕੀਆ ਨਾਨਕਾ ਆਪੇ ਹੀ ਫਿਰ ਜਾਪ॥

ਜੀ ਉਹ ਸੁਨ ਹੈ, ਸ਼ੂਨਯ, ਜੀਹਦੇ ਅਰਥ ਹਨ ਜ਼ੀਰੋ, ਸਿਫ਼ਰ, ਖ਼ਾਲੀ, Void, Enptiness ਪਹਿਲੀ ਗਲ ਤਾਂ ਇਹ ਪੱਲੇ ਬੰਨ੍ਹੋ ਕਿ ਸੁੰਨ ਤੋਂ ਸਭ ਕੁਝ ਨਿਕਲਦਾ ਦੀਹਦਾ ਤੇ ਸੁਨ ਵਿਚ ਹੀ ਗੜੂੰਦ ਹੋਂਦਾ ਦਿਸਦਾ ਹੈ। ਸੁੰਨ ਹੋਈ ਜਗਤ ਦਾ ਆਦ, ਅੰਤ ਤੇ ਸੁੰਨ ਹੋਈ ਸਾਡਾ ਆਦ ਅੰਤ, ਤੇ ਸੁੰਨ ਹੋਈ ਉਹਦਾ ਵੀ, ਕੀ, ਆਦ ਅੰਤ, ਨਹੀਂ ਉਹ ਸੁੰਨੋਂ ਵੀ ਪਰੇ ਹੈ, ਸੁੰਨ ਵਿਚ ਹੈ, ਸੁੰਨ ਉਹਦੇ ਵਿਚ ਹੈ, ਓਹ ਸੁੰਨੋਂ ਘਿਰਿਆ ਹੋਇਆ, ਸੁੰਨ ਦਾ ਬੱਧਾ ਨਹੀਂ। ਦੂਜੀ ਗਲ ਹੋਈ ਹੁਕਮ। ਉਸ ਸੁੰਨੋਂ, ਸਰਿਸ਼ਟੀ ਦਾ ਹੋਣਾ ਹੁਕਮ-ਪੂਰਤੀ ਹੈ। ਲੌ ਪਰਮਾਂਣ: (੯੬੨–੯੬੫)

ਹੁਕਮੇ ਆਇਆ ਹੁਕਮਿ ਸਮਾਇਆ।

ਹੁਕਮੇ ਦੀਸੈ ਜਗਤੁ ਉਪਾਇਆ।

ਹੁਕਮੇ ਸਿਵ ਸਕਤੀ ਘਰਿ ਵਾਸਾ ਹੁਕਮੇ ਖੇਲ ਖੇਲਾਇਦਾ।

ਹੁਕਮਿ ਉਪਾਏ ਦਸ ਅਉਤਾਰਾ।

[ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਅਉਤਾਰਾਂ ਦਾ ਹੋਣਾ ਉਹਦੇ ਹੁਕਮ ਨਾਲ ਮੰਨਦੇ ਜ!]

ਦੇਵ ਦਾਨਵ ਅਗਣਤ ਅਪਾਰਾ

[ਜੁਗਾਂ ਦਾਂ ਹੋਣਾ ਵੀ ਮੰਨਦੇ ਜੇ, ਕਿਹੜੇ ਜੁਗ, ?]

ਹੁਕਮੇ ਜੁਗ ਛਤੀਹ ਗੁਦਾਰੇ

ਹੁਕਮੇ ਸਿਧ ਸਾਧਿਕ ਵੀਚਾਰੇ।

ਅੰਦਰ ਸਾਡੇ ਵੀ ਆ ਵਸਿਆ, ਰਾਜਾ ਬਣ ਕੇ।

ਉਹ ਰਾਜਾ ਹੀ ਹੈ।

ਫਰ ਰਾਜੇ ਨੇ ਏਸ ਸਰੀਰ ਰੂਪੀ ਕਿਲ੍ਹੇ ਵਿਚ ਆਪਣੇ ਚਾਕਰ ਵੀ ਨਾਲ ਹੀ ਲੈ ਆਂਦੇ।

ਕਾਇਆ ਕੋਟੁ ਗੜੈ ਮਹਿ ਰਾਜਾ

ਨੇਬ, ਖਵਾਸ, ਭਲਾ ਦਰਵਾਜਾ।

ਹੁਣ ਉਹਦੀ ਸੁੰਨ ਦਾ ਸੁਣ:

ਸੁਨ ਕਲਾ ਅਪਰੰਪਰਿ ਧਾਰੀ।

ਸੁਨ ਕੀ ਏ, ਉਹਦੀ ਕਲਾ ਜੇ।

ਆਪਿ ਨਿਰਾਲਮੁ (ਨਿਰਾਲੰਬ) ਅਪਰ ਅਪਾਰੀ

ਆਪੇ ਕੁਦਰਤਿ ਕਰਿ ਕਰਿ ਦੇਖੈ, ਸੁੰਨਹੁ ਸੁੰਨ ਉਪਾਇਦਾ।

ਅਗਨਿ ਪਾਣੀ ਜੀਉ ਜੋਤਿ ਤੁਮਾਰੀ।

ਸੁੰਨੇ ਕਲਾ ਰਹਾਇਦਾ

ਸਚ _ਚ ਗੁਰੂ ਜੀ ਬ੍ਰਹਮੇ ਬਿਸਨ ਦੀਆਂ ਹਸਤੀਆਂ ਵੀ ਤਸਲੀਮ ਕਰਦੇ ਸਨ ਪਰ ਕਿਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਤੇ ਕਿਥੋਂ ਕਿਥੇ ਆਈਆਂ ਗਈਆਂ ਤੇ ਕੇਹੜੇ ਮਤਲਬ ਲਈ? ਉਹ ਪਦ ਹਨ, ਪਦਵੀਆਂ ਹਨ।

ਸੁੰਨਹੁ ਬ੍ਰਹਮਾ ਬਿਸਨੁ ਮਹੇਸੁ ਉਪਾਏ।
ਸੁੰਨੇ ਵਰਤੇ ਜੁਗ ਸਬਾਏ
ਇਸੁ ਪਦ ਵੀਚਾਰੇ ਸੋ ਜਨੁ ਪੂਰਾ
ਤਿਸੁ ਮਿਲੀਐ ਭਰਮੁ ਚੁਕਾਇਦਾ।

ਸੁੰਨਹੁ ਖਾਣੀ ਸੁੰਨਹੁ ਬਾਣੀ। ਸੁਨਹੁ ਉਪਜੀ ਸੁੰਨਿ ਸਮਾਣੀ।
ਵੇਦ ਵੀ ਉਸੇ ਨੇ ਬਣਾਏ ਸੁੰਨ ਕਲਾ ਨਾਲ।
ਸਾਮ ਵੇਦੁ ਰੁਗੁ ਜੁਜਰੁ ਅਥਰਬਣ।
ਬ੍ਰਹਮੇ ਮੁਖਿ ਮਾਇਆ ਹੈ ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ।

ਮਾਇਆ ਕੀ ਹੈ। ਛਾਇਆ ਤੇ ਛਾਇਆ ਕੀਹਦੀ, ਉਹਦੀ ਤੇ ਛਾਇਆ ਕੀ ਹੈ, ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਃ

ਰਜ ਤਮ ਸਤ ਕਲ ਤੇਰੀ ਛਾਇਆ
ਚੌਥਾ ? ਮੁਕਤ ਦੁਆਰਾ।
ਜਨਮ ਮਰਣ ਹਉ ਮੈ ਦੁਖੁ ਪਾਇਆ
ਜਿਸ ਨੋ ਕ੍ਰਿਪਾ ਕਰੇ ਹਰਿ ਗੁਰਮੁਖਿ ਗੁਣਿ ਚਉਥੈ ਮੁਕਤਿ ਕਰਾਇਦਾ

ਪੰਚ ਤਤੁ ਸੁੰਨਹੁ ਪਰਗਾਸਾ। ਦੇਹ ਸੰਜੋਗੀ ਕਰਮ ਅਭਿਆਸਾ।

ਇਹ ਤੇ ਉਹਦੀਆਂ ਕਲਾ ਬਾਜ਼ੀਆਂ ਹੋਈਆਂ; ਉਹ ਆਪ ਕੀ ਹੈ ਇਹ ਤੇ ਇਹਨਾਂ ਤੋਂ ਵੱਖਰਾ ਃ

ਸਭ੍ਰ ਥਾਂ ਦਿਸਿਆ
ਦੀਨ ਦਇਆਲ ਹੈ। ਕਿਧਰੇ ਆਂਦਾ ਜਾਂਦਾ ਨਹੀਂ।ਕਿਰਪਾਲ ਹੈ।
ਜੀਆਂ ਵਿਚ ਜੁਗਤ ਵੀ ਬਣਿਆ ਹੈ
ਤੇ ਨਿਰਾਲਮ ਰਾਇਆ ਵੀ ਹੈ।
ਜਗਤ ਉਹਦੀ ਛਾਇਆਂ ਹੈ।
ਉਹਦਾ ਬਾਪ, ਮਾਂ, ਭੈਣ ਭਰਾ ਨਹੀਂ।
ਉਹਦੀ ਉਤਪਤਿ, ਖਪਤਿ, ਕੁਲ, ਜਾਤੀ ਨਹੀਂ।

ਉਹ ਅਜ਼ਰਾਵਰ ਹੈ।

ਤੇ ਮਨ ਸਾਡੇ ਨੂੰ ਸੋਹਣਾਂ, ਚੰਗਾ ਲਗਿਆ ਹੈ, ਭਾਇਆ ਹੈ।

ਅਕਾਲ ਪੁਰਖੁ ਹੈ

ਅਲੇਖ ਅਗੰਮ ਨਿਰਾਲਾ ਹੈ

ਤੂੰ ਵਰਤਾਇਦਾ ਹੈ

ਆਪ ਚਉਥੈ ਘਰਿ ਵਾਸਾ ਹੈ ਸੂ

ਨਿਰਮਲ ਜੋਤਿ ਹੈ

ਸਰਬ ਜਗ ਦਾ ਜੀਵਨੁ ਹੈ

ਅੰਤਰ ਜਾਮੀ ਹੈ।

ਪਰ ਇਹਨਾਂ ਨਾਲ ਸਾਡੀ ਤਸੱਲੀ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦੀ।

(੪)

ਵਾਸਤਵ ਵਿਚ ਉਹ ਕੀ ਹੈ; ਤੇ ਸਾਡੇ ਲਈ ਉਹ ਕੀ ਹੈ ਤੇ ਕੀ ਬਣ ਸਕਦਾ ਹੈ ਤੇ ਬਣਦਾ ਆਇਆ ਹੈ? ਇਹ ਦੋ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦੇ ਰੂਪ ਹਨ ਏਕੰਕਾਰ ਦੇ; ਆਪਣੇ ਆਪ ਵਿਚ ਉਹ ਨਿਰਗੁਣ ਹੈ; ਉਸਦਾ ਸਰੂਪ ਸੂਰੂਪ, ਅਕਥਨੀ ਹੈ। ਪਰ ਸਾਡੇ ਲਈ ਓਹ ਸਰਗੁਣ ਹੈ। ਕੀ ਕੀ ਹੈ? ਅਸੀਂ ਤਾਂ ਏਸ ਉਤੇ ਜ਼ੋਰ ਦੇਣਾ ਹੈ ਕਿ ਸਨਬੰਧ ਵਿਚ ਸਾਡੇ ਵਾਸਤੇ ਓਹ ਇੱਕ ਕੀ ਕੀ ਬਣਦਾ ਆਇਆ ਹੈ, ਕੀ ਕੀ ਗੁਣ ਧਾਰਦਾ ਆਇਆ, ਧਾਰੇ ਹੋਏ ਹੈ। ਬੁਲ੍ਹੇ ਨੇ ਇਕ ਥਾਂ ਗਾਂਵਿਆ ਹੈ, ਮੌਲਾ ਆਦਮੀ ਬਣ ਆਇਆ ਈਸਾਈ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦੇ ਪਿਤਾ ਹੋਣ ਤੇ, ਮੁਸਲਮਾਣ ਓਸਦੇ ਹਾਕਮ ਹੋਣ ਤੇ, ਬੋਧ ਓਸ ਦੇ ਸੁੰਨ ਹੋਣ ਤੇ, ਬੈਸ਼ਨੋ ਓਸਦੇ ਮਿਤਰ, ਸਖਾ, ਪ੍ਰੀਤਮ ਹੋਣ ਤੇ ਸ਼ਾਕਤ ਉਸਦੇ ਮਾਤਾ ਹੋਣ ਤੇ ਜ਼ੋਰ ਦੇਂਦੇ ਹਨ। ਗੁਰੂ ਜੀ ਸਭ ਰਿਸ਼ਤਿਆਂ ਨੂੰ ਇਕ ਥਾਈਂ ਲਿਆ ਕੇ ਓਸਦਾ ਸਰਗੁਣ ਰੂਪ ਇਉਂ ਨਿਤਾਰਦੇ ਹਨ:-

(੧੨੩੯) ਮਾਈ ਰੀ ਅਰਿਓ ਪ੍ਰੇਮ ਕੀ ਖੋਰਿ।

ਦਰਸ਼ਨ ਰੁਚਿਤ ਪਿਆਸ ਮਨਿ ਸੁੰਦਰ ਸਕਤ ਨ ਕੋਈ ਤੋਰਿ।

ਪ੍ਰਾਨ ਮਾਨ ਪਤਿ ਪਿਤ ਸੁਪ ਬੰਧਪ ਹਰਿ ਸ੍ਰਰਬ ਸੁਧਨ ਮੋਰ।

ਬੇਅੰਤ ਸਗੁਣ ਨਾਂ ਉਹਦੇ ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗ੍ਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਜੀ ਵਿਚ ਹਨ। ਪੁਰਾਣੇ ਤੇ ਨੰਵੇਂ। ਫੇਰ ਦਸਮ ਪਿਤਾ ਜੀ ਨੇ ਤਾਂ ਹੱਦ ਮੁਕਾ ਦਿਤੀ ਹੈ, ਜਾਪ ਸਾਹਿਬ ਤੇ ਹੋਰ ਅਕਾਲ ਉਸਤਤ ਵਿਚ। ਹਰੀ ਦਾ ਨਾਮ ਸਚਾ ਹੈ। ਉਸ ਦੇ ਗੁਣ ਵੀ ਸਚੇ ਹਨ, ਬਾਕੀ ਸਭ ਝੂਠ, ਮਿਥਿਆ।

ਰਵਣ ਗੁਣ ਗੋਪਾਲ ਕਰਤੇ ਨਾਨਕਾ ਸਚੁ ਜੋਇ।

ਹਰਿ ਕੇ ਨਾਮ ਕੀ ਮਤਿ ਸਾਰ।

ਹਰਿ ਬਿਸਾਰਿ ਜੁ ਆਨ ਰਾਚਹਿ ਮਿਥਨ* ਸਭ ਬਿਸਥਾਰ।

ਜਦੋਂ ਉਹ ਸਰਗੁਣ ਕਰਕੇ ਸਾਡਾ ਆਦਰਸ਼ ਹੈ ਤਾਂ ਅਸੀਂ ਉਸ ਨਾਲ ਗਲ ਕਰ, ਉਸਦੇ ਦਰਸ਼ਨ ਕਰ, ਉਸ ਨੂੰ ਮਨ ਵਿਚ ਵਸਾ, ਸਕਦੇ ਹਾਂ, ਉਸ ਦੀ ਧੁਨੀ ਸੁਣ ਸਕਦੇ ਹਾਂ। ਉਸਦੇ ਪੈਰ ਪੂਜ ਸਕਦੇ ਹਾਂ, ਉਸਦੀ ਮਿਤ-ਰਤਾ ਮਾਣ ਸਕਦੇ ਹਾਂ।

ਨੀਕੀ ਰਾਮ ਕੀ ਧੁਨਿ ਸੋਇ।

ਚਰਨ ਕਮਲ ਅਨੂਪ ਸੁਆਮੀ ਜਪਤ ਸਾਧੂ ਹੋਇ।

ਚਿਤਵਤਾ ਗੋਪਾਲ ਦਰਸਨ ਕਲਮਲਾ ਕਢੁ ਧੋਇ।

ਚਰਨਾਰਬਿੰਦ ਬਸਾਇ ਹਿਰਦੈ ਬਹੁਰਿ ਜਨਮ ਨ ਮਾਰ।

ਉਹਦੇ ਦਰਬਾਰ ਵਿਚ ਵੀ ਜਾ ਸਕਦੇ ਹਾਂ, ਉਹ ਦਰਬਾਰ ਵਾਲਾ ਹੈ।

ਕਰਿ ਅਨੁਗ੍ਰਹੁ ਰਾਖਿ ਲੀਨੇ ਏਕ ਨਾਮ ਅ ਾਰ।

ਦਿਨ ਰੈਨਿ ਸਿਮਰਤ ਸਦਾ ਨਾਨਕ ਮੁਖ ਊਜਲ ਦਰਬਾਰ।

ਇਹ ਪੱਕੀ ਗੱਲ ਜੇ ਰਬ ਦਿਸ ਪੈਂਦਾ ਜੇ। ਵੇਖ ਕੇ ਕੀ ਹਾਲ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਇਹ ਵੀ ਪਕੀ ਤਰ੍ਹਾਂ ਮਾਲੂਮ ਹੈ। ਕਿਵੇਂ ਨਜ਼ਰ ਪੈਂਦਾ ਹੈ, ਸੋ ਤਾਂ ਤੁਸੀਂ ਆਪ ਤੇ ਕਰ ਲਇਆ ਸੀ ਜਦੋਂ ਉਸਦਾ ਕੋਈ ਗੁਣ ਵਿਚਾਰ –

---

* ੧੧੪੨ : ਨਾਨਕ ਕਹਤ ਜਗਤ ਸਭ ਮਿਥਿਆ ਜਿਉ ਸਪਨਾ ਰੈਨਾਈ ॥

ਉਸ – ਤੀਕ ਪੁਚਾਂਣ ਵਾਲਾ – ਰਸਾ ਬਣਾਇਆ ਸੀ । ਨਜ਼ਰ ਕਿਥੇ ਆਉਂਦਾ ਹੈ, ਧਿਆਨ ਵਿਚ, ਬਾਹਰ ਨਹੀਂ ।

ਧਾਰਿ ਅਨੁਗ੍ਰਹੁ ਅਪੁਨੀ ਕਰਿ ਲੀਨੀ ਗੁਰਮੁਖਿ ਪੂਰ ਗਿਆਨੀ ।
ਸਰਬ ਸੂਖ ਆਂਨਦ ਘਨੇਰੇ ਠਾਕਰ ਦਰਸ ਧਿਆਨੀ ॥

ਜਦੋਂ ਦਿੱਸੇ ਤਦ ਫੇਰ ਅਸੀਂ ਕੇਹੜੀ ਆਰਤੀ ਏਕੰਕਾਰ ਦੀ ਕਰਨੀ ਹੈ ?

ਤੂਆ ਚਰਨ ਆਸਰੋ ਈਸ (੧੧੩੯–੧੧੪੦)
ਤੁਮਹਿ ਪਛਾਨੂ ਸਾਕੁ ਤੁਮਹਿ ਸੰਗਿ ਰਾਖਨ ਹਾਰੁ ਤੁਮੈ ਜਗਦੀਸ
ਤੂ ਹਮਰੋ ਹਮ ਤੁਮਰੋ ਕਹੀਐ ਇਤ ਉਤ ਤੁਮ ਹੀ ਰਾਖੇ ॥
ਤੂ ਬੇਅੰਤੁ ਅਪਰੰਪਰੁ ਸੁਆਮੀ ਗੁਰ ਕਿਰਪਾ ਕੋਈ ਲਾਖੈ(੧੧੪੦)

ਹਦੇ ਦਿਸਣ ਦਾ ਇਕ ਅਸਰ ਇਹ ਹੁੰਦਾਂ ਹੈ, ਜੋ ਪੇਹਲਾਂ ਜੋ ਕੁਝ ਸਾਨੂੰ ਸੱਤ ਜਾਪਦਾ ਸੀ, ਓਹ ਅਸਤ, ਕਸੋਹਣਾ, ਝੂਠ, ਝਮੇਲਾ ਕਰਕ ਦੀਹਦਾ ਹੈ। ਸਾਫ਼ ਲਿਖਿਆ ਹੈ :–

ਸੁਭ ਬਚਨ ਬੋਲਿ ਗੁਨ ਅਮੋਲ ।
ਕਿੰਕਰੀ ਬਿਕਾਰ ।
ਦੇਖੁ ਰੀ ਬੀਚਾਰ ॥
ਗੁਰ ਸਬਦ ਧਿਆਇ ਮਹਲੁ ਪਾਇ ।
ਹਰਿ ਸੰਗਿ ਰੰਗ ਕਰਤੀ ਮਹਾ ਕੇਲ ॥ ਰਹਾਉ ॥
ਸੁਪਨ ਰੀ ਸੰਸਾਰੁ
ਮਿਥ ਨੀ ਬਿਸਥਾਰੁ
ਸਖੀ ਕਾਇ ਮੋਹਿ ਮੋਹਿ ਲੀ ਪ੍ਰਿਅ ਪ੍ਰੀਤਿ ਰਿਦੈ ਮੇਲ ।
ਸਰਬ ਰੀ ਪ੍ਰੀਤਿ ਪਿਆਰੁ ।
ਪ੍ਰਭੁ ਸਦਾ ਰੀ ਦਇਆਰੁ
ਕਾਂਏਂ ਆਨ ਆਨ ਰੁਚੀਐ ।
ਹਰਿ ਸੰਗਿ ਸੰਗਿ ਖਚੀਐ ।

ਜਉ ਸਾਧ ਸੰਗ ਪਾਏ ।
ਕਹੁ ਨਾਨਕ ਹਰਿ ਧਿਆਏ । ਅਬ ਰਹੇ ਜਮਹਿ ਮੇਲ ।

ਸੰਤ ਉਹਨੂੰ ਵੇਖ ਕੇ ਹੀ ਪਰਤੀਤ ਕਰਦੇ ਹਨ, ਅੱਖੀਆਂ ਨਾਲ ਵੇਖ ਕੇ, ਤੇ ਭਲਾ, ਕਝ ਚੱਖ ਕੇ ਵੀ, ਮਿਠਾ ਹੈ, ਸੋਹਣਾ ਹੈ... ।

ਦੇਹੁ ਦਰਸੁ ਨੈਨ ਪੇਖਉ ਜਨ ਨਾਨਕ ਨਾਮ ਮਿਸਟਿ ਲਾਗੈ।(੧੧੪੧)

ਸੁਣਿਆ ਹੈ ਕਿ ਓਹ ਆਣ ਕੇ ਸਹਾਇਤਾ ਵੀ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਅਵਰਤਣ ਓਸਦਾ ਅਵਸ਼ ਮੰਨਿਆ ਹੈ ਗੁਰਬਾਣੀ ਵਿਚ :-

ਰਾਮ ਰਾਮ ਰਾਮ ਜਾਪਿ ਰਮਤ ਰਾਮ ਸਹਾਈ ।

ਰਮਤਾ ਰਾਮ ਏਧਰ ਸਾਡ ਵਲ ਵੀ ਰਾਮ ਰਾਮ ਸੁਣਕੇ ਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ।

ਨਾ ਕੇਵਲ ਓਹ ਅਵਤਾਰ ਹੈ, ਸਹਾਇਕ ਹੈ, ਸਗੋਂ ਗੁਰੂ ਬਣ ਕੇ ਵੀ ਓਹੀ ਸਾਨੂੰ ਅੰਨ੍ਹੇਰੇ 'ਚੋਂ ਕੱਢਦਾ ਹੈ, ਤਹੀਓਂ ਤਾਂ ਬਾਣੀ ਵਿਚ ਥਾਂ ਥਾਂ ਉਸ ਨੂੰ ਗੁਰ ਗੋਪਾਲ, ਗੁਰ ਗੋਬਿੰਦ, ਗੁਰ ਪਰਮੇਸਰ ਕਰਕੇ ਲਿਖਿਆ ਹੈ; ਗੁਰ ਗੋਪਾਲ ਭਏ ਕ੍ਰਿਪਾਲ ਲਬਧਿ ਅਪਨੀ ਪਾਈ । (੧੧੪੧)

(੫)

ਓਸ ਏਕੰਕਾਰ-ਸਾਕਾਰ ਵਾਸਤੇ ਵਰਤੇ ਗਏ ਕੁਝ ਹੋਰ ਸ਼ਬਦ ਕੱਠੇ ਕਰਦੇ ਹਾਂ :-

ਅੰਤਰਜਾਮੀ – ਸਾਡੇ ਅੰਦਰ ਬੈਠਿਆ ਸਾਡੇ ਆਪ ਨੂੰ ਨੀਅਮ ਨਿਜ਼ਮ, ਨੇਮ, ਬੱਧ ਕਰਦਾ ਹੈ।

ਪ੍ਰਭ, ਪ੍ਰਤਿਪਾਲ, ਦੁਖ ਭੰਜਨ, ਸੁਆਮੀ, ਸੁੰਦਰ, ਹਰੀ, ਰੰਸਾਲ ਕਿਰਪਾਲ, ਲਾਲ, ਪਤਿਤ ਪਾਵਨ, ਮੋਹਨ; ਦੀਨ ਦਇਆਲ; ਭਗਵੰਤ, ਜਗਦੀਸ. ਸ੍ਰੀਧਰ ਨਾਥ, ਪ੍ਰਭੁ, ਹਰਿ, ਪ੍ਰੀਤਮ, ਪ੍ਰਾਨ, ਗੁਸਾਂਈ, ਨਿਰਮਾਇਲੁ, ਭਉ ਭੰਜਨੁ, ਮੋਹਨਿ, ਗਹਿਰ ਗੰਭੀਰ. ਸਾਗਰ ਰਤਨਾਗਰ, ਏਕਸ ਅਗਮ, ਅਗੋਚਰੁ, ਅਨਾਥੁ, ਅਜੋਨੀ, ਅਕਥ

(ਗੁਰ ਪਰਸਾਦੀ ਅਕਥਉ ਕਥੀਐ ਕਹਉ ਕਹਾਵੈ ਸੋਈ, ੧੧੪੪)

ਨਿਹ ਕੇਵਲੁ, ਦਾਤਾਰਾ, ਆਤਮ ਰਾਮੁ, ਊਚੇ ਹੀ ਤੇ ਊਚਾ, ਆਤਮੁ ਰਾਮੁ, ਮੁਰਾਰੀ; ਪਾਰ ਬ੍ਰਹਮ, ਨਿਰੰਜਨੁ; ਨਾਮੁ ਨਿਰੰਜਨੁ ਬਡ ਸਾਹਿਬ; ਪੂਰਨ ਭਗਵਾਨ, ਸਖਾਈ; ਰਮਤ ਰਾਮ; ਸਚਾ; ਸਤਿਪੁਰਖੁ ਸਚੁ ਦਾਤਾ: ਨਿਰਮਲ; ਕਰਮ ਬਿਧਾਤਾ; ਨਿਰਬਾਨੁ; ਸਗਲ ਛਤ੍ਰ ਪਤਿ ਕ੍ਰਿਪਾ ਨਿਧਾਨ; ਬੀਠਾ; ਅਲਿਪਾਤਾ; ਰਾਜਨੁ, (ਬੰਧਨ ਤੇ) ਮੁਕਤਾ, ਸਦ ਸਲਾਮਤਿ, (ਘਟਿ ਘਟਿ) ਜੁਗਤਾ; ਬੇ ਸੁਮਾ ਵਡ ਸਾਹ ।

(੬)

ਕੀ ਸਿੱਖਾਂ ਨੂੰ ਅਵਤਾਰਾਂ ਦਾ ਹੋਣਾਂ ਮੰਨਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ । ਕੀ ਬ੍ਰਹਮਾ, ਵਿਸ਼ਨ, ਸ਼ਿਵ, ਵਾਸਤਵ ਵਿਚ ਏਕੰਕਾਰ ਦੇ ਰੂਪ, ਭਾਵੇਂ ਕਿਤਨੇ ਹੀ ਛੋਟੇ, ਹਨ ? ਸੁਣੋ :

ਅਨੇਕਾਂ ਬ੍ਰਹਮੇ, ਮਹੇਸ਼, ਇੰਦ੍ਰ, ਦੇਵੀ ਦੇਵਾ ਓਸਦੇ ਉਪਜਾਏ ਹੋਏ ਹਨ ਤੇ ਓਸਦਾ ਧਿਆਨ ਕਰਦੇ ਹਨ । ਓਸਦੇ ਅਨੇਕ ਅੰਸ਼ਾਂਵਤਾਰ ਹਨ

ਅਨਿਕ ਬ੍ਰਹਮੇ ਜਾਕੇ ਬੇਦ ਧੁਨਿ ਕਰਹਿ । (੧੧੪੬)
ਅਨਿਕ ਮਹੇਸ ਬੈਸਿ ਧਿਆਨੁ ਧਰਹਿ ।
ਅਨਿਕ ਪੁਰਖ ਅੰਸਾ ਅਵਤਾਰ ।
ਅਨਿਕ ਇੰਦ੍ਰ ਊਭੇ ਦਰਬਾਰ ।
ਅਨਿਕ ਪਵਨ ਪਾਵਕ ਅਰੁ ਨੀਰ ।
ਅਨਿਕ ਰਤਨ ਸਾਗਰ ਦਧਿ ਖੀਰ ।
ਅਨਿਕ ਸੂਰ ਸਸੀਅਰ ਨਖਿਆਤਿ ।
ਅਨਿਕ ਦੇਵੀ ਦੇਵਾ ਬਹੁ ਭਾਂਤਿ ।
ਅਨਿਕ ਬਸੁਧਾ ਅਨਿਕ ਕਾਮਧੇਨ ।
ਅਨਿਕ ਪਾਰਜਾਤ ਅਨਿਕ ਮੁਖਿ ਬੇਨ ।
ਅਨਿਕ ਅਕਾਸ ਅਨਿਕ ਪਾਤਾਲ ।
ਅਨਿਕ ਮਖੀ ਜਪੀਐ ਗੋਪਾਲ ।

ਅਨਿਕ ਧਰਮ ਅਨਿਕ ਕੁਮੇਰ।
ਅਨਿਕ ਬਰਨ ਅਨਿਕ ਕਨਿਕ ਸੁਮੇਰ।
ਅਨਿਕ ਸੇਖ ਨਵਤਨ ਨਾਮੁ ਲੇਹਿ।
ਪਾਰਬ੍ਰਹਮ ਕਾ ਅੰਤੁ ਨ ਤੇਹਿ।
ਅਨਿਕ ਪੁਰੀਆ ਅਨਿਕ ਤਹ ਖੰਡ।
ਅਨਿਕ ਰੂਪ ਰੰਗ ਬ੍ਰਹਮੰਡ।
ਅਨਿਕ ਬਨਾ ਅਨਿਕ ਫਲ ਮੂਲ।
ਆਪਹਿ ਸੂਖਮ ਆਪਹਿ ਅਸਥੂਲ।
ਅਨਿਕ ਜੁਗਾਦਿ ਦਿਨਸ ਅਰੁ ਰਾਤਿ।
ਅਨਿਕ ਪਰਲਉ ਅਨਿਕ ਉਤਪਾਤਿ।
ਅਨਿਕ ਜੀਅ ਜਾਕੇ ਗ੍ਰਿਹ ਮਾਹਿ।
ਰਮਤ ਰਾਮ ਪੂਰਨ ਸ੍ਰਬ ਠਾਂਇ।
ਅਨਿਕ ਮਾਇਆ ਜਾ ਕੀ ਲਖੀ ਨ ਜਾਇ।
ਅਨਿਕ ਕਲਾ ਖੇਲੈ ਹਰਿ ਰਾਇ।
ਅਨਿਕ ਧੁਨਿਤ ਲਲਿਤ ਸੰਗੀਤ।
ਅਨਿਕ ਗੁਪਤ ਪ੍ਰਗਟੇ ਤਹ ਚੀਤ।
ਅਨਿਕ ਅਨਾਹਦ ਆਨੰਦ ਝੁਨਕਾਰ।
ਉਆ ਰਸ ਕਾ ਕਛੁ ਅੰਤੁ ਨ ਪਾਰ।

ਸਰਿਸ਼ਟੀ ਦੇ ਰਚਣ ਦਾ ਢੰਗ ਤੇ ਉਸਦਾ ਪਰਿਓਜਨ ਜਾਣਨ ਨਾਲ ਅਸੀਂ ਆਪਣੀ ਹੋਂਦ ਦਾ ਪਰਿਓਜਨ ਤੇ ਆਪਣੀ ਹਸਤੀ ਦੀ ਤਰਕੀਬ ਜਾਣ ਲੈਂਦੇ ਹਾਂ, ਨਾਲ ਹੀ ਇਹਨਾਂ ਨਾਲ ਉਹਦੇ ਕੰਮ ਅਤੇ ਕੰਮ ਦੇ ਮਸਾਲੇ ਉਤੇ ਚਾਨਣ ਪੈਂਦਾ ਹੈ।

ਆਪੇ ਆਪਿ ਨਿਰੰਜਨਾ ਜਿਨਿ ਆਪੁ ਉਪਾਇਆ।
ਆਪੇ ਖੇਲ ਰਚਾਇਓਨੁ ਸਭੁ ਜਗਤੁ ਸਬਾਇਆ।

ਤੈ ਗੁਣ ਆਪਿ ਸਿਰਜਿਅਨੁ ਮਾਇਆ ਮੋਹੁ ਵਧਾਇਆ।
ਸਭਨਾ ਸਾਹਿਬੁ ਏਕੁ ਹੈ ਵੇਖੈ ਧੰਧੈ ਲਾਇ।

ਅਸਾਂ ਵੀ ਏਸ ਨੂੰ ਖੇਲ ਹੀ ਸਮਝਣਾ ਹੈ ਤੇ ਇਸਨੂੰ ਤਿੰਨ ਗੁਣਾਂ ਦਾ ਝਮੇਲਾ ਸਮਝ ਕੇ ਉਸ ਨਿਰਗੁਣ, ਨਿਰਬਾਣ ਪਦ ਵਿਚ ਵਸਣਾ ਹੈ। ਇਸ ਮਾਇਆ ਨੂੰ ਅਪਣੀ ਸ਼ਕਤੀ, ਛਾਇਆ ਸਮਝਣਾ ਤੇ ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਇਸ ਤੋਂ ਅਲੱਗ ਸਮਝਣਾ ਹੈ। ਪਾਠਕਾਂ ਨੂੰ ਇਹ ਦੁਬਧਾ ਅਕਸਰ ਚਿਮਟੀ ਹੋਣੀ ਹੈ ਕਿ ਇਕ ਪਾਸੇ ਤਾਂ 'ਆਪ ਸਤ ਕੀਆ ਸਭ ਸਤ' ਲਿਖਿਆ ਹੈ ਤੇ ਦੂਜੇ ਪਾਸੇ ਇਹ ਸਭ ਝੂਠ, ਛਾਇਆ, ਸੁਪਨਾ, ਸੁਆਹ। ਕੇਹੜਾ ਬਚਨ ਤੇ ਪਖ ਠੀਕ ਹੈ। ਇਸ ਦਾ ਸਦਾ ਲਈ ਅਸੀਂ ਨਿਵਾਰਨ ਕਰਦੇ ਹਾਂ। ਇਹ ਮਾਇਆ ਇਕ ਨਾਲ, ਇਕ ਵਿਚ, ਇਕ ਦਾ ਝਲਕਾਰਾ, ਸ਼ਕਤੀ, ਕਰ ਕੇ ਤਾਂ ਸੱਤ ਹੈ, ਪਰ ਆਪਣੇ ਆਪ ਵਿਚ, ਇਕ ਤੋਂ ਅਲਗ ਅਸਤ ਹੈ। ਨਾਮ ਜਪਦਿਆਂ, ਨਾਮ ਮਨ ਵਿਚ ਵਸਦਿਆਂ, ਵਸਾਂਦਿਆਂ, ਜੋ ਕੰਮ ਕਰੋਗੇ, ਜੋ ਦੇਖੋਗੇ ਸੋ ਸਤ ਹੋਵੇਗਾ, ਸਤ ਹੀ ਸਤ, ਬਿਨਾਂ ਨਾਮ ਪਦ ਤੇ ਸਹਜ ਦਾਤ ਦੇ ਜੋ ਦੇਖੋਗੇ, ਕਰੋਗੇ ਸੋ ਅਸਤ, ਬੰਧਨ, ਧੋਖਾ। ਉਸ ਇਕ ਬਾਝੋਂ ਸਗਲਾ ਛਾਰ ਹੈ :-

ਏਕ ਸਾਚੇ ਨਾਮ ਬਾਝਹੁ ਸਗਲ ਦੀਸੈ ਛਾਰੁ। (੩੭੬)

ਜੇ ਉਸ ਇਕ ਸਮਰਥ ਦੀ ਸਰਣ ਗਹਿ ਲਉਗੇ, ਗੁਰੂ ਦੁਆਰਾ ਇਕ ਨੂੰ ਸਮਝ ਲਉਗੇ ਤਾਂ ਸਭ ਰਸ ਭੋਗ ਤੁਹਾਡੇ ਲਈ ਸਤ, ਜਾਇਜ਼ ਤੇ ਅਨੰਦ ਦਾਈ, ਬਿਨਾ ਬੰਧਨ ਤੇ ਕਰਮ ਫਲ ਦੇ, ਤੇ ਸਦਾ ਨਿਰ ਬਿਕਾਰ ਹੋਣਗੇ:

ਜੀਉ ਮਨੁ ਤਨੁ ਪ੍ਰਾਨ ਪ੍ਰਭ ਕੇ ਦੀਏ ਸਭਿ ਰਸ ਭੋਗ। (੩੭੬)
ਦੀਨ ਬੰਧਪ ਜੀਅ ਦਾਤਾ ਸਰਣਿ ਰਾਖਣ ਜੋਗੁ॥

ਖਾਣਾ ਪੀਣਾ ਸਭ ਕੁਝ ਸਹਜ ਅਵਸਥਾ ਵਿਚ ਪੁਨ ਹੈ, ਸਤ ਹੈ, ਨਹੀਂ ਤ ਮਲ, ਵਿਕਾਰ ਤੇ ਅਸਤ। ਏਸੇ ਤਰ੍ਹਾਂ ਹੋਰ ਅਚਾਰ, ਕਰਮ, ਧਰਮ ਜੋ ਨਾਮ ਆਸ਼੍ਰਿਤ ਹਨ ਤਾਂ ਠੀਕ ਨਹੀਂ ਨਿਸਫਲ। ਸਦਕੇ ਜਾਈਏ ਸਤਗੁਰਾਂ ਤੋਂ,

ਕਿ ਨਾਮੁ ਅਚਾਰ ਦੋਹਾਂ ਨੂੰ ਕਠਿਆਂ ਹੀ ਕਰ ਦਿਤਾ ਨੇ ਤੇ ਸਾਰੀ ਬੇਹਸ ਮੇਰੀ ਨਾਮ ਮਜ਼ਮੂਨ ਵਾਲੀ ਇਕੋ ਹੀ ਦੋਹੜੇ ਵਿਚ ਮੁਕਾ ਛਡੀ ਨੇ :

ਬੇਦ ਸਾਸਤ੍ਰ ਜਨ ਧਿਆਵਹਿ ਤਰਣ ਕਉ ਸੰਸਾਰੁ । (੩੭੬)
ਕਰਮ ਧਰਮ ਕਨੇਕ ਕਿਰਿਆ ਸਭ ਊਪਰਿ ਨਾਮੁ ਅਚਾਰੁ ॥

ਉਹ ਜੋ ਇਸ ਤਰਾਂ ਦੀ ਸਹਜ ਅਵਸਥਾ ਵਿਚ ਹੈ, ਅਸਾਨੂੰ ਵੀ ਏਵੇਂ ਹੀ ਨਿਰ-ਲੇਪ ਹੋ ਕੇ ਵਰਤਣਾ ਹੈ। ਉਹਦੇ ਜੱਸ ਗਾਣ ਦਾ ਮਤਲਬ ਹੀ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਹੌਲੇ ਹੌਲੇ ਉਹ ਗੁਣ ਸਾਡੇ ਵਿਚ ਸਮਾਂ ਜਾਣ, ਅਸੀਂ ਓਸੇ ਦੇ ਰੰਗ ਵਿਚ ਰੰਗੇ ਜਾਈਏ।

ਉਦਮੁ ਕਰਉ ਕਰਾਵਹੁ ਠਾਕੁਰ ਪੇਖਤ ਸਾਧੂ ਸੰਗਿ। (੩੭੬)
ਹਰਿ ਹਰਿ ਨਾਮੁ ਚਰਾਵਹੁ ਰੰਗਨਿ ਆਪੇ ਹੀ ਪ੍ਰਭ ਰੰਗਿ ॥

(੭)

ਇਕ ਉਹਦਾ ਗੁਣ ਸਾਡੇ ਬੜੇ ਕੰਮ ਦਾ ਤੇ ਸਾਡਾ ਅੱਤੀ ਲੋੜੀਂਦਾ ਹੈ। ਉਹ ਇਹ ਕਿ ਉਹ ਭਗਤਾਂ ਦੀ ਗੱਲ ਮੰਨ ਲੈਂਦਾ ਹੈ। ਏਸੇ ਕਰਕੇ ਅਸੀਂ ਉਸ ਪਾਸ ਪਹੁੰਚਣ ਲਈ ਭਗਤ, ਸਾਧ, ਸੰਤ, ਗੁਰ ਦੀ ਸੇਵਾ ਨੂੰ ਪ੍ਰਭ-ਮਿਲਣ ਦਾ ਰਾਹ ਮੰਨਦੇ ਹਾਂ।

ਹਰਿ ਜੀਉ ਸੋਈ ਕਰਹਿ ਜਿ ਭਗਤੁ ਤੇਰੇ ਜਾਚਹਿ ਏਹੁ ਤੇਰਾ ਬਿਰਦੁ। (੩੭੭)
ਕਰ ਜੋੜਿ ਨਾਨਕ ਦਾਨੁ ਮਾਗੈ ਅਪਣਿਆ ਸੰਤਾ ਦੇਹਿ ਹਰਿ ਦਰਸੁ ॥

ਮਾਇਆ ਕਿਤੇ ਵਖਰੀ ਨਹੀਂ ਹੈ, ਬ੍ਰਹਮ ਦੀ ਰਕੀਬ, ਹਰੀਫ਼, ਉਸ ਤੋਂ ਦੂਜੀ ਨਹੀਂ ਹੈ।

ਮਾਇਆ ਮੋਹੁ ਮੇਰੈ ਪ੍ਰਭਿ ਕੀਨਾ ਆਪੇ ਭਰਮਿ ਭੁਲਾਏ। (੬੨)

ਮਾਇਆ ਕੀ ਹੈ, ਮੋਹ, ਤੇ ਭਰਮਿ (ਭਰਮ ਵਿਚ ਪੈ ਕੇ ਭੁਲ ਜਾਣਾ)। ਕਿਸ ਨੇ ਮਾਇਆ ਰਚੀ! ਕਿੱਥੋਂ ਆਈ?

ਮੇਰੇ ਪ੍ਰਭੁ ਨੇ ਏਸ ਨੂੰ ਕੀਤਾ (ਪੈਦਾ, ਜ਼ਾਹਿਰ)।

ਮਾਇਆ (ਅਰਥਾਤ ਮੋਹ ਤੇ ਭਰਮ) ਕਿਵੇਂ ਜਿਤੀਏ? ਗੁਰਬਾਣੀ ਦੁਆਰਾ

ਬ੍ਰਹਮ ਬੀਚਾਰ ਦੁਆਰਾ । ਗੁਰਬਾਣੀ ਕੀ ਕਰੇਗੀ, ਸਾਡੇ ਮਨ ਵਿਚੋਂ ਮਾਇਆ ਰੂਪੀ ਮੋਹ ਤੇ ਭਰਮ ਰੂਪੀ ਤਿਮਰ ਅਗਿਆਨ, ਅੰਨ੍ਹੇਰਾ ਕੱਢ ਕੇ ਚਾਨਣ ਅੰਦਰ ਵਸਾ ਦੇਵੇਗੀ । ਕੇਹੜਾ ਚਾਨਣ, ਉਸ ਚਾਨਣ ਵਿਚ ਕੀ ਹੁੰਦਾ ਹੈ? ਕਰਮ ਦਾ, ਨਿਸ਼ਕਾਮ ਕਰਮ ਦਾ, ਹਉਮੈ ਬਗ਼ੈਰ ਕਰਮ ਦਾ, ਸਹਜ ਕਰਮ ਦਾ ਚਾਨਣ ਵਸਾਏਗੀ ।

ਗੁਰਬਾਣੀ ਇਸੁ ਜਗ ਮਹਿ ਚਾਨਣੁ ਕਰਮਿ ਵਸੈ ਮਨਿ ਆਇ ।
ਗੁਰ ਪੂਰਾ ਸਾਲਾਹੀਐ ਸਹਜਿ ਮਿਲੈ ਪ੍ਰਭੁ ਸੋਇ । (੬੩)
ਭਰਮੁ ਗਇਆ ਭਉ ਭਾਗਿਆ ਹਰਿ ਚਰਣੀ ਚਿਤੁ ਲਾਇ ।
ਸਚੀ ਬਾਣੀ ਸਿਉ ਚਿਤੁ ਲਾਗੈ ਆਵਣੁ ਜਾਣੁ ਰਹਾਏ । (੬੩)

ਭਰਮ, ਮਾਇਆ, ਮੋਹ ਦੀ ਥਾਂ ਸਚ ਆ ਲੈਂਦਾ ਹੈ । ਮਾਇਆ ਨਹੀਂ ਹੋਵੇਗੀ ਤਾਂ ਬ੍ਰਹਮ ਹੀ ਬ੍ਰਹਮ ਹੈ, ਸਭ ਆਤਮ ਰਾਮ ਹੀ ਹੈ ।

ਸਚੁ ਖਾਣਾ ਸਚੁ ਪੈਨਣਾ ਸਚੇ ਹੀ ਵਿਚਿ ਵਾਸੁ ।
ਸਦਾ ਸਚਾ ਸਾਲਾਹਣਾ ਸਚੈ ਸਬਦਿ ਨਿਵਾਸੁ ।
ਸਭੁ ਆਤਮ ਰਾਮੁ ਪਛਾਣਿਆ ਗੁਰਮਤੀ ਨਿਜ ਘਰਿ ਵਾਸੁ ।

(੯)

ਇਕ ਵੇਰੀ ਮੈਂ ਸਰਦਾਰ ਸਰ ਜੋਗਿੰਦਰ ਸਿੰਘ ਤੇ ਰਾਜਾ ਸਰ ਦਲ-ਜੀਤ ਸਿੰਘ ਜੀ ਪਾਸੋਂ ਪੁਛਿਆ ਕਿ ਸਾਡੇ ਗੁਰਮਤ ਵਿਚ ਈਸ਼ਰ ਦਾ ਰੂਪ ਕਿਹੜਾ ਚਾਲੂ ਤੇ ਪਰਮਾਣੀਕ ਹੈ ।

ਪਹਿਲੇ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਆਖਿਆ ਓਮ । ਮੈਂ ਸਮਝਦਾ ਹਾਂ ਕਿ ਓਮ ਦੀ ਥਾਂ ਸਾਡੇ ਲਈ ਸਾਡੇ ਗੁਰਾਂ ਨੇ ਕਿਸੇ ਖ਼ਾਸ ਕਾਰਣ ਤੇ ਲੱਖ ਨੂੰ ਹੀ ਮੁੱਖ ਰਖ ਕੇ ਇਕਓਂਕਾਰ ਜਾਂ ਏਕੰਕਾਰ ਹੀ ਦਿੱਤਾ ਹੈ । ਮੁਸਲਮਾਣ ਫ਼ਲਾਸਫ਼ਰਾਂ ਵਿਚ ਇਹ ਮੰਨੀ ਪਰਮੰਨੀ ਗੱਲ ਹੈ ਕਿ ਇਲਹਾਮ ਆਪਣੀ ਮਾਤਰੀ ਬੋਲੀ ਵਿਚ ਹੀ ਪੈਗੰਮਬਰ ਨੂੰ ਹੁੰਦਾ ਹੈ । ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਧੁਰੋਂ ੴ ਸਤਨਾਮ, ਵਾਹਿਗੁਰ, ਏਕੰਕਾਰ ਹੀ ਲਿਆਏ । ਏਸੇ ਲਈ ੧ਓਂ ਸਭ ਤੋਂ ਪਹਿ-

ਥਮ ਹੈ ਤੇ ਮਗਰੋਂ ਸਤਿਨਾਮ ਹੈ, ਤੇ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਗੁਪਤ ਹੈ, ਵਾਹ ਵਾਹ ਤਾਂ ਹੈ ਪਰ ਵਾਹ ਵਾਹ ਦਾ ਮੇਲ ਗੁਰੂ ਮੂਰਤੀ ਨਾਲ, ਗੁਰ ਬਾਣੀ ਨਾਲ ਮੇਲ ਤੋਂ ਹੀ ਦੀਖਿਆ ਰੂਪ ਵਿਚ ਦਾਤ ਕਰ·ਕੇ ਮਿਲਦਾਂ ਹੈ। ਗੁਰਬਾਣੀ ਵਿਚ ਸਭ ਤੋਂ ਉਚੀ, ਪਹਿਲੀ ਨਿਰਗੁਣ ਅਵਸਥਾ ਨੂੰ ਏਕੰਕਾਰ ਹੀ ਕਹਿਆ ਹੈ, ਜਾਂ ਫੇਰ ਸਤਨਾਮ ਜੋ ਪਰਾ ਪੂਰਬਲਾ ਨਾਮ ਹੈ – ਸਤ ਜਾਂ ਸਚ। ਗੋਇੰਦ-ਵਾਲ ਸਾਹਿਬ ਵਿਚ ਮੌਜੂਦ ਇਕ ਪੋਥੀ ਵਿਚ ਮੰਤਰ, ਜਪੁ, ਵਿਚ, ਪਹਿਲਾਂ ਦਾ,੧ ਓ ਸਚ ਨਾਮ ਹੀ ਹੈ, ਪਰ ਏਸ ਨਾਲ ਸਾਨੂੰ ਕੋਈ ਮਤਲਬ ਨਹੀਂ ਕਿਉਂਕਿ ਗਦੀ ਤੇ ਬੈਠੇ ਗੁਰਾਂ ਵਿਚ ਸਤਿਨਾਮ ਹੀ ਹੈ। ਕੁਝ ਉਦਾਹਰਣ (ਪੰਜਾਬੀ–ਉਧਾਰਣ) ਏਕੰਕਾਰ ਦੇ ਲੌ। ਇਹਨਾਂ ਉਧਾਰਣਾਂ ਤੋ ਏਕੰਕਾਰ ਦੀ ਹੋਂਦ ਦਾ ਉਸਦੀ ਉੱਚਤਮ ਪਦਵੀ ਦਾ ਵੀ ਪਤਾਂ ਲਗ ਜਾਇਗਾ। ਸਭ ਗੁਣ ਤੇ ਗੁਣ-ਵਾਚਕ ਨਾਂ ਏਕੰਕਾਰ ਨਾਂ ਤੇ ਏਕੰਕਾਰ ਦੀ ਹਸਤੀ ਤੋਂ ਬਾਦ, ਹੇਠਾਂ, ਬਾਹਰ ਹੀ ਹਨ। ਗੁਣ ਉਹਦੇ ਬੇਅੰਤ ਹਨ ਤੇ ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬਾਂ ਨੇ ਬੇਅੰਤ ਹੀ ਨਾਂ ਰੱਚ ਕੇ ਗੁਣ ਗਾਇਣ ਤੇ ਨਾਮ–ਨਾਮੀ ਦਰਸ਼ਨ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਨਾਂਵਾਂ ਦਾ ਤਤ ਮੰਤਰ ਵਿਚ ਕੱਢ ਦਿਤਾ ਗਇਆ। ਗੁਰ ਮੰਤ ਦੇ ਲਫ਼ਜ਼ ਥਾਂ ਥਾਂ ਤੇ ਬੱਧੇ ਹੋਏ ਹਨ। ਜੀਕੂੰ : ਮਾਝ ਮਹਲਾ ੫ :–

ਲਾਲ ਗੋਪਾਲ ਦਇਆਲ ਰੰਗੀਲੇ।
ਗਹਿਰ ਗੰਭੀਰ ਬੇਅੰਤ ਗੋਵਿੰਦੇ
ਊਚਾ ਅਥਾਹ ਬੇਅੰਤ ਸੁਆਮੀ ਸਿਮਰਿ ਸਿਮਰਿ ਹਉ ਜੀਵਾਂ ਜੀਉ।੧।
ਦੁਖ ਭੰਜਨ ਨਿਧਾਨ ਅਮੋਲੇ
ਨਿਰਭਉ ਨਿਰਵੈਰ ਅਥਾਹ ਅਤੋਲੇ
ਅਕਾਲ ਮੂਰਤਿ ਅਜੂਨੀ ਸੰਭੌ ਮਨ ਸਿਮਰਤ ਠੰਢਾ ਥੀਵਾਂ ਜੀਉ।
ਸਦਾ ਸੰਗੀ ਹਰਿ ਰੰਗ ਗੋਪਾਲਾ
ਊਚ ਨੀਚ ਕਰੇ ਪ੍ਰਤਿਪਾਲਾ
ਨਾਮੁ ਰਸਾਇਣੁ ਮਨੁ ਤ੍ਰਿਪਤਾਇਣੁ ਗੁਰਮੁਖਿ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਪੀਵਾਂ ਜੀਉ।

ਦੁਖਿ ਸੁਖਿ ਪਿਆਰੇ ਤੁਧੁ ਧਿਆਈ ।

ਏਹ ਸੁਮਤਿ ਗੁਰੂ ਤੇ ਪਾਈ ।

ਨਾਨਕ ਕੀ ਤੂੰ ਹੈ ਠਾਕੁਰ ਹਰਿ ਰੰਗਿ ਪਾਰ ਪਰੀਵਾਂ ਜੀਉ ।

ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਏਕੰਕਾਰ ਤੇ ਓਅੰਕਾਰ ਬਾਰੇ ਬਹੁਤ ਹੀ ਥਾਂਵਾਂ ਤੇ ਲਿਖਿਆ, ਗਾਂਵਿਆਂ ਹੈ :–

ਓਅੰਕਾਰ ਨੂੰ ਪਹਿਲਾਂ ਲੋ । ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਓਅੰ ਤੇ ਸੋਅੰ ਵੀ ਅਲਗ ਉਚਰੇ ਹਨ ਇਕ ਥਾਂ ਤੇ । ੧. ਓਅੰ ੨. ਓਅੰਕਾਰ ੩. ਏਕੰਕਾਰ ੪. ਅਕਾਰ, ਇਹ ੪ ਪੌੜੀਆਂ ਹਨ ਏਸ ਖੇਡ ਦੀਆਂ, ਚਾਰ ਅਵਸਥਾਵਾਂ, ਚਾਰ ਦਰਜੇ ।

ਓਅੰਕਾਰਿ ਬ੍ਰਹਮਾ ਉਤਪਤਿ ।

ਓਅੰਕਾਰ ਤੋਂ ਬ੍ਰਹਮਾ ਕਹੋ, ਈਸ਼ਵਰ ਕਹੋ, ਕਰਤਾ ਕਹੋ, ਕਰਤਾਰ ਕਹੋ । ਇਹ ਜ਼ਾਹਿਰ ਹੋਏ । ਸੁਧ ਬਰਹਮ, ਪਾਰਬ੍ਰਹਮ, ਅਬਗਤ ਨਾਥ, ਸਰਗੁਨ, ਨਿਰਗੁਨ ਤੋਂ ਪਰੇ ਉਹੀ ਓਅੰਕਾਰ ਹੈ । ਬੇਦ, ਸੁਰਤੀ, ਨਾਦ ਓਸੇ ਓਅੰ-ਕਾਰ ਤੋਂ ਨਿਰਮਏ ਹਨ ਤੇ ਭਏ ਹਨ । ਜੁਗ TIME ਤੇ ਸੈਲ SPACE ਵੀ ਓਸੇ ਤੋਂ ਹਨ । ਓਅੰਕਾਰਿ ਸੈਲ ਜੁਗ ਭਏ । ਓਅੰਕਾਰਿ ਬੇਦ ਨਿਰਮਏ । ਓਅੰ-ਕਾਰ = ਓਅੰ = ਓਨਮ । ਓਨਮ ਅਖਰ ਸੁਣਹੁ ਬੀਚਾਰੁ । ਓਨਮ ਅਖਰ ਤ੍ਰਿਭਵਣ ਸਾਰੁ ।

ਏਕੰਕਾਰੁ ਅਵਰੁ ਨਹੀਂ ਦੂਜਾ ਨਾਨਕ ਏਕੁ ਸਮਾਈ ।

ਜਦੋਂ ਅਸੀਂ ਸਿਰਠ ਤੇ ਅਕਾਰ ਨਾਲ ਸਨਬੰਧਿਤ ਕਰਕੇ ਓਸਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਕਰਦੇ ਹਾਂ ਤਾਂ ਅਸੀਂ ਓਸ ਨੂੰ ਕਰਤਾ, ਏਕੰਕਾਰ ਕਹਿੰਦੇ ਹਾਂ ਪਰ ਏਕੰਕਾਰ ਵਿਚ ਵੀ ਅਜੇ ਗੁਣਾਂ ਦਾ ਨਿਰਵਾਚਨ ਤੇ ਨਿਰਦੇਸ਼ ਤੇ ਵਿਸ਼ਲੇਖਨ ਅਸੀਂ ਨਹੀਂ ਕੀਤਾ । ਕਰਤਾ ਤੋਂ ਹੇਠਾਂ ਦੇਵਤੇ ਹਨ। ਪਰ ਉਹ ਏਕੰਕਾਰ ਹੀ ਕਰਤਾ ਤੇ ਦੇਵਤੇ ਹੈ ।

ਆਪੇ ਕਰਤਾ ਆਪੇ ਦੇਉ ।

ਏਕੰਕਾਰ ਦੀ ਥਾਂ ਤੇ ਆਪ ਕਹਿ ਲੋ। ਬਸ ਆਪ ਹੀ ਆਪ ਹੈ, ਹੁਣ ਆਪ ਦਾ ਵੇ ਵਾ ਕੌਣ ਕ ਸਕਦਾ ਹੈ। ਆਪ ਹੈ ਤੇ ਵਾਹ ਹੈ। ਪਹਿਲੀ ਪਾਤਸ਼ਾਹੀ ਤੇ ਚੌਥੀ ਪਤਾਸ਼ਾਹੀ ਨੇ ਸੋਰਠ ਤੇ ਮਾਰੂ ਰਾਗ ਵਿਚ ਆਪ ਦੇ ਵੇਰਵੇ, ਆਪ ਦੇ ਗੁਣ ਗਾਇਣ ਵਿਚ ਆਪ ਨੂੰ ਉਪਮਾਵਾਂ ਅਲੰਕਾਰਾਂ ਦੁਆਰਾ ਚਿਤਰਣ ਵਿਚ ਉਹ ਕਮਾਲ ਵਿਖਾਇਆ ਜਿਹੜਾ ਚਮਤਕਾਰ ਹੋਰ ਕਿਸੇ ਨੇ ਘਟ ਹੀ ਦਰਿਸਟਾਇਆ ਹੈ।

ਜੁਗੁ ਜੁਗੁ ਸਾਚਾ ਹੈ ਭੀ ਹੋਸੀ।

ਖੇਲ ਤਮਾਸ਼ਾ ਅਕਾਰ ਹੈ। ਏਦੂੰ ਵਧ ਇਹ ਅਕਾਰ ਕੁਝ ਨਹੀ। ਇਹਦੇ ਵਿਚ ਤੁਸੀ ਕੀ ਤੇ ਕਿਉਂ ਪਰਿਓਜਨ ਲੱਭਦੇ ਹੋ।

ਖੇਲੁ ਤਮਾਸਾ ਇਹ ਧੁੰਧੂਕਾਰ ਹੈ ਜੇ। ਓਹ ਧੁੰਧੂਕਾਰੋਂ ਪਰੇ ਹੈ, ਜੋਤਿ ਸਰੂਪੀ ਬਾਲਾ ਹੈ।

ਆਪੇ ਜੋਤਿ ਸਰੂਪੀ ਬਾਲਾ।

ਖੇਲੁ ਤਮਾਸਾ ਧੁੰਧੂ ਕਾਰੇ।

ਬਾਜੀ ਖੇਲਿ ਗਏ ਬਾਜੀਗਰ ਜਿਉ ਨਿਸਿ ਸੁਪਨੈ ਭਖ ਲਾਈ ਹੇ।

ਆਦਿ ਜੁਗਾਦੀ ਅਪਰ ਅਪਾਰੇ।

ਏਕੰਕਾਰ ਕਾਲ ਤੋਂ ਪਰੇ ਅਕਾਲ ਹੈ। ਇਹ ਕਾਲ ਸਾਡੇ ਉਤੇ ਏਨਾਂ ਹਾਵੀ ਹੈ ਕਿ ਸਾਨੂੰ ਕੁਝ ਸਮਝਣ ਹੀ ਨਹੀਂ ਦੇਂਦਾ। ਖਾਈ ਜਾਂਦਾ ਹੈ ਤੇ ਕਾਲੀ ਰਾਤ ਦੇ ਮੂੰਹ ਵਿਚ, ਕਾਲੀ ਨਾਗ ਦੇ ਮੂੰਹ ਵਿਚ, ਕਾਲੀ ਖੱਡ ਦੇ ਮੂੰਹ ਵਿਚ ਧਕੀ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਏਸ ਲਈ ਅਸੀਂ ਏਸ ਤੋਂ ਪਰੇ ਏਕੰਕਾਰ ਦਾ ਲੜ ਫੜ ਕੇ, ਓਹਦੀ ਤਾੜੀ ਲਾਕੇ ਕਾਲ ਨੂੰ ਜਿਤਣਾ ਤੇ ਏਕੰਕਾਰ ਨੂੰ ਸਮਝਣਾ ਹੈ।

ਕੇਤੜਿਆ ਜੁਗ ਧੁੰਧੂ ਕਾਰੇ।

ਤਾੜੀ ਲਾਈ ਸਿਰਜਣ ਹਾਰੇ।

ਸਚ ਨਾਮ ਸਚੀ ਵਡਿਆਈ ਸਾਚੈ ਤਖਤਿ ਵਡਾਈ ਹੇ।

ਓਹੁ ਨਿਰਮਲੁ ਹੈ ਨਾਹੀ ਅੰਧਿਆਰਾ।

ਸ੍ਰਿਸਟਿ ਉਪਾਣ, ਉਪਾਰਜਨ, ਉਪਜਾਣ, ਨਾਲ ਉਹਦਾ ਕੁਝ ਘਟ ਵਧ ਨਹੀਂ ਗਇਆ। ਨਾਂ ਉਹ ਕਿਤੇ ਦੇਸ਼ ਕਾਲ ਵਿਚ ਆ ਗਇਆ ਹੈ। ਏਕੰਕਾਰ ਏਕੰਕਾਰ ਹੀ ਹੈ, ਹੈ ਸੀ ਤੇ ਹੋਵੇਗਾ। ਸ੍ਰਿਸਟਿ ਉਪਾਇ ਰਹੇ ਪ੍ਰਭ ਛਾਜੇ। ਪੂਰਣ ਸੀ ਪੂਰਣ ਹੈ ਤੇ ਪੂਰਣ ਹੋਸੀ। ਉਹ ਅੰਜਨ ਤੇ ਮਲ ਬਣਾ ਕੇ ਵੀ ਨਿਰੰਜਨ ਤੇ ਨਿਰਮਲੁ ਹੈ ਤੇ ਉਹ ਅੰਜਨ ਤੇ ਮਲ ਵੀ ਕੋਈ ਦੂਜੇ ਨਹੀ ਕਹੇ ਜਾ ਸਕਦੇ ਕਿਉਂਕਿ ਆਪ ਹੀ ਉਸਨੇ ਮਾਇਆ ਤੇ ਗੁਣ ਰਚੇ, ਵਸਾਏ ਜਿਵਾਏ, ਮਾਰੇ ਹਨ। ਸਗਲ ਬਿਆਪਿ ਰਹਿਆ ਪ੍ਰਭੁ ਛੀਜੈ।

ਆਦਿ ਨਿਰੰਜਨੁ ਨਿਰਮਲੁ ਸੋਈ।
ਅਵਰੁ ਨ ਜਾਣਾ ਦੂਜਾ ਕੋਈ।
ਏਕੰਕਾਰੁ ਵਸੈ ਮਨਿ ਭਾਵੈ ਹਉਮੈ ਸਰਬੁ ਗਵਾਇਦਾ।

ਏਕੰਕਾਰ ਨੂੰ ਅਸੀਂ ਨੇਤੀ ਨੇਤੀ, ਇਹ ਵੀ ਨਾਹੀਂ, ਓਹ ਵੀ ਨਹੀਂ, ਕਹਿ ਕੇ ਹੀ ਸਿਫ਼ਤਾ ਸਕਦੇ ਹਾਂ, ਓਸ ਦੀ ਗਿਣਤੀ ਮਿਣਤੀ ਇਉਂ ਕਹਿ ਕੇ ਨਹੀਂ ਕਰ ਸਕਦੇ ਕਿ ਜਾਚ ਤੋਲ ਵਿਚ ਉਹ ਏਹ ਹੈ ਤੇ ਓਹ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬਾਂ ਨੇ ਜਿਥੇ ਤਾਂ ਈਸ਼ਵਰ ਨੂੰ ਸਲਾਹਿਆ ਹੈ ਓਥੇ ਬੇਸ਼ਕ ਬੇਅੰਤ ਗੁਣ ਵਾਚਕ ਨਾਂ ਓਹਦੇ ਦਿਤੇ ਹਨ, ਪਰ ਜਿਥੇ ਏਕੰਕਾਰ ਜਿਹੜਾ ਵਡਾ ਲਖਸ਼ ਹੈ, ਓਸ ਨੂੰ ਦਰਸਾਇਆ ਓਥੇ ਇਹ ਵੀ ਨਹੀਂ, ਓਹ ਵੀ ਨਹੀਂ ਦੀ ਵਰਤੋਂ ਕੀਤੀ ਹੈ।

ਵੇਖੋ ੯੬੦ ਤੇ ਅੱਗੇ, ਰਾਗ ਮਾਰੂ। ਏਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਸਭ ਸਟੇਜਾਂ ਵੀ ਦਸ ਗਏ ਤੇ ਓਹਨਾਂ ਤੋਂ ਪਰ ਦਾ ਵੀ ਭੇਉ ਬਖ਼ਸ਼ ਗਏ।

ਅਰਬਦ ਨਰਬਦ ਧੁੰਧੂਕਾਰਾ।
ਧਰਣਿ ਗਗਨਾ ਹੁਕਮੁ ਅਪਾਰਾ।
ਨਾ ਦਿਨੁ ਰੈਨਿ ਨ ਚੰਦੁ ਨ ਸੂਰਜੁ ਸੁਨ ਸਮਾਧਿ ਲਗਾਇਦਾ।
ਖਾਣੀ ਨ ਬਾਣੀ ਪਉਣ ਨ ਪਾਣੀ।

ਓਪਤਿ ਖਪਤਿ ਨ ਆਵਣ ਜਾਣੀ।
ਖੰਡ ਪਤਾਲ ਸਪਤ ਨਹੀ ਸਾਗਰ ਨਦੀ ਨ ਨੀਰੁ ਵਹਾਇਦਾ।
ਨਾ ਤਦਿ ਸੁਰਗੁ ਮਛੁ ਪਇਆਲਾ।
ਦੋਜਕੁ ਭਿਸਤੁ ਨਹੀ ਖੈ ਕਾਲਾ।
ਨਰਕੁ ਸੁਰਗੁ ਨਹੀਂ ਜੰਮਣੁ ਮਰਣਾ ਨਾ ਕੋ ਆਇ ਜਾਇਦਾ।
ਬ੍ਰਹਮਾ ਬਿਸਨੁ ਮਹੇਸੁ ਨ ਕੋਈ।
ਅਵਰੁ ਨ ਦੀਸੈ ਏਕੋ ਸੋਈ।
ਨਾਰਿ ਪੁਰਖੁ ਨਹੀ ਤਾਂਤਿ ਨ ਜਨਮਾ ਨਾ ਕੋ ਦੁਖੁ ਸੁਖੁ ਪਾਇਦਾ।
ਭਾਉ ਨ ਭਗਤੀ ਨਾਂ ਸਿਵ ਸਕਤੀ।
ਸਾਜਨੁ ਮੀਤੁ ਬਿੰਦੁ ਨਹੀ ਰਕਤੀ।
ਆਪੇ ਸਾਹੁ ਆਪੇ ਵਣਜਾਰਾ ਸਾਚੇ ਏਹੋ ਭਾਇਦਾ।

ਫੇਰ ਭਾਣਾ ਆਇਆ, ਕਦੋਂ, ਕਿਉਂ, ਕਿਵੇਂ, ਕਿਥੇ। ਇਹਦਾ ਅਸੀਂ ਤੇ ਕੋਈ ਕੀ ਜਵਾਬ ਦੇਵ। ਭਾਣਾ ਆਇਆ ਭਾਣੇ ਨਾਲ ਹੀ ਇਹ ਸਭ ਕੁਝ ਨ ਹੋਂਦਾ ਹੋਇਆ ਵੀ ਹੋ ਗਇਆ।

ਜਾ ਤਿਸੁ ਭਾਣਾ ਤਾ ਜਗਤੁ ਉਪਾਇਆ।
ਬਾਝੁ ਕਲਾ ਆਡਾਣੁ ਰਹਾਇਆ।
ਬ੍ਰਹਮਾ ਬਿਸਨੁ ਮਹੇਸ ਉਪਾਏ ਮਾਇਆ ਮੋਹੁ ਵਧਾਇਦਾ।

ਜ਼ਰਾ ਬਾਝੁ ਕਲਾ ਵਲ ਧਿਆਨ ਦਿਉ। ਉਹ ਸਾਡੇ ਵਾਂਗੂੰ ਮਿੱਟੀ ਤੇ ਚੱਕ ਦਾ ਮੁਥਾਜ ਨਹੀਂ, ਕੁਦਰਤ ਤੇ ਕਲਾ ਦੀ ਓਸ ਨੂੰ ਲੋੜ ਨਹੀਂ। ਬਾਝ ਕਲਾ ਤੇ ਕੁਦਰਤ ਹੀ ਇਹ ਸਭ ਕੁਝ ਉਤਪਤ ਪਰਲੋ ਹੈ। ਜੇ ਕਲਾ ਨਾਲ ਆਡਾਣ ਰਹਿਣਾ ਮੰਨੀਏ ਤਾਂ ਕੁਮਿਹਾਰ ਤੇ ਚਕ ਤੇ ਮਿੱਟੀ ਤਿੰਨ ਸਦੀਵੀ ਚੀਜ਼ਾਂ ਹੋ ਗਈਆਂ ਤੇ ਆਰੀਆ ਸਮਾਜ, ਇਸਲਾਮ ਤੇ ਈਸਾਈ-ਅਤ ਵਾਂਗੂੰ ਅਸੀਂ ਵੀਂ ਤਿੰਨਾਂ ਦੀ ਅਚਲ ਅਟਲ ਹਸਤੀ ਦੇ ਕਾਇਲ ਹੁੰਦੇ ਦਿਸਾਂਗੇ। ਪਰ ਅਸੀਂ ਤਾਂ ਏਕੰਕਾਰ ਦੇ ਪੁਜਾਰੀ ਹਾਂ। ਤਿੰਨ ਕਿਦ੍ਹਾਂ

ਮੰਨੀਏ। ਏਸ ਲਈ ਪਹਿਲੀ ਤੁਕ ਵਿਚ ਉਪਾਇਆ ਤੇ ਜਗਤ ਤੇ ਭਾਣਾ ਕਹਿ ਕੇ ਨਾਲ ਹੀ ਝਟ ਬਾਝੁ ਕਲਾ ਕਹਿ ਦਿਤਾ, ਤੇ ਇਸ ਸਭ ਨੂੰ ਮਹਿਜ਼ ਹਕੀਕਤਨ ਆਡਾਣੁ ਤੇ ਇਸ ਦੀ ਹੋਂਦ ਨੂੰ ਕੇਵਲ, ਨਿਰਾ, ਨਿਪਟ ਰਹਣਿ ਰਹਾਇਆ ਜਾਣ ਦੱਸ ਛਡਿਆ। ਫੇਰ ਕਲਾ ਵਰਤਣ ਦੀਆਂ ਸ਼ਕਤੀਆਂ, ਕਲਾਂ ਦਿਆਂ ਰੂਪਾਂ ਬ੍ਰਹਮਾਂ, ਬਿਸ਼ਨ, ਤੇ ਮਹੇਸ਼ ਨੂੰ ਵੀ ਓਸੇ ਥੋਂ ਹੀ ਦੱਸ ਦਿੱਤਾ, ਮਤੇ ਅਸੀਂ ਇਹਨਾਂ ਨੂੰ ਹੀ ਏਕੰਕਾਰ ਮੰਨ ਲਈਏ, ਤੇ ਏਕੰਕਾਰੋਂ ਉਰੇਰੇ ਹੀ ਕਿਸੇ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਮਨ ਵਿਚ ਵਸਾ ਲਈਏ।

ਖੰਡ ਬ੍ਰਹਮੰਡ ਪਾਤਾਲ ਅਰੰਭੇ ਗੁਪਤਹੁ ਪਰਗਟੀ ਆਇਦਾ।

ਇਹ ਗੁਪਤ ਪਰਗਟ, ਅਰੰਭ ਅੰਤ, ਬੇਦ ਕਤੇਬ ਸਾਸਤ ਸਿਮ੍ਰਿਤਿ ਵੀ ਨਿਸਬਤਨ ਹੀ ਕਹੇ ਗਏ ਤੇ 'ਰਚੇ' ਗਏ ਹਨ। ਕਿਉਂ ਕਿ ਇਹ ਤਾਂ ਮਿਣਨ, ਮਿਥਣ, ਚੋਜ ਨੂੰ ਵਰਨਨ ਕਰਨ ਦੀਆਂ ਸੂਰਤਾਂ ਹਨ। ਉਹਦਾ ਚੋਜ ਵਰਨਨੋਂ ਬਾਹਰ ਹੋਇਆ।

ਤਾ ਕਾਂ ਅੰਤੁ ਨ ਜਾਣੈ ਕੋਈ।

ਲੀਲਾ ਦੀ ਗਤ ਮਿਤ ਸਾਨੂੰ ਮਲੂਮ ਨਾਂ ਹੈ ਨਾਂ ਹੋਵੇਗੀ। ਅਸੀਂ ਤਾਂ ਸਿਰਫ਼ ਵਾਹ ਵਾਹ ਕਹਿ ਕੇ ਬਿਸਮਾਦ ਵਿਚ ਆ ਸਕਦੇ ਹਾਂ, ਉਹ ਵੀ ਉਹਦੀ, ਤੇ ਗੁਰੂ ਦੀ ਕਿਰਪਾ ਨਾਲ, ਕਮਾਈ ਨਾਲ।

ਨਾਨਕ ਸਾਚਿ ਰਤੇ, ਬਿਸਮਾਦੀ, ਬਿਸਮ ਭਏ, ਗੁਣ ਗਾਇਦਾ।

ਸੱਚ ਵਿਚ ਰੱਤਣਾ, ਬਿਸਮ ਹੋਣਾ, ਗੁਣ ਗਾਇਣ ਕਰਨਾ, ਸਹਿਜ ਅਵੱਸਥਾ ਵਿਚ ਆਉਣਾ, ਥੇ ਪੌੜੇ ਤੇ ਚੜ੍ਹਨਾ, ਨਾਮ ਮਨ ਵਿਚ ਦ੍ਰਿੜਾਉਣਾ, ਹੁਕਮ ਬੁਝਣਾ, ਇਹ ਸਭ ਇਕ ਹੀ ਹਾਲਤ ਦੇ ਨਾਂ ਹਨ।

ਏਕੰਕਾਰ ਦਾ ਇਹ ਸਿਰਫ ਸਾਜਣਾ ZERO ਤੋਂ ZERO ਸਿਫ਼ਰ ਤੋਂ ਸਿਫ਼ਰ ਬਣਾਣਾ ਹੈ ਕਿਉਂ ਜੋ ਹੋਰ ਕੋਈ ਇਸ ਕਾਰਜ ਵਿਚ ਨਾ ਆਇਆ ਨ ਗਇਆ।

ਸੁੰਨ ਕਲਾ ਅਪਰੰਪਰਿ ਧਾਰੀ

ਆਪਿ ਨਿਰਾਲਮੁ ਅਪਰ ਅਪਾਰੀ ॥
ਆਪੇ ਕੁਦਰਤਿ ਕਰਿ ਕਰਿ ਦੇਖੈ ਸੁੰਨਹੁ ਸੁੰਨ ਉਪਾਇਦਾ।
ਪਉਣ ਪਾਣੀ ਸੁੰਨੈ ਤੇ ਸਾਜੇ
ਸ੍ਰਿਸਟਿ ਉਪਾਇ ਕਾਇਆ ਗੜ ਰਾਜੇ
ਅਗਨਿ ਪਾਣੀ ਜੀਉ ਜੋਤਿ ਤੁਮਾਰੀ ਸੁੰਨੇ ਕਲਾ ਰਹਾਇਦਾਂ।

ਸੁੰਨ ਦੇ ਫ਼ਲਸਫੇ ਵਿਚ ਇਥੇ ਮੈਂ ਨਹੀਂ ਜਾਣਾ ਚਾਹੁੰਦਾ। ਸੁੰਨ ਵਾਦ, ਵੀ ਇਕ ਸਿਫ਼ਤ ਸਲਾਹੀਆਂ ਦਾ ਗਰੋਹ, ਟੋਲਾ ਹੈ, ਬੋਧਾਂ ਵਿਚ ਤੇ ਸ਼ੈਵ, ਜੋਗੀਆਂ ਵਿਚ।

ਸੁੰਨਹੁ ਖਾਣੀ ਸੁੰਨਹੁ ਬਾਣੀ
ਸੁੰਨਹੁ ਉਪਜੀ ਸੁੰਨਿ ਸਮਾਣੀ

ਇਹ ਸੁੰਨ ਕੀ ਹੈ, ਮਾਇਆ, ਛਾਇਆ ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ, ਕਲਾ। ਰਜ ਤਮ ਸਤ ਕਲ ਤੇਰੀ ਛਾਇਆ। ਪਰ ਇਹ ਦੂਜੇ ਨਹੀਂ।

ਸੁੰਨਹੁ ਉਪਜੇ ਦਸ ਅਵਤਾਰਾ।
ਸਿਸਟਿ ਉਪਾਇ ਕੀਆ ਪਾਸਾਰਾ।
ਦੇਵ ਦਾਨਵ ਗਣ ਗੰਧਰਬ ਸਾਜੇ ਸਭਿ ਲਿਖਿਆ ਕਰਮ ਕਮਾਇਦਾ ॥

ਇਹ ਸ੍ਰਿਸਟਿ ਅਸਲ ਵਿਚ ਸਰਬ ਰਬੀ ਅਵਤਰਣ ਹੀ ਹੈ।

ਲਿਖਿਆ ਕਰਮ – ਉਸੇ ਦਾ ਕਰਮ ਉਸੇ ਨੇ ਪਹਿਲਾਂ ਲਿਖਿਆ, ਫੇਰ ਲਿਖਿਆ। ਹੁਕਮ, ਕਰਮ, ਲਿਖਿਆ, ਧੁਰ ਕਿਰਤ, ਭਾਣਾ, ਸਭ ਉਹਦੇ ਵਿਚ ਹੀ ਸੁੰਨ ਕਰਕੇ, ਸੁੰਨ ਰੂਪ ਵਿਚ। ਨਹੀਂ ਉਹ ਸੁਨੋਂ ਵੀ ਨਿਰਾਰਾ, ਨਿਰਾਲਾ, ਅਲਾਹਦਾ, ਨਿਆਰਾ ਹੈ।

ਊਤਮ ਸਤਿਗੁਰ ਪੁਰਖ ਨਿਰਾਲੇ।

ਉਹ ਸੁੰਨ ਸਮਾਧ ਵੀ ਹੈ ਤੇ ਓਦੂੰ ਪਰੇ ਵੀ।

ਸਰਗੁਣ ਨਿਰਗੁਣ ਨਿਰੰਕਾਰ ਸੁੰਨ ਸਮਾਧੀ ਆਪ।
ਆਪਨ ਕੀਆ ਨਾਨਕਾ ਆਪੇ ਹੀ ਫਿਰ ਜਾਪ।

ਕੁਝ ਜ਼ਰੂਰੀ ਗੱਲਾਂ

ਇਸ ਮੈਗਜ਼ੀਨ ਵਿਚ ਕੇਵਲ ਖੋਜ ਤੇ ਡੂੰਘੀ ਵਿਚਾਰ ਭਰੇ ਲੇਖ ਹੀ ਛਾਪਨ ਦਾ ਜਤਨ ਕੀਤਾ ਜਾਵੇਗਾ॥

(੨) ਇਹ ਪਤ੍ਰਿਕਾ ਸਾਲ ਵਿੱਚ ਚਾਰ ਵਾਰੀ ਅਥਵਾ ਕਾਲਜ ਦੀ ਪੜ੍ਹਾਈ ਦੇ ਸਾਲ ਅਨੁਸਾਰ, ਨਵੰਬਰ, ਫ਼ਰਵਰੀ, ਮਈ ਅਤੇ ਅਗਸਤ ਵਿੱਚ ਪਕਾਸ਼ਿਤ ਹੋਵੇਗੀ ॥

(੩) ਇਸ ਦਾ ਸਾਲਾਨਾ ਚੰਦਾ ੩) ਹੋਵੇਗਾ ਅਰ ਵਿਦਯਾਰਥੀਆਂ ਕੋਲੋਂ ਕੇਵਲ ੧॥) ਹੀ ਲਿਆ ਜਾਵੇਗਾ ॥

(੪) ਚੰਦਾ ਪ੍ਰਿੰਸੀਪਲ ਸਾਹਿਬ, ਪੰਜਾਬ ਯੂਨੀਵਰਸਿਟੀ ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਜ. ਲਾਹੌਰ ਦੇ ਨਾਮ ਭੇਜਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ॥

ਐਡੀਟਰ

ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਜ ਮੈਗਜ਼ੀਨ, ਲਾਹੌਰ।

ਹਿੱਸਾ ੨੦ ਵਾਂ ਨੰਬਰ ੧	ਨਵੰਬਰ ੧੯੪੨	ਕੁਲ ਨੰਬਰ ੭੧

ਐਡੀਟਰ—ਬਲਦੇਵ ਸਿੰਘ

ਲੇਖ ਸੂਚੀ।

हर्षचरित

[लेखक—श्री सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०]

१—विजय चाहने वाले (राजा) के समान यम पृथ्वी पर खोज खोज कर शूरों का संग्रह करता है, जिन्हें अपने गुप्तचरों को भेज कर मंगाता है[1]।

२—खल द्वारा विश्वस्त व्यक्ति की हत्या का अपराध उसी के लिये घातक तथा वीर पुरुष के कोप का उत्तेजक होता है, जैसे हाथी द्वारा नवतरु तोड़े जाने का शब्द सिंह को नींद से जगा देता है[2]।

अनन्तर प्रेत को अर्पित प्रथम पिण्ड पाने वाले द्विजों ने भोजन किया। अशौच के उद्वेग-कारी दिवस बीत गये। राजा के निकट के शयन आसन चामर आतपत्र वस्त्र कक्ष बर्तन सवारी और शस्त्र आदि उपकरण, जो आंखों को लजाते थे, द्विजों को दिये जाने लगे। मृत राजा की हड्डियां लोगों के दिलों के साथ तीर्थ-स्थानों पर ले जाई गईं। चूने से लिपा चिता पर का मन्दिर शोक-शल्य हुआ। महा-युद्धों का विजयी राज-गजेन्द्र जङ्गल जाने के लिये छोड़ दिया गया। धीरे धीरे क्रन्दन मन्द हो गये। विलाप विरल हो गये। आंसू बन्द हो गये। सांसें शिथिल हो गईं। 'हा, कष्ट' के शब्द अस्पष्ट हो गये। शोक-शय्यायें हटाई गईं। कान उपदेश सुनने में क्षम हुए। हृदय अनुरोध की ओर ध्यान देने योग्य हुए। राजा के गुणों की गणना करने की योग्यता हुई। शोक स्थान-विशेषों पर ही होने लगा। कवियों ने रुदन वर्णन किया। नर-नाथ का दर्शन केवल स्वप्नों में, स्थान केवल हृदयों में, आकृति केवल चित्रों में, और नाम केवल काव्यों में बच रहा।

एक दिन जब देव हर्ष सभी काम छोड़ कर बैठा था तो उसने एकत्रित वृद्ध बन्धुओं से, जिन के आगे पुश्तैनी बड़े बड़े लोग चुपचाप मुंह नीचे किये हुए थे, अपने को असमय में घिरा हुआ देखा। और देख कर उसने सोचा—"और क्या हो सकता है? यह शोकित लोक-समूह आर्य का आगमन निवेदन कर रहा है।" कांपते

१—इस पद्य से राज्यवर्धक का भावी वध सूचित होता है। गौडाधिपति शशाङ्क ने अपने दूत के द्वारा कन्या-दान का लोभ दिला कर राज्यवर्धन को निमंत्रित किया और अपने घर में अनुचरों सहित भोजन करते हुए ही उसे छल से मार दिया। शङ्कर

२—खल = गौडाधम शशाङ्क, वीर = हर्ष,—शङ्कर।

हृदय से उसने भीतर आते एक पुरुष से, जो तेजी से चल रहा था, पूछा—"अङ्ग, कहो तो क्या आर्य आ गये।" उसने धीरे से कहा—"देव, जैसी आज्ञा हो, वह द्वार पर हैं।" यह सुन कर सहोदर भाई के स्नेह में अतिशय शोक रक्खे (मिलाये) जाने से हर्ष का मन मृदु हो गया, आंसू की धारा उमड़ आई और किसी तरह उसकी जान नहीं निकली।

अनन्तर द्वारपाल द्वारा किये गये क्रन्दन ने, मानो पहले ही प्रवेश पाये हुए परिजन ने, राज्यवर्धन का आगमन निवेदन किया। तब हर्ष ने कतिपय परिचित परिजनों से, जिनके शरीर बहुत दिनों तक स्नान-भोजन-शयन नहीं करने से कृश हो गये थे, घिरे हुए बड़े भाई को देखा। दूर तक तेजी से चलने से उनकी संख्या बहुत कम हो गई थी। छत्र पकड़ने वाला, वस्त्र धोने वाला, सुवर्ण-घट धारण करने वाला और आचमन का जल रखने वाला पीछे पड़ गया था। तमोली थक गया था और तलवार धारण करने वाला लंगड़ा रहा था। मार्ग की अविरल धूल से राज्यवर्धन का शरीर धूसर हो गया था, मानो परंपरागत अशरण वसुंधरा ने उसकी शरण ली थी। युद्ध में हूणों को जीतने में लगे तीरों के घावों पर बंधी लम्बी सफेद पट्टियों से, मानो समीपवर्ती राज्यलक्ष्मी के कटाक्ष-पातों से, उसका शरीर शबल हो रहा था। उस के अतिकृश अवयवों से, जिनका मांस मानो राजा के प्राण बचाने के लिये शोकानल में हवन कर दिया गया था, भारी दुःख सूचित हो रहा था। वह अपने चूड़ामणि-रहित और शेखर-शून्य शिर पर जिस का कुण्डल मलिन और आकुल था, मानो मूर्त्त शोक धारण कर रहा था। उसका ललाट, जिस पर गर्मी से पसीना बह रहा था, मानो पिता के पांव पड़ने के लिए उत्कण्ठित हो रो रहा था। अपने अश्रु-जल के विस्तीर्ण प्रवाह से पृथ्वी को, जो मानो सम्मानित पति की मृत्यु से मूर्छित थी, अनवरत सींच रहा था। उसके कपोल दुःख से क्षीण हो गये थे, मानो अनन्त और अटूट अश्रु-प्रवाह के गिरने से निम्न हो गये थे। उसका अधरबिम्ब, जिस का ताम्बूल-राग गल गया था, मुंह से निकलती उष्ण सांसों के रास्ते में पड़ कर मानो द्रवीभूत हो रहा था। उसका कर्ण-प्रदेश केवल पवित्रिका में बचे इन्द्रनील की किरणों से श्यामल हो रहा था, मानो हाल ही में पितृ-मरण सुनने से उत्पन्न महाशोकाग्नि से जल गया था। यद्यपि उसकी दाढ़ी-मूछें खूब नहीं निकली थी, तो भी अधोमुख और निश्चल आंखों की नीली पुतलियों की किरणें पड़ने से मानो शोक की दाढ़ी-मूछें उसके मुख-चन्द्र पर निकल आई थीं। वह सिंह के समान महाभूभृत के गिरने से विह्वल और निरवलम्ब था।

१—या भाग रहा था।

दिवस के समान तेजःपति के पतन से निष्प्रभ और श्याम हो गया था। नन्दन वन के समान कल्प-पादप के टूटने से छाया-हीन था। दिग्-भाग के समान दिक्-कुञ्जर के प्रवास से सूना था। पहाड़ के समान भारी-वज्र के गिरने से विदीर्ण हो कर कांप रहा था। कृशता ने उसे मानो खरीद लिया था। कारुण्य ने मानो किङ्कर कर लिया था। उदासी ने मानो दास बना लिया था। शोक ने मानो शिष्य बना लिया था। आधि ने मानो अपना लिया था। मौन ने मानो मूक कर दिया था। पीड़ा ने मानो पीस दिया था। सन्ताप से मानो स्वेदमय हो रहा था। चिन्ता ने मानो चुन लिया था। विलाप ने मानो लूट लिया था। वैराग्य ने मानो ग्रहण कर लिया था। विवेक ने मानो तज दिया था। बुद्धि ने मानो तिरस्कार कर दिया था। दृढ़ता ने मानो दूर हटा दिया था। उसे इस शोक ने कवलित कर लिया था, जो वृद्धों की बुद्धि से नहीं समझाया जा सकता था, जो सुभाषितों के लिये असाध्य था, जो गुरु-वचनों के लिए अगम्य था, जो शास्त्रों की शक्ति से परे था, जो बुद्धि के प्रयत्नों के मार्ग से बाहर था, जो मित्र के अनुरोधों के क्षेत्र से बाहर था, जो विषयोपभोगों के विषय से बाहर था और जो काल-क्रम से होने वाली शान्ति की भूमि से बाहर था।

बड़े भाई को देख कर, आवेग से उत्पन्न कृत्स्न स्नेह (-सागर) की उत्कण्ठा (-तरंगों) द्वारा ऊपर उठाया जाता हुआ, विवश हो कर, हर्ष भाई से मिलने चला। तब दूर से ही उसे देख कर देव राज्यवर्धन ने चिर-काल से रोके गये अश्रु-वेग को छोड़ना चाहा। सभी दुःखों की चिन्ता करता हुआ। दूर तक लम्बे भुज-दण्डों को फैला कर हर्ष को गले लगा कर, फिर क्षीण वक्षःस्थल पर जिस का वस्त्र नीचे गिर गया था, फिर कण्ठ पर, फिर कन्धे पर, फिर कपोल पर उसे रख कर वह मुक्त-कण्ठ से इतना रोया कि दोनों के हृदय मानो बन्धन सहित फट गये। नृपति का स्मरण कर राजा का प्रिय जन भी प्रतिध्वनि की तरह खूब रोया। बहुत देर के बाद नयन-जल की निःशेष वृष्टि हो जाने पर राज्यवर्धन स्वयं शान्त हो गया, जैसे शरदृतु में बादल। बैठ कर उसने परिजन द्वारा लाये गये पानी से किसी किसी तरह अपनी आंखों को धोया। धोते समय हाथ के नखों की किरणें पड़ने से जान पड़ा जैसे उसकी आंखें महा-बाढ़ में होने वाले फेन से युक्त हो गई हों और बार बार पोंछे जाने पर भी पपनियों पर निकलते आंसुओं से आंखों का खुलना बन्द हो जाता था तथा दृष्टि नष्ट हो जाती थी। तमोली द्वारा लाये गये चन्द्र-किरण-सदृश रुमाल से उसने गर्म आंसू से तपे मुंह को पोंछा। कुछ देर तक चुप रहने के बाद वह उठा और स्नान-भूमि को गया। वहां ठहर कर उसने बे-संवारे और बिखरे बालों को लापरवाही से निचोड़ा। अवशिष्ट शोक से फड़कते

हुए उसके होठ ने मानो जीने की इच्छा से जल से धुल कर सुन्दर हुए अपने ही को चूमना चाहा। धुली आंखों की धवलता से, मानो शरद ऋतु की चांदनी से विकसित विशद कुमुद-दलों के उपहार से, उसने दिग्देवताओं को पूजा । और चतुःशाल की वेदी पर (बिछे) पलंग पर चुपचाप पड़ रहा, जिस पर निम्न चंदोवे के नीचे एक उपधान रक्खा था।

देव हर्ष ने भी उसी तरह स्नान किया और धरणि-तल पर रक्खे कम्बल पर देह फैला कर भाई के पास ही में चुप चाप पड़ रहा । दुःखी होते बड़े भाई को देख कर उसका हृदय मानो सहस्रधा विदीर्ण हो गया । भाई के दर्शन ने शोक को युवा बना दिया। लोगों के लिए यह दिवस नृपति-मरण-दिवस से भी दारुण हुआ । सारे नगर में न किसी ने रसोई बनाई, न किसी ने स्नान किया और न भोजन ही किया। सभी जगह सभी लोग रोये । इसी तरह दिवस बीत गया । मञ्जिष्ठा लता के समान लाल सूर्य पश्चिम सागर में डूबने चला, जान पड़ता था जैसे विश्वकर्मा के टङ्क से तत्क्षण काटा गया सूर्य[1] प्रचुर रुधिर-प्रवाह से युक्त मांस-पिण्ड की छवि धारण कर रहा हो। कमल-पोखरे में कमलिनियों के बन्द होते कोषों में विकल भौरे गूंजने लगे। भावी विरह-व्याधि से कातर बधुओं से बंधे चक्रवाक गण बन्धु-सदृश सूर्य की ओर जो विकसित बन्धूक की तरह चमक रहा था, आँसू भरी निश्चल दृष्टि से देखने लगे। मधुकर-रव से पूर्ण तथा कलहंसियों से रमणीय कुमुदाकर इस तरह अलंकृत होने लगा, जैसे चलती हुई लक्ष्मी की मणि-मेखला का किङ्किणी-जाल हो। आकाश में उगता हुआ शशाङ्कमण्डल अपने प्रकट कलङ्क के साथ इस तरह चमकने लगा, जैसे विशाल विषाण से उद्धृत कीचड़ से मलिन शिव-वृषभ का ककुद हो[2]।

इस समय प्रधान सामन्तों द्वारा, जिनके वचन का उल्लङ्घन नहीं हो सकता था, अनुरोध किये जाने पर राज्यवर्धन ने किसी किसी तरह भोजन किया। रात के बाद प्रभात होने पर सभी राजाओं के प्रवेश करने पर उसने समीप में स्थित हर्ष से कहा— 'तात, आप गुरु-जनों के आदेश के पात्र हैं । शैशव में ही आप ने तात की चित्त-वृत्ति का इस तरह ग्रहण किया, जैसे गुणयुक्त पताका हो। क्योंकि आप ऐसे आज्ञा-कारी हैं, इसलिये मेरा यह हृदय, जो विधि-विधान के द्वारा निर्दय बना दिया गया है,

---

१—विश्वकर्मा की बेटी से सूर्य की शादी हुई थी। वह पति का तेज नहीं सह सकी । अतः विश्वकर्मा ने अपने टङ्क से सूर्य को काट कर उस का तेज कम कर दिया।

२—बैल के कंधे पर का कुब्बड़।

आप से कुछ कहना चाहता है । आप को बाल-भाव-सुलभ प्रेम-विरोधी प्रतिकूलता का आचरण नहीं करना चाहिये । मूर्ख की तरह मेरी इस इच्छा में आप विघ्न न करें। आप निश्चय ही लोकाचार से अनभिज्ञ नहीं हैं । तीनों लोकों के पालन करने वाले मांधाता के मरने पर (उस के पुत्र) पुरुकुत्स ने क्या किया ? या भ्रू-लताओं से अठारहों द्वीपों को आदेश देने वाले दिलीप के मरने पर रघु ने क्या किया ? या असुरों के महा-समर के बीच देव-रथ पर चढ़ने वाले दशरथ के मरने पर राम ने क्या किया ? जिस दुष्यन्त के लिए चारों समुद्र गोष्पद (के समान तुच्छ) थे उसके मरने पर भरत ने क्या किया ? अब ये रहें, सौ से भी अधिक यज्ञों के धुएं से जिस ने इन्द्र के यौवन को मलिन कर दिया था[1], ऐसे प्रातः स्मरणीय अपने पूज्य पिता के मरने पर क्या तात ने ही राज्य नहीं किया। शोक जिसे अपने वश में कर लेता है, उसे शास्त्रज्ञ कायर बताता है । शोक का क्षेत्र स्त्री है। तथापि क्या करूं ? यह स्वभाव की कापुरुषता या स्त्री-स्वभाव है जो इस तरह से पितृ-शोकानल का स्थान हो गया हूँ । जैसे पर्वत के गिरने पर झरने निःशेष हो कर झर जाते हैं, वैसे ही पिता के मरने पर मेरे सभी आँसू चू गये । जैसे सूर्य के अस्त होने पर दशों दिशायें अन्धकार हो जाती हैं, वैसे ही तात के मरने पर मेरा प्रज्ञा-आलोक नष्ट हो गया। मेरा हृदय जल रहा है, (अतः) मानो जल जाने के भय से विवेक स्वप्न में भी पास नहीं आता। प्रबल संताप से सारा धैर्य इस तरह विलीन हो रहा है, जैसे लाख का बना हो । विषाक्त बाण से घायल हरिणी की भांति मेरी मति पद पद पर मूर्छित हो रही है । पुरुष से द्वेष करने वाली स्त्री की भांति यह भ्रमणशील स्मृति दूर से ही मेरा परिहार करती है। माता की भांति धृति तात के ही साथ चली गई । मेरा दुख दिन दिन उसी तरह बढ़ रहा है जैसे महाजन का लगाया हुआ धन। मेरा शरीर अश्रु-जल-धारा बरसा रहा है, जैसे यह शोकानल के धुएं से बने बादलों से भरा हुआ हो । सभी लोग मरने के बाद पांच तत्वों को प्राप्त होते हैं, यह बालकों का मिथ्या कथन है । तात तो केवल अग्नि को ही प्राप्त हुए, जो मुझे इतना जला रहे हैं। यह दुर्निवार शोक युद्ध करने में असमर्थ इस हृदय को घेर कर उठा है और इसे उसी तरह जला रहा है जैसे बाड़व वारि-राशि को, उसी तरह विदीर्ण कर रहा है जैसे पवि पर्वत को, उसी तरह कृश बना रहा है जैसे क्षय क्षपाकर को और उसी तरह कवलित कर रहा है जैसे राहु रवि को। मेरा हृदय सुमेरु के समान वैसे महा पुरुष का निपात केवल आंसुओं से ही नहीं टाल सकता।

१—सौ अश्वमेध करने वाला व्यक्ति इन्द्र-पद का अधिकारी हो जाता था, अतः सौ से भी अधिक यज्ञ करने वाले प्रभाकर वर्धन के पिता ने इन्द्र को बूढ़ा अर्थात् चिन्तित बना दिया।

राज्य के प्रति मेरी दृष्टि उसी तरह विरक्त हो गई, जैसे विष को देख कर चकोर की आंखें लाल हो जाती हैं । मेरा मन लक्ष्मी को तजना चाहता है, जो चण्डालों की स्त्री की भांति अनेक मृतों के वस्त्र से अपने को ढकती है, अनेकों का रञ्जन करती है, तथा वंशबाह्य[1] और अनार्य है । मैं पक्षी की तरह जले घर में एक क्षण भी नहीं ठहर सकता हूँ । अत: मैं आश्रम में (जा कर) वस्त्र-सदृश मन में लगे स्नेह-मल को पर्वत-शिखर पर के झरने के स्वच्छ सोते के निर्मल जल से धोना चाहता हूँ। अत: आप मुझ बड़े (भाई) की राज्य-चिन्ता ग्रहण करें, जो उसी तरह यौवन-सुख-शून्य और अप्रिय है जैसे कि वह वृद्धावस्था, जिसे गुरु की आज्ञा से पुरू ने स्वीकार की थी। विष्णु के समान आप सभी बाल-क्रीडाओं को छोड़ कर अपनी छाती लक्ष्मी को दें । मैंने शस्त्र छोड़ा। " यह कहते हुए उसने खड्ग-धारी के हाथ से अपनी तलवार लेकर पृथ्वी पर फेंक दी।

तब, यह सुन कर हर्ष का हृदय इस तरह विदीर्ण हो गया, जैसे वह तेज नोक वाले छुरे से घायल हुआ हो। वह सोचने लगा—"क्या मेरे पीछे किसी असहनशील व्यक्ति ने आर्य को समझा कर कुपित कर दिया है? या वे इस प्रकार मेरी परीक्षा लेना चाहते हैं? या यह शोक से उत्पन्न इनका मानसिक विकार है? या ये आर्य ही नहीं हैं? या आर्य ने कुछ और ही कहा और इस शोक-शून्य कान से मैंने कुछ और ही सुना? या आर्य ने कुछ और ही कहना चाहा और मुंह से कुछ और ही निकल गया? या यह समूचे वंश का विनाश और निपात करने के लिये विधि का उपाय है? या मेरे कर्मों के निखिल पुण्य नष्ट होने की सूचना है? या प्रतिकूल समग्र ग्रह-मण्डल की करतूत है? या तात-विनाश से निर्भय कलिकाल की क्रीड़ा है? जिस से इन्हों ने जिस किसी की तरह मुझे जो कुछ करने वाले के समान (समझ कर) अति दुष्कर कर्म के लिए वैसे ही आदेश दिया, जैसे श्रोत्रिय को सुरा-पान के लिए, सद्भृत्य को स्वामी से द्रोह करने के लिए, सज्जन को नीचों का संग करने के लिए और कुलाङ्गना को व्यभिचार करने के लिए (आदेश दिया जाय), जान पड़ता है जैसे मैं पुष्पभूति-वंश में उत्पन्न ही नहीं हुआ हूँ, जैसे तात का तनय ही नहीं हूं। जैसे इनका अनुज ही नहीं हूँ, जैसे भक्त ही नहीं हूँ, और जैसे अपराधी हूं शौर्य-मदिरा से मत्त समस्त सामन्त-मण्डलरूपी समुद्र को मथने में मन्दर-स्वरूप वैसे पिता के मरने पर वन को जाना, वल्कल पहनना अथवा तप करना ही उचित है। किन्तु मेरे लिए राज्य करने

१—लक्ष्मी वंशानुक्रम से अथवा बांस की पताका पर ढोई जाती है और चण्डाल की स्त्री वंश अर्थात् कुल से बाहर है।

की यह आज्ञा मुझ जले हुए को और भी जलाने वाली है, वृष्टि-रोध से सूखे हुए मरुस्थल में अङ्गारों की वृष्टि है। अत: यह आर्य के योग्य नहीं है। यद्यपि जगत में निरभिमान प्रभु, निर्लोभ द्विज, कोप-रहित मुनि, अचपल कपि, मत्सर-रहित कवि, अ-तस्कर वणिक, ईर्ष्या-रहित पत्नी-प्रेमी, अदरिद्र सुजन, अखल धनी, अक्लेश-कर क्षुद्र व्यक्ति, अहिंसक व्याध, ब्राह्मण-कर्म में रत पाराशरी भिक्षु, सुखी सेवक, कृतज्ञ धूर्त्त, खूब खाने की चाह नहीं रखने वाला परिव्राजक, मधुरभाषी निष्ठुर, सत्यवादी अमात्य और अदुर्विनीत राजकुमार दुर्लभ है, तथापि मुझ राजकुमार के आचार्य तो आर्य ही हैं। श्रेष्ठ गन्ध-कुञ्जर-सदृश वैसे पिता का निपात हुआ, राज्याधिकारी ये बड़े भाई शिला-स्तम्भ के समान विशाल जंघाओं और भुजाओं को विफल कर, राज्य छोड़ कर, नव वयस में तपोवन जा रहे हैं, ऐसी अवस्था में क्या कोई सभी लोगों की आंखों से आंसुओं से पूर्ण वसुधा नामक मृत्पिण्ड की इच्छा कर सकता है या क्या चाण्डाल भी शूरों के परिवार में पन-हारिन का काम करने वाली लक्ष्मी की कामना कर सकता है, जिस का नीच आचरण धन-मद से खेल करने वाले सभी खलों के मुहों के विकार से सूचित होता है? क्योंकर आर्य ने इस अत्यन्त अनुचित बात की संभावना की? मुझ में कौन-सा दोष देखा गया? क्या इनके चित्त से लक्ष्मण गिर गया या ये भीम आदि को भूल गये? आर्य तो ऐसे प्रभु नहीं थे, कि वे भक्त जनों की उपेक्षा कर केवल स्वार्थ निष्पादन में निष्ठुर हो जाँय। और भी, आर्य के तपोवन चले जाने पर कौन ऐसा जीवनेच्छु है, जो मन से भी मही का ध्यान करे? वज्र के नोकों के समान तेज नखों की प्रचण्ड चपत से मतवाले हाथी के विदीर्ण हुए मस्तक की मद-धारा से चारु केसर रंगे जाने से जिस का मुख चमकीला हो जाता है ऐसे सिंह के वन-विहार के लिए बाहर निकल जाने पर गिरि-गुहा के निवास की पीछे में कौन रक्षा करता है? वीरों का सहायक उनका प्रताप ही है। इस चपला लक्ष्मी के ऊपर आर्य का यह कौन सा अनुग्रह है जो ये इसे बूढ़ी के वेष में उसी तपोवन में नहीं ले जा रहे हैं जहां वल्कल से अपने कुचों को ढक कर यह वन-मृगी की भांति कुश, कुसुम, समिधा और पलाश के पूले ढोती रहे। किन्तु नाना प्रकार के इन व्यर्थ तर्क-वितर्कों से क्या? चुपचाप ही आर्य का अनुसरण करूंगा। गुरुवचन के उल्लङ्घन से जो पाप होगा उसे तपोवन में तप ही दूर करेगा। ऐसा निश्चय कर वह मन से पहले ही तपोवन चला गया और मुंह लटकाये खड़ा रहा।

इसी बीच पहले ही आदेश पाये हुए रोते वस्त्राधिकारी ने वल्कल ले आकर रक्खे। राज-कुल की स्त्रियां इस तरह रो रही थीं, जैसे निर्दय कर-तल के ताड़न के

भय से उनके हृदय कहीं चले गये हों। विप्र जन अपनी भुजाओं को ऊपर उठा कर 'अब्रह्मण्यम्' कहते हुए जोर जोर से रो रहे थे। पुरवासी चीत्कार करते हुए (राज कुमार के) पाँव पड़ रहे थे। चिरंतन परिजन विचलित-चित्त हो भाग रहे थे। परिजनों के सहारे वृद्ध बन्धु भीतर आ रहे थे, उनके शरीर काँप रहे थे, वस्त्र अस्त-व्यस्त हो रहे थे, वचन शोक से गद्गद् थे, आँखों से आँसू बह रहे थे और मन मना करने में लगे थे। चित पड़े हुए निराश सामन्त गण नखों से मणि-तल पर रेखायें खींचते हुए साँसें ले रहे थे। सबालवृद्ध सभी प्रजायें तपोवन के लिए प्रस्थान कर चुकी थीं।

सहसा ही संवादक नामक राज्यश्री का सुपरिचित परिचारक भीतर घुसा। वह शोक से व्याकुल था और उसकी आँखों से अश्रु-सलिल झर रहा था। मुक्तकण्ठ से रोते हुए वह सभा में गिर पड़ा। तब भाई के साथ संभ्रान्त हो कर देव राज्यवर्धन-ने स्वयं उस से पूछा—" भद्र, कहो कहो, जिस ने हमारा विपत्ति-व्यवसाय बढ़ाने के लिए धैर्य बाँधा है और जो राज-मृत्यु से प्रसन्न-चित्त है वह विधि इससे अधिक अधैर्य कर और क्या ला रहा है ? " उसने किसी किसी तरह कहा—" देव, पिशाचों की तरह नीच प्रायः दुर्बल पर ही प्रहार करते हैं। क्योंकि जिस दिन राजा के मरने की बात फैली उसी दिन दुरात्मा मालवराज ने अपने पुण्य सहित देव ग्रहवर्मा को इस संसार से पृथक कर दिया। राजकुमारी राज्यश्री भी, जिस के चरणों को लोहे की काली बेड़ियों ने चूमा, चोर-स्त्री की भाँति बाँधी जाकर कान्यकुब्ज की कारा में डाल दी गई। और किम्वदन्ती है कि सेना को नायक-हीन समझ कर वह दुर्बुद्धि इस देश को भी लेने की इच्छा से यहाँ आना चाहता है। यह निवेदन किये जाने पर स्वामी जैसा करें। " वैसी अनुपेक्षणीय असंभावित और आकस्मिक दूसरी विपत्ति सुन कर, ऐसा परिभव पहले कभी नहीं सुनने के कारण, दूसरों द्वारा किये जाने वाले परिभव को स्वभाव से नहीं सह सकने के कारण, नव यौवन के अतिशय अभि-मान के कारण, वीरों के कुल में जन्म होने के कारण, दयनीय दशा को प्राप्त बहिन के स्नेह के कारण, वैसा भारी शोक बद्ध-मूल होने पर भी उसी समय नष्ट हो गया। सहसा ही उसके हृदय में भयङ्कर क्रोध का प्रवेश हुआ जैसे गिरि-गुहा में सिंह का। चौड़े ललाट पर भीषण भौंहें चढ़ आई, जो कृष्ण की शङ्का से व्याकुल कालिय-कुल के कुटिल भ्रूभङ्ग से तरङ्गित श्याम यमुना के समान थीं। दिग्गज के कुम्भ के समान विशाल बाहु के ऊपर बाँये हाथ ने अभिमान पूर्वक स्पर्श करते हुए अपने नखों के किरणरूपी जल के प्रवाह से मानो समर-भार ग्रहण करने के लिये अभिषेक किया।

उसका दाहिना हाथ, जिसकी हथेली पसीने से भर रही थी—जो मालव-नरेश को निःशेष नष्ट करने के लिये मानो उसका केश पकड़ चुका था, और जो मानो दुर्मद लक्ष्मी के केश पकड़ने की उत्कण्ठा से कांप रहा था—फिर से भीषण तलवार के पास पहुँचा। गालों पर क्रोध की लाली दीख पड़ी, मानो शस्त्र-ग्रहण से प्रसन्न राज-लक्ष्मी द्वारा किये जाते हुए आनन्दोत्सव में सिन्दूर-धूलि उड़ाई गई। समीपवर्ती सभी महीपों के चूड़ामणि-समूह पर मानो आक्रमण करने के अहङ्कार से दाहिना पांव उठ कर बाईं जांघ पर चढ़ गया। बायां पांव, जो मणि-तल को घिस रहा था, अंगूठे को निष्ठुरतापूर्वक मोड़ने से निकले हुए धुएं से मानो पृथवी को वीर-रहित करने के लिए ज्वाला छोड़ना चाहता था। दर्प के कारण फूटे हुए सरस घाव के रुधिर-प्रवाह से शोकरूपी विष के कारण सोये हुए पराक्रम को मानो जगाते हुए उसने अनुज से कहा—"हे दीर्घायु, यह राज-कुल है, ये बान्धव हैं, ये परिजन हैं, यह राज्य है, राजा की भुजा से रक्षित ये प्रजायें हैं, मैं आज ही मालव-राज-कुल के प्रलय के लिए जा रहा हूं। अब अत्यन्त अविनीत शत्रु का निग्रह ही वल्कल-ग्रहण है, यही तप है, और यही शोक दूर करने का उपाय है। मालव द्वारा पुष्पभूतिवंश का परिभव!—यह हरिणों द्वारा सिंह का बाल पकड़ना है, मेंढकों द्वारा काल-सर्प को चपत लगाना है, बछड़ों द्वारा बाघ को बन्दी बनाना है, जल-सर्पों द्वारा गरुड़ का गला दबाना है, काठ द्वारा आग को जलने का आदेश देना है, तिमिर द्वारा रवि का तिरस्कार है। महा-क्रोध से मेरा ताप छिप गया। सभी राजा और हाथी तुम्हारे ही साथ रहें। केवल यह भण्डि दस हजार घोड़ों के साथ मेरा अनुगमन करे।" इतना कह कर उसने तुरंत ही प्रयाण-पटह बजाने का आदेश दिया।

बहिन और बहनोई का हाल जान कर देव हर्ष का मन क्रोध से जल ही रहा था कि साथ नहीं चलने के लिए भाई का वैसा आदेश सुन कर उसकी प्रणय-पीड़ा बहुत बढ़ गई और उसने कहा—"मैं साथ चलूं, इस में आर्य कौन-सा दोष देखते हैं? यदि मैं बालक समझा जाऊं, तब तो किसी प्रकार भी त्याज्य नहीं हूं। यदि रक्षणीय, रक्षा-स्थान तो आप का भुज-पिञ्जर है। यदि असमर्थ, तो मेरी परीक्षा कहां ली गई? यदि संवर्धनीय, तो वियोग मुझे दुबला बना डालेगा। यदि क्लेश सहने में असमर्थ, तो स्त्री-वर्ग में रखा जा रहा हूँ। यदि आप चाहें कि मैं सुख का अनुभव करूं, वह तो आप ही के साथ जा रहा है। यदि आप कहें कि मार्ग में बड़ा क्लेश है, तो विरह अत्यन्त असह्य है। यदि आप चाहते हैं कि मैं स्त्री की रक्षा करूं, वह तो आप की तलवार में रहती है यदि आप मुझे पीछे रखना चाहें, आप का प्रताप तो

है ही। यदि आप कहें कि राज-वृन्द शासक-विहीन हो जायगा, वह तो आर्य के गुणों से सुबद्ध है। यदि बड़े को सहायक नहीं रखना चाहिये, तो आप मुझे अपने से मानो जुदा समझते हैं। यदि आप कुछ ही परिजनों के साथ जाना चाहते हैं, तो चरण-रज ले जाने में कौन बड़ा भार होगा ? यदि दोनों का जाना अनुचित है तो मुझे ही जाने की आज्ञा से अनुगृहीत करें। यदि आप का भ्रातृ-स्नेह कातर है, तो यह दोष उभय-निष्ठ है[1]। आप की भुजा की यह कैसी स्वार्थ-परता है कि आप अकेले ही क्षीर-सागर के फेन पटल के समान सफेद कीर्ति-अमृत पीना चाहते हैं ? आप के प्रसाद से पहले कभी मैं वञ्चित नहीं हुआ। अतः आर्य प्रसन्न हों और मुझे भी ले चलें।" यह कह धरती पर शिर रख कर वह पैरों पर पड़ गया।

उसे उठा कर अग्रज ने फिर से कहा—"तात, आप इस तरह बड़ी तैयारी के द्वारा अति तुच्छ शत्रु को भी बलात् क्यों बड़ा बना रहे हैं ? एक हरिण (पकड़ने) के लिए सिंहों का झुण्ड अति लज्जाकर है। तृणों के विरुद्ध (लड़ने के लिए) कितनी ज्वालायें कवच पहनती हैं ? अठारह द्वीपरूपी कङ्कण की माला से भूषित मेदिनी तो आप के पराक्रम का क्षेत्र है ही। बड़े बड़े पहाड़ों को उड़ा ले जाने वाली हवायें अत्यन्त हल्की रूई की गांठ के लिए कमर नहीं कसती हैं। सुमेरु पर्वत के तट से प्रणय करने में प्रगल्भ दिग्गज छोटे वल्मीक पर आघात-क्रीड़ा नहीं करते। आप मांधाता के समान दिग्विजय करने के लिए सुन्दर सुवर्ण पत्र-लताओं से अलंकृत धनुष धारण करेंगे, जो सभी राजाओं का विनाश-सूचक महाधूमकेतु होगा। शत्रु-विनाश करने की मेरी जो यह दुर्निवार भूख जगी है इस में आप मुझ अकेले का एक कोप-कवल क्षमा करें। आप रहें।" इतना कह कर वह उसी दिन शत्रु के प्रति निकल गया।

अनन्तर भाई के उस प्रकार चले जाने पर, पिता के स्वर्गीय होने पर, बहनोई के प्राणों का प्रवास होने पर, माता के मरने पर, बहन के कैद होने पर, अपने झुण्ड से भटके हुए बनैले हाथी के समान देव हर्ष अकेले ही समय बिताने लगा। बहुत दिनों के बीतने पर एक बार रात का तृतीय भाग शेष रहने पर भ्रातृ-गमन के उस शोक ने उसे जगा दिया। उस समय हर्ष ने पहरेदार के द्वारा गाई जाती हुई यह आर्या सुनी—

जैसे पवन पोत को हठात् ही नष्ट कर देता है वैसे ही विधि पुरुष को, यद्यपि

१— जिस तरह मेरी युद्ध-यात्रा से आप आशङ्कित हो सकते हैं उसी तरह तो मैं भी आप की युद्ध-यात्रा से।

पोत की भांति पुरुष के गुणों का गान द्वीपों में हुआ हो और इन्हों ने श्रेष्ठ रत्न उपार्जित किये हों ।।२।।

यह सुन कर अनित्यता की भावना से वह और भी दुःखी हुआ। रात के प्रायः बीत जाने पर उसे एक क्षण के लिए नींद आई। उसने स्वप्न में गगन-चुम्बी लोह-स्तम्भ को भग्न होते देखा। कांपते हृदय से फिर जग कर वह सोचने लगा—"क्यों ये दुःस्वप्न मेरा पीछा लगातार कर रहे हैं। अशुभ-सूचक बाईं आंख दिन-रात फड़क रही है। अत्यन्त दारुण उत्पात, जो किसी बड़े राजा का विनाश बता रहे हैं, क्षण भर के लिए भी शान्त नहीं होते। प्रतिदिन कबन्धयुक्त सूर्यमण्डल में राहु[1] इस तरह दीखती है जैसे उसका शरीर अविकल हो गया हो। सप्तर्षिगण मानो तप करने के समय कवलित किये गये धूम को उगल रहे हैं, जिस से समग्र ग्रह धूसर हो गये। दिन दिन दारुण दिग्दाह दिखाई पड़ता है। तारागण आकाश से गिर रहे हैं, जैसे दिग्दाह के भस्म-कण हों। चन्द्रमा मानो तारा-पात के शोक से निष्प्रभ है। प्रत्येक रात को जहां तहां उल्काओं के प्रज्वलित होने से चञ्चल ताराओं से युक्त दिशायें मानो आकाश में ग्रहों का उग्र युद्ध देखती हैं। राज्य-सञ्चार-सूचक मारुत, जो धूल-पटल से भरा है और कंकरों से सत्कार कर रहा है, पृथ्वी को मानो कहीं ले जा रहा है। समय को शुभ नहीं देख रहा हूं। हमारे इस वंश में हाथी के समान कोमलवंशांकुर को भी नष्ट करने वाले कृतान्त को कौन रोक सकता है ? सभी प्रकार से आर्य की 'स्वस्ति हो'। इस तरह चिन्ता करने के बाद भीतर भ्रातृ-स्नेह उमड़ आने से उसका हृदय कातर हो कर मानो चलायमान हो गया, जिसे उसने बड़ी कठिनाई से स्थिर किया। फिर उठ कर उसने दैनिक क्रिया-कलाप किया।

सभा में जाकर उसने कुन्तल नामक बड़े घुड़सवार को, जो राज्यवर्धन का कृपा-पात्र था और अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ था, सहसा ही भीतर आते देखा। उदास लोगों का एक झुण्ड उसके पीछे आ रहा था। उस का शरीर मैले कपड़े से ढका था, जिस के सूत मानो असह्य दुख से निकलने वाली गर्म सांसों के धुएं से रंगे थे। मानो जीवन धारण करने की लाज से उस का मुख अवनत था। उसकी दृष्टि नाक की नोक पर लगी थी। शोक के कारण बढ़ी हुई दाढ़ी वाला मुंह चुप होने पर भी अटूट अश्रु-प्रवाह से स्वामि-विनाश बता रहा था। उसे देख कर राज-कुमार को आशङ्का हो गई। उसकी आंखों में जल आ गया, मुख-चन्द्र से सांस निकलने लगी, हृदय में आग जलने लगी और उसकी देह पृथ्वी पर आ गई, इस प्रकार दारुण अप्रिय सुनने के समय

१—राहु को केवल शिर होता है।

लोक-पालों ने उसके सभी अङ्गों को एक साथ ही पकड़ लिया। उस सवार से उसने सुना कि यद्यपि बड़े भाई ने मालव-सेना को अनायास ही हरा दिया, तथापि गौड़ाधिप ने मिथ्या उपचारों से उसका विश्वास उत्पन्न किया और अपने ही घर में उस निश्शस्त्र, एकाकी, और विश्रब्ध को मार डाला।

यह सुन कर वह महा तेजस्वी सहसा ही प्रज्वलित हो उठा, प्रचण्ड कोप-पावक पसरने से उसका शोकावेग बढ़ गया। क्रोध में शिर कांपने से शिखा से रत्न के टुकड़े गिरे, मानो उसने रोषाग्नि के अंगारे उगले। निरंतर धड़कते हुए, क्रोध में टेढ़े हुए होंठ से उसने मानो सभी तेजस्वियों की आयु पीली। लाल होती आंखों के आलोक-विक्षेप से उसने मानो दिग्दाह का प्रदर्शन किया। स्वाभाविक शूरता की असह्य गर्मी से मानों जल कर क्रोधाग्नि ने अपने को शीतल करने के लिए, स्वेद-सलिल बरसाया। अदृष्टपूर्व क्रोध से मानो डर कर उसके अपने ही अवयव कांपने लगे। हर की तरह उसने डरावनी सूरत बनाई। हरि की भांति नरसिंह-रूप प्रकट किया। सूर्यकान्त-शैल के समान अपर-तेज[1] का प्रसार देख कर वह दीप्त हो गया। वह उसी प्रकार दुर्निरीक्ष्य हो गया जैसे बारह सूर्यों के उगने से क्षय-दिवस। उत्पात मचाने वाले मारुत के समान वह सभी भूभृतों को कंपाने लगा। विन्ध्य के समान उसके शरीर का उत्सेध[2] बढ़ने लगा। महासर्प के समान दुर्नरेन्द्र[3] के अपमान से वह क्रोधित हो गया। जनमेजय के समान वह सभी भोगियों[4] को जलाने के लिये उद्यत हो गया। वृकोदर के समान वह दुश्मन के लोहू का प्यासा हो गया। ऐरावत के समान वह शत्रु को रोकने के लिये[5] दौड़ पड़ा। पौरुष का प्रथमागमन-सा, मद का उन्माद-सा, गर्व का आवेग-सा, तेज का तारुण्यावतार-सा, दर्पका पूर्ण उद्योग-सा, यौवनोष्म का युगागम-सा, रण-रस का राज्याभिषेक-सा, असहिष्णुता का नीराजन-दिवस-सा वह परम भीषण हो गया।

तब उस ने कहा—"गौड़ाधिप को छोड़ कर कौन व्यक्ति वैसे महापुरुष को, उसी समय जब कि वह द्रोण की तरह सभी राजाओं को जीत कर मुक्तशस्त्र था,

१—शत्रु का तेज, सूर्य।

२—दुष्ट राजा, विष-वैद्य, संपेरा।

३—भव्यता, ऊँचाई। एक बार सूर्य के मार्ग को रोकने के लिए विन्ध्याचल बढ़ने लगा था।

४—राजाओं, सर्पों।

५—विपक्ष-वारण = विपक्षी हाथी (ऐरावत के पक्ष में)।

धृष्टद्युम्न की तरह सभी लोगों से निन्दित हत्या से शान्त कर सकता था। उस अनार्य को छोड़ कर किसके तानस में भगीरथी-फेन-पटल-सदृश सफेद राजहंसों के समान आर्य के शौर्य-गुण, जो परशुराम के पराक्रम का स्मरण करा रहे हैं, पक्षपात नहीं करते[1]? क्यों कर ग्रीष्मकालीन सूर्य के समान इस उग्र (गौड़ाधिप) के कर प्रीति की उपेक्षा कर कमलाकर का जल शोषण करने के समान आर्य का जीवन हरण करने में प्रवृत्त हुए? यह किस दशा को प्राप्त होगा? या किस योनि में प्रवेश करेगा? या किस नरक में गिरेगा? क्या कोई चाण्डाल भी ऐसा आचरण कर सकता है? इस पापी का नाम लेने में भी मेरी जीभ मानो पाप-मल से लिप्त हो रही है। या किस काम के उद्देश से इस क्षुद्र ने निर्दय घुण (नामक काष्ठ-छेदक कीट) के समान भीतर घुस कर[2] सभी लोगों के आनन्द-दायक चन्दन-स्तम्भ के समान आर्य का नाश किया। निश्चय ही मधु-रस-आस्वाद के लोभी इस मूर्ख ने मधु-सदृश-आर्य-जीवन हरण करते हुए शिलीमुखों के सम्पात का भावी उपद्रव नहीं देखा। जैसे खिड़की पर का दीया घर को दूषित करने वाला कज्जल ही जमा करता है, वैसे ही गौड़ाधम ने कपट-मार्ग प्रकाशित कर अपने कुल को दूषित करने वाला अत्यन्त काला-कलङ्क मात्र सञ्चय किया है। त्रिभुवन-चूड़ामणि सूर्य के शीघ्र ही अस्त होने पर क्या विधाता ने सत्पथ के शत्रु अन्धकार के निग्रह के लिये ग्रहषण्ड में विहार करने वाले एक मात्र मृगराज चन्द्र को आदेश नहीं दिया है? विनय सिखाने वाले अंकुश के भग्न होने पर दुष्ट हाथी को विनीत करने के लिए क्या सिंह का तीक्ष्ण तर पञ्जा मौजूद नहीं है, जो सभी मत्त हाथियों के कुम्भ स्थल सहित कड़े शिर को विदीर्ण करने में निपुण है? तेजस्वी रत्नों के विनाशक ऐसे बुरे सुनार किसके बध्य नहीं हैं? यह दुर्बुद्धि अब जायगा कहां?"

जब वह इस तरह कह रहा था, उस समय सिंहनाद नामक सेनापति पास ही बैठा था। वह उसके पिता का भी मित्र था। वह सभी लड़ाइयों में आगे रहता था। उसकी देह हरिताल के पहाड़ की तरह गोरी थी। वह बढ़े हुए सीधे साल वृक्ष की शाखा की तरह चमकीला, और लम्बा था। वह मानो अति शूरता की गर्मी से पक गया था। वह प्रौढ़ावस्था में था। अनेक शर-शय्याओं से उठा हुआ वह अपनी लम्बी आयु से मानो भीष्म का उपहास कर रहा था। उसके शरीर की दुर्जयता के आशा वृद्धावस्थ ने भी मानो डरकर कांपती हुई उसके कड़े बालों को छूया। चन्द्र-किरण-

---

१—अनुराग उत्पन्न नहीं करते, नहीं उड़ते (हंस के पक्ष में)।

२—विश्वास दिला कर (अन्य पक्ष में)।

सदृश सफेद बाल रूपी केसर तथा निष्कपट पराक्रम-रस के कारण वह मानो जीवन में ही सिंह-जाति को प्राप्त हो गया था। भौहों से जिनका सिकुड़ा हुआ ढीला चमड़ा लटक रहा था, उसकी दृष्टि ढक गई थी। मानो वह अन्य स्वामी का मुंह देखने के महापाप से बचना चाहता था। अपने डरावने मुंह देखने के महापाप से बचता था। अपने डरावने मुंह से जो सफेद और मोटी मूंछ से ढके कपोल से दीप्त था। मानो अकाल में भी विकसित काश-कानन से धवल शरद्-आरम्भ का विक्रम-काल[1] उगल रहा था। नाभि तक लटकती हुई दाढ़ी से, मानो उजले भंवर से वह मृत्यु को प्राप्त होने पर भी हृदय में स्थित स्वामी के ऊपर व्यजन डुला रहा था। वृद्धवस्था में भी खुले मुंह वाले बड़े बड़े घावोंसे, जो मानो धुली तलवार की धारा का जल पीने को प्यासे थे, उसका विशाल वक्षःस्थल विषम था। तेज शस्त्रों से किये गये अनेक बड़े बड़े घाव मानो टंकों की नोक से लिखी गई घनी अक्षर-पंक्तियां थीं, जिनके सहारे वह मानो सफल समरों के विजयोत्सव की गणना रहा था। वह पूर्व पर्वत के समान पादचारी था। वीर रस के विविध अनुष्ठानों की सुन्दरता में वह महाभारत का भी मानो लंघन कर रहा था। शत्रु विनाश के आग्रह में वह परशुराम को भी मानो शिक्षा दे रहा था। समुद्र-भ्रमण तथा लक्ष्मी को अनायास खींचने में वह मन्दर को भी मानो मन्द कर रहा था। वाहिनी-नायक की कर्यादा के अनुसरण करने में वह समुद्र को भी मानो जीत रहा था। स्थिरता, दृढ़ता और ऊंचाई में वह अचलों को भी मानो लजा रहा था। स्वाभाविक तेज के फैलाव में वह सूर्य को को भी मानो तुच्छ बना रहा था। स्वामिभार वहन करने में पीठ घिस जाने से हर वृषभ का भी मानो उपहास कर[2] रहा था। वह क्रोधाग्नि की अरणि, शूरता की सम्पत्ति, मद का मद, दर्प का प्रसार, हठ का हृदय, विजयेच्छा का जीवन, उत्साह का उच्छ्वास, दुर्विनीतों का अङ्कुश, दुष्ट-भोगियों का नागदमन, श्रेष्ठ मनुष्यता की पराकाष्ठा, वीरों का गुरु, शूरों की तुलना, शस्त्रों का पारदर्शी, गर्वोक्तियों का निर्वाहक, भग्नों को आश्वासन देने वाला, प्रतिज्ञा का पालक, महासमरों का मर्मज्ञ, और समरार्थियों का घोषणा-पटह[3] था। उसने

१—पराक्रम-काल, युद्ध का समय, वर्षा बीतने पर शरद का आरम्भ होने पर युद्ध-यात्रा की जाती थी विक्रमकाल से विक्रम सम्वत का भी बोध हो सकता है जो चैत के सिवा कार्तिक में भी शुरू होता है।

२—दोषों के प्रति अन्धता (लक्ष्मी के पक्ष में) रात में बन्द हो जाना (कमल के पक्ष में)। लक्ष्मी लोगों को उनके दोषों के प्रति अन्धा बना देती है—कर्ण।

३—दुष्ट राजाओं का शासक, दुष्ट सर्पों का गरुड़।

दुन्दुभि के शब्द के समान गम्भीर स्वर से वीरों का समर-रस उद्दीप्त करते हुए निवेदन किया—

"देव, जैसे अतत्यन्त काले कौए अस्थिर काली कोयल से अपने को ठगे जाते हुए नहीं जान सकते हैं, वैसे ही नीच पुरुष चञ्चल दुष्ट लक्ष्मी से। लक्ष्मी को कमल के दोषान्धता[1] आदि विकार होते हैं। छाते की छाया से सूर्य को अन्तरित कर मूर्ख दूसरे तेजस्वी को भूल जाते हैं। अथवा वह बेचारा करे ही क्या, जिसने डर के मारे हमेशा मुँह मोड़ हुए कुपित तेजस्वियों के मुख देखे ही नहीं, जिन (मुखों) के कपोल अतिशय शौर्य की वृद्धि से लाल होकर रोमाञ्चरूपी कोपानल-पल्लवों से युक्त हो जाते हैं। यह बेचारा जानता ही नहीं है कि अपमानित मनस्वी विप्र-कृत (मारण-आदि) अभिचारों के समान तत्क्षण समस्त कुल का प्रलय उपस्थित कर देता है। ठोकर खाकर तेजस्वीपुरुष जड़ के प्रति भी दीप्त होता है[2]। सभी वीरों के समाज से वहिष्कृत उसी के योग्य यह कर्म है, जो उस नरक में गिराने में समर्थ है, जिससे उद्धार नहीं हो सकता है। जब मनस्वियों को युद्ध का प्रधान धन धनुष और लक्ष्मी रूपी कलहंसी की क्रीड़ा के लिए कुवलय-कानन-स्वरूप कृपाण वर्तमान है, तो लक्ष्मी निकालने के लिए समुद्र-मथन आदि उपाय भी कृपण हैं, फिर ऐसे उपायों का कहना ही क्या। विधाता द्वारा धरती की रक्षा के लिए नियुक्त पर्वत मानों स्वयं असमर्थ होकर जिनकी वज्र-सदृश कठोर भुजाओं के अस्त्र के लिए लोहे उगलते हैं, वे बाहुशाली विमल यश के बन्धु—क्योंकर मन से भी अकार्य का ध्यान कर सकते हैं। वीरों के हाथों के सामने जो सबों को पराजित कर चमकते हैं, दिग्विजय करने में पतङ्ग-कर[3] पङ्गु हैं। केवल किम्वदन्ती के अनुसार यम का निवास दक्षिण दिशा में है, वस्तुतः यह वीरों की भौंहों में है, जिनका मध्य महामहिष के सींगों के समान कुटिल और भीषण है

यह आश्चर्य है कि युद्ध में सिंहनाद छोड़ने वाले शूरों के वीर-रस के रोमांचरूपी कण्टकों के साथ केसर नहीं निकल आते। चारों सागर से उत्पन्न होने वाली सम्पत्ति के पात्र दो ही हैं—शत्रुओं को जलाने वाला बड़वानल या महा पुरुष का हृदय। सागर-सदृश तेजस्वी की गर्मी सबों को प्राप्त किये बिना शान्त नहीं हो सकती है। उस सर्प-राज के बड़े फण का फैलाव व्यर्थ है, जो अपने फण से केवल मृत्पिण्ड को ही धारण करता है। वीरों की भुजायें ही, जिनके प्रकोष्ठ दिग्गज की

१—युद्ध-यात्रा के समय बजाया जाने वाला डंका।

२—जल में भी विद्युत् दीप्त होता है

३—सूर्य-किरण, पतङ्ग नामक कीट के कर।

· सूँड के समान भारी हैं, पृथ्वी के अप्रतिहत शासन के सुखद उपभोग का अनुभव करती हैं। सूर्य के समान, (जिसकी किरणों को उन्मुख पद्माकर ग्रहण करते हैं), पूर्ण तेजस्वी शूर, जिन के पाद-पल्लव अनुकूल लक्ष्मी के हाथों द्वारा दबाये जाते हैं, सुखपूर्वक दिवस बिताते हैं। शशी के समान हरिण हृदय[1] और पाण्डुरपृष्ठ[2] कायर पुरुष के यहां लक्ष्मी दो रात के लिये भी निश्चल नहीं रह सकती है। विकासशील वीर-रस अपरिमित यश बरसाता है। पौरुष के मार्ग आगे जाने वाले प्रताप से साफ होते हैं। शूरता की दिशायें शस्त्रों के आलोक से प्रकाशित हो कर साफ हो जाती हैं। शत्रु के रुधिर की वृष्टि से पृथ्वी की भांति लक्ष्मी भी अनुराग करती है। अनेक नरपतियों की मुकुट-मणियों को शिला पर घिस कर चरणों की नख-पंक्ति की भांति राजता भी उज्ज्वल हो जाती है। अनवरत शस्त्राभ्यास से कर-तलों की भांति शत्रु-मुख भी श्याम हो जाते हैं। विविध घावों पर सैकड़ों पट्टियाँ बाँधी जाने से शरीर के समान यश भी धवल हो जाता है। कवचों से ढके शत्रु-वक्ष-स्थल रूपी किवाड़ों पर अस्त्रों के निष्ठुर प्रहार पड़ने से अग्नि-शिखा की भाँति लक्ष्मी भी निकल आती है। शत्रु-द्वारा स्वजन के मारे जाने पर जो मनस्वी जन विपक्षी स्त्रियों के छाती पीटने से अपने हृदय का दुःख बताता है, कठोर तलवारों के चलने की हवा से साँसें लेता है, मारे गये शत्रुओं के शरीरों पर (उनके सम्बन्धियों के) आँसू की धार गिरने से रोता है, शत्रु-स्त्रियों की आँखों से (तर्पण) जल देता है, वही श्रेष्ठ है, दूसरा नहीं। स्वप्न में देखी गई और नष्ट हुई वस्तुओं के समान क्षणिक शरीर को बुद्धिमान व्यक्ति अपना बन्धु नहीं समझते हैं। वीर पुरुष स्थायी यश को शरीर समझते हैं। जैसे निरन्तर स्वत: प्रदीप्त मणि-प्रदीप को कज्जल मल स्पर्श नहीं कर सकता है वैसे ही तेजस्वी को शोक। आप साहसियों, बुद्धिमानों, शक्तिशालियों, कुलीनों, तेजस्वियों और (शत्रु-पराक्रम के) असहिष्णुओं में प्रथम हैं। धीरता के रहने के ये शीतल स्थान आपके अधीनस्थ हैं, जिनकी दीवारें वीरों के वक्ष:स्थल हैं, जो विशाल बाहु रूपी वन की छाया से आलिङ्गित हैं। जहां सुलभ असि-धारा के जल से तृप्ति होती है, और जहां समीपस्थ कोपाग्नि से बराबर धुआँ निकलता रहता है। एक गौडाधिप से क्या ? वैसा कीजिये जिससे कि कोई दूसरा भी ऐसा आचरण फिर न कर सके। समस्त पृथ्वी की श्रद्धा चाहने

१—जिसके बीच में हरिण है (चन्द्र पक्ष में), जिसका हृदय हरिण का सा है (कायर के पक्ष में)।

२—जिसका ऊपरी भाग सफेद है, निर्लज्ज।

वाले मिथ्या विजयेच्छुओं के ऊपर उन के अन्तःपुर की स्त्रियों की साँसों से चँवर चलवाइये। उन की छत्र-छाया की आसक्ति को लोहू की लोहू की गन्ध से अन्धे गृध्र-मण्डल के छादन से नष्ट कीजिये। कुलक्ष्मी रूपी कुलटा के कटाक्ष से हुए इनके चक्षु-रोग को गर्म शोणित-जल से दूर कीजिये। कुकर्म में प्रगटित शौर्य रूपी शोथ रोग को तेज तीरों से नाड़ी बेधकर शान्त कीजिये। पाद-पीठ की इच्छा करने से दुर्ललित पैरों के मान्द्य रोग को लोहे की बेड़ी रूपी महौषधि से दूर कीजिये। जय शब्द सुनने के लिये उनकी कानों की खुजलाहट को आज्ञा के तीक्ष्ण शब्द रूपी क्षार से नष्ट कीजिये। खम्भे की तरह तने और निश्चल मस्तकों के विकार को उन पर चरण-नखों के किरणरूपी चन्दन-लेप लगाकर दूर कीजिये। धन के घमण्ड से गर्म होने वाले दुर्विनीतों के दुस्साहस-शल्य को कर देने की संदेश रूपी संड़सी से निकालिये। वीरों के झूठे घमण्ड से होने वाले भ्रूभङ्ग रूपी अन्धकार को मणिमय पाद-पीठ के किरण-रूपी प्रदीप से विदीर्ण कीजिये मिथ्याभिमान रूपी महासन्निपात को शिर के भारीपन को गलाने वाले चरण-लङ्घन से होने वाले लाघव रूपी औषधि से दूर कीजिये। धनुष की तांत से होने वाले किण[1] की कठोरता को सेवा में सतत जोड़े जाने वाले हाथों के संपुट की गर्मी से मुलायम कीजिये। आपके पिता, पितामह या प्रपितामह जिस रास्ते से गये, वह तीनों भुवनों में स्पृहणीय है, आप उसे न तजिये। कायरों के योग्य शोक को छोड़कर आप कुल-क्रम से आई लक्ष्मी को वैसे ही ग्रहण कीजिये, जैसे सिंह मृगी को। देव, नरेन्द्र देवत्व को प्राप्त हुए, गौड़ाधमसर्प के डसने से राज्यवर्धन का जीवन गया, इस महा प्रलय के उपस्थित होने पर पृथ्वी को धारण करने के लिए अब आप ही शेष हैं। अशरण प्रजाओं को सान्त्वना दीजिये। जैसे शरत्कालीन सूर्य पहाड़ों की चोटियों पर अपनी गर्म किरणों को बिखेरता है वैसे ही आप राजाओं के शिरों पर अपने ललाटन्तप पांव रखिये। अभिनव सेवा-दीक्षा के दुःख से निकलने वाली शत्रुओं की अत्यन्त गर्म सांसों से तथा प्रकम्पित चूड़ामणियों की कोमल किरणों से आप अपने चरणों को चित्र-विचित्र बनाइये। यद्यपि तपस्वी परशुराम मृगों के साथ पाला पोसा गया था और ब्राह्मण-सुलभ मृदुता से उसका मन कोमल था तथापि पिता की हत्या होने पर उसने अकेले निश्चिय किया और समग्र क्षत्रिय-वंश को, जिसने प्रचण्ड चापों की नोकों के टङ्कार से दिग्गजों को निर्मद कर दिया था तथा गूंजती हुई प्रत्यञ्चाओं से

१—आंखें लाल होने की बीमारी।

१ —तांत के घिस्से से कठोर हुआ मांस-पिण्डा।

जगत् को ज्वर-पीड़ित कर दिया था, इक्कीसबार काटकर उन्मूलित किया। फिर मानियों में श्रेष्ठ देव का क्या कहना, जिसका मन शरीर की स्वाभाविक कठोरता के कारण वज्र सा हो रहा है। अतः आप आज ही प्रतिज्ञा कीजिये और गौड़ाधम के प्राण हरण करने के लिए वह धनुष धारण कीजिये, जो प्राण सञ्चय करने को उत्सुक यम की असामयिक युद्धयात्रा की पताका है। अपमान की आग में जलते देव का यह दारुण दुःख-ज्वर शत्रु-रुधिर रूपी चन्दन-लेप के शीतल उपचार के बिना शान्त नहीं हो सकता है। अपमान जनित संताप शांत करने का जब कोई उपाय नहीं रहा, तो भीम ने मन्दर रूपी साधन के बिना ही रिपु-रुधिर रूपी अमृत को इस तरह पिया, जैसे (प्रेयसी) हिडिम्बा के चुम्बन से सुस्वादित हुआ हो। परशुराम ने क्रोधाग्नि का ताप शान्त होने से सुख-प्रद, शीतल क्षत्रिय रुधिर सरोवर में स्नान किया।

देव हर्ष ने उसे जवाब दिया—"आर्य ने तो मेरा कर्तव्य ही बताया। यदि यह सब नहीं होता, तो भी मेरी ईर्ष्यालु भुजा पृथ्वी को धारण करने वाले शेष नाग को दायाद ही समझती है। ऊपर उठते हुए ग्रहों को भी मेरी भ्रू-लता चल कर रोकना चाहती है। नहीं झुकने वाले पर्वतों का भी केश पकड़ कर मेरा हाथ खींचना चाहता है। हृदय तेज से दुर्विनीत सूर्य-किरणों से भी चँवर पकड़वाना चाहता है। राजा की पदवी से क्रुद्ध हो कर मेरा पैर मृगराजों के शिरों को भी पाद-पीठ बनाना चाहता है। स्वच्छन्द लोक-पालों द्वारा स्वेच्छा पूर्वक गृहीत दिशाओं के भी हरणार्थ आदेश देने को मेरा अधर फड़क रहा है। पुनः ऐसी दुर्घटना घटने पर पूछना ही क्या है। क्रोध-भरे मन में शोक करने का अवकाश ही नहीं है। जब तक गौड़ाधिप-चण्डाल,—मेरे हृदय का दारुण शल्य, वध्य, पामर, त्रिभुवन-निन्दित—जीवित है, तब तक सूखे होठ से दाढ़ी-मूंछ वाली स्त्री की भांति शोक-वश प्रतिकार-रहित सूत्कार करने में लजाता हूं। जब तक शत्रु सैनिकों की स्त्रियों की चञ्चल आंखों से अश्रू-जल नहीं बरसाता हूँ, तब तक मेरे हाथ जलाञ्जलि कहां से दे सकेंगे ? गौड़ाधम की चिता के धुएँ को देखे बिना मेरी इन आंखों में थोड़ा भी आँसू कहाँ से आ सकता है ? मेरी प्रतिज्ञा सुनिये—आर्य की ही चरण-रज छू कर शपथ करता हूं कि यदि कुछ दिनों में धनुष चलाने के अभिमान से दुर्विनीत हुए सभी राजाओं के पैरों में बेड़ियाँ नपहना दूं तथा पृथ्वी को निर्गौड न कर दूँ, तो मैं पापी घी से धधकती आग में पतङ्ग की भाँति कूद पड़ूँगा।" इतना कह कर उस ने युद्ध और संधि के प्रधान अधिकारी अवन्ति को, जो पास ही में खड़ा था, आदेश दिया—"लिखिये ! उदयाचल तक, जिस की चोटी

को गन्धर्व-दम्पती रवि-रथ-चक्र के चीत्कार से चकित हो कर छोड़ देते हैं,—सुवेल पर्वत तक, जहाँ त्रिकूट राजधानी में छेद करने वाले टङ्क से राम द्वारा किये गये लङ्का-ध्वंस का हाल खुदा हुआ है,—अस्ताचल तक, जिस की गुफायें शराब के नशे से लुढ़कने वाली वरुण की सुन्दर रमणियों के नूपुरों से मुखर होती रहती हैं,—गन्धमादन पर्वत तक जिस की गुहायें यक्षिणियों के परिमल से सुगन्धित गन्ध-शिलाओं से सुरभित हैं, सभी राजा अपने हाथों को कर देने के लिये सज्जित करें या शस्त्र ग्रहण करने के लिए दिशायें ग्रहण करें या मेरे चँवर, शिर झुकावें या धनुष, आज्ञा पालन करें या प्रत्यञ्चा चढ़ावें, अपने शिर पर मेरे पैरों की रज चढ़ावें या शिरस्त्र[1], हाथ जोड़ें या हाथी के झुण्ड, पृथ्वी छोड़ें या धनुष, (नौकर हो कर) मेरा बेत पकड़ें या कुन्तयष्टि नामक अस्त्र, अपने को मेरे पैरों के नखों में (प्रतिबिम्बित) अच्छी तरह देखें या कृपाण रूपी दर्पण में। मैं आ रहा हूं। लंगड़े के समान मुझे तब तक चैन कहाँ जब तक मैं सभी राजाओं की मुकुट-मणियों के आलोक से बना पाद-लेप (पांव का मरहम) जो सभी देशों में मिल सकता है, न लगाऊं? ऐसा निश्चय कर उसने सभा समाप्त की और राज-लोक को विसर्जित कर स्नान करने की इच्छा से सभा-भवन को छोड़ दिया। उठ कर स्वस्थ व्यक्ति की तरह उसने सकल दैनिक क्रिया-कलाप किया। जब संसार ने यह प्रतिज्ञा सुनी, तब शान्त होती गर्मी के साथ दिवस क्षीण हो गया, मानो (प्रतिज्ञा सुनने के कारण) संसार का अभिमान विलीन हो गया।

तब भगवान सूर्य भी, मानो अपना अधिकार छीने जाने के डर से, तेज-विहीन हो कर कहीं चला गया। कमल भी, जिनके भीतर भौरों का गूँजना बन्द हो गया था, मानो डर से संकुचित होने लगे। विहग-गण भी अपने पर समेट निश्चल हो कर मानो भय से छिपने लगे। सभी लोग सिर झुका कर और हाथ जोड़ कर प्रतिज्ञा के समान भुवन-व्यापिनी संध्या की पूजा करने लगे। घने अन्धकार से दिशायें तिरोहित हो गई, मानो अपनी पद-च्युति के भय से चकित दिक्-पालों ने गगन-चुम्बी लोह-प्रसार खड़े किये हों। अब हर्ष शाम की सभा में देर तक नहीं ठहरा। दीपों ने, जिन की शिखायें झुकते हुए नृपों के चञ्चल वस्त्र के पवन से प्रकम्पित हो रही थीं, मानो उसे प्रणाम किया और उस ने लोगों को बाहर भेज दिया। परिजनों को भीतर आने से मना कर उसने शयनागार में प्रवेश किया। बिछावने पर चित पड़ कर उसने अपने अङ्ग ढीले कर दिये। चोर के समान अवसर पाकर भ्रातृ-शोक ने उस दीप-द्वितीय[2]

१.—युद्ध में शिर की रक्षा के लिये पहने जाने वाली एक तरह की पगड़ी।

२—जिस के पास केवल एक दिया था।

को सत्वर पकड़ लिया । आंखें बन्द कर उसने अपने हृदय में अग्रज को जीवित-सा देखा । उसकी सांसें निरन्तर चलने लगीं, मानो भाई के प्राण खोज रहे हों । धवल वस्त्र के समान अश्रु-जल की बाढ़ से मुंह ढक कर उसने बहुत देर तक मौन रुदन किया और वह सोचने लगा—“ क्या ऐसी आकृति के लिए यह ऐसा परिणाम उपयुक्त था? मेरे पिता का शरीर विशाल शिला-स्तूप के समान कठोर था, और आर्य तो पर्वत से निकले लोहे के समान और भी कठोर थे । क्या आर्य के विरह में मुझ भग्न-हृदय के लिए एक क्षण भी जीना उचित है ? यही तो मेरी प्रीति, भक्ति या अनुवृत्ति है ! आप के मरने पर क्या कोई मूर्ख भी मेरे जीते रहने की सम्भावना कर सकता है ? वैसी वह एकता हठात् ही कहाँ चली गई। दुर्दैव ने अनायास ही मुझे पृथक कर दिया। दुष्ट रोष ने मेरे शोक को अब तक ढक रखा था, मैं निर्दय मुक्तकण्ठ से देर तक रोया भी नहीं । प्राणियों का प्रेम सर्वथा मकड़े के जाल के समान भंगुर है, तुच्छ है । बन्धुता संसार-यात्रा तक का ही एक बन्धन है, इसी लिए तो आर्य के स्वर्गीय होने पर मैं भी परकीय के समान सुख से बैठा हूं । ऐसे सुखी भ्रातृ-युगल को, जिन के हृदय पारस्परिक प्रेम-बन्धन से धन्य थे, जुदा कर दुर्दैव ने कौन-सा फल पाया ? आर्य के गुण समस्त जगत को इस तरह आनन्दित करते थे जैसे चन्द्रमय हों, किन्तु उनके परलोकवासी होने पर अब वे ही गुण इस तरह जला रहे हैं जैसे उन में चिता की अग्नि लग गई हो । ” इसी तरह उसने बहुत हार्दिक विलाप किया । और रात के बाद प्रभात होने पर प्रतीहार को आदेश दिया—” मैं समस्त गज-सेना के अधिपति स्कन्दगुप्त को देखना चाहता हूं ।

अनन्तर दौड़ कर गये हुए अनेक पुरुषों द्वारा बुलाये जाने पर स्कन्दगुप्त हाथी की प्रतीक्षा किये बिना अपने मन्दिर से पैदल ही चल पड़ा । ससम्भ्रम दण्डधारी (शरीर-रक्षकगण) लोगों को सामने से हटाने लगे । [पग-पग पर प्रतिदिशा में प्रणाम करते हुए प्रधान गज-वैद्यों से उसने श्रेष्ठ हाथियों का रात्रि-वृत्तान्त पूछा। छावनी के झुण्ड के झुण्ड लोगों ने कोलाहल किया । हथवान जिनका हाथी का झुण्ड वश से बाहर हो गया था, आगे आगे दौड़ कर हाथियों को बांधने की कोशिश करने आ गये, और मोर के पंख के पंखों से सुशोभित बांसों का वन धारण करने से वे (हथवान) विन्ध्य पर्वत पर के जंगल के समान हरे लगते थे । कुछ लोगों ने मरकत के समान घास की मुट्ठियां दिखाई और हाल में पकड़े गये बड़े बड़े हाथियों के लिये प्रार्थना की जिन्हें अभिमत मत्त मातङ्ग मिले थे, उन्होंने प्रसन्न हो खूब निकट आकर प्रणाम किया । कुछ लोगों ने अपने हाथियों को मद

आने की खबर बताई। कुछों ने ढोल चढ़ाने का आदेश दिया। असावधानी से हुए अपराध के कारण हाथी छिन जाने के दुख से रखी गई लम्बी दाढ़ी वाले आगे आये। फटे पुराने कपड़े पहने नवागत व्यक्ति हाथी पाने के सुख की आशा से दौड़ चले। हाथी फंसाने वाली हथिनियों के अधिकारीगण बहुत दिनों के बाद अवसर पा कर अपने हाथ उठाये हुए ऐसी हथिनियों के गिनने में लगे थे। चञ्चल पल्लव की वर्दी पहने हुए अरण्य-पालों ने ऊंचे तोत्रों[1] को उठा कर हाल ही में पकड़े गये हाथियों की संख्या बताने का उद्यम किया। महावतों ने (हाथियों की) युद्ध शिक्षा के लिए चमड़े के बनावटी हाथियों का प्रदर्शन किया। हथवानों के दूतों ने, जो क्षण क्षण में घास की जांच करते थे और जो नये हाथियों के सञ्चरण का समाचार निवेदन करने के लिए भेजे गये थे, ग्रामों, हाटों नगरों और में (हाथियों के लिए) शस्य काट कर संग्रह करने को आदेश दिया।

यद्यपि स्कन्दगुप्त उदासीन था, तथापि स्वामी की कृपा प्राप्त होने से, बड़े पद पर होने से तथा स्वाभाविक गम्भीरता से वह मानो आदेश दे रहा था। वह समुद्रों को असंख्य हाथियों के कानों के लिए शंख देने को मानो आज्ञा दे रहा था। वह हाथियों के सिंगार के लिए गेरुआ रंग रूपी अङ्गराग संग्रह करने के लिए मानो पर्वतों का अपहरण कर रहा था। वह दिशाओं में दिग्गजों पर इन्द्र के ऐरावत का अधिकार मानो छीन रहा था। शिव के पैरों के भार से झुके हुए कैलास के समान भारी पगों से पृथ्वी के भार वहन करने का गर्व मानो चूर्ण कर रहा था। चलते समय जाँघ तक लटकती हुई उसकी भुजायें इस तरह हिल-डुल रही थीं, जैसे दोनों ओर हाथी बांधने के शिला-स्तम्भ गाड़े जा रहे हों। कुछ कुछ ऊंचा और लटकता हुआ अधर-बिम्ब, जो अमृत के समान सुरस और नव-पल्लव के समान कोमल था, सुलक्षणा हथिनी को लुभाने के लिए मानो कवल था। उस की नाक निज नृप-वंश के समान लम्बी थी। उस की आंखें इतनी स्निग्ध, मधुर, धवल और विशाल लगती थीं, जैसे क्षीर सागर का पान कर दिशाओं के विस्तार का पान कर रही हों। उसका ललाट-तट मेरू-तट से भी विशाल था। उसका केश-पाश स्वभाव से ही कुञ्चित था, कुछ लटें बाल-लता के समान हिल रही थीं, केश-पाश मानों निरन्तर छत्र-छाया के नीचे बढ़ने से अत्यन्त लम्बा काला तथा कोमल हो गया था और सूर्य-किरणों को मानो आलोक-हीन कर रहा था। यद्यपि शत्रु के विनाश से उसने धनुष चलाना छोड़ दिया था, तथापि चारों ओर उसके महान् गुणों[2] की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती थी।

---

१ हाथी को शासन में रखने के लिए बनाई गई एक तरह की लाठी।

२, तांत (विरोध में), सद्गुण (विरोध-परिहार में)।

मतवाले हाथियों की पूरी सेना उसके अधीन होने पर भी वह मद[1] से अछूता था। भूतिमान होने पर भी वह स्नेहमय था।[2] पार्थिव होने पर वह गुणमय[3] था। वह मदस्रावी हाथियों की सेना के ऊपर था। भृत्य होने पर भी अपमानित नहीं होने होने के कारण वह स्वामी के समान स्पृहणीय था। वह प्रभु की उस कृपा भूमि पर आरूढ़ था, जो एक ही स्वामी की भक्ति के कारण अचल थी तथा कुलांगना के समान दूसरों की पहुंच से बाहर थी। वह पण्डितों का अकारण बन्धु, भक्तों का अवैतनिक भृत्य, और विद्वानों का अक्रीतदास था।

राजकुल में प्रवेश करने पर दूर ही से उसने दोनों हाथ पृथ्वी पर टेक दिये और उसे मस्तक से छूते हुए प्रणाम किया। कुछ ही दूर पर उसके बैठने पर देव हर्ष ने उससे कहा—"आपने आर्य की हत्या का समाचार तथा मैं क्या करना चाहत हूं यह सविस्तर सुना। अतः चरने के लिये निकले हाथियों को जल्द मंगाइये। आर्य, के तिरस्कार की कष्ट-दायक आग प्रयाण का स्वल्प विलम्ब भी नहीं सह सकती है।" इस तरह कहे जाने पर स्कन्द गुप्त ने प्रणाम कर कहा—"स्वामी इस आदेश को पूरा हुआ समझें, स्वामि-भक्ति के कारण मुझे कुछ निवेदन करना है। देव इसे सुनें। आपने जो कुछ आरम्भ किया है वह पुष्प भूति-वंश-ज, कुलीनता, स्वाभाविक तेज दिग्गज की सूंड़ के समान लम्बे भुज-युगल तथा असाधारण भ्रातृ-प्रेम के अनुरूप हैं। जब सर्प नामक क्षुद्र कृमि भी अपमान नहीं सहते हैं, तो आप-सरीखे तेजस्वियों का क्या कहना है। केवल देव राज्यवर्धन के वृत्तान्त से देव ने दुर्जन का कुछ दुराचार देखा। प्रति ग्राम में, प्रति नगर में, प्रति द्वीप में, और प्रति दिशा में लोगों के वेश, आकार, और व्यवहार भिन्न होते हैं—यह स्वाभाविक है। इस लिए अपने देश के आचार के योग्य तथा स्वभाव से सरल हृदय में उत्पन्न होने वाली यह सर्व-विश्वासिता तजिये। असावधानी के दोष से आने वाली विपत्तियों के अनेक समाचार देव प्रति दिन सुनते ही हैं। पद्मावती नगरी में नागसेन नामक एक नागवंशी राजा था, मैना द्वारा उसकी मंत्रणा प्रकाशित की जाने पर उसका नाश हो गया।[4] सुग्गा द्वारा

---

१. गज-मद, गर्व।

२. भस्ममय होने पर भी वह तेजमय था, ऐश्वर्यवान होने पर भी स्नेही था।

३. पृथ्वीपरमाणु से बने होने पर भी वह तन्तुमय था, राजा होने पर भी गुणी था।

४—इस पारे में जिन कथाओं का उल्लेख है उनमें से अधिकांश, अर्थशास्त्र, कामन्दकीयनीतिसार, बृहत्संहिता, विष्णुपुराण तथा कथासरित्सागर में पाई जाती हैं।

श्रुतवर्मा का रहस्य सुने जाने पर उसकी श्री श्रावस्ती में नष्ट हो गई। मृत्तिकावती में सपनाते हुए स्वर्णचूड़ के रहस्य का प्रकाशन उस की मृत्यु का कारण हुआ। चूड़ामणि में प्रतिबिम्बित पत्र के अक्षर पढ़ कर सुन्दर सुनहला चंवर पकड़ने वाली स्त्री दवनेश्वर का भय हुई। विदूरथ की सेना ने कृष्ण-पक्ष की रात में खज़ाना खोद कर निकालते हुए मथुरा के अत्यन्त लोभी राजा बृहद्रथ को खुली तलवार के प्रहारों से मार डाला। माया-मातङ्ग के अङ्ग से निकल कर महासेन के सैनिकों ने वत्सपति (उदयन) को जो हाथियों के जङ्गल में घूमने का आदी था, कैद कर लिया। नर्तकों के बीच रह कर मित्रदेव ने अग्निमित्र के नृत्य-प्रिय पुत्र सुमित्र के सिर को तलवार से मृणाल की तरह काट डाला। अश्मक का राजा तन्त्री नामक बाजे का शौकीन था, संगीत-विद्या के छात्रों का वेष धारण कर दुश्मन के लोगों ने कद्दू की वीणा के भीतर रक्खे हुए तेज छुरों से उस राजा का सिर काट लिया। बल-प्रदर्शन के बहाने सारी सेना दिखा कर अनार्य सेनापति पुष्पमित्र ने अपने मूर्ख स्वामी मौर्य बृहद्रथ को पीस डाला। चण्डीपति आश्चर्यों (को देखने या जानने) के लिये बड़ा उत्सुक रहता था, कैदी यवनों के द्वारा बनाये गये आकाश-गामी यन्त्र यान से वह कहाँ पहुंचाया गया, पता नहीं। शिशुनाग-वंशी काकवर्ण का कण्ठ नगर के समीप तलवार से काटा गया। शुङ्ग-वंशी राजा (देवभूति) स्त्री-संग में अत्यन्त रत तथा काम-परवश था, उसके अमात्य वसुदेव के कहने से देवभूति की दासी की बेटी ने रानी का भेस धारण कर उस राजा का प्राणान्त कर दिया। मगध का राजा असुर-विवर का व्यसनी था, मेकलाधिप के मन्त्री अपरिमित रमणियों के मणि-नूपुरों की झनकार से रम्य गोधन-गिरि-सुरङ्ग द्वारा उसे हर कर अपने देश को ले गये। महा काल के उत्सव में प्रद्योत के छोटे भाई पौणकि कुमार, कुमार सेन को, जो नर मांस बेचने का समर्थन करने में उन्मत्त था, तालजङ्घ नामक वेताल ने मार डाला। अनेक अन्य पुरुषों द्वारा अपनी औषधियों के गुण प्रकाशित कर वैद्य-भेष-धारियों ने विदेह-राज के पुत्र गणपति को, जो रसायन रस के पीछे पागल था, राज-यक्ष्मा रोग उत्पन्न कर दिया। रानी के महल की दीवार में गुप्त रूप से पहुँच कर वीरसेन ने स्त्रियों के ऊपर विश्वास करने वाले अपने भाई कलिङ्गराज भद्रसेन की हत्या की। माता के बिछावन के तोशक के नीचे बैठ कर एक पुत्र ने (अपने पिता) करूषाधिपति दध्र की, जो दूसरे पुत्र का अभिषेक करना चाहता था, हत्या की। द्वारपाल से प्रीति करने वाला चकोरेश्वर चन्द्रकेतु अपने सचिवों सहित शूद्रक-दूत द्वारा एकान्त में

१—अहि-विवर, सर्प-शाला, पाताल, खान, सुरङ्ग।

मार डाला गया। मृगया में आसक्त चामुण्डी पति पुष्कर जिस समय गैंडों को मार रहा था उसी समय लम्बी डण्डी वाले नल के वन में छिपे चम्पाधिप के सैनिकों ने पुष्कर का प्राणान्त कर दिया। चारणों से अनुराग करने वाले मूर्ख मौखरि क्षत्रवर्मा को शत्रु-प्रयुक्त भाटों ने, जिनके मुख जय शब्द से मुखर थे मार डाला। शत्रु-नगर में पर कलत्रों में आसक्त शक पति को कामिनी-वेश में छिपे चन्द्रगुप्त ने परलोक भेजा। प्रमदाओं के कारण असावधान व्यक्तियों से होने वाले प्रमाद आपने सुने ही हैं। जैसे—विष-सने लावे से सुप्रभा ने अपने पुत्र के राज्य के लिये मदिरा से माते काशिराज महासेन की हत्या की। बनावटी कामावेश पैदा कर रत्नवती ने अयोध्या-पति विजयी जारूथ को दर्पण से, जिसका किनारा क्षुर-धार के समान (तीक्ष्ण) था, मार डाला। देवर से अनुराग करने वाली देवकी ने कान के नीले कमल से, जिसका मकरन्द विष-चूर्ण से लिप्त था, सुह्म-राज देवसेन का बध किया। सौत की डाह से रानी ने योग-चूर्ण-विष-वर्षी मणि-नूपुर से विरन्ति-राज रन्तिदेव की सत्य की। बिन्दु-मती ने केश-पाश में छिपाये शस्त्र से वृष्णि-वंशी विदूरथ को मार डाला। हंसवती ने मेखलामणि से जिसका मध्य विष से लिपा था, सौवीर-राज वीरसेन का वध किया। अपने मुख के भीतरी भाग को अदृश्य विष नाशक औषधि से लिप्त कर पौरवी ने विष-मिश्रित मदिराका कुल्ला पिलाकर पौरवेश्वर सोमककी हत्या की। इतना कह वह रुक गया और स्वामी का आदेश पालन करने के लिये निकल गया।

देव हर्ष ने राज्य की सारी व्यावस्था की। तब वह अपनी उस प्रतिज्ञा के अनुसार दिग्विजय के लिए प्रयाण करने का आदेश दे ही रहा था कि गतायु विपक्षी सामन्तों के घरों में तरह तरह के दुर्लक्षण फैलने लगे। चञ्चल काले मृगों की कतारें इधर उधर घूमने लगीं, जैसे समीपवर्ती यमदूतों की दृष्टियां हों। आंगन में मधुमक्खियां भनभनाने लगीं, जैसे घर से निकली लक्ष्मी के नूपुर बज रहे हों। अशुभ शृगालों ने जिन के खुले विकराल मुंहों से आग निकल रही थी, दिन में भी देर तक अमङ्गल-सूचक कर्कश शब्द किया। जंगली कपोत, जिनके पंख-कपि-शावक के कपोल के समान कपिल थे पड़ने लगे, जैसे उन्हें मुर्दे के मांस से रुचि उत्पन्न हो गई हो। उपवन तरुओं ने मानो विदा देते हुए एक ही साथ अकाल-कुसुम धारण किये। सभा-भवन की मूर्तियां कांपते हाथों से अपने पयोधरों को पीटते हुए सहसा रो उठीं। योद्धाओं ने दर्पणों में अपने को मस्तक-रहित देखा, उनके शिर मानो शीघ्र ही केश पकड़े जाने के भय से भाग गये थे। रानियों के मुकुटों में चक्र, शङ्ख, और कमक से चिह्नित पदाङ्क पड़े। दासियों के चंवर उनके हाथों से अकस्मात च्युत हुए। प्रणय-कलह में भी देर तक पीठ

दे कर वीरगण मानिनियों से विमुख हुए। हाथियों के गण्ड-स्थलों पर भौंरों का मद पीने का जमघट टूट गया। घोड़ों ने हरी नई घास के गुच्छे भी नहीं खाये, जैसे यम-महिष की गन्ध सूघ कर वे थक रहे हों। बालिकाओं ने ताल दिया और उनके चञ्चल कङ्कण बज उठे, तो भी सुस्त घरेलू मोर नहीं नाचे। प्रत्येक रात में उन्मुख होकर, मानों चन्द्र-हरिण को एक टक से देखते हुए, कुत्ते तोरण के समीप जोर जोर से अकारण ही भूंके। डराने के लिये अपनी तर्जनी अंगुली कंपाती हुई, मानों मृत व्यक्तियों को[1] गिनती हुई, नग्न स्त्री दिन भर रास्ते रास्ते घूमने लगी। घर के तल पर नये तृण उग आये, जो हरिण के खुर पर के कुटिल रोवें के समान तरंगित लगते थे

सैनिक नारियों के मुख-कमलों के प्रतिबिम्ब, जो वेणीबन्धन से युक्त थे तथा निरञ्जन आंखों के कारण जिनकी कान्ति पीली थी, पात्रों की मदिरा में दिखाई पड़े। पृथ्वी काँप उठी, जैसे अपने भावी अपहरण से चकित हो गई हो! शूरों के शरीर पर विकसित बन्धूक कुसुम के समान लाल रुधिर की वृष्टि हुई जैसे वध्य व्यक्ति को अलङ्कृत करने के लाल चन्दन-रस का अनुलेप हो। निरन्तर दीप्त होते स्फुलिङ्गों और अंगारों से तारों को जलाती हुई प्रज्वलित उल्काओं की राशि लगातार गिरती रही, जैसे नाशोन्मुखी श्री को अग्नि से घेर रही हो। पहले ही से प्रतिहारी की भांति घर घर से चंवर, छत्र, और व्यजन छीनती हुई प्रचण्ड आंधी चलने लगी।

श्री बाण भट्ट कृत हर्षचरित में राजप्रतिज्ञा वर्णन नामक षष्ठ उच्छवास समाप्त।

हर्ष चरित

सप्तम उच्छवास

१—कृतप्रतिज्ञ वीर के लिए पृथ्वी आँगन की वेदी है, सागर क्षुद्र सरित है, पाताल स्थली है, और सुमेरु पर्वत वल्मीक-स्तूप है।

२—बाहुशाली व्यक्ति के धनुष धारण करने पर पर्वत जो नहीं झुक जाते (हैं), यही आश्चर्य है। फिर बेचारे कीड़ों को शत्रुओं में गिनना ही क्या है?

अनन्तर कुछ दिनों के बीतने पर ज्योतिषियों ने सौ सौ बार प्रशस्त दिवस की अच्छी तरह गणना की। चारों दिशाओं के विजय-योग्य प्रयाण-लग्न निश्चित हुआ। शरत्कालीन मेघों के समान जल बरसाने वाले चांदी और सोने के घड़ों से हर्ष ने

१. जिनकी आयु पूरी हो चुकी थी।

स्नान किया। परम भक्ति से भगवान शिव की पूजा की। अग्नि में हवन किया, जिस की शिखायें दाईं ओर होती हुई ऊपर उठती थीं। द्विजों को चांदी सोने और रत्नों के सैकड़ों तिल-पात्र तथा करोड़ों गायें, जिन के खुर और सींगों की नोकें सुवर्ण-पत्र-लताओं से मढ़ी थीं, दीं। बिछे हुए बघछाले के आसन पर बैठ कर पहले अपने शस्त्रों का लेप किया और फिर अपने यश के समान धवल चन्दन ले पांवों तक शरीर का। अपने भोग्य दुकूल, जो राजहंस-मिथुनों के चिह्न से युक्त थे, पहने, शिर पर सफेद फूलों की मुण्डमाला बनाई, जैसे परमेश्वर[1] का चिह्न चन्द्र-कला हो। कान पर गोरोचना से लिप्त हरी दूब रखी जैसे कान के आभूषण मरकत मणि की किरणें हों। प्रकोष्ठ पर मुद्रा-वलय के साथ यात्रा काल का मङ्गल कङ्कण धारण किया। पूजित और प्रसन्न पुरोहित के हाथ से छीटे जाते हुए जल-कणों से अपने शिर को सिक्त किया। बहुमूल्य वाहन भेज कर राजाओं के बीच आभूषण बांटे, जिन के प्रचुर रत्नों के आलोक से दिशायें लिप्त होती थीं। दुःखी दरिद्रों और कुलपुत्रों को प्रसन्नतापूर्वक दान दिया। कैदियों को छोड़ दिया। अपने भुज-स्तम्भ को, जो उस समय का[2] स्मरण कर फड़कते हुए अपने को मानो निवेदन कर रहा था, अठारह द्वीप जीतने के काम में नियुक्त किया। सेवकों के समान सभी सुलक्षण भी स्पर्धा करते हुए आगे होने लगे। प्रमुदित प्रजा ने 'जय जय' शब्द किया और वह घर से ऐसे निकला, जैसे ब्रह्मा ब्रह्माण्ड से सत्य-युग की स्थापना के लिए।

नगर के निकट ही सरस्वती नदी के किनारे तृण के बने बड़े घर में वह ठहर गया। वहां ऊंचा तोरण उठाया गया था, वेदी पर पल्लव से भूषित सुवर्ण-कलश रखा था, वन-मालायें बंधीं थीं, धवल ध्वजायें उड़ रहीं थीं, सफेद वस्त्र पहने हुए लोग घूम रहे थे, द्विज पाठ कर रहे थे। जब वह वहां ठहरा हुआ था, तो गांव के पटेल ने सभी किरानियों के साथ आ कर सफल-शासन देव आज ही शासन का श्रीगणेश करें। यह कहते हुए सोने की एक नई मुहर, जिस पर वृषभ का चिन्ह था, अर्पण की। राजा ने उसे ले लिया। उस के कर-कमल से पृथ्वी पर पहले ही से रक्खे हुए मृत्पिण्ड पर मुहर अधोमुखी हो कर गिर पड़ी। और सरस्वती-तीर के कुछ-कुछ सूखे कोमल-पङ्क पर अक्षरों की पंक्तियां स्पष्ट अङ्कित हुईं। अमङ्गल की आशङ्का से जब परिजन विषाद करने लगे तो राजा ने सोचा—मूर्खों की बुद्धि तत्व को नहीं देखती। एक शासन की मुहर से अङ्कित पृथ्वी आप की होगी, लक्षण

१ राजा; शिव।

२ प्रतिज्ञा-समय।

से इस तरह सूचित होने पर भी गंवार कुछ और ही समझ रहे हैं।' इस महा लक्षण का इस तरह मन से अभिनन्दन कर उस ने हजार हलों से नापे गये सौ गांव ब्राह्मणों को दिये और उस दिवस को वहीं बिताया। रात होने पर सभी नृपों का सम्मान कर वह सो गया।

अनन्तर समस्त प्राणियों के सोये रहने से निःशब्द तीसरे पहर के बीतने पर प्रयाण-पटह बजाया गया, जिस की आवाज दिग्गज के बढ़ते हुए गर्जन के समान गम्भीर थी। एक मुहूर्त ठहर कर फिर से प्रयाण-कोशों की संख्या बताने वाली आठ स्पष्ट चोटें जोर-जोर से पटह पर दी गईं।

कूच के समय पटह, नान्दीक, कुञ्ज, नगाड़े और शंख बजे। धीरे धीरे सैनिकों का कलकल बढ़ने लगा। कर्मचारीगण परिजनों के उठाने में व्यापृत हुए। दुघण की तेज चोट तथा ढोल बजाने की लकड़ियों के कोलाहल से दिशायें भर गईं। सेना पतियों ने कुल-पुत्रों को इकट्ठा किया। लोगों द्वारा जलाये गये सैकड़ों उल्मुकों के आलोक से रात्रि का अन्धकार लुप्त हो गया। पहरा करने वाली दासियों की पद-ध्वनि से प्रेमी-युगल जगाये गये। सेनापतियों के रूखे आदेश से उन्निद्र महावतों की आंखें खुल गईं। जगे हुए हाथियों ने हस्ति-शालायें खाली करदीं। सो कर उठे हुए घोड़ों ने कंधे पर के बाल हिलाये। गूंजते पड़ाव में मुखर खनित्रों से पृथ्वी पर के बन्धन काटे गये। कील उखाड़े जाने से जंजीरें झनझनाईं। हटाई जाती हुई बन्धन-शृंखलाओं की आवाज से उत्ताल तुरंगों ने अपने खुर-पुट कुटिल कर लिये। महावतों ने मद-स्रावी हाथी खोल दिये, जिन की बन्धन-शृंखलाओं के खनखन निनाद से दशों दिशायें बिलकुल भर गईं। घास के पूलों के प्रहार से हाथियों की पांसुल पीठें पोंछी गईं और उन पर विकसित चमड़े पसारे गये। घर की चिन्ता करने वाले नौकरों ने तम्बू कनात शामियाने, पर्दे और चंदोवे समेटे। चमड़े के चिपटे थैले कीलों से भरे गये। भण्डा-रियों ने भण्डार की वस्तुएं इकट्ठी कीं। बहुतेरे हथवाहों को भण्डार ढोना पड़ा। सामन्तों के निवास कोश-कलसों से खचाखच भरे थे, ये महावतों द्वारा निश्चल किये गये अनेक हाथियों पर लादे गये। यात्रा-कुशल दासों ने दुष्ट हाथियों के ऊपर तेजी से सामान बोझे। पीछे पड़ी हुई तोंद वाली पराधीन कुटनी को दोनों ओर झुकते हुए नौकरों ने हाथों के सहारे कठिनाई से खींचा, इससे लोग हंस पड़े। रंगबिरंगे पलानों के रस्से कसे जाने से जिन बहुतेरे बड़े बड़े मतवाले हाथियों का स्वच्छन्द अङ्ग-सञ्चालन रुक गया था, वे गरजे। झुण्ड के झुण्ड हाथियों की घण्टाओं के टंकार से कानों को

ज्वर चढ़ आया। पीठ पर बोरे लादे जाने के क्लेश से ऊंट बोल उठे। कुलीन राजपुत्रों द्वारा भेजे गये कुप्रयुक्त व्यक्तियों से कुलीन कुलपुत्रों की स्त्रियों की सवारियां भर गईं। महावत यात्रा-काल के प्रवञ्चित नये सेवकों की खोज में थे। राज-प्रसाद से प्रसिद्धि पाये हुए पैदल सैनिक राजा के प्रिय श्रेष्ठ घोड़े ले गये। सुन्दर सैनिकों ने अग्रगामी सैनिकों की उनकी शोभा के लिए गाढा लेप लगाया। अश्वपालों के पलानों पर लकड़ी की बनी मृगाकृति, घंटी, और लाठी लटक रही थी, तथा उर-पट्टिका बंधी थी। लगाम लगाने में फंसे हुए साईसों के घोड़ों के बीच (मङ्गल-सूचक) वानर लाकर रखे गये। साईसों ने प्रभातकाल में खाने योग्य अंकुर, जो आधा खाया जा चुका था, खींच लिया। आपस में बोलने से घास वालों की आवाज बढ़ गई। यात्रा-काल में शीघ्रता से घूमते हुए तरुण तुरंगमों ने जिन के मुंह ऊपर उठे हुए थे, कई स्तबलों को तोड़ दिया। सज्जित हथिनियों के महावतों की पुकार पर सुन्दरियों ने सत्वर उन (हथिनियों) के मुखों पर (सिन्दूर आदि का) लेप लगाया। हाथियों और घोड़ों के कूच करने पर दौड़ कर आये हुए आस पास के छोटे लोगों ने बचे हुए अन्न की ढेर लूटी। वस्त्र-राशि से लदे गधे चल पड़े[1]। पहियों से चीत्कार करती हुई गाड़ियां प्रहृत मार्ग पर आईं। बैलों पर सहसा बर्तन लादे गये। बलवान् बैल, जो पहले ही भेजे गये थे, पास के घास के लोभ से विलम्ब कर रहे थे। महासामन्तों के रसोई के सामान पहले भेजे गये। पताका-धारी सैनिक आगे आगे दौड़े। सैकड़ों प्रिय वचन बोल कर सैनिक गण सङ्कीर्ण कुटियों के बीच से निकल पाये। हाथियों के पैरों से दलित कुटियों से निकल लोगों ने ढेलों से महावतों को मारा, जिन (महावतों) ने पास के लोगों को गवाह रखा। सैन्य-संघर्ष से नष्ट हुई तृण की कुटियों से छोटे छोटे परिवार भाग गये। जब कलकलरूप उपद्रव के कारण दौलत से लदे बैल दौड़ पड़े तो बनिये भी उनके पीछे दौड़ने लगे। आगे जाने वाले दीपों के आलोक से लोगों की भीड़ कम होने पर अन्तःपुर को ढोने वाली हथिनियों ने प्रस्थान किया। घुड़सवारों ने देर करते कुत्तों को पुकारा। वेगपूर्वक पांव पड़ने से तथा निश्चल हो कर जाने से आराम अनुभव करते हुए वृद्धों ने ऊंचे तङ्गण घोड़ों के गुणों की स्तुति की। टट्टुओं पर से गिरने के कारण दाक्षिणात्य अश्वारोही दुःखी थे[2]। संसार धूल से भर गया।

राज-द्वार सामन्तों से भर गया। प्रत्येक दिशा से वे हथिनियों पर चढ़ कर आ रहे थे। महावत सुवर्ण-पत्रों से चित्रित धनुष ऊपर उठाये हुए थे। बीच में बैठे स्वजन

१—या, इधर उधर घूमते हुए लड़के गधों के पीछे पीछे चल पड़े।

२—दक्षिण देश में टट्टू नहीं होते हैं।

तलवार पकड़े हुए थे । तमोली चंवर डुला रहे थे । पीछे में बैठे हुए परिजनों के जिम्मे तरकस-बन्द तीर थे । पलान पत्र-लताओं से कुटिल लगते थे और सोने के नलों[1] से शोभित थे । पलान के रस्से से उपधान निश्चल बंधा था, जिस से वे स्थिर हो कर बैठे थे । रकाबों के झूलने से पांव के कड़ों में खचित रत्नों का शब्द बढ़ रहा था । बेल-बूटेदार रेशमी कपड़े से उन की टांगें उचित स्थान पर ढकी थीं । मटियाले कपड़े से उनके भूरे पांव रंग-बिरंगे लगते थे । भ्रमर सदृश काले और चिकने वस्त्र-अञ्चल के कारण सफेद रङ्ग निखर उठता था । गोरे शरीरों पर विराजमान काले हीरों से उन के कञ्चुक[2] काले लगते थे । वे चीन के बने चोलक[2] पहने हुए थे । उन के स्तवरकों[2] और वारबाणों[2] पर विशुद्ध मोतियों के गुच्छे लगे थे । विविध रंगों से उनके कूर्पासक रंग-बिरंगे लगते थे उन की चादरों की कान्ति सुग्गे के पंख की सी थी । व्यायाम से कृश हुए कटि-प्रदेशों में सुन्दर शस्त्र घुसे थे । तेज गति के कारण हिलती हार-लताओं में उलझे हुए चञ्चल कुण्डलों को छुड़ाने के लिए परिजन दौड़ पड़े । सोने के कर्ण-फूलों से टकराते हुए कर्ण-भूषण मुखर थे । कान के नील कमलों के नाल उन की पगड़ियों से दबे थे । कुंकुम से रंगे कोमल चादरों से उनके मस्तक ढके थे । शिर पर के रेशमी वस्त्र चूड़ा-मणि के खण्डों से खचित थे । शिर पर मंड़राते हुए भ्रमर-पटल मोर के पंख हो रहे थे । उनके तरुण हाथियों द्वारा ढोये जाते हुए हौदे मार्ग में रंग-बिरंगे हो गये थे । उनके उड़ते हुए चञ्चल और भयानक सैनिकों से, जिन के आगे चंवर चल रहे थे और जो कार्दरङ्ग देश के चित्रविचित्र ढालों से मण्डित थे, पृथ्वी भर गई । उनके उछलते हुए सैकड़ों काम्बोज घोड़ों के सुवर्ण-आभूषणों की झनकार से दिशाएं मुखर हो गईं । निर्दयतापूर्वक पीटे जाते हुए शत शत नगाड़ों की तीक्ष्ण ध्वनि से उन्होंने लोगों के कान बहरे कर दिये । उन सामन्तों के नाम घोषित हुए और उन्मुख पैदल सैनिकों ने उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा की ।

भगवान सूर्य के उदय होने पर राजा के सज्जित होने के समय की घोषणा करने वाला सङ्केत-शङ्ख बार बार बजा । कुछ ही देर के बाद राजा अपने प्रथम प्रयाण में ही दिग्विजय करने के लिए निकल पड़ा । वह एक हथिनी पर सवार था, जो चलने के कारण चञ्चल कानों के हिलने-डुलने से मानों दिग्गजों को एकत्र कर रहा था । उसके ऊपर एक मङ्गल-आतपत्र था, जिस का दण्ड वैदूर्यमणि का था, जिस के ऊपर

१—'नल' से तीर या तरकस का बोध हो सकता है ।

२—एक तरह का पहनावा ।

पद्मराग के टुकड़े जड़े थे, और जो मानो सूर्योदय देखने के कोप से लाल हो रहा था। कदली के भीतरी भाग से भी कोमल कञ्चुक, जो नये रेशम का बना था, देह पर पहनने से वह द्वितीय सर्पराज के समान लगता था। क्षीर-सागर के फेन-पटल-सदृश धवल वस्त्र धारण करने के कारण[1] वह अमृत-मथन-दिवस-सा जान पड़ता था! बालक होने पर भी वह इन्द्र का समकक्षी हो गया था, जैसे बाल पारिजात-पादप नन्दन-बन में लगा हो। चलते चंवरों से हिलते कर्ण-कुसुमों की रज से, मानो सकल भुवनों को वश में करने के चूर्ण से, वह दिशाओं को लिप्त कर रहा था। सामने की चूड़ामणि में जिस का सुनहला प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, उस उगते हुए सूर्य को भी वह मानो अपने तेज से पी रहा था। सिन्दूर-सदृश ताम्बूल-रस से उस की ओष्ठ-मुद्रा इतनी लिप्त थी कि वह अपने सभी द्वीप मानो अनुराग को दान कर रहा था[2]। चमकती मुक्तावलियों से (चारों ओर) किरणें निकल रही थीं, इस तरह वह दिशाओं से भी मानो (किरणरूपी) चंवर पकड़वा रहा था। वह अपनी भ्रूलता से, जिस का त्रिभाग राजाओं के देखने में ऊपर उठा था, तीनों लोकों को मानो कर देने के लिए अनायास आज्ञा दे रहा था। वह अपने लम्बे बाहु-प्राकार से सातों सागररूपी महा-गर्तों को मानो रक्षा करने की इच्छा से घेर रहा था। क्षीर-सागर का मानो सारा माधुर्य लेकर उठी हुई लक्ष्मी ने उसका गाढ़ आलिङ्गन किया। कुतूहल-वश सैनिकों ने अपनी हजारों आंखें उठाकर उसका इस तरह पान किया जैसे वह अमृतमय हो। वह अपने गुणों के भार से राजाओं के स्नेहार्द्र हृदयों में डूब रहा था और अपने सौभाग्य-रस से दर्शकों को लेप रहा था। इन्द्र[3] के समान वह अग्रज-वध रूपी कालिमा धोने को उत्सुक था। पृथु के समान पृथिवी को परिशुद्ध करने के विचार से उसने सभी भूभृतों का उत्सारण किया[4]। सूर्य की किरणों के समान सहस्रों दण्ड-धारी पुरुष 'जय जय' शब्द करते हुए उसके आगे आगे जा रहे थे और जन-समूह को हटा रहे थे। वे कर्तव्य-पालन करने में निपुण थे, अतः उनके पांव तेजी से चल रहे थे। वे

१—क्षीर-सागर के फेन-पटल से धवल आकाश वाला (दिवस के) पक्ष में।

२—प्राचीन समय के दान-पत्र सिन्दूर की मुद्रा से चिह्नित रहते थे। अनुराग = लालिमा, भक्ति।

३—इन्द्र ने त्वष्टृ के पुत्र वृत्र की हत्या की थी, जो ब्राह्मण होने के नाते उसका अग्रज था।

४—सभी राजाओं को सञ्चालित किया (हर्ष के पक्ष में); सभी पर्वतों को हटाया (पृथु के पक्ष में)।

व्यवस्था की रक्षा करने में निष्ठुर थे । उन्होंने भय से भागते हुए लोगों की भीड़ से ओझल हुई दशों दिशाओं को मानो पकड़वा दिया । फहराती हुई अगणित पताकाओं से हवा का चलना बन्द करके उन्होंने उसे भी मानो विनय सिखाई । द्रुत-गामी पांवों से उठे हुए धूलि-पटल से ढकी सूर्य-किरणों को भी उन्होंने मानो हटा दिया। सोने की बनी वेत्र-लताओं के आलोक से तिरस्कृत दिवस को भी उन्होंने मानो दूर किया ।

चलने के कारण सुवर्ण-मुकुटों की ढीली हुई मणियों की किरणों पड़ने से जिनके शिर सुन्दर लगते थे और जिनके कुसुम-शेखरों से पराग झड़ रहा था, ऐसे राजाओं ने जब डरते हुए चित्त से अपने शरीर झुका कर प्रणाम किया, तो उनकी प्रभावर्षी चूड़ामणियों की किरणें ऊपर नीचे और अगल-बगल फैल गईं मानो चाष नामक पक्षियों की पंक्तियां सु-शकुन सम्पादन करने के लिये चलीं । जब ये (किरणें) घरेलू मोरों के समान मेघ-सदृश धूलि-पटल से ढके आकाश में उड़ीं, तो जान पड़ा जैसे दिक्-पाल अपने द्वारों पर कल्प-पादप के कोकल-पल्लवों की वन्दन मालाएँ बांध रहे हों । राजाओं द्वारा प्रणाम किये जाते हुए वीरों के वीर हर्ष ने उन के सम्मानमय प्राण यथोचित प्रणय-दान से, दृष्टि-त्रिभाग से, कटाक्ष से, समग्र-दृष्टि से, भ्रू-भङ्गिमा से, मन्द मुसकान से, परिहास से, वक्रोक्ति से—कुशल-प्रश्न से, प्रति-प्रणाम से, भ्रू-सञ्चालन से तथा आज्ञा-दान से—मानो खरीद लिये ।

राजा के प्रस्थान करने पर नगाड़ों की तेज प्रतिध्वनि दिशाओं में जहां तहां फैल गई, जैसे कलकल से डरे हुए दिग्गजों का सूत्कार हो । दिग्गजों के प्रति क्रुद्ध हाथियों के तीन तीन अवयवों से मद-प्रवाह निकले, जो अलि-कुल से काले होकर यमुना की सहस्र धाराओं के समान दीखते थे । सिन्दूर-राशि से सूर्य-मण्डल के अरुण हो जाने पर चक्रवाक आदि पक्षियों को संध्या होने की आशङ्का हुई । हाथियों के कानरूप करताल के शब्द से, जो भौंरों के कोलाहल से बढ़ गया था, दुन्दुभियों की ध्वनि तिरोहित हो गई । बार बार डुलाया जाता चामर-समूह सचराचर विश्व को निगल गया । घोड़ों के हांफने से निकले फेन-पिण्डों से, जो सिन्धुवार फूलों की माला के समान सफेद थे, समूचा अन्तरिक्ष सफेद हो गया । सोने के ऊँचे दण्ड वाले आत-पत्रों ने, जो तगर फूलों के गुच्छों के ढेर समान सफेद थे तथा जिनके पारस्परिक संघर्षण से आठों दिशाएँ अदृश्य हो गई थीं, दिवस को मानो पी लिया । धूलि रूप रात्रि से बन्द हुआ दिवस मुकुट-मणियों के (प्रभात कालीन) अभिनव आलोक से खिल उठा । चांदी और सोने के बजते हुए अश्व-आभरणों के निनाद से दिशाएं बधिर हो गईं । हाथियों ने मानो शत्रु का प्रतापानल निर्मूल करने के लिए मद-जल के गर्म

छींटों से दिशाओं को सिक्त किया। चूड़ामणियों की किरणों में, जो बिजली के समान चञ्चल थीं, आंखों की खुलने की शक्ति हरण करली। अपनी सेना से स्वयं राजा भी विस्मित हुआ। चारों ओर दृष्टि-पात करते हुए उसने शिविर से निकलते सैन्य-समूह को देखा, जो युगारम्भ में विष्णु के उदर से बाहर होते जीव-लोक के सदृश था, अगस्त्य के मुख से निकल कर संसार को प्लावित करने वाले सागर के समान था, अर्जुन के हजारों बाहु-दण्डों से दबाये जाने के बाद फिर से उन्मुक्त होकर सहस्रधा चलते हुए नर्मदा-प्रवाह के समान था। इसी बीच आपस में तरह तरह का आलाप हो रहा था। जैसे –'तात, आगे बढो।' 'महाशय, देर क्यों करते हो।' 'घोड़ा दौड़ रहा है।' 'भद्र, लंगड़े की तरह क्यों चलते हो जब कि ये आगे चलने वाले वेग-पूर्वक हमारे ऊपर आ रहे हैं।' ऊंट को क्यों हांक रहे हो ? अरे निर्दय, क्या सोये हुए इस छोटे बच्चे को नहीं देखते हो ?' 'वत्स, रमिल, समीप आओ जिससे धूल में नष्ट न हो जाओ।' 'देखते नहीं हो कि सत्तू का बोरा चू रहा है? ऐसी शीघ्रता क्यों करते हो ?' 'बैल, रास्ता छोड़कर घाड़ों के बीच दौड़ रहे हो।' धीवर-कन्या, क्यों आ रही हो ?' 'हथिनी, तुम हाथियों के मार्ग पर जाना चाहती हो।' अङ्ग, चने का थैला तिरछा होकर गिर रहा है, मेरी बात नहीं सुनते हो।' 'कुमार्ग से गढे में उतर रहे हो।' 'स्वेच्छाचारिणी, (अब) सुख से रहो, सौवीरक, घड़ा फूट गया।' 'मन्थरक, रास्ते में ऊख खाओगे, बैल को हांको।' 'चेट, कबतक बेर चुनोगे, दूर जाना है।' 'द्रोणक; क्या आज ही दौड़ रहे हो; यात्रा लम्बी है।' 'एक दुष्ट के अभाव में हमें ठहरना होगा।' 'आगे का रास्ता ऊंचा-नीचा है; स्थावरक, गुड़ का बर्तन फोड़ना नहीं।' 'गण्डक, चावल का बोझ बहुत भारी है, बैल नहीं ढो सकता है।''दास, उर्द के उस खेत में हंसिये से एक पूला घास जल्द काट लो। हम लोगों के चले जाने पर घास की बात कौन जान सकता है ?' 'धव, बैलों को रोक लो; इस खेत पर रखवारे हैं।' 'गाड़ी पीछे पड़ गई, एक अच्छा-सा धुरंधर बैल जुए में लगाओं' 'यज्ञपालित, तुम स्त्रियों को रौंद रहे हो, क्या तुम्हारी आंखें फूट गई ?' 'अरे हत-बुद्धि महावत हाथी की सूंड पर खेल रहे हो ?' 'अरे मतवाले जन्तु, इसे कुचल दो।' 'भाई, कीचड़ में फंस रहे हो ?' 'दीन-बन्धो, इस बैल को पङ्क से उबारो।' 'माणवक इधर आओ, हाथियों के इस घने झुण्ड में निकलने का रास्ता नहीं है।'

कहीं बचे हुए प्रचुर शस्य को स्वेच्छा से मलकर अनायास निकाले गये अन्न से पुष्ट क्रीड़ा-प्रिय हथवाहे, अविवाहित, मूर्ख, गर्दभ-दास, जन-परिचारक, चोर, दास, धूर्त, अश्व-रक्षक और वेश्या-पुत्र, किलकिलाते हुए, सैन्य की प्रशंसा कर रहे थे। कहीं

दीन असहाय कुल-पुत्र नीच ग्रामीणों से कष्ट-पूर्वक प्राप्त दुबले बैलों पर पाथेय ढोने की थकावट से ऊबकर स्वयं ही अपने घरेलू सामान लिये हुए थे। और किसी प्रकार यह यात्रा समाप्त हो, तृष्णा पाताल-तल में चली जाय, प्राणियों का जन्म न हो, यह सेवा हमारा मङ्गल करे, दुःख-राशि सैनिक-वृत्ति से विदा कहते हुए सैन्य की निन्दा कर रहे थे। राजा के भार ढोने वाले नौकर पंक्ति-बद्ध होकर अत्यन्त तेजी से जा रहे थे, जैसे प्रखर जल-धारा पर चलती नावों में वे बांध दिये गये हों, उनके काले और कठोर कंधे पर भारी दण्ड रक्खे थे, वे सोने के पाद-पीठ, करङ्क, कलश, पिकदान और स्नान-द्रोणी लिए हुए थे तथा समीपवर्ती राजा के सामान ढोने के गर्व से उद्धत होकर सभी को निकाल रहे थे। पाक-शाला की सामग्री ढोने वाले आगे के लोगों को हटा रहे थे, उन्होंने शूकर-चर्म से छाग बांध रक्खे थे, उनके कन्धों से हरिण के अग्र-भाग तथा चटकाओं के गुच्छे लटक रहे थे, वे बच्चे खरगोश, शाक, तथा वंशांकुर के संग्रह लिए हुए थे, उनके जिम्मे गोरस के भाण्ड थे, जिन के मुख सफेद कपड़े से ढके थे और जो ऊपर में आर्द्र मुद्रा लगाई जाने से सुरक्षित थे, वे लोहे के चूल्हे, तापक, तापिका, हस्तक (शूल), तांबे के बर्तन, कड़ाह और छोटे भाण्ड ढो रहे थे। कहीं पग-पग पर गिरते हुए दुर्बल बैलों को ले चलने में नियुक्त किये गये मुखर नौकर 'क्लेश हमें हो रहा है और फल-काल में दूसरे ही धूर्त उपस्थित होंगे'—कहते हुए सभी कुल-पुत्रों को खिन्न कर रहे थे। कहीं राजा को देखने के कुतूहल से दोनों ओरसे ग्रामीण जनता तेजी से दौड़ आई, रास्ते के गांवों के आग्रहारिक[1] मूर्ख, जिनके आगे बूढ़े 'महत्तर' जलपूर्ण कलश उठाये हुए थे, दही, गुड़, खांड, फूल और बर्तन का उपहार तथा धन से भरे बक्स लेकर जब वेगपूर्वक निकट आये, तो कुछ और प्रचण्ड दण्ड-धारी पुरुषों द्वारा डराये जाने पर भागकर दूर जाने पर भी गिरते-पड़ते, राजाकी ओर, दृष्टि गड़ाये, पहलेके प्रान्तीय शासकोंके काल्पनिक दोष प्रकट करते हुए भूतपूर्व सैकड़ों 'आयुक्तक' अधिकारियों की प्रशंसा करते हुए तथा 'चाटों'[2] के चिरंतन जा रही थी। राजा द्वारा रक्षक नियुक्त किये जाने से संतुष्ट होकर कुछ लोगों ने 'राजा साक्षात् देवता हैं' कहते हुए स्तुति की। पका हुआ शस्य काटे जाने से विषाद प्रकट करते हुए कुछ लोग खेत के शोक से सकुटुम्ब बाहर निकल आये अपराध बताते हुए उन्होंने धूलि-पटल उठाया। कहीं एकान्त में चलते हुए घुड़सवार गौड़-राज के आगमन की चर्चा कर रहे थे, जिसकी आशङ्का से शस्यरक्षाकी मांग की

१—'अग्रहार' दान का उपभोग करनेवाले।

२—धूर्त, अस्थायी सैनिक।

और प्राण-विनाश की पीड़ा अनुभव करते हुए परिताप के कारण भय छोड़ कर राजा कहां है ? कहां का राजा ? या कैसा राजा ? कहते हुए नरनाथ की निन्दा करने लगे। तेजी से चलने वाले प्रचण्ड-दण्ड-धारी पुरुष इधर-उधर दौड़ते हुए खरगोशों को, जिनसे सेना में कलकल उत्पन्न हो गया, खोज खोजकर ढेलों की तरह पग-पग पर पीट रहे थे। एक साथ दौड़ कर आये हुए खरगोशों को लोगों ने एक-एक करके पकड़ लिया, अनेक जन्तुओं की टांगों के बीच से निकलने में निपुण शशक वक्रचाल से बहुतेरे घुड़-सवारों के कुत्तों को ठग कर ढेलों, लाठियों, कोणों, कुठारों, कीलों, कुदालों, खन्तियों, दात्रों और यष्टियों की वृष्टि होती रहने पर भी अपने आयु-बल से निकल गये। झुण्ड के झुण्ड साईसों के दौड़ने से धूल का बादल उड़ रहा था; भूसे और धूल से धूसर हुई उनकी जांघें घास के जालों से ढकी थीं, उनके पुराने पलानों के एक छोर से हंसिये लटक रहे थे, उनके ढीले और मैले कम्बल पुराने ऊन के टुकड़ों के बने थे, वे स्वामियों की कृपा से प्राप्त फटे चिथड़े और कुर्ते पहने हुए थे। एकान्त में चलते हुए घुड़सवारों का एक दल आगामी गौड़-विग्रह की चर्चा कर रहा था। कहीं पङ्किल स्थानों को भरने का आदेश पाकर सभी लोग तृणके पूले काट रहे थे। कहीं वृक्ष के शिखर पर चिल्लाते हुए झगड़ालू ब्राह्मण नीचे खड़े सिपाहियों के बेतों से डराये जा रहे थे। कहीं अन्न के कवलों से आकृष्ट ग्रामीण कुत्ते जञ्जीरों में बाँधे जा रहे थे। कहीं आपस की जीत की होड़ से उद्धत राज-पुत्र घुड़-दौड़ कर रहे थे।

अनेक वृत्तान्तों से सैन्य कुतूहल-जनक था, प्रलय-सागर के समान संसाररूप ग्रास ग्रहण करने के लिए जा रहा था, पाताल के समान महा-भोगियों की रक्षा के लिए उत्पन्न हुआ था, कैलास के समान परमेश्वर के रहने के लिए सृष्ट हुआ था। प्रजापतियों के चारों युग सृजन करने के कोश के समान उनमें सभी प्राणियों के प्रकार दिखाई पड़ते थे। क्लेश-पूर्ण होने पर भी तप के समान वह कल्याण-कारी था।

ऐसा दृश्य देखता हुआ हर्ष शिबिर पर पहुंचा। अपने आवास में आकर उसने समीप बैठे हुए माननीय बाहुशाली राजकुमारों के ये उद्योग-द्योतक वार्तालाप सुने—"मांधाता ने दिग्विजय का रास्ता बताया। रघु ने, जिसके रथका वेग रुका नहीं अल्प कालमें ही जगत्को शान्त किया। धनुषकी सहायतासे पाण्डुने क्रमागत बल, कुलीनता और धनके मदसे उद्धत राजाओंको कर-द बनाया। चीन देशको पार करके अर्जुनने राजसूययज्ञ सम्पादन करनेके लिए हेमकूट पर्वतको, जिसके कुञ्ज क्रुद्ध गन्धर्वोंके धनुषों की नोकोंके टङ्कारसे गूंज रहे थे, पराजित किया। पराक्रमी व्यक्तियोंकी विजयमें

केवल सङ्कल्प की देर होती है। हिमावृत हिमालयकी आड़में रहने पर भी दुर्बल (किन्नरराज) द्रुमने युद्धके भयसे किङ्करकी भाँति कौरवेश्वरका कर वहन किया। पहलेके राजा अतिविजयकी इच्छा नहीं रखते थे, इसीलिए प्राग्ज्योतिषाधिपति भगदत्त, दन्तवक्र, क्राथ, कर्ण, कौरव, चेदिराज शिशुपाल, म्लेच्छ-पति शाल्व, जरासन्ध, सिन्धुराज जयद्रथ प्रभृति अल्प भू-भागके ही नृपति हुए। राजा युधिष्ठिर जिसने अर्जुनकी विजय द्वारा संसारको कम्पा दिया था, सन्तोषी था, क्योंकि समीपमें ही स्थित किन्नर-राज्यको उसने सह लिया। चण्डकोष आलसी था, जिसने पृथ्वीको भी जीतकर स्त्री-राज्यमें प्रवेश नहीं किया। हिमालय और गन्धमादनका अन्तर अत्यल्प है, उत्साही व्यक्तिके लिए तुर्क देश हाथ भर है, फारस देश बित्ताभर और शक-स्थान खरगोशका एक पग। प्रतिरोध करनेमें असमर्थ पारियात्र देशकी युद्ध-यात्रा आसान है। शौर्यरूप शुल्कसे दक्षिणापथ सुलभ है। दक्षिण-समुद्रकी तरङ्गोंसे आनेवाली हवासे हिलती चन्दन-शाखाओंके सौरभसे जिसकी गुहाएँ रमणीय हैं उस दर्दुर पर्वतके निकट ही मलयाचल है और मलयाचलसे लगा हुआ ही महेन्द्र पर्वत है। घरके द्वारपर दोनों ओर खड़े सामन्तोंको हर्षने अपनी भ्रू-लतासे सम्मानपूर्वक विसर्जित किया। तब भीतर जाकर वह नीचे उतरा और बाहरी सभा-मण्डपमें रखे आसनपर चढ़ा। लोगोंको हटाकर बस कुछ देरतक वहाँ बैठा रहा।

कुछ ही देर में धरती पर अपने दोनों हाथ रख कर प्रति हार ने निवेदन किया "देव, आसाम के राजकुमार ने हंसवेग नामक अपना अन्तरङ्ग दूत भेजा है। वह तोरण पर खड़ा है। राजा ने सादर आदेश दिया—"उसे शीघ्र प्रवेश कराओ"। राजा के आदर के कारण वह चतुर प्रतिहार स्वयं ही बाहर गया। अनन्तर प्रचुर उपहार ढोने वाले पुरुषों के बड़े झुण्ड से अनुसृत होते हुए हंसवेग ने सविनय राज-मन्दिर में प्रवेश किया। सुन्दर पूर्णता के कारण आंखों को आनन्द देने वाली आकृति से वह अपनी गुण-गरिमा को मात कर रहा था। दूर ही से पांच अङ्गों (हाथ, पाँव, मस्तक) से आँगन का आलिङ्गन करते हुए उस ने प्रणाम किया। 'आओ, आओ' इस तरह सम्मान-पूर्वक पुकारे जाने पर वह दौड़ कर निकट गया और पाद-पीठ पर अपने ललाट को रगड़ा। राजा द्वारा उस की पीठ पर हाथ रखे जाने पर उस ने फिर समीप जा कर प्रणाम किया। नरेन्द्र की स्निग्ध दृष्टि द्वारा बनाये गये पास के स्थान पर वह बैठ गया। अपने शरीर को कुछ तिरछा करते हुए राजा ने बीचमें खड़ी चामर-ग्राहिणी को हटा दिया और आमने सामने हो कर प्रीति-पूर्वक पूछा—"हंसवेग, श्रीमान कुमार सकुशल तो हैं?" उस ने उत्तर दिया—"आज वे सकुशल हैं, जब कि देव स्नेह

से नहलाई और मित्रता के रससे आर्द्र वाणी से इस तरह सम्मान-पूर्वक पूछ रहे हैं।"

कुछ देर ठहर कर उस ने चतुराई से फिर कहा—"चारों समुद्रों के भोग-ऐश्वर्य के पात्र-स्वरूप देव के लिए सद्भाव पूर्ण एक हृदय को छोड़ कर दूसरा अनुरूप उपहार संसार में दुर्लभ है। तथापि संदेश को अशून्य करते हुए हमारे स्वामी ने पूर्वजोपार्जित आभोग नामक इस वारुण[1] आतपत्र को उचित स्थान में रख कर इसे कृतार्थ किया है। इस के सम्बन्ध में बहुतेरे कुतूहल-जनक आश्चर्य देखने में आते हैं। चन्द्रमा की किरण सूर्य से निकल कर छाया की शीतलता के लिए प्रतिदिन इस में एक एक कर के प्रवेश करती है। इस से प्रवेश करने पर ध्यान करने के बाद चन्द्रोज्वल मधुर जल-धाराएं जो दन्त-वीणा[2] की शिक्षा के आचार्य हैं, छत्र की मणिमय शलाकाओं से जब तक इच्छा हो, गिरती रहती हैं। वरुण के समान जो चारों समुद्रों का अधिपति हुआ है या होने वाला है उसे ही यह अपनी छाया से अनुगृहीत करता है, दूसरे को नहीं। इसे न आग जलाती है, न हवा उड़ाती है, न जल भिगोता है, न धूल मलिन करती है, न जरा जर्जरित करती है। अब देव इसे अपनी दृष्टि से अनुगृहीत करें, फिर एकान्त में सन्देश भी सुनेंगे, इतना कह, मुह घुमा, उस ने अपने आदमी से कहा— "उठो देव को दिखाओ।"

इतना कहते ही उस आदमी ने उठकर उसे ऊपर उठाया और धुले रेशमी वस्त्र के आवरण से खींच लिया। उस अत्यन्त सफेद छाते के खींचे जाते ही जान पड़ा जैसे शिव ने अट्टहास किया जैसे शेषनाग का फण-मण्डल पाताल से चमकते हुए निकल आया, जैसे क्षीर-सागर अन्तरिक्ष में गोल होकर स्थिर हो गया, जैसे आकाशरूपी आंगन में शरद् ऋतु के बादलों की सभा बैठी, जैसे पितामह के विमान के हंसों ने पंख फैला कर गगन में विश्राम किया, जैसे लोगों ने अत्रि के नेत्र से निकले चन्द्रमा का जन्म-दिवस देखा, जो परिधि की धवलता के कारण मनोहर था, जैसे नारायण-नाभि के कमल का उत्पत्ति-समय प्रत्यक्ष हुआ, जैसे आंखों को चांदनी रात देखने की-सी तृप्ति हुई, जैसे अम्बर के उदर में मन्दाकिनी का महान् पुलिन-मण्डल उग आया, जैसे दिवस पूर्णिमा की रात में परिणत हो गया। समीपवर्ती पोखरों के चक्रवाक-मिथुन चन्द्रोदय के सन्देह से दुःखी होकर खुलते चोंचों से मृणाल के टुकड़े गिरा गिरा कर धीरे धीरे एक दूसरे से अलग हो गये शरद् ऋतु के बादलों की आशङ्का से वाणी बन्द करके घरेलू मोर मूक और पराङ्मुख हो गये।

१—वरुण से प्राप्त।

२—सर्दी के कारण एक दूसरे की चोट से खटखटाती दन्त-पंक्ति रूपी वीणा।

चन्द्र-दर्शन से आनन्दित होते हुए कुमुद-गण खिलते हुए दल-पुटों के अट्टहास के साथ जग उठे।

राजावृन्द-सहित विस्मित होते हुए राजा ने बेंट के अनुसार ऊपर उठती दृष्टि से तीन लोकों में अद्भुत उस महान् छत्र को सादर देखा। वह त्रिभुवन का तिलक-जैसा, श्वेत द्वीप का शैशव जैसा, शरच्चन्द्र का आंशिक अवतार-जैसा, धर्म का हृदय जैसा और चन्द्र लोक का मन्दिर-जैसा था। वह साम्राज्य का मुख-जैसा था जो दांतों से धवल हो, स्वर्ग का का सीमान्त-जैसा जो मोतियों के वेष्टन से सफेद हो, चन्द्रमण्डल जैसा जिसका अभ्यन्तर अत्यधिक ज्योत्स्ना से शुक्ल हो, ऐरावत का निश्चल हुआ गोल कान-जैसा जिनके शङ्ख की श्री शुक्लता से हंस रही हो, विष्णु का त्रिभुवन-वन्दनीय चरण-जैसा, जो गंगा के भंवर के समान श्वेत हो। छाते की चारों ओर मानसरोवर के मृणाल के सूतों के बने छोटे छोटे चंवर सजे हुए थे, जो वरुण के शिरोरत्न के किरण-सदृश थे। छत्र के शिखर पर पंख फैलाये हुए हंस का आकार था, जो मानो चक्रवर्त्ती की लक्ष्मी के नूपुरों की ध्वनि सुनने की अभिलाषा से निश्चल था। प्रभाव से दृढ़ हुए कोमल मन्दकिनी-मृणाल से उसका बेंट बना था, जो मुकुलित-फण वासुकि के समान चमकीला था। वह अपनी धवलिमा से नक्षत्र-पथ को मानो धो रहा था, अपनी प्रभा के प्रवाह-विस्तार से दिवस को मानो आच्छादित कर रहा था, ऊंचाई में स्वर्ग को मानो नीचा कर रहा था। वह सभी मङ्गलों के ऊपर ऊपर में मानो स्थित था। वह श्री का श्वेत मण्डप-सा, ब्रह्म-स्तम्भ के ऊपर पुष्प-गुच्छ-सा, ज्योत्स्ना का नाभि-मण्डल-सा, कीर्ति का विशदहास-सा, असिधारा-जल का फेन-पुञ्ज-सा और शूरता का यशःपलट-सा था।

जब राजाने पहले इसे देख लिया, तब नौकरोंने शेष उपहार भी क्रमसे दिखाये। यथा—भगदत्त आदि राजाओंसे आगत प्रसिद्ध अलङ्कार, जो अपने उत्तम रत्नोंकी किरणोंसे दिशाओंको लाल कर रहे थे; प्रभावर्षी उत्कृष्ट शिरोरत्न, हार, जो क्षीर-सागर की धवलताके कारण-स्वरूप थे; शरच्चन्द्र-किरण-सदृश स्वच्छ रेशम, जो अनेक रङ्गोंसे रङ्गे बेंतके पिटारोंमें कुण्डलाकार रखे हुए थे; कुशल शिल्पियों द्वारा उत्कीर्ण पान-पात्रोंके संग्रह, जो शुक्ति, शंख, और गल्वर्क आदि रत्नोंके बने थे; ढेरके ढेर कार्दरङ्ग चमड़ेके ढाल, जिनके किनारे मनोहर थे, जिनपर सोनेसे सुन्दर पत्र-भङ्ग बने थे, और जिनकी कान्ति आवरणोंसे रक्षित थी; भुर्ज-वृक्षकी त्वचाके समान कोमल कोपीन; समरूक मृगके आकारके उपधान तथा अन्य वस्तुएँ, जो रङ्ग बिरङ्गे कोमल वस्त्रोंकी बनी थीं, बेंतके बने आसन, जिनके आच्छादन प्रियङ्गु फलके समान पीले थे,

सुभाषितोंकी पुस्तकें, जिनके पन्ने अगुरु-वल्कल के बने थे; पल्लवसे लटकते सरस पूगफल, जिनसे दूध निकल रहा था, जो तरुण हारीत पक्षीके समान हरे थे और जो पके पीले पटोलके रङ्गके थे, सहकार-लताके रस तथा कृष्ण-अगुरुके तेलसे भरे बांस के मोटे चोंगे, जो कुपित कलिके कपोलके समान भूरे कपोतिकापत्तोंके पुटोंमें लपेटे हुए थे, ढेरके ढेर अञ्जन-पूर्ण-सदृश कृष्ण अगुरु, भारी ताप दूर करने वाला गोशीर्ष चन्दन, हिम-शिला-खण्डों के समान शीतल, स्वच्छ और श्वेत कपूर, कस्तूरीके कोश, पके फलोंसे युक्त कक्कोल-पल्लव, लवङ्ग फूल की मञ्जरियां तथा जातीफलों के गुच्छे, जो रेशमी कपड़ोंके बोरोंमें रखे थे; उल्लकक[1] की कलशियां, जिनसे अत्यन्त मधुर द्राक्षा की सुगन्ध निकल रही थी, उजले-काले चामरोंके संग्रह, आलेख्य-फलकोंके चित्रित सम्पुट (बक्स), जिनपर तूलिकाएँ और रङ्ग (रखनेकी) तुम्बियाँ लटक रही थीं, किन्नरों, वन-मानुषों, जीवजीवक पक्षियों और जल-मानुषों के कुतूहल-जनक जोड़े, जिनके कन्धे सुवर्ण शृङ्खलाओंसे बँधे थे, कस्तूरि का-कुरङ्ग, जो अपने परिमलसे दिशाओंको सुरभित कर रहे थे, घरोंमें विचरनेके अभ्यस्त चमरी मृग, सोनेके पानीसे चित्रित बेंतके पिंजड़ोंके भीतर रखे हुए शुक शारिका प्रभृति पक्षी, जो बार बार अनेक सूक्तियां जप रहे थे, प्रवालके बने पिंजड़ोंके अन्तर्गत चकोर, जलचारी हाथियोंके दांतोंके बने कुण्डल, जो उनके उन्नत मस्तकोंसे निकले मोतियोंकी मालासे उज्वल थे,

छत्र देख कर राजा प्रसन्न-चित्त हुआ। उस ने इसे अपनी प्रथम युद्ध-यात्रा में शुभ समझा और हंसवेग से प्रीति-पूर्वक कहा—"भद्र, सकल रत्नों के निवास-स्थान कुमार से परमेश्वर[3] के शिरोधार्य इस महान आतपत्र की प्राप्ति, सागर से चन्द्रमा की प्राप्ति के समान, विस्मय-जनक नहीं है। बड़ों द्वारा उपकार किया जाना बालविद्या है (जो कभी विस्मृत नहीं हो सकती)। उस स्थान से उपहारों का ढेर हटाये जाने पर क्षण भर ठहर कर राजा ने "हंसवेग, विश्राम करो" यह कहते हुए उसे प्रतिहार के घर भेज दिया। अपने भी उठ कर उस ने स्नान किया और मङ्गल की आकांक्षा करते हुए पूर्व की ओर मुंह कर के आभोग की छाया में प्रवेश किया।

उस के प्रवेश करते ही छाया से इतनी शीतलता उत्पन्न हुई कि चन्द्र-किरण मानो उस की चूड़ामणि हो गई, जल-कण-स्राविणी चन्द्रकान्त-मणियों ने उस के ललाट-तट को मानो चूमा, आंखों में कपूर का चूर्ण मानो गल गया, पिघलते हिम-

---

१—एक तरहके सुगन्धित फलका रस, या एक तरहका आसव।

२—चित्र बनानेकी तख्तियाँ।

३—राजा; शिव।

कणों से बने नीहार मानो हार हुए, छाती पर हरिचन्दन रस की धारा मानो निरन्तर गिरी, हृदय इतना शिशिर हो गया जैसे कुमुदों का बना हो, किसी अदृश्य पिघलती हिम शिला से उस के अवयव मानो लिप्त हुए। विस्मित हो कर उस ने सोचा —"एक मात्र अक्षय मित्रता को छोड़ कर दूसरा प्रत्युपहार है ही क्या ?" भोजन के समय उस ने धवल कपड़े से ढके स्वच्छ नारियल में रखा हुआ लेप-शेष चन्दन, अपने अङ्ग के छुए दो वस्त्र, परिवेश नामक कटि-सूत्र जो शरद् ऋतु की ताराओं के आकार के उज्वल मोतियों से गुंथा हुआ था, तरङ्गक नामक कुण्डल जिस के बहुमूल्य पद्मराग से दिवस लाल हो रहा था, तथा प्रचुर भोजन, हंसवेग के पास भेजा। इसी तरह वह दिन बीता।

तब सेनाकी धूलसे धूसरित सूर्य मानो अपना मलिन अङ्ग धोनेके लिए पश्चिम सागरमें उतरा। वरुणाको मानो आभोग-दानकी बात बतानेके लिए वह वारुणी दिशा में गया। द्वीपों सहित पृथ्वीने कमलोंको बन्द करते हुए आरम्भमें ही राजाकी सेवामें मानो अपने हाथ जोड़े। सभी लोगोंके अञ्जलिके बन्धके बन्धु संध्या-रागने नृप-अनुरागकी तरह संसारको ढक लिया। पूर्व दिशा मानो गौड़ाधिपतिके अपराधके भयसे श्याम हो गई। तमोवृत पृथिवी मानो अन्य नृपोंके प्रतापानल बुझनेसे काली हो गई। दिशाओंने विकसित नगरोंके सदृश रुचिर अविरल नक्षत्र बिखेरे, जो राजाके संध्या-कालीन सभा-मण्डपके फूलोंके समान लगते थे। सेनाके गन्ध-गजोंके मदके सौरभके प्रति मानो दौड़े हुए ऐरावतका आकाश-मार्ग धूलि-धवल शोभित हुआ। कुपित नृप-व्याघ्रके सूंघने से मानो उपद्रव-युक्त हुई प्राचीको छोड़कर चन्द्रमा नभस्थल पर चढ़ा। प्रयाण-वार्ता के समान मानिनी स्त्रियों के हृदय द्रवीभूत करने वाली चन्द्र-किरणें दशों दिशाओं में फैल गईं। वाहिनी-पति,[1] जिस के प्राणियों के व्यापार चञ्चल हो गये,[2] इस तरह क्षुब्ध हो उठे जैसे नवनृपति की युद्ध-यात्रा से भय-भीत हो गये हों। सभी दिशाओं को छोड़कर अन्धकार-राशि गुहाओं में घुस गई, जैसे चिन्ता राजाओं के हृदयों में। कुमुद-बनों की, जैसे प्रतिपक्षी सामन्तों की आंखों की नींद टूट गई।

इस समय तने चँदोवेके नीचे बैठे हुए राजाने 'तावत् जाओ' कहकर परिजनों को विसर्जित किया और हंसवेग को आदेश दिया—'संदेश कहो'। प्रणाम करने के बाद उसने कहना शुरू किया—'देव, पुराने जमाने में वराह के सम्पर्क से गर्भवती हुई भगवती पृथ्वीने रसातल में नरक नामक पुत्र को जन्म दिया। बाल्यकाल में ही उस

१—समुद्र, सेनापति।

२—जिन का धैर्य विचलित हो गया (सेना पति के पक्ष में)।

वीरके पांवोंपर श्रेष्ठ नृपतिगण प्रणाम करने लगे। घरके पासके पोखरेकी चक्रवाकियों द्वारा क्रोध-पूर्वक कुटिल कटाक्ष से देखे जाने पर भी (अर्थात् अस्त का समय होनेपर भी) सूर्य उस त्रिभुवन-पति बाहुशाली की आज्ञा बिना अस्त नहीं होता था, और डरके मारे (सूर्य का सारथि) अरुण अपने रथ को घुमा लेता था। उसी ने वरुण के इस बाह्य हृदय आतपत्र को हर लिया। उस महात्मा के वंशमें भगदत्त, पुष्पदत्त, वज्र-दत्त आदि सुमेरु-सदृश अनेकों बड़े बड़े राजाओं के बीतने पर महाराजाधिराज तेजस्वी स्थिरवर्मा का जन्म हुआ, जो महाराज भूतिवर्मा का प्रपौत्र, चन्द्रमुखवर्मा का पौत्र तथा कैलासके समान स्थिर-स्थिति देव स्थितिवर्माका पुत्र था। लोग उस (सुस्थिरशर्मा) को मृगाङ्क कहते थे। वह अहङ्कार के साथ मानो यमज उत्पन्न हुआ था। बाल्यावस्था में ही उसने द्विजातियों से भीतिपूर्वक तथा शत्रुओं से अप्रीतिपूर्वक समग्र प्रति ग्रह[1] ग्रहण करवाया। उस (राजा) में लवणालय से उत्पन्न लक्ष्मी का अतिदुर्लभ परम माधुर्य था। उसने वाहिनीनाथोंके शङ्ख हरण किये, रत्न नहीं, पृथ्वीसे स्थैर्य ग्रहण किया कर नहीं, भूभृतों का गौरव लिया, नैष्ठुर्य नहीं। उस प्रातःस्मरणीय राजा को रानी श्यामादेवीसे सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र भास्करवर्मा अपरनाम कुमार हुआ जैसे शन्तनु को भागीरथी से भीष्म हुआ था। शैशव से ही इनका यह अति दृढ़ सङ्कल्प है—शिव के चरण-कमलों को छोड़कर मैं दूसरे को प्रणाम नहीं करूंगा। त्रिभुवन-दुर्लभ यह ऐसा मनोरथ इन तीनों में से किसी एक से सम्पन्न हो सकता है—सारे संसार के विजय या मृत्यु से या प्रचण्ड प्रतापानल से दिशाओं को जलाने वाले, जगतके एकमात्र वीर, देव-सरीखे मित्रसे। राजाओंकी मित्रता प्रायः कार्यकी अपेक्षा करती है। वह कौन-सा कार्य है जिसके द्वारा देव को मित्र बनाया जा सके? यश-सञ्चय की इच्छा करनेवाले देव के लिए धन तो बाहरी चीज है। केवल अपनी बाहु पर ही निर्भर करनेवाले की शेष अवयवों की भी सहायता करने की अभिलाषा व्यर्थ है, फिर बाहरी लोगों (की सहायता) का कहना ही क्या। चारों सागर लेने के लोभी को भू-भाग के दानसे क्या सन्तोष हो सकता है? लक्ष्मी का मुख-कमल देखनेवाले के लिए सुन्दर-कन्या-दानका प्रलोभन तुच्छ है। सभी असंभव उपायों से ही यह पदार्थ प्राप्त हो सकता है, अतः अनुरोध है कि देव केवल हमारी प्रार्थना ही सुनें। प्राग्ज्योतिषेश्वर देव के साथ वैसी ही अक्षय मैत्री चाहते हैं, जैसी शिवके साथ कुवेरकी, इन्द्रके साथ दशरथकी, कृष्णके साथ अर्जुन की, दुर्योधनके साथ कर्णकी तथा वसन्तके साथ मलयानिल की है। यदि देवका भी हृदय मैत्री चाहता है और समझता है कि मित्र नाम के आवरण में दासता का

१—दान, सेना के पीछे का भाग।

आचरण करते हैं, तब विलम्ब क्यों? आज्ञा दें कि प्राग्ज्योतिपेश्वर देवके, जैसे मन्दराचल विष्णु के गाढ़ आलिङ्गन का अनुभव करें, जिसमें केयूर के आगे की बड़ी मणिके सङ्घर्षसे कङ्कण[1] के रत्न-खण्ड बज उठते हैं। प्राग्ज्योतिपेश्वर की लक्ष्मी इस मुख-चन्द्र में, जिससे विमल लावण्य तथा सौभाग्य की सुधा अनवरत झर रही है, अपनी आंखें देर तक तृप्त करे। यदि देव इस प्रार्थना का अभिनन्दन नहीं करते हैं, तो आज्ञा दें कि मैं स्वामी से क्या कहूँ ?' इतना कहकर वह चुप हो गया।

पहले से ही कुमार के सद्गुण मालूम होने के कारण राजा के हृदय में उसके प्रति सम्मान तो था ही। आभोगवाली बात से तो उसका प्रेम पराकाष्ठा पर पहुंच गया। लजाते हुए उसने सादर उत्तर दिया—'हंसवेग, वैसे महात्मा, महाकुलीन, पुण्य-राशि, गुणियों में श्रेष्ठ, परोक्ष मित्र, स्नेही के प्रति मुझ सरीखे का मन स्वप्न में भी कैसे अन्यथा हो सकता है? समस्त जगत को तपाने में निपुण सूर्य की किरणें त्रिभुवन-नयन-आनन्दप्रद कमलों के प्रति शीतल हो जाती हैं। उनके अनेक गुणों से खरीदे गये हम मित्रता करनेवाले कौन हैं? सज्जन के माधुर्य से दशों दिशाएं बिना वेतन की दासी हो जाती हैं। एकान्त निर्मल तथा उन्मुख स्वभावका सादृश्य पाये हुए कुमुद के लिए किसने चन्द्र से कहा? (अर्थात् स्वभाव-सादृश्य के कारण चन्द्र स्वयं ही कुमुद के प्रति आकृष्ट होता है)। कुमार का सङ्कल्प अत्यन्त प्रशंसनीय है। वह स्वयं बाहुशाली हैं और मुझ मित्रके धनुष धारण करने पर वह शिव को छोड़कर और किसे प्रणाम करेंगे? इस सङ्कल्प से मेरी प्रीति बढ़ गई। यह हृदय अभिमानी पशुसिंह का भी सम्मान करता है, फिर मित्र का क्या कहना। इसलिए वैसा यत्न करो, जिससे कुमार को देखने की यह उत्कण्ठा हमें देर तक क्लेशित न करे।'

हंसवेगने निवेदन किया—"अब और दूसरा क्या क्लेशित कर सकता है? देव का कहना ठीक है। सज्जन सेवा-भीरु होते हैं, उस में भी विशेषतः यह अहङ्कार-धन वैष्णव वंश। अभी हमारे स्वामी का वंश रहे। देव देखें—सेवा (नौकरी) के प्रति पुरुष को अति वृद्ध कुमाता के सदृश दुर्गति अभिमुख करती है, असंतुष्ट घरनीके सदृश तृष्णा प्रेरित करती है, बुरे अपत्यों के समान यौवन-काल में उत्पन्न हुए अभिलाषाओं से भरे कुविचार आकुल करते हैं। वह वयस्क कुमारी के समान पर-याचना-योग्य अवस्था की अपेक्षा करता है। घर के दुर्बन्धुओं के समान दुःस्थित सभी ग्रह उसे कोशिश करने के लिए बाध्य करते हैं। पुरातन दुस्त्यज भृत्यों के समान पूर्व के पाप उसका पीछा करते हैं। वह पापी कंडे की आग के समान समस्त शरीर

१—पर्वत-नितम्ब (अन्य पक्ष में)।

को तपाने वाले राज-कुल में प्रवेश करने का निश्चय करता है। जिसकी सभी इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो गई हो उस व्यक्ति के समान उसकी मनोगत विषयोपभोग की इच्छा व्यर्थ है। पहले ही तोरण के नीचे बन्दन-माला के किसलय के समान सूखता हुआ वह द्वार-पालों द्वारा रोक दिया जाता है। द्वार पर प्रवेश करते ही वह बेचारा हरिण की तरह दूसरों द्वारा पीटा जाता है, हाथियों की युद्ध-शिक्षा के चर्म पुट[1] की तरह प्रतीहारों के करों के प्रहार से बार बार निकाल दिया जाता है, (धरती में गड़ी) निधि पर के वृक्ष की शाखा की तरह धन की अभिलाषा से मुंह नीचे किये रहता है। याचक नहीं होने पर भी वह नीचों द्वारा घुमवाकर विदा कर दिया जाता है और वह उद्विग्न हो जाता है[2]। कण्टक नहीं होने पर भी पाँव में लगने से वह जल्द खींचकर फेंक दिया जाता है। कामदेव नहीं होने पर भी असमय में पास आने से वह कुपित ईश्वर की दृष्टि से जलकर प्रलीन हो जाता है। क्रोध से तिरस्कृत होने पर भी बन्दरकी तरह उसके मुख का रंग नहीं बदलता है। ब्राह्मण की हत्या करने वाले के समान प्रतिदिन प्रणाम करने से उसका कपाल घिस जाता है और वह अछूत होकर अशुभ कर्म करता है[3] त्रिशंकु के समान उभय लोक से भ्रष्ट होकर वह दिन-रात नत मस्तक रहता है। घोड़े की तरह कवल के लोभ से वह अपने को सुख-वाह्य[4] बनाता है। निराहार पड़े रहने वाले के समान हृदय में जीने की आशा रखकर वह शरीर को क्षीण करता है। कुत्ते की तरह अपनी स्त्री से विमुख होकर जघन्य कर्म में लगा हुआ वह अपने को खपा देता है। प्रेत की तरह उसे अनुचित भूमि पर अन्न-पिण्ड दिया जाता है। कौए की तरह जीभ की चपलता के कारण पुरुष-तेज खोकर[5] वह व्यर्थ ही जीता है। जैसे पिशाच राख से रूखे हुए श्मशान-वृक्षों के पास जाता है, वैसे ही वह सम्पत्ति के कारण कठोर हुए राज-वल्लभों के पास। असत्य वचन से मधुरता उत्पन्न कर केवल होठों से अनुराग प्रकट करने वाले राज-शुकों[6] के आलाप से वह शिशुके समान मोहा और लुभाया जाता है। वेताल की तरह नरेन्द्र के प्रभाव में आकर वह ऐसा कुछ नहीं

१—चमड़े की बनी हाथी की आकृति।

२—या, तीर नहीं होने पर भी वह दूर तक खींचकर फेंका जाता है और वह वेग-पूर्वक जाता है।

३—या विषयोपभोग से वञ्चित होकर नीच कर्म करता है।

४—आसानी से हाँके जाने लायक, मुख से बाहर अर्थात् दुःखी।

५—पुरुष की विष्ठा खाकर (कौए के पक्ष में)।

६—सुग्गे के समान राजा। एक तरह का सुग्गा।

है जो नहीं करे। चित्र-लिखित धनुष की तरह असत्य गुण चढ़ाने के[१] एक मात्र काम में सदा नत रहकर वह निर्वाण-तेज (निस्तेज) हो जाता है। झाड़ू से बटोरे गये धूल के ढेर की तरह वह निर्माल्य वहन करता है[२]। कफ से पीड़ित व्यक्ति की तरह वह प्रतिदिन कटुकों[३] से उद्विग्न होता है। बौद्ध की तरह अर्थ-विज्ञप्ति[४] से वैराग्य प्राप्त कर काषाय वस्त्र की अभिलाषा करता है। मातृ-देवियों के बलि-पिण्ड की तरह वह रातमें भी जहां तहां फेंक दिया जाता है। अशौच-गत व्यक्ति की तरह कु-शयन (पर सोने) से उसे अत्यधिक असुख होता है। तुला-यंत्र की तरह गौरव को पीछे रखकर वह जल के लिए भी झुकता है। वह इतना दीन हो जाता है कि केवल शिर झुकाने से संतुष्ट न होकर वचनों से भी पाद-स्पर्श अर्थात् स्तुति करता है। निर्दय वेत्र-धारियों के वेत्र-प्रहारों से मानो डरकर लज्जा उसे छोड़ देती है। दीनता के कारण उसका हृदय इतना संकुचित हो जाता है कि आत्म-सम्मान की भावना से वह वर्जित हो जाता है। कुत्सित कर्म अङ्गीकार करने से उन्नति मानो कुपित होकर उससे अलग हो जाती है। धन की आशा से वह क्लेश उपार्जन करता है। अपनी उन्नति की आशा से वह अपनी अवहेलना बढ़ाता है। विविध कुसुमों के सौरभ से सुगन्धित वन के रहने पर भी वह मूर्ख तृष्णा से हाथ जोड़ता है[५]। कुलीन होने पर भी अपराधी की तरह डरते डरते वह (स्वामी के) समीप आता है। दर्शनीय होने पर भी चित्रित फूल की तरह उसका जन्म निष्फल है। विद्वान् होने पर भी मूर्ख की तरह उसके मुख से वाणी निकलती ही नहीं है या निकलती भी है तो अशुद्ध ही। शक्तिमान होने पर भी कुष्ट रोगी की तरह वह हाथ सङ्कोचित किये रहता है। समकक्ष (भृत्यो) की उन्नति होने पर वह बिना आग के पकता है। अपने से नीच (भृत्यों) के समकक्ष बनाये जाने पर वह बिना उच्छ्वास के मरता है। अपमानों से वह तृणवत् हो जाता है। वह दुःखी, शोकाग्नि से जलता रहता है। भक्त होने पर भी उसे भक्त[६] नहीं मिलता है। ताप-रहित[७] होने पर भी वह अपने

१—असत्य गुण गाना, झूठी प्रशंसा करना, अवास्तविक प्रत्यञ्चा चढ़ाना।

२—देवोच्छिष्ट द्रव्य या उपयोग के बाद फेंके गये फूल धारण करता है, माला नहीं पहनता है।

३—कटु ओषधि, कटु वचन।

४—बौद्ध धर्म के 'शून्य-वाद' का ज्ञान, निष्फल प्रार्थना।

५—वन का अर्थ जल भी है और तृष्णा से मृग-तृष्णा का भी बोध होता है।

६—अनुरक्त, भात।

७—गर्व-रहित।

बन्धुओंको संतापित करता है। विमान होनेपर भी उसे गति नहीं होती है[1]। गौरव-हीन[2] होने पर भी वह नीचे जाता है। निःसत्त्व (= निर्जीव) होने पर भी वह महामांस बेचता है[3]। निर्मद[4] होने पर भी अस्वतन्त्र है योगी नहीं होकर भी वह ध्यान से अपने को वश में रखता है[5]। बिछावन पर से उठते ही वह दग्धमुण्ड[6] (अपने स्वामी को) प्रणाम करता है। रात-दिन नाचता हुआ वह पारिवारिक विदूषक मनस्वि-जन को हंसाता है। वह कुलाङ्गार वंश को जलाता है। तृण पाने पर भी वह नर-पशु अपना कंधा झुकाता है। उस मांस-पिण्ड का जन्म केवल पेट भरने के लिये होता है। वह माता के गर्भ का रोग है। (पूर्व जन्म में) पापाचार करने से वह भृत्य होता है। उसके लिए कौन-सा प्रायश्चित्त है? प्रतिपत्ति (= प्रतिष्ठा) के लिए वह क्या करे? कहां जानेसे उसे शान्ति होगी? कैसा उसका जीवन है? उसका पुरुषाभिमान क्या है? उसके लिए विलास किसका नाम है? उपभोग करने की उसकी आशा कैसी? दारुण 'दास' शब्द प्रबल पङ्क के समान सब को नीचे ले जाता है। उस जीवन को धिक्कार है। उस धन का निधन हो। उस सम्पत्ति का नाश हो। उन सुखों को प्रणाम है। उस ऐश्वर्य को हाथ जोड़ता हूं। वह श्री दूर में ही रहे। वह परिच्छद[7] उस का भला करे, जिसके लिए मस्तक धरती का स्पर्श करता है। वह क्लीव मुख से प्रिय वचन कहने में रत रहता है। वह कृमि सड़े मांस से बना है। वह अत्यन्त तुच्छ नर है[8]। वह जङ्गम पाद-पीठ है जिस का मस्तक (ऊपरी भाग) पांव की धूल से धूसर रहता है। मधुर वचन कहने में वह कोकिल है। आनन्द-प्रद वाणी बोलने में वह मोर है। छाती घसने में वह स्थल-कूर्म है। ओछी खुशामद करने में वह कुत्ता है। मोहने में वह बांसुरी है। अङ्ग-भङ्ग करने में वह वेश्या का शरीर है। पौरुषरूप धान के खेत में वह पलाल है। शिर की चञ्चलता में वह गिरगिट है। अपने को सिकोड़नेमें वह कछुवा है। पांव दबानेमें वह उस्ताद है।

१—विरोध-परिहार में – वह मान-रहित है और निरुपाय है।

२—हलका महत्त्व-हीन (विरोध-परिहार में)।

३—विरोध-परिहार में—वह सत्वगुण-विहीन होता है और अपना मांस अर्थात् अपना शरीर बेचता है।

४—मद्य-पान-रहित, अहङ्कार-रहित (विरोध-परिहार में)।

५—वह निर्धन है और (धन के) ध्यान से अपने को वश में रखता है।

६—गर्मी से जिस का शिर जल गया हो एक प्रकार का संन्यासी।

७—वस्त्र भूषण आदि उपकरण, आडम्बर।

८—वह नरक है, जहां मन की रक्षा नहीं होती है।

थपकी सहनेमें वह गेंद है। कोण से ठोकर खानेमें वह वीणा-दण्ड है। यदि दीन सेवक भी मनुष्यों में गिना जाय, तो राजिल[1] सर्प है और पुलाक[2] भी धान है। आत्म-सम्मानित व्यक्तिद्वारा क्षणभरके लिए भी किया गया पौरुष श्रेष्ठ है, झुककर त्रैलोक्य-राज्य का भी उपभोग करना मनस्वी व्यक्ति को अभीष्ट नहीं है। अतः जब देव इस प्रकार हमारी प्रार्थना स्वीकार करते हैं, तो समझें कि प्राग्ज्योतिषेश्वरे कुछ ही दिनों में आ गये।" इतना कह वह चुप हो गया और कुछ देरमें प्रणाम कर बाहर चला गया।

राजा की वह रात (कामरूपाधिपति) कुमार को देखने की उत्सुकता से कटी। आत्म-समर्पण करने से महापुरुष विना मूल-मंत्र के वश में हो जाते हैं। प्रभात होने पर प्रधान प्रतिदूत के अधीन प्रचुर प्रति-उपहार देकर हंसवेग को विदा किया। अपने भी तब से वह अनवरत यात्रा करता हुआ शत्रु के प्रति बढ़ता गया। एक दिन उसने लेख-हारक से सुना कि राज्यवर्धन के भुज-बल उपार्जित मालवराज का अशेष साधन (= सैन्य) लेकर भण्डि आ गया है और समीप में ही ठहरा हुआ है। यह सुनकर उसका भ्रातृ-शोक अभिनव हो उठा, हृदय कातर हो गया और उसके आगे मूर्छा का सा अन्धकार छा गया। सभी काम छोड़ कर वह राजाओं के साथ अपने मन्दिर में, जहां प्रतीहार के मना करने से परिजन शान्त और निःशब्द थे, भण्डि के आने की मुहूर्त भर प्रतीक्षा करता रहा।

अनन्तर कतिपय कुल-पुत्रों से घिरा हुआ भण्डि एक घोड़े पर आता दिखाई पड़ा। वह मलिन वस्त्र पहने हुए था। उसकी छाती तीरों की दागों से भरी थी, मानो लोहे की कांटियां गाड़ कर उसकी छाती का फटना बन्द कर दिया गया था। छाती को छूते हुए श्मश्रु से, मानो स्वामी के प्रति सत्कार से, वह शोक प्रकट कर रहा था। व्यायाम छोड़ने से शिथिल हुए भुज-दण्ड पर, जो मङ्गल-वलय दोलायमान था, वही एकमात्र आभूषण (उसके शरीर पर) बच रहा था। असावधानी से पान खाने के कारण उसका अधर हल्की लाली लिए हुए था, मानो शोकाग्नि से जलते हुए हृदय का अङ्गार लम्बी सांसों के वेग से बाहर आ गया था। मानो स्वामी (राज्यवर्धन) से वियुक्त होकर जीवन धारण करने के अपराध की लाज से उसका मुख अश्रु-जल-पटल से, जैसे वस्त्र के अञ्चल से, ढका था। वह दुर्बल हुए अङ्गों से लाज के कारण मानो अपने ही शरीर में घुस रहा था। वह (राज्यवर्धन को नहीं बचा सकने के कारण) व्यर्थ हुए भुजाओं के तेज को लम्बी सांसों से मानो उगल

१—एक तरह का सांप जिसे विष नहीं होता है।

२—शस्य-हीन धान।

रहा था। पातकी के समान, अपराधी के समान, द्रोही के समान, लुटे गये के समान ठगे गये के समान, यूथ-पति के पतन से दुःखी तरुण हाथी के समान, सूर्यास्तकालीन श्री-हीन कमलाकर के समान, दुर्योधन के निधन से उदास अश्वत्थामा के समान अपहृत-रत्न सागर के समान वह राज-द्वार पर आया। घोड़े से उतर कर अधोमुख हो उसने राज-मन्दिर में प्रवेश किया। दूर से ही क्रन्दन करता हुआ वह राजा के पांव पर गिर पड़ा।

उसे देख कर राजा भी उठ कर कई पग उसकी ओर बढ़ा, उसे उठा कर गले लगाकर गाढ़ आलिङ्गन किया, और करुण होकर बहुत देर तक रोया। शोक का वेग शिथिल होने पर वह लौट कर पूर्ववत् अपने आसन पर बैठा। जब भण्डि ने अपना मुख धोया, तब राजा ने भी अपना। कुछ देर होने पर उसने भाई की मृत्यु का वृत्तान्त पूछा। तब भण्डि ने सारी घटना कह सुनाई। फिर राजा ने उससे पूछा— "राज्यश्रीका क्या हाल है।" उसने फिर से कहा—"देव, देव राज्यवर्धन के स्वर्गीय होने पर तथा गुप्त नामक व्यक्ति-द्वारा कुशस्थल (=कान्यकुब्ज) लिये जाने पर बन्धन से निकल कर देवी राज्यश्रीने विन्ध्य-वन में प्रवेश किया, यह बात मैंने लोगों से सुनी। उसकी खोज में अनेक जन भेजे गये; किन्तु वे अभी तक नहीं लौटे हैं।" यह सुनकर राजा ने कहा—"अन्य अन्वेषकों से क्या ? जहां वह है वहां अन्य सभी काम छोड़कर मैं स्वयं जाऊंगा। आप भी सेना लेकर गौड़की ओर बढ़ें" इतना कह कह कर वह स्नान-भूमि पर गया। भण्डि ने अपना शोक श्मश्रु कटाया और प्रतीहार के घर स्नान किया। अपने शरीर के व्यवहार का वसन, कुसु., अङ्गराग, और अलङ्कार भेजकर राजा ने उसके ऊपर अनुग्रह प्रकट किया, उसके साथ भोजन किया और उसी के साथ वह दिन बिताया।

दूसरे दिन उषाकाल में ही भूपाल के समीप जाकर भण्डि ने निवेदन किया— "देव, श्रीराज्यवर्धन के भुज-बल से अर्जित मालव-राज का सपरिच्छद साधन देखें।" राजा ने उसे आज्ञा दी—"ऐसा ही करो।" तब वह दिखाने लगा। यथा—हजार हजार हाथी, निरंतर बहते मद के आमोद से मुखर मधुकर-वृन्द से जिनके कपोल मलिन थे; वे (हाथी) जङ्गम शिलाओं के समान लगते थे; वे गम्भीर गर्जन कर रहे थे, मानो पृथ्वी पर जलधर उतर आये हों; शरदृऋतु के एकत्र हुए दिवसों के समान वे विकसित सप्तच्छद फूलों की सुगन्धि छोड़ रहे थे। हरिण की तरह वेगवान् घोड़े जो सोने के सुन्दर चित्रों से युक्त चामरों से मनोहर लगते थे। अभिनव-प्रभा-वर्षी विशिष्ट अलङ्कार, जो अपनी किरणों से दिशाओं में अनेक इन्द्रधनुष बना रहे थे।

काम से मतवाली मालव-अङ्गनाओं के कुचों के परिमल से दुर्ललित हुए विस्मय-जनक उज्वल हार, जो अपनी ज्योत्स्ना के प्रवाह से दिगन्तों को प्लावित कर रहे थे। चन्द्र-किरण-सदृश शुचि अपने[1] यश के समान बाल-व्यजन। श्वेत आतपत्र, जिसका बेंट सोने का था और जो लक्ष्मी के निवास पुण्डरीक के समान था। वारविलासिनियां, जो सामरिक पराक्रम देखने की रुचि से उतरी हुई अप्सराओं के समान थीं। सिंहासन शयन, आसंदी[2] आदि राजकीय उपकरण। मालव के सभी सामन्त, जिनके चरण-युगल लोहे की बेड़ियों से बंधे थे। अशेष कोष-कलश, जो अलङ्कारों की मालाओं (के भार) से पीड़ित थे तथा जो (द्रव्य) संख्या-सूचक लिखित पत्रों से युक्त थे। यह सब देखकर राजा ने यथाधिकारी अध्यक्षों को स्वीकार करने के लिए आदेश दिया।

दूसरे दिन घोड़े लेकर वह अपनी बहिन की खोज में विन्ध्य-वन की ओर चला और कुछ ही दिनों तक यात्रा कर वहां पहुँच गया। पहुँच कर दूर से ही उसने एक छोटा-सा जंगली गांव देखा। उसके वन्य भागों में जंगली धान के खलियानों पर साठी के जलते हुए भूसे के ढेरों से धुआं निकल रहा था, विशाल वट-वृक्षों के चारों ओर सूखी शाखाओं से गो-वाट[3] बने हुए थे, नन्हें बछड़े मारे जाने के रोष से बनाये गये व्याघ्र-यन्त्र[4] विद्यमान थे, अनियन्त्रित वन-पाल अन्य ग्राम के (आये हुए) लकड़हारों के कुठार बलात् छीन रहे थे, वृक्षों के घने झुरमुटों में चामुण्डा के मण्डप बने हुए थे। जंगली जगह होने के कारण कृषक-गण परिवारका पालन-पोषण करने में आकुल थे, खेती प्रायः कुदालों से ही होती थी, खेतिहर बलवान् नहीं थे, वे उच्च स्वर से बोलते हुए धान के बहुत से खिल खेत तोड़ रहे थे। अत्यन्त गतागत नहीं होने से भूमि प्रहत[5] नहीं हुई थी, खेत छोटे छोटे और दूर दूर पर थे, वे काश से भरे थे, उनकी मिट्टी लोहे की तरह काली और कड़ी थी, स्थान स्थान पर रक्खे गये स्थाणुओं से मोटे पल्लव निकल आये थे, श्यामाक नामक घास के अंकुरों पर चलना कठिन हो गया था, अलम्बुस बहुत थे और कोकिलाक्ष की झाड़ियां तब तक नहीं काटी गई थीं, अतः खेत कठिनाई से जोते जा रहे थे। खेतों के पास मचान बने हुए थे, जिनसे हिंसक जन्तुओं का उपद्रव सूचित होता था।

१—हर्ष के।

२—पीठिका, चौकी, आराम-कुर्सी।

३—गौओं के रहने के स्थान।

४—बाघ फंसाने के यंत्र।

५—पद-दलित।

दिशा दिशा में वन में प्रवेश करने के स्थान पर प्रत्येक मार्ग के वृक्षों के नीचे पन-साल बने हुए थे। वहां पथिकों के पद-क्षेप से उठी धूल से धूसर हुए पल्लव छाया में पड़े हुए थे। हाल में ही कुएँ खने गये थे, जो वन-सुलभ साल-कुसुमों के गुच्छों से शोभित थे तथा जिनके समीप ही नागरकुट के पौधे लगाये गये थे। सघन बिनी हुई चटाइयों से कुटियां बनी हुई थीं। ढेर के ढेर मिट्टी के बर्तन रक्खे हुए थे, जो सत्तू से शबल लगते थे और कीटों की कुटिल पंक्तियों से घिरे थे। यात्रियों द्वारा खाये गये जामुन के बीजों से समीपवर्त्ती स्थान रंग-बिरंगे हो रहे थे। धूली कदम्ब के फूलों के गुच्छों से, जिनका पराग झड़ गया था, पनसाल पुलकित थे। काठ के मचानों पर रक्खी कर्करियों से[1] प्यास हरन हो जाती थी। शीतल और सिकतिल कलशियों से जिनकी पेंदियां गीली थीं, थकावट दूर होती थी। आर्द्र शैवल से श्यामल अलिञ्जर[1] में जल शीतल हो रहा था। जल-कुम्भों से निकाले गये पाटल शर्करा[2] के टुकड़ों से दिशाएँ शिशिर हो गई थीं। घड़ों के मुख तृण की डोरी में लगे पाटल फूलों से ढके थे जल-कण से सिक्त पल्लवों से आम के नये पौधे, जो (पानी के बिना) सूख सकते थे, सरस और रक्षित थे, तथा इन के फलों से घोर स्थाणुओं पर लटक रहे। विश्राम करने वाले पथिकगण पानी पी रहे थे। इन पनसालों की शीतलता से ग्रीष्म ऋतु की गर्मी दूर हो रही थी। और, अन्यत्र कहीं कहीं लुहार कोयले के लिये लकड़ी जला कर गर्मी बढ़ा रहे थे।

चारों ओर से पड़ोस के कुटुम्बी लोग लकड़ी बटोरने के लिए जंगल जा रहे थे। पास के घरों में रहने वाले बूढ़ों द्वारा रक्षित पाथेय से वे लोग ढके थे। लकड़ी का कठिन काम करने के लिये उन्होंने अपने शरीर तेल से मल रक्खे थे। उनके कन्धों पर कठोर कुठार थे और कण्ठों से प्रातःकाल के जलपान की पोटलियां लटक रही थीं। वे चोरों के डर से चिथड़े पहने हुए थे। काले बेत के तिगुने वलय-पाश से उनके गले घिरे थे, जिन में पत्तों से आवृत मुखवाले जल-पूर्ण पात्र बँधे थे। उन के आगे आगे बलवान बैलों के जोड़े जा रहे थे।

बाहर व्याध विचर रहे थे। उन्होंने जंगली जानवरों को वेधने में व्यवहृत पदों में कूट-पाश मोड़ कर रख लिये थे। वे तांत, तन्त्री, जाल, और वागुर लिए हुए थे। चिड़ीमार इधर-उधर विचरण कर रहे थे। वे बाज तीतर, कपिञ्जल आदि चिड़ियों के पिंजड़ों से लदे थे और उनके बालक कन्धों पर बन्धन के उपकरण रख

१—पानी रखने का बर्तन।

२—लाल पत्थर या लाल शक्कर

कर घूम रहे थे। लासेसे लिप्त लताओं पर बैठने वाली चटकाओं के लोभ से झुण्ड के झुण्ड बच्चे बहेलिये विचर रहे थे। चिड़ियों का शिकार खेलते हुए युवक शिकारी झाड़ियों में छिपे तीतरों के प्रति चञ्चल होते कुत्तों को बढ़ावा दे रहे।

वृद्ध चक्रवाक के कण्ठ के समान पीले शीधु-वल्कलों के कलाप, तत्काल तोड़े गेरू रंग के धातकी फूलों तथा कपासों के अगणित बोरे, अतसी तथा सन के फूलों के बोझ, मक्खी के मधु मोर-पुच्छों तथा अछूते मोम के चाकों के भार, ढेर के ढेर छाल-रहित खदिर-काष्ठ जिन से उशीर के फूल लटक रहे थे, कुष्ठ नामक वनस्पति की राशि, एवं प्रौढ़ सिंह के केशर के समान भूरे रोध्र के भार लेकर लोग जा रहे थे। वन के चुने विविध फलों से भरे पिटक अपने मस्तकों पर लेकर ग्राम-वासिनी स्त्रियां बेचने चिन्ता से व्यग्र हो कर पास के गांवों की ओर जा रही थीं।

जहां तहां गाड़ियों की कतारें चल रही थीं। उन में तगड़े और तरुण बैल जुटे थे, धूलि से धूसर हलवाहे आगे में बैठकर क्रोध-भरे स्वर से गाड़ियों को बढ़ा रहे थे, बजते हुए ढीले पहियों से वे चीत्कार कर रही थीं, उन पर पुरानी धूल और करीष के ढेर ढोकर कमजोर मिट्टी के कारण रूखे खेतों का संस्कार किया जा रहा था। ईख के अनेक खेतों से समीपवर्त्ती प्रदेश श्यामल हो रहे थे, प्रयत्न-पूर्वक पोषण करने से शाखाएँ बड़ी बड़ी थीं, गड़े हुए महिष-कंकालों के कांटों से डर कर खरगोश उन्नत शुङ्ग[1] तोड़ देते थे, रखवालों द्वारा हलवाहे की लाठियां फेंकी जाने से भागते हुए हरिण बांस के बने ऊँचे घेरे को आसानी से लांघ जाते थे।

वन के कुटुम्बियों के घर बहुत दूर दूर पर स्थित थे। वे मरकत-सदृश चिकने सुधा-वृक्षों से घिरे थे, धनुष बनाने योग्य बांस के पेड़ों तथा कांटेदार करञ्ज की पांतियों से दुष्प्रवेश्य थे। एरण्ड वचा वङ्गक सुरस सूरण शिग्रु ग्रन्थिपर्णी गवेधुका तथा गर्मुद-गुल्म से गृह-वाटिकाएं भरी थी।[2] गड़े हुए ऊंचे काठों पर चढ़ाई गई काष्ठालुक लताओं के वितान से छाया होती थी, बदरी के गोल मण्डपों के नीचे गड़े हुए खदिर के कीलों में छोटे छोटे बछड़े बंधे थे। कुक्कुटों की बोलीं से किसी किसी तरह घरों की स्थिति का अनुमान होता था। आंगनों में अगस्ति-वृक्षोंके नीचे वापिका बनी थीं, जिन के किनारे पक्षियों के लिये पुए फेंके हुए थे। ढेर के ढेर लाल कपास बिखरे हुए थे। बांसकी बत्ती

१—अविकसित पत्ते, अग्रभाग।

२—वचा और वङ्गक पौधे हैं, सूरस तुलसी है, सुरण कोई कन्द है, शिग्रु = सौभाञ्जन, शोभाञ्ज, सुहाजना, ग्रन्थिपर्णी = मोती के आकार का एक सुगन्धित कन्द, गवेधुका = एक तरह का तृण, गर्मुत् = लता-विशेष।

पत्ते, नल और शर से भीतें बनी हुई थीं । पलाश के फूलों से और गोरोचना से घर मण्डित थे। बल्वज नामक तृण से कोयले के ढेर बंधे हुए थे । सेमल की रुई के प्रचुर सञ्चय थे। नल-धान, पद्म-मूल, खांड, कुमुद-बीज, बांस और चावल रक्खे हुए थे। तमालके बीजों का संग्रह था। काली मिट्टी रखने से चटाइयां मलिन हो गई थीं। कुछ-कुछ सूखे राजादन और मदन-फल बहुत थे। महुए के आसव और मद्य की बहुलता थी। कमण्डल, घड़े, पिटक और (अन्न रखने के) कोठे[1] मौजूद थे। राजमाष, त्रपुष, ककड़ी, कोहड़े और कद्दू के बीज विद्यमान थे। वन-बिड़ाल, मालुधान, नकुल, शालि-जात जातक आदि जन्तु पाले जाते थे।

और वह उसी वन-गांव में ठहर गया।

श्रीबाण भट्ट-कृत हर्षचरितमें छत्र-लब्धि नामक सप्तम उच्छ्वास समाप्त।

१—'कुसूल' की जगह 'कुशूल' पढ़िये।

ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਜ ਮੇਗਜ਼ੀਨ, ਲਾਹੌਰ।

ਹਿੱਸਾ ੨੦ ਵਾਂ ਨੰਬਰ ੨	ਫਰਵਰੀ ੧੯੪੩	ਕੁਲ ਨੰਬਰ ੭੨

ਐਡੀਟਰ–[illegible]ਵ ਸਿੰਘ

ਲੇਖ ਸੂਚੀ।

ਨੰ: ਪੰਨਾ

ਕੁਝ ਜ਼ਰੂਰੀ ਗੱਲਾਂ

ਇਸ ਮੈਗਜ਼ੀਨ ਵਿਚ ਕੇਵਲ ਖੋਜ ਤੇ ਡੂੰਘੀ ਵਿਚਾਰ ਭਰੇ ਲੇਖ ਹੀ ਛਾਪਨ ਦਾ ਜਤਨ ਕੀਤਾ ਜਾਵੇਗਾ ॥

(੨) ਇਹ ਪਤ੍ਰਿਕਾ ਸਾਲ ਵਿੱਚ ਚਾਰ ਵਾਰੀ ਅਥਵਾ ਕਾਲਜ ਦੀ ਪੜ੍ਹਾਈ ਦੇ ਸਾਲ ਅਨੁਸਾਰ, ਨਵੰਬਰ, ਫ਼ਰਵਰੀ, ਮਈ ਅਤੇ ਅਗਸਤ ਵਿੱਚ ਪਕਾਸ਼ਿਤ ਹੋਵੇਗੀ ॥

(੩) ਇਸ ਦਾ ਸਾਲਾਨਾ ਚੰਦਾ ੩) ਹੋਵੇਗਾ ਅਰ ਵਿਦਯਾਰਥੀਆਂ ਕੋਲੋਂ ਕੇਵਲ ੧॥) ਹੀ ਲਿਆ ਜਾਵੇਗਾ ॥

(੪) ਚੰਦਾ ਪ੍ਰਿੰਸੀਪਲ ਸਾਹਿਬ, ਪੰਜਾਬ ਯੂਨੀਵਰਸਿਟੀ ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਜ, ਲਾਹੌਰ ਦੇ ਨਾਮ ਭੇਜਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ॥

ਐਡੀਟਰ

੧ ਓ ਜਾਂ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਦਰਸ਼ਨ ।
[ਪਿੱਛੇ ਤੋਂ ਅੱਗੇ]

ਕਿਸ ਨੇ ਬਣਾਨਾ ਤੇ ਕੀ ਬਣਾਨਾ ਹੈ। ਜੀਆਂ ਵਿਚ ਜੁਗਤ ਹੈ,ਬਾਕੀ ਉਹ ਨਿਰਾਲ ਨਿਰਾਲਾ ਹੀ ਹੈ ।

ਆਇ ਨ ਜਾਈ ਪ੍ਰਭੁ ਕਿਰਪਾਲ ।
ਜੀਆ ਅੰਦਰਿ ਜੁਗਤਿ ਸਮਾਈ ਰਹਿਓ ਨਿਰਾਲਮੁ ਰਾਇਆ ।
ਜਗੁ ਤਿਸ ਕੀ ਛਾਇਆ ਜਿਸੁ ਬਾਪੁ ਨ ਮਾਇਆ ।
ਤੂ ਅਕਾਲ ਪੁਰਖੁ ਨਾਹੀ ਸਿਰਿ ਕਾਲਾ ।
ਤੂ ਪੁਰਖੁ ਅਲੇਖੁ ਅਗੰਮ ਨਿਰਾਲਾ ।
ਆਪਿ ਨਿਰਾਲਮੁ ਹੋਰ ਧੰਧੈ ਲਈ ।

ਤੀਜੀ ਪਾਤਸ਼ਾਹੀ ਫ਼ਰਮਾਂਉਂਦੇ ਹਨ, ਇਸੇ ਰਾਗ ਮਾਰੂ ਵਿਚ :—

ਓਅੰਕਾਰਿ ਸਭ ਸ੍ਰਿਸਟਿ ਉਪਾਈ ।
ਸਭੁ ਖੇਲੁ ਤਮਾਸਾ ਤੇਰੀ ਵਡਿਆਈ ।
ਆਪੇ ਵੇਕ ਕਰੇ ਸਭਿ ਸਾਚਾ ਆਪੇ ਭੰਨਿ ਘੜਾਇਦਾ ।
ਬਾਜਹਿ ਬਾਜੇ ਧੁਨਿ ਆਕਾਰਾ ।
ਨਿਰੰਕਾਰਿ ਆਕਾਰੁ ਉਪਾਇਆ ।
ਮਾਇਆ ਮੋਹੁ ਹੁਕਮਿ ਬਣਾਇਆ ।
ਆਪੇ ਖੇਲ ਕਰੇ ਸਭਿ ਕਰਤਾ ਸੁਣਿ ਸਾਚਾ ਮੰਨਿ ਵਸਾਇਦਾ ।
ਮਾਇਆ ਮਾਈ ਤ੍ਰੈਗੁਣ ਪਰਸੂਤਿ ਜਮਾਇਆ ।
ਚਾਰੇ ਬੇਦ ਬ੍ਰਹਮੇ ਨੋ ਫੁਰਮਾਇਆ ।
ਵਰ੍ਹੇ ਮਾਹ ਵਾਰ ਥਿਤੀ ਕਰਿ ਇਸੁ ਜਗ ਮਹਿ ਸੋਝੀ ਪਾਇਦਾ ।

ਨਿਰੰਕਾਰ ਨੇਂ ਆਕਾਰ ਬਣਾਇਆ ਕਿਵੇਂ । ਮਾਇਆ ਮਾਈ ਬਣੀ,ਜਿਹੜੀ ਤ੍ਰੈਗੁਣ ਸੀ। ਉਹ ਆਪ ਤ੍ਰੈਗੁਣ ਅਤੀਤ ਰਹਿਆ । ਪਰਸੂਤਿ ਜਮਾਇਆ । ਇਹੋ ਦੇਸ਼ ਹੈ, ਵਰ੍ਹੇ ਆਦਕ ਕਾਲ । ਨਮਿੱਤ, ਦੇਸ਼, ਕਾਲ ਤਿੰਨੇ ਹੋਏ ਤਾਂ ਜਗਤ ਤੇ ਜਗਤ ਵਿਚ ਦੀ ਸੋਝੀ। ਕਾਲ ਹੀ ਸੋਝੀ ਦੇਂਦਾ ਹੈ ਤੇ ਸੋਝੀ ਲੈਂਦਾਂ ਹੈ। ਕਾਲ ਹੁਕਮ ਹੈ। ਵੇਖੋ ਛਿਆਂ ਤੁਕਾਂ ਵਿਚ ਸਭ ਫ਼ਲਸਫ਼ਾ ਸਰਿਸ਼ਟੀ ਰਚਨਾ ਦਾ ਚਿੱਤਰ

ਕੇ ਰਖ ਦਿੱਤਾ। ਇਹ ਕਾਲ ਹੀ ਸਾਨੂੰ ਨਾਮ ਨਹੀਂ ਚੇਤਣ ਦੇਂਦਾ। ਅਕਾਲ ਮੂਰਤ ਨੂੰ ਭਜਾਂਗੇ ਗੁਰੂ ਆਸਰੇ ਤਾਂ ਹੀ ਮੁਕਤੀ ਹੋਵੇਗੀ, ਨਾਮ ਵਿਚ ਸਮਾਵਾਂਗੇ, ਸਹਜ ਵਿਚ ਵਾਸ ਕਰਾਂਗੇ।

ਵੇਦੁ ਪੜੈ ਅਨਦਿਨੁ ਵਾਦ ਸਮਾਲੇ
ਨਾਮੁ ਨ ਚੇਤੈ ਬਧਾ ਜਮ ਕਾਲੇ।
ਦੂਜੈ ਭਾਇ ਸਦਾ ਦੁਖੁ ਪਾਏ ਤ੍ਰੈਗੁਣ ਭਰਮਿ ਭੁਲਾਇਦਾ।

ਮਾਇਆ, ਭਰਮਿ, ਤ੍ਰੈਗੁਣ, ਮਮਤਾ, ਆਕਾਰ, ਦੁਖ, ਦੂਜਾ ਭਾਇ ਇੱਕੋ ਹਨ।

ਇਕ ਭਾਇ, ਨਿਰੰਕਾਰ, ਸਚ, ਸਤਿਨਾਮ ਬਰਾਬਰ ਹਨ।

ਦੂਜੇ ਭਾਇ ਤੋਂ, ਸਾਕਾਰ ਤੋਂ, ਹਉਮੈਂ ਤੋਂ, ਮਾਇਆ ਤੋਂ, ਇਕ ਭਾਇ ਤੀਕ ਕਦੋਂ ਪਹੁੰਚੀਦਾ ਹੈ ਜਦ——

ਗੁਰਮੁਖਿ ਏਕਸੁ ਸਿਉ ਲਿਵ ਲਾਏ।
ਤ੍ਰਿਬਿਧਿ ਮਨਸਾ ਮਨਹਿ ਸਮਾਏ।
ਸਾਚੈ ਸਬਦਿ ਸਦਾ ਹੈ ਮੁਕਤਾ ਮਾਇਆ ਮੋਹੁ ਚੁਕਾਇਦਾ।

ਮਨ ਨੂੰ ਮਨ ਦੇ ਅੰਦਰ ਹੀ ਮਾਰੋ। ਮਨਸਾ ਨੂੰ ਮਾਰ ਕੇ ਮਨ ਵਿਚ ਹੀ ਦਬ, ਗੱਡ ਦਿਉ। ਬਸ ਮਨ ਅਮਰ ਹੈ, ਤੁਸੀਂ ਨਿਰਭੈ ਪਦ ਉੱਤੇ ਅਸਥਿਤ। ਮਰੇਗਾ ਤਦ ਜਦ ਭੈ ਤੇ ਭਉ ਇਹਦੇ ਅੰਦਰ ਉਪਜਣਗੇ।

ਏਹੁ ਮਨੁ ਭੈ ਭਾਇ ਰੰਗਾਏ। ਇਤੁ ਰੰਗਿ ਸਾਚੇ ਮਾਹਿ ਸਮਾਏ।
ਪੂਰੈ ਭਾਗਿ ਕੋ ਇਹੁ ਰੰਗੁ ਪਾਏ ਗੁਰਮਤੀ ਰੰਗੁ ਚੜਾਇਦਾ।

ਏਕੰਕਾਰ ਨੂੰ ਸਮਝਣਾ, ਬੁਝਣਾ ਕੀ ਹੈ, ਦੂਜੈ ਨ ਲਗਣਾ, ਦੂਈ ਨੂੰ ਛਡ ਦੇਣਾ ਤਨੋਂ ਮਨੋਂ ਧਨੋਂ।

ਤਨੋਂ ਦੂਜਾ ਛਡਣਾ ਹੈ ਕਾਇਆ ਸੌਂਪਣਾ।

ਮਨੋਂ ਦੂਜਾ ਛਡਣਾ ਹੈ ਮਨਸਾ ਮਨ ਵਿਚ ਮਾਰ ਸਮਾਉਣੀ।

ਧਨੋਂ ਦੂਜਾ ਛਡਣਾ ਗੁਰੂ ਤੇ ਸੰਗਤ ਦੀ ਸੇਵਾ ਕਰਨੀ।

ਗੁਰਮੁਖਿ ਹੋਵੈ ਸੋ ਕਾਇਆ ਸੋਧੈ ਆਪਹਿ ਆਪੁ ਮਿਲਾਇਦਾ।
ਕਾਇਆ ਵਿਚਿ ਤੋਟਾ ਕਾਇਆ ਵਿਚਿ ਲਾਹਾ।
ਦੂਜੇ ਭਾਇ ਨੂੰ ਛਡਣਾ ਜੀਵੰਦਿਆਂ ਮਰ ਜਾਣਾ ਹੈ।
ਜੀਵਤੁ ਮਰੇ ਤਾ ਮੁਕਤਿ ਪਾਏ ਸਚੈ ਨਾਇ ਸਮਾਇਆ।

ਤਨ, ਮਨ, ਧਨ:——

ਅਗਿਆਨੁ ਤ੍ਰਿਸਨਾ ਇਸੁ ਤਨਹਿ ਜਲਾਏ।
ਤਿਸ ਦੀ ਬੂਝੈ ਜਿ ਗੁਰ ਸਬਦੁ ਕਮਾਏ।

ਤਨੁ ਮਨੁ ਸੀਤਲੁ ਕ੍ਰੋਧੁ ਨਿਵਾਰੇ ਹਉ ਮੈਂ ਮਾਰਿ ਸਮਾਇਆ।

(੭)

ਦੂਜੇ ਨੂੰ ਛਡਣਾ ਹੌਲੇ ਹੌਲੇ ਹੀ ਹੋ ਸਕਦਾ ਹੈ।

੧ ਤੀਕ ਪਹੁੰਚਣ ਲਈ ਉਲਟੋ, ਪਿਛੋ ਪੜ੍ਹ ਮੂਲ ਮੰਤਰ ਨੂੰ। ਗੁਰਪਰਸਾਦਿ, ਸੈ ਭੰ, ਅਜੂਨੀ, ਮੂਰਤ, ਅਕਾਲ, ਨਿਰਵੈਰ, ਨਿਰਭਉ, ਪੁਰਖ,ਕਰਤਾ, ਸਤਿਨਾਮ ੧ੳ।

ਗੁਣ-ਵਾਚਕ ਨਾਂ ਜਪੋ, ਗੁਣ ਗਾਓ; ਗੁਣ ਆਪਣੇ ਅੰਦਰ ਵਸਾਓ। ਗੁਣਾਂ ਵਾਲੇ ਨਾਲ ਜਥਾ ਜੋਗ ਸਨਬੰਧ ਪੈਦਾ ਕਰੋ। ਕਿਦਾਂ ਉਸਨੂੰ ਪਿਓ ਕਹੋ ਤੇ ਆਪ ਪੁੱਤਰ ਬਣੋ, ਦੂਜਿਆਂ ਨੂੰ ਪਿਓ ਨਾ ਬਣਾਓ। ਉਸਨੂੰ ਸ਼ੌਹ ਕਹੋ ਇਸਤਰੀ ਬਣੋ। ਉਸਨੂੰ ਮਿੱਤਰ ਕਹੋ ਆਪ ਸੱਜਣ ਬਣੋ। ਓਸਨੂੰ ਮਾਂ ਆਖੋ ਆਪ ਬਾਲ ਬਣੋ। ਓਸ ਨੂੰ ਭਾ ਆਖੋ ਭਰਾ ਬਣੋ। ਓਸਨੂੰ ਮਾਲਕ ਆਖੋ ਆਪ ਦਾਸ ਬਣੋ॥ ਓਸਨੂੰ ਜਾਲ ਆਖੋ ਦਰਿਆ ਆਪੋ ਆਪ ਮੱਛ ਬਣੋ। ਅਖ਼ੀਰ ਸਤਿਨਾਮ ਆਖੋ, ਮਨ ਵਿਚ ਨਾਮ ਵਸਾਓ ਤੇ ਨਾਮ ਧਰੀਕ ਬਣੋ ਤੇ ਫੇਰ ਆਕਾਰੋਂ ੧ੳ ਕਹਿ ਕੇ ਨਿਰਾਕਾਰ ਹੋ ਜਾਓ; ਓਹਦੇ ਵਰਗੇ ਹੋ ਜਾਓ।

ਹਰਿ ਹਰਿਜਨ ਦੋਇ ਏਕ ਹੈਂ ਬਿਬ ਬਿਚਾਰ ਕਿਛੁ ਨਾਹਿ।

ਗੁਰੂ ਮਹਾਰਾਜ ਨੇ ਇਹ ਰਿਸ਼ਤੇ ਬੇਸ਼ੁਮਾਰ ਤਰਾਂ ਨਾਲ ਨਿਬਾਹੇ ਤੇ ਗਾਵੇਂ ਹਨ। ਅਖ਼ੀਰ ਏਥੇ ਗੱਲ ਮੁਕਾਈ ਹੈ ਕਿ ਮੈਂ ਕੁਝ ਨਹੀਂ, ਨਾ ਸਾਂ, ਨਾ ਹਾਂ, ਨਾ ਹੋਵਾਂਗਾ ਤੇ ਤੂ ਆਪ ਹੀ ਪਿਓ ਤੇ ਪੁੱਤ, ਮਛਲੀ, ਜਾਲ, ਪਾਣੀ ਤੇ ਮਾਛੀ ਏਂ। ਦਸਮ ਪਿਤਾ ਅਖ਼ੀਰੀ ਸਨ, ਓਹਨਾਂ ਤੇ ਹੀ ਤਾਂ ਗਲ ਮੁਕਾਈ ਗੁਰੂ ਬਾਬੇ ਨੇ। ਤੇਰਾ ਤੇਰਾ ਤੋਂ ਸ਼ੁਰੂ ਕੀਤੀ ਸੀ। ਗੁਰੂ ਗਰੰਥ ਸਾਹਿਬ ਵਿਚ ਤੇਰਾ ਤੋਂ ਲੈ ਕੇ ਤੂੰ ਤੀਕ ਸਭ ਦਾ ਸਰੂਪ ਰਸ ਮੌਜੂਦ ਹੈ।

ਤੇਰਾ ਕਹਿਣ ਵਿਚ ਤੇ ਤੂੰ ਕਹਿਣ ਵਿਚ ਸਬਦ ਦਾ ਵਾਸਾ, ਕਮਲ ਦਾ ਪਰਗਾਸਣਾ,ਕਿਰਨ ਦਾ ਲਿਸ਼ਕਣਾ ਹੈ; ਨਾਦ ਦਾ ਵਜਣਾ ਹੈ, ਤੇ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਦਾ ਝਰਨਾ ਹੈ।

ਸਦਹੀ ਨੇੜੇ ਦੂਰਿ ਨ ਜਾਣਹੁ। ਗੁਰ ਕੈ ਸਬਦਿ ਨਜੀਕਿ ਪਛਾਣਹੁ।

ਬਿਗਸੈ ਕਮਲੁ ਕਿਰਣਿ ਪਰਗਾਸੈ ਪਰਗਟੁ ਕਰਿ ਦੇਖਾਇਆ।

ਅਲਖ ਲਖਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ, ਅਦਿਸ਼ਟ ਵੇਖਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ, ਨ ਪਾਇਆ ਜਾ ਸਕਣ ਵਾਲਾ ਪਾਇਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ, ਜਦੋਂ ਤੂੰਹੀ ਦੀ ਮੰਨਜ਼ਿਲ ਆਉਂਦੀ ਹੈ। ਓਹਦੇ ਨਾਲ ਇਕ ਹੋਕੇ ਉਸਨੇ ਉਸਨੂੰ ਵੇਖ ਲਇਆ।

ਆਪੇ ਕਰਤਾ ਸਚਾ ਸੋਈ। ਆਪੇ ਮਾਰਿ ਜੀਵਾਲੇ ਅਵਰੁ ਨ ਕੋਈ।

ਨਾਨਕ ਨਾਮ ਮਿਲੈ ਵਡਿਆਈ ਆਪੁ ਗਵਾਇ ਸੁਖੁ ਪਾਇਆ।

ਆਤਮਾ ਤੋਂ ਪਰਮਾਤਮਾ ਹੋ ਗਏ ਜਿਸ ਤਰਾਂ ਉਹ ਨਿਰਾਕਾਰ ਤੋਂ ਸਾਕਾਰ ਹੋਇਆ ਸੀ। ਇਹ ਉਲਟਾਓ ਹੈ। ਵਾਪਸੀ ਪਨ ਹੈ, ਸਾਡਾ ਲੇਖ ਹੈ, ਸਾਡਾ ਜੀਵਨ ਆਦ-ਅੰਤ ਹੈ। (ਚੌਥੀ ਪਾਤਸ਼ਾਹੀ)

ਆਤਮੁ ਚੀਨਿ ਪਰਮ ਪਦੁ ਪਾਇਆ ਸੇਵਾ ਸੁਰਤਿ ਸਮਾਈ ਹੇ।

ਅਸੀਂ ਕੀਤਾ ਕੀ ਉਲਟਦਿਆਂ, ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਹੀ ਚੀਨਿਆ। ਓਸਨੇ ਬਣਾਣ ਵੇਲੇ, ਏਧਰ ਆਉਣ ਵੇਲੇ ਅਪਣਾ ਆਪ ਭੁਲਾਇਆ ਸੀ। ਸਾਨੂੰ ਸਾਜਿਆ ਤੇ ਭਰਮ ਵਿਚ ਪਾਇਆ ਸੀ। ਇਹ ਭੁਲਾਉਣਾ, ਭਾਣਾ, ਹੁਕਮ ਵਰਤਾਉਣਾ, ਬਾਜੀ ਪਾਉਣਾ ਕੀ ਸੀ। ਉਹਦੀ ਚੋਜ ਸੀ,ਚੋਜ ਵਿਡਾਣਾ। ਤੁਹਾਨੂੰ ਵੀ ਇਹ ਚੋਜ ਦੀਹਦੀ ਹੈ, ਤੇ ਮੈਨੂੰ ਵੀ, ਪਰ ਸਤਗੁਰ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ, ਮੈਨੂੰ ਤੇ ਕਿਤੇ ਕੁਝ ਦੀਹਦਾ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸਿਵਾਏ ਉਹਦੇ, ਚੋਜ ਦੀ ਹਸਤੀ ਦੀ ਸੋਝੀ ਤੋਂ ਵੀ ਪਰੇ ਦੀ ਸੋਝੀ ਗੁਰਾਂ ਨੂੰ ਹੈ;

ਜਾ ਜਾਪੇ ਕਿਛੁ ਕਿਥਾਊ ਨਾਹੀ। ਤਾ ਕਰਤਾ ਭਰਪੂਰਿ ਸਮਾਹੀ।
ਸੂਕੇ ਤੇ ਫੁਨਿ ਹਰਿਆ ਕੀਤੋਨੁ ਹਰਿ ਧਿਆਵਹੁ ਚੋਜ ਵਿਡਾਣੀ ਹੇ।

ਪਰ ਗੁਰਾਂ ਨੂੰ ਓਹਦੇ ਗੁਣਾ ਦੀ ਵੀ ਵਾਹਵਾਹ ਸੋਝੀ ਹੈ। ਗੁਣ ਗਿਣਾਏ ਸਾਡੀ ਖ਼ਾਤਰ ਤਾਂ ਜੋ ਅਸੀਂ ਓਸ ਦਿਆਂ ਗੁਣਾਂ ਨੂੰ ਸਲਾਹੁਣ ਲਈ, ਆਪਣੇ ਅੰਦਰ ਵਸਾਉਣ ਲਈ ਜਿਹੜੇ ਚਾਹੀਏ ਆਪਣੀ ਜੋਗਤਾ ਅਨੁਸਾਰ ਚੁਣ ਲਈਏ। ਜਿਹੜਾ ਸਾਕ ਓਸ ਨੂੰ ਲੋਚੀਏ ਬਣਾ, ਸਾਜ ਲਈਏ। ਹੋਰ ਸਭੇ ਕੂੜਾਵੇਂ। ਓਹ ਸਚਾ ਸਾਡਾ ਇਕੋ ਸਚਾ ਸਾਕਦਾਰ ਹੈ। ਜ਼ਰਾ ਸਾਕਾਂ ਦਾ ਵੇਰਵਾ ਤੇ ਸੁਣੋ।

ਕਲਾ ਉਹਦੀ ਤੇ ਉਹ ਕਲਾ ਧਾਰ। ਕਲਾਧਾਰ ਜਿਨ ਸਗਲੀ ਮੋਹੀ। ਅਸੀਂ ਕੁਦਰਤ, ਕਲਾ, ਓਹ ਕਾਦਰ, ਕਲਾਧਾਰ, । ਮਿੱਟੀ ਤੇ ਕੁਮਿਹਾਰ, ਆਰਟ ਤੇ ਆਰਟਿਸਟ ਦਾ ਸਾਕ। (ਪਵੀਂ ਪਾਤਸ਼ਾਹੀ)

ਕਲਾ ਉਪਾਇ ਧਰੀ ਜਿਨਿ ਧਰਣਾ। ਗਗਨੁ ਰਹਾਇਆ ਹੁਕਮੇ ਚਰਣਾ।
ਅਗਨਿ ਉਪਾਇ ਈਧਨ ਮਹਿ ਬਾਧੀ ਸੋ ਪ੍ਰਭੁ ਰਾਖੈ ਭਾਈ ਹੇ।

ਬਣਾ ਕੇ ਅਲਗ ਨਹੀਂ ਬਹਿ ਗਇਆ,ਬਰਾਬਰ ਜੀਵਿਕਾ ਦੇਂਦਾ ਜਾਂਦਾ ਹੈ

ਜੀਆ ਜੰਤ ਕਉ ਰਿਜਕੁ ਸੰਬਾਹੇ। ਰਾਜ਼ਕ ਹੈ ਸਾਰਿਆਂ ਦਾ, ਇਕ ਦਾ ਨਹੀਂ।

ਕਰਣ ਕਾਰਣ ਸਮਰਥ ਆਪਾਹੇ।

ਫੇਰ ਸਦਾ ਨਾਲ ਰਹਿਣ ਕਰਕੇ ਸਾਡਾ ਪ੍ਰੀਤਮ ਵੀ ਹੈ। ਕਿਉਂ ਜੋ ਹੋਰ ਸਾਰੇ ਕਦੀ ਨਾ ਕਦੀ ਵਿਛੜ ਜਾਂਦੇ ਹਨ ਪਰ ਓਹ ਸਾਡਾ ਆਸ਼ਿਕ, ਸਾਡਾ ਮਾਸ਼ਕ ਕਦੀ ਸਾਡੇ ਕੋਲੋਂ ਨਹੀਂ ਵਿਛੜਦਾ।

ਮਾਤ ਗਰਭ ਮਹਿ ਜਿਨਿ ਪਤਿਪਾਲਿਆ।

ਸਾਸਿ ਗ੍ਰਾਸਿ ਹੋਇ ਸੰਗਿ ਸਮਾਲਿਆ।

ਸਦਾ ਸਦਾ ਜਪੀਐ ਸੋ ਪ੍ਰੀਤਮੁ ਵਡੀ ਜਿਸੁ ਵਡਿਆਈ ਹੇ।

ਪਰ ਆਮ ਮਾਸ਼ੂਕ ਤੇ ਜ਼ਰ ਵਾਲਿਆਂ ਦੇ ਹੁੰਦੇ ਨੇ । ਇਹ ਮਾਸ਼ੂਕ ਗ਼ਰੀਬ ਨਿਵਾਜ਼ ਹੈ।

ਸੁਲਤਾਨ ਖਾਨ ਕਰੇ ਖਿਨ ਕੀਰੇ। ਗਰੀਬ ਨਿਵਾਜ਼ਿ ਕਰੇ ਪ੍ਰਭੁ ਮੀਰੇ।

ਗਰਬ ਨਿਵਾਰਣ ਸਰਬ ਸਧਾਰਣ ਕਿਛੁ ਕੀਮਤ ਕਹੀ ਨ ਜਾਈ ਹੇ।

ਮੁਕਦੀ ਗੱਲ ਕੀ ਉਹ ਜਿਸ ਨੇ ਸਭ ਕੁਝ ਰਚਿਆ ਸਭ ਕੁਝ ਦਿੱਤਾ ਤੇ ਦੇਂਦਾ ਹੈ ਉਹ ਸਾਡੇ ਸੱਭੇ ਸਾਕ ਹੈ। ਓਹਦੇ ਵਿਚ ਸਾਰੇ ਗੁਣ ਹਨ।

ਸੋ ਪਤਿਵੰਤਾ ਸੋ ਧਨਵੰਤਾ। ਜਿਸੁ ਮਨਿ ਵਸਿਆ ਹਰਿ ਭਗਵੰਤਾ।

ਮਾਤ ਪਿਤਾ ਸੁਤ ਬੰਧਪ ਭਾਈ ਜਿਨਿ ਇਹ ਸ੍ਰਿਸਟਿ ਉਪਾਈ ਹੇ।

ਇਹ ਸਾਕ ਅਸਾਂ ਓਸ ਨਾਲ ਮਨ, ਬਚ, ਕਰਮ ਤਿੰਨਾਂ ਰਾਹੀਂ ਨਿਬਾਹੁਣਾ ਹੈ।

ਮਨ ਬਚ ਕਰਮ ਅਰਾਧੇ ਕਰਤਾ ਤਿਸੁ ਨਾਹੀ ਕਦੇ ਸਜਾਈ ਹੇ।

ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬਾਂ ਨੂੰ ਸ਼ਾਹ ਤੇ ਸ਼ੌਹ ਦਾ ਰਿਸ਼ਤਾ ਬਹੁਤਾ ਪਸੰਦ ਹੈ। ਸ਼ੌਹ ਅਖ਼ੀਰੀ ਹੈ ਤੇ ਸ਼ਾਹ ਪਹਿਲਾ। ਸ਼ਾਹ ਆਮ ਲਈ ਤੇ ਸ਼ੌਹ ਖਾਸ ਲਈ । ਸੁਆਮੀ ਸਭਨਾ ਲਈ; ਮੀਤ ਕਿਸੇ ਕਿਸੇ ਲਈ ਹੀ ਨਿਬਹ ਸਕਦਾ ਹੈ।

ਮੀਤੁ ਹਮਾਰਾ ਸੋਈ ਸੁਆਮੀ।

ਏਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਗੁਣ ਗਾਂਦਿਆਂ ਨਾਮ ਜਪਦਿਆਂ ਅਸੀਂ ਓਸ ਨਿਰਗੁਣ ਏਕੰਕਾਰ ਤੀਕ ਪਹੁੰਚ ਜਾਂਦੇ ਹਾਂ ; ਸਤਿਨਾਮ ਦੇ ਸਦਕੇ ਮੁੜ ੧ਓ ਦੇ ਦਰਸ਼ਨ ਕਰਦੇ ੧ਓ ਵਿਚ ਵਸਦੇ ਹਾਂ।

ਸਤਿ ਸਤਿ ਸਤਿ ਪ੍ਰਭੁ ਜਾਤਾ। ਗੁਰ ਪਰਸਾਦਿ ਸਦਾ ਮਨੁ ਰਾਤਾ।

ਸਿਮਰਿ ਸਿਮਰਿ ਜੀਵਹਿ ਜਨ ਤੇਰੇ ਏਕੰਕਾਰਿ ਸਮਾਈ ਹੇ।

ਭਗਤ ਜਨਾਂ ਕਾ ਪ੍ਰੀਤਮੁ ਪਿਆਰਾ। ਸਭੈ ਉਧਾਰਣੁ ਖਸਮੁ ਹਮਾਰਾ।

ਸਿਮਰਿ ਨਾਮੁ ਪੁਨੀ ਸਭ ਇਛਾ ਜਨ ਨਾਨਕ ਪੈਜ ਰਖਾਈ ਹੇ।

ਏਸ ਏਕੰਕਾਰ-ਸਮਾਈ ਵਿਚ ਸਾਡੀ ਹੋਂਦ ਸਾਡੀ ਹਸਤੀ ਦੀ ਮੌਤ ਨਹੀਂ। ਇਕ ਤਰ੍ਹਾਂ ਨਾਲ ਸਾਡੀਆਂ ਪੂਰਨ ਇੱਛਾਵਾਂਦੀ ਪੂਰਨ ਪੂਰਤੀ ਹੈ ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਹਰ ਇਕ ਇੱਛਾ ਦੀ ਪੂਰਨ ਪੂਰਤੀ ਹੈ ਤੇ ਜਦ ਉਸ ਨਾਲ ਅਸੀਂ ਇਕ ਹੋਂਦੇ ਹਾਂ ਤਾਂ ਸਮਝੋ—ਨਹੀਂ ਸਚਮੁਚ—ਸਭ ਕੁਝ ਮੰਗਿਆ ਤੇ ਅਣ-ਮੰਗਿਆ ਅਨਤ ਕਾਲ ਤੀਕ ਅਨੰਤ ਦੇਸ ਵਿਚ ਅਨੰਤ ਮਿਕਦਾਰ ਵਿਚ ਸਾਨੂੰ ਮਿਲਦਾ ਤੇ ਮਿਲਦਾ ਰਹਿੰਦਾ ਹੈ। ਏਸ ਏਕੰਕਾਰ-ਸਮਾਈ ਦਾ ਅਨੰਦ ਪਿਰਧਨ ਦੇ ਸਦੀਵੀ ਪੂਰਣ ਮੇਲ ਦਾ ਅਨੰਦ ਹੈ। ਅਜ਼ਲ ਦੇ ਓਸ ਨਾਲੋਂ ਵਿਛੜਿਆਂ ਦਾ ਅਜ਼ਲ ਅਬਦ ਦੇ ਮਾਲਕ ਨਾਲ

ਅਬਦੀਮੇਲ਼ ਹੈ ।

ਸਗਲੇ ਕਰਮ ਧਰਮ ਜੁਗ ਸਾਧਾ । ਬਿਨੁ ਹਰਿ ਰਸ ਸੁਖੁ ਤਿਲੁ ਨਹੀ ਲਾਧਾ ।
ਭਈ ਕ੍ਰਿਪਾ ਨਾਨਕ ਸਤ ਸੰਗੇ ਤਉ ਧਨ ਪਿਰ ਅਨੰਦ ਉਲਾਸਾ ਹੇ ।

ਬੜੀ ਮਸਤੀ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਬੜਾ ਬਿਸਮਾਦ ।

ਧਨ ਨੇ ਕੀ ਅਨੰਦ ਲੈਣਾ ਹੈ, ਉਹ ਪਿਰ ਹੀ ਅਨੰਦੀ ਹੈ । ਅਨੰਦ ਲੈਂਦਾ ਹੈ । ਧਨ ਹੈ ਕਿਥੇ ? ਨਿਰੰਕਾਰ ਹੀ ਨਿਰੰਕਾਰ ਹੈ । ਅਕਾਰ ਹੈ ਕਿਥੇ ਜੋ ਮੈਂ ਭੋਲਾ ਨਿਰੰ-ਕਾਰ ਦਾ ਅਕਾਰ ਹੋਣਾ ਤੇ ਮੁੜ ਨਿਰੰਕਾਰ ਹੋਣਾ ਚਿਤੱਰ ਰਹਿਆ ਹਾਂ ।

ਕਰੇ ਅਨੰਦੁ ਅਨੰਦੀ ਮੇਰਾ । ਘਟਿ ਘਟਿ ਪੂਰਨੁ ਸਿਰ ਸਿਰਹਿ ਨਿਬੇਰਾ ।
ਸਿਰਿ ਸਾਹਾ ਕੈ ਸਚਾ ਸਾਹਿਬੁ ਅਵਰ ਨਾਹੀ ਕੋ ਦੂਜਾ ਹੇ ।
ਹਰਖਵੰਤ ਆਨੰਤ ਦਇਆਲਾ । ਪ੍ਰਗਟਿ ਰਹਿਓ ਪ੍ਰਭੁ ਸਰਬ ਉਜਾਲਾ ।
ਰੂਪ ਕਰੇ ਕਰਿ ਵੇਖੈ ਵਿਗਸੈ ਆਪੇ ਹੀ ਆਪਿ ਪੂਜਾ ਹੇ ।
ਆਪੇ ਕੁਦਰਤਿ ਕਰੇ ਵੀਚਾਰਾ । ਆਪੇ ਹੀ ਸਚੁ ਕਰੇ ਪਸਾਰਾ ।
ਆਪੇ ਖੇਲ ਖਿਲਾਵੈ ਦਿਨੁ ਰਾਤੀ ਆਪੇ ਸੁਣਿ ਸੁਣਿ ਭੀਜਾ ਹੇ ।
ਤੂ ਵਡ ਰਸੀਆ ਤੂ ਵਡ ਭੋਗੀ । ਤੂ ਨਿਰਬਾਣੁ ਤੂਹੈ ਹੀ ਜੋਗੀ ।
ਸਰਬ ਸੂਖ ਸਹਜ ਘਰਿ ਤੇਰੈ ਅਮਿਉ ਤੇਰੀ ਦ੍ਰਿਸਟੀਜਾ ਹੇ ।
ਪੂਰੇ ਗੁਰ ਕੀ ਪੂਰੀ ਬਾਣੀ । ਪੂਰੈ ਲਾਗਾ ਪੂਰੇ ਮਾਹਿ ਸਮਾਣੀ ।
ਚੜੈ ਸਵਾਇਆ ਨਿਤ ਨਿਤ ਰੰਗਾ ਘਟੈ ਨਾਹੀ ਤੋਲੀਜਾ ਹੇ ।

ਉਹ ਅਨੰਦ ਰਸੀਆ ਤ੍ਰੈਗੁਣਾਂ ਤੋਂ ਪਰੇ ਹੈ । ਜਿਹੜਾ ਓਹਨੂੰ ਜਪਦਾ ਹੈ ਓਹ ਵੀ ਤਿੰਨਾਂ ਗੁਣਾਂ ਤੋਂ ਪਰੇ ਉਰਾ ਜਾਕੇ ਅਨੰਦ ਲੈਂਦਾ ਹੈ ।

ਹਰਖ ਸੋਗ ਕਾ ਨਗਰੁ ਇਹੁ ਕੀਆ । ਸੇ ਉਬਰੇ ਜੋ ਸਤਿਗੁਰ ਸਰਣੀਆ ।
ਤ੍ਰਿਹਾ ਗੁਣਾ ਤੇ ਰਹੈ ਨਿਰਾਰਾ ਸੋ ਗੁਰਮੁਖਿ ਸੋਭਾ ਪਾਇਦਾ ।

ਓਹਦੀਆਂ ਸਿਫ਼ਤਾਂ ਜਾਣ ਜਾਣ ਗਾ ਗਾ ਕੇ ਓਹੋ ਜਹੇ ਹੋ ਰਹਿਣਾ ਉਸਨੂੰ ਪਾਣਾ ਹੈ । ਕਲਜੁਗ ਵਿਚ ਓਹਦੇ ਗੁਣ ਗਾਣਾ ਹੀ ਪਰਧਾਨ ਹੈ ।

ਕਲਜੁਗ ਮਹਿ ਕੀਰਤਨੁ ਪਰਧਾਨਾ । ਗੁਰਮੁਖਿ ਜਪੀਐ ਲਾਇ ਧਿਆਨਾ ।
ਆਪਿ ਤਰੈ ਸਗਲੇ ਕੁਲ ਤਾਰੇ ਹਰਿ ਦਰਗਹ ਪਤਿ ਸਿਉ ਜਾਇਦਾ ।
ਖੰਡ ਪਤਾਲ ਦੀਪ ਸਭਿ ਲੋਆ । ਸਭਿ ਕਾਲੈ ਵਸਿ ਆਪਿ ਪ੍ਰਭਿ ਕੀਆ ।
ਨਿਹਚਲੁ ਏਕੁ ਆਪਿ ਅਬਿਨਾਸੀ ਸੋ ਨਿਹਚਲੁ ਜੋ ਤਿਸਹਿ ਧਿਆਇਦਾ ।

ਜੋ ਏਕੰਕਾਰ ਨੂੰ ਜਾਣਨਾ ਚਾਹੇ ਓਹ ਏਕੰਕਾਰ ਨੂੰ ਜਪ ਕੇ ਉਹੋ ਜਹੇ ਨਿਹਚਲੁ ਹੋਣ ਵਾਲਿਆਂ ਦੀ ਸਰਨੀ ਪਵੇ ਤੇ ਉਹਨਾਂ ਦੀ ਗਵਾਹੀ, ਸਾਖੀ ਨੂੰ ਕਬਲੇ ਤੇ ਓਹਨਾਂ ਦੀ ਧਰੋਂ ਪਾਈ ਬਾਣੀ ਨੂੰ ਸਚ ਜਾਣੇ ।

ਹਰਿ ਕਾ ਸੇਵਕੁ ਸੋ ਹਰਿ ਜੇਹਾ। ਭੇਦ ਨ ਜਾਣਹੁ ਮਾਣਸ ਦੇਹਾ।
ਜਿਉ ਜਲ ਤਰਗ ਉਠਹਿ ਬਹੁ ਭਾਤੀ ਫਿਰਿ ਸਲਲੈ ਸਲਲ ਸਮਾਇਦਾ।

ਹਾਂ ਤਾਂ ਸਾਰੇ ਹੀ ਓਸ ਸਲਲ ਦੀਆਂ ਲਹਿਰਾਂ, ਕਤਰੇ, ਬੂੰਦਾ ਪਰ ਅਸੀਂ ਅਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਐਉਂ ਜਾਣਦੇ ਨਹੀਂ ਤੇ ਭਗਤ ਜਾਣਦੇ ਹਨ। ਓਹਨਾਂ ਕੀਰਤਨ ਦੁਆਰਾ ਆਪਣਾ ਮਨ ਠਹਿਰਾ ਲਇਆ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਅਸੀਂ ਅਜੇ ਨਹੀਂ ਠਹਿਰਾਇਆ।

ਇਕੁ ਜਾਚਿਕੁ ਮੰਗੈ ਦਾਨੁ ਦੁਆਰੈ। ਜਾ ਪ੍ਰਭ ਭਾਵੈ ਤਾ ਕਿਰਪਾ ਧਾਰੈ।
ਦੇਹੁ ਦਰਸੁ ਜਿਤੁ ਮਨੁ ਤ੍ਰਿਪਤਾਵੈ ਹਰਿ ਕੀਰਤਨਿ ਮਨੁ ਠਹਰਾਇਦਾ।

ਅੰਤ ਵਿਚ ਮੈਂ ਨਾਮ, ਸਹਜ ਤੇ ਏਕੰਕਾਰ ਤਿੰਨਾਂ ਨੂੰ ਇਕ ਲੜੀ ਵਿਚ ਪਰੋਤਾ ਦੱਸਣ ਲਈ ਗੁਰ ਪ੍ਰਮਾਣ ਦੇਂਦਾ ਹਾਂ, ਮੈਨੂੰ ਕਿਉਂ ਇਹਨਾਂ ਤਿੰਨਾਂ ਦੀ ਵਿਆਖਿਆ ਦੀ ਲੋੜ ਪਈ ਤੇ ਤੁਹਾਨੂੰ ਕਿਉਂ ਲੋੜ ਹੈ ਇਹਨਾਂ ਦਿਆਂ ਗੁਹਜ–ਪ੍ਰਗਟ ਅਰਥਾਂ ਦੀ :—

੯੯੯–ਹੁਕਮੁ ਬੂਝੈ ਸੋ ਸੇਵਕ ਕਹੀਐ। ਬੁਰਾ ਭਲਾ ਦੁਇ ਸਮਸਰਿ ਸਹੀਐ।
ਹਉ ਮੈ ਜਾਇ ਤ ਏਕੋ ਬੂਝੈ ਸੋ ਗੁਰਮੁਖਿ ਸਹਜਿ ਸਮਾਇਦਾ।
ਹਰਿ ਕੇ ਭਗਤ ਸਦਾ ਸੁਖ ਵਾਸੀ। ਬਾਲ ਸੁਭਾਇ ਅਤੀਤ ਉਦਾਸੀ।
ਅਨਿਕ ਰੰਗ ਕਰਹਿ ਬਹੁ ਭਾਤੀ ਜਿਉ ਪਿਤਾ ਪੂਤੁ ਲਾਡਾਇਦਾ।
ਅਗਮ ਅਗੋਚਰੁ ਕੀਮਤਿ ਨਹੀ ਪਾਈ। ਤਾ ਮਿਲੀਐ ਜਾ ਲਏ ਮਿਲਾਈ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਪ੍ਰਗਟੁ ਭਇਆ ਤਿਨ ਜਨ ਕਉ ਜਿਨ ਧੁਰ ਮਸਤਕਿ ਲੇਖੁ ਲਿਖਾਇਦਾ।
ਤੂ ਆਪੇ ਕਰਤਾ ਕਾਰਣ ਕਰਣਾ। ਸ੍ਰਿਸਟਿ ਉਪਾਇ ਧਰੀ ਸਭ ਧਰਣਾ।
ਜਨ ਨਾਨਕੁ ਸਰਣਿ ਪਇਆ ਹਰਿ ਦੁਆਰੈ ਹਰਿ ਭਾਵੈ ਲਾਜ ਰਖਾਇਦਾ।

੧੦

ਏਕੰਕਾਰ ਬਾਰੇ ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਦੇ ਵਚਨ ਅਮੋਲ ਹਨ। ਮੈਂ ਕਰੀਬਨ ਅਜਿਹੀਆਂ ਤੁਕਾਂ ਲੈ ਲਈਆਂ ਹਨ ਜਿਹਨਾਂ ਵਿਚ ਏਕੰਕਾਰ ਓਅੰਕਾਰ ਆਇਆ ਹੈ।

ਏਕਾ ਏਕੰਕਾਰ ਲਿਖ ਦਿਖਾਲਿਆ। ਊੜਾ ਓਅੰਕਾਰ ਪਾਸ ਬਹਾਲਿਆ।

੧ ਤੋਂ ਸੈਂਭੰ ਤੀਕ ੯ ਹਨ :—

ਨਉ ਅੰਗ ਸੁਨ ਸੁਮਾਰ ਸੰਗ ਨਿਰਾਲਿਆ।

੯ ਅੱਖਰਾਂ ਤੋਂ ਹੀ ਬਾਕੀ ਸਭ ਬਣੇ ਹਨ। ੯ ਮੂਲ ਹੈ। * ੯ ਹੀ ਪਲੈਨਟਸ ਹਨ।

ਓਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਕਰ ਪਵਣ ਪਾਣੀ ਬੈਸੰਤਰ ਧਾਰੇ।
ਇਕ ਕਵਾਉ ਪਸਾਉ ਕਰ ਓਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਪਸਾਰਾ।
ਪਾਰ ਬ੍ਰਹਮ ਪੂਰਨ ਬ੍ਰਹਮ ਅਗਮ ਅਗੋਚਰ ਅਲਖ ਅਪਾਰਾ।

ਪ੍ਰੇਮ ਪਿਆਲੇ ਵੱਸ ਹੋਇ ਭਗਤ ਵਛਲ ਹੋਇ ਸਿਰਜਨਹਾਰਾ ।
ਬੀਉ ਬੀਜ ਅਤਿ ਸੂਖਮੋਂ ਤਿੱਦੂ ਹੋਇ ਵਡ ਬਿਰਖ ਵਿਥਾਰਾ ।
ਸਾਧ ਸੰਗਤ ਸਚਖੰਡ ਵਿਚ ਸਤਿਗੁਰ ਪੁਰਖ ਵਸੈ ਨਿਰੰਕਾਰਾ ।
ਭਾਇ ਭਗਤਿ ਗੁਰਮੁਖ ਨਿਸਤਾਰਾ ।
ਧੰਨ ਧੰਨ ਸਤਿਗੁਰ ਪੁਰਖ ਨਿਰੰਕਾਰ ਆਕਾਰ ਬਨਾਇਆ ।
ਦੁਰਮਤ ਦੂਜਾ ਭਾਉ ਮਿਟਾਇਆ ।
ਸਤਿਨਾਮੁ ਕਰਤਾ ਪੁਰਖ ਮੂਲ ਮੰਤ੍ਰ ਸਿਮਰਣ ਪਰਵਾਣੈ ।

* ੯ ਲਈ ਵੇਖੋ ਵਾਰ ੭ ਪਉੜੀ ੯ ।

ੳ ਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਲਖ ਬ੍ਰਹਮੰਡ ਬਣਾਯਾ ।
ਪੰਜ ਤੱਤ ਉਤਪਤਿ ਲੱਖ ਤ੍ਰੈ ਲੋਅ ਸਮਾਯਾ ।
ਇਕ ਸਿੱਖ ਦੁਇ ਸਾਧ ਸੰਗ ਪੰਜਾਂ ਪਰਮੇਸ਼ੁਰ ।
ਨਉਂ ਅੰਗ ਨੀਲ ਅਨੀਲ ਸੁੰਨ ਅਵਤਾਰ ਮਹੇਸ਼ੁਰ ।
ਇਕ ਕਵਾਉ ਪਸਾਉ ਕਰ ਨਿਰੰਕਾਰ ਆਕਾਰ ਬਣਾਯਾ ।
ਗੁਰਮੁਖ ਸੁਖ ਫਲ ਸਾਧ ਸੰਗ ਸ਼ਬਦ ਸੁਰਤਿ ਲਿਵ ਅਲਖ ਲਖਾਯਾ ।
ਪਿਰਮ ਪਿਆਲਾ ਅਜਰ ਜਰਾਯਾ ।
ੳ ਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਕਰ ਥਿਤ ਨ ਵਾਰ ਨ ਮਾਹੁ ਜਣਾਯਾ ।
ਨਿਰੰਕਾਰ ਆਕਾਰ ਵਿਣ ਏਕੰਕਾਰ ਨ ਅਲਖ ਲਖਾਯਾ ।
ਆਪੇ ਆਪ ਉਪਾਇ ਸਮਾਯਾ ।
ਨਿਰੰਕਾਰ ਆਕਾਰ ਕਰ ਗੁਰ ਮੂਰਤਿ ਹੋਇ ਧਿਆਨ ਧਰਾਯਾ ।

ਗੁਰਮੁਖ ਏਕੰਕਾਰ ਆਪ ਉਪਾਇਆ । ਓਅੰਕਾਰ ਆਕਾਰ ਪ੍ਰਗਟੀ ਆਇਆ
੧—ਨਿਰਾਧਾਰ ਨਿਰੰਕਾਰ ਨ ਅਲਖ ਲਖਾਇਆ ।
੨—ਹੋਆ ਏਕੰਕਾਰ ਆਪ ਉਪਾਇਆ ।

ਏਥੇ ਏਕੰਕਾਰ ਤੋਂ ਉੱਤੇ ਪਹਿਲਾ ਨਿਰੰਕਾਰ ਦੱਸਿਆ ਹੈ । ਨਿਰੰਕਾਰ, ਸ਼ੁਧ ਅਦ੍ਵੈਤ, ਅਬਿਗਤ, ਅਵਿਅਕਤ, ਬ੍ਰਹਮ ਹੈ । ਏਕੰਕਾਰ ਈਸ਼ਵਰ ਹੈ । ਅੱਗੇ ਲਿਖਦੇ ਹਨ ਏਸੇ ਪਉੜੀ ਵਿਚ—

੩—ੳ ਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਚਲਿਤ ਰਚਾਇਆ ।
੪—ਸਚ ਨਾਉਂ ਕਰਤਾਰ ਬਿਰਦ ਸਦਾਇਆ ।

ਓਹੀ ਨਿਰੰਕਾਰ ਪਹਿਲਾਂ ੧ ਹੋਇਆ ਫੇਰ ੳ (ਓਅੰਕਾਰ), ਫੇਰ ਆਕਾਰ ਵਾਲਾ, ਨਾਂਉਂ ਵਾਲਾ, ਸਤਿ ਨਾਮ ਤੇ ਕਰਤਾਰ (ਕਰਤਾ ਪੁਰਖ) ਹੋਇਆ । ਫੇਰ ਉਹ ਪੁਰਖ ਹੋਇਆ ਅਰਥਾਤ ਮਾਇਆ, ਇਸਤ੍ਰੀ ਦਾ ਸਾਜਣ ਵਾਲਾ, ਪਤੀ,

ਭਰਤਾਰ। ਕਿਹੜੀ ਮਾਇਆ ? ਸਚਾ ਪਰਵਦਿਗਾਰ ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਮਾਇਆ। ਏਥੇ ਅਸਾਂਨੂੰ ਉਹਦਾ ਗੁਣ ਪਰਭਾਵ ਤੇ ਸਰੂਪ ਤਿੰਨੇ ਗੱਲਾਂ ਦਰਸਾ ਦਿੱਤੀਆਂ ਗਈਆਂ ਹਨ। ਪਰਵਦਿਗਾਰ ਹੈ। (ਫ਼ਾਰਸੀ ਪਰਵਰਦਗਾਰ ਹੈ, ਪੰਜਾਬੀ ਪਰਵਦਿਗਾਰ; ਗੁਰਬਾਣੀ ਵਿਚ ਤੇ ਹੋਰਨਾ ਵਿਚ ਵੀ ਪਰਵਦਿਗਾਰ ਹੀ ਪੰਜਾਬੀ ਰੂਪ ਦੱਸਿਆ, ਵਰਤਿਆ ਹੈ।) ਮਾਇਆ ਕਿਹੜੀ ? ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਵਾਲੀ। ਮਾਇਆ-ਆਦੇਸ਼-ਕੁਦਰਤ-ਪਸਾਉ। ਪਸਾਉ ਪ੍ਰਸਾਰ ਦਾ ਅਪਭ੍ਰੰਸ਼ ਹੈ। ਪੰਜਾਬੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦਾ ਅਪ-ਭ੍ਰੰਸ਼ ਰੂਪ ਹੈ, ਭਰਿਸ਼ਟਿਆ ਰੂਪ ਹੈ, ਅਹੀਰ ਆਦਿ ਜਾਤੀਆਂ ਦੇ ਤੇ ਕਾਲ-ਦੇਸ਼ ਦੇ ਹੱਥੋਂ, ਨਾ ਕਿ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਪੁਰਾਣੀ ਪੰਜਾਬੀ ਹੈ ਜਿਵੇਂ ਪ੍ਰੋਫੈਸਰ ਤੇਜਾਸਿੰਘ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ। ਅਚਰਜ ਪੰਜਾਬੀ ਹੈ। ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਆਸ਼ਚਰਯ ਦੀ। ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦੇ ਬੋਲਣ ਵਾਲੇ ਹੀ ਹੋਰ ਸਨ, ਉਹਨਾਂ ਦਾ ਕਾਲ, ਖ਼ੁਰਾਕ, ਪੁਸ਼ਾਕ ਹੋਰ ਸੀ। ਇਹ ਤਾਂ ਪਿਸ਼ਾਚ ਜਾਤੀਆਂ ਤੇ ਅਹੀਰਾਂ ਨੇ ਆ ਕੇ ਖ਼ੂਨ ਦੀ ਮਿਲਾਉਟ ਦੁਆਰਾ ਆਪਣੇ ਖਾਣ ਪਾਣ ਦੁਆਰਾ ਹੋਰ ਦਾ ਹੋਰ ਉੱਚਾਰਣ ਕਰਕੇ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਪਰਾਕਿਰਤ ਰੂਪਾਂ ਤੋਂ ਜ਼ਬਾਨ ਨੂੰ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਰੂਪ ਦਿੱਤਾ।

ਇਕ ਕਵਾਉ ਅਤੋਲ ਕੁਦਰਤਿ ਜਾਣੀਐ। ਓਅੰਕਾਰ ਅਬੋਲ ਚੋਜ ਵਿਡਾਣੀਐ।

ਅਸਾਂ ਪੰਜਾਬੀ ਲਿਖਦਿਆਂ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਲਫ਼ਜ਼ਾਂ ਦੇ ਸਿਰਫ਼ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਰੂਪ ਲੈਣੇ ਹਨ, ਭਾਵੇਂ ਦੂਜੇ ਰੂਪ ਵੀ ਪੁਰਾਣੀਆਂ ਪੁਸਤਕਾਂ ਵਿੱਚ ਕਈਆਂ ਕਾਰਣਾਂ ਕਰਕੇ ਵਰਤੇ ਗਏ ਦੀਹਦੇ ਹੋਣ।

ਸਤਿਰੂਪ ਗੁਰਦਰਸਨੋਂ ਪੂਰਨ ਬ੍ਰਹਮ ਅਸਚਰਜ ਵਿਖਾਯਾ।
ਸਤਿਨਾਮੁ ਕਰਤਾ ਪੁਰਖ ਪਾਰ ਬ੍ਰਹਮ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਧਿਆਯਾ।

ਅਵਤਾਰਾਂ ਦਾ ਫ਼ਲਸਫ਼ਾ ਕੀ ਹੈ। ਓਸੇ ਇਕ ਦਾ ਬਿਸੇਖ ਅਵਰਤਨ, ਉਤਰਨ ਹੈ। ਏਕੰਕਾਰ ਦੀ ਚੋਜ।

ਮੱਛ ਰੂਪ ਅਵਤਾਰ ਧਰ ਪੁਰਖਾਰਥ ਕਰ ਵੇਦ ਉਧਾਰੇ।
ਕਛ ਰੂਪ ਹੋਇ ਅਵਤਰੇ ਸਾਗਰ ਮੱਥ ਜਗ ਰਤਨ ਪਸਾਰੇ।
ਤੀਜਾ ਕਰ ਬੈਰਾਹ ਰੂਪ ਧਰਤ ਉਧਾਰੀ ਦੈਤ ਸੰਘਾਰੇ।
ਚਉਥਾ ਕਰ ਨਰਸਿੰਘ ਰੂਪ ਅਸੁਰ ਮਾਰ ਪ੍ਰਹਲਾਦ ਉਬਾਰੇ।
ਇਕਸੇ ਹੀ ਬ੍ਰਹਮੰਡ ਵਿਚ ਦਸ ਅਵਤਾਰ ਲਏ ਹੰਕਾਰੇ।
ਕਰ ਬ੍ਰਹਮੰਡ ਕਰੋੜ ਜਿਨ ਲੂਅ ਲੂਅ ਅੰਦਰ ਸੰਜਾਰੇ।
ਲਖ ਕਰੋੜ ਇਵੇਹਿਆਂ ਓਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਸਵਾਰੇ।
ਚਰਨ ਕਵਲ ਗੁਰ ਅਗਮ ਅਪਾਰੇ।

ਅਵਤਾਰ ਵੀ ਓਅੰਕਾਰ ਦੇ ਸਵਾਰੇ, ਧਾਰੇ ਅਕਾਰ ਹੀ ਹਨ। ਓਅੰਕਾਰ ਤੇ

ਨਿਰੰਕਾਰ ਤੇ ਏਕੰਕਾਰ ਇਕ ਹੀ ਹਨ।

ਨਰਪਤਿ ਨਰਹਿ ਨਰਿੰਦ ਹੈ ਨਿਰੰਕਾਰ ਆਕਾਰ ਬਣਾਯਾ।
ਬੇਸ਼ੁਮਾਰ ਨਿਰੰਕਾਰ ਹੈ ਅਲਖ ਅਪਾਰ ਅਲਾਹੁ ਸਿਞਾਯਾ।

ਉਹਦੀ ਕੁਦਰਤ ਉਹਦਾ ਹੁਕਮ ਉਹਦਾ ਆਦੇਸ਼ ਸਭ ਇੱਕੋ ਹੀ ਹਨ।

ਨਿਰੰਕਾਰ ਹੈ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ, ਬਾਕੀ ਗੁਰੂ ਆਕਾਰ ਹਨ।

ਨਿਰੰਕਾਰ ਨਾਨਕ ਦੇਉ ਨਿਰੰਕਾਰ ਆਕਾਰ ਬਣਾਯਾ।
ਗੁਰੁ ਅੰਗਦ ਗੁਰੁ ਅੰਗ ਤੇ ਮੰਗਹੁ ਜਾਣ ਤਰੰਗ ਉਠਾਯਾ।
ਆਦਿ ਪੁਰਖ ਆਦੇਸ਼ ਕਰ ਆਦਿ ਪੁਰਖ ਆਦੇਸ਼ ਕਰਾਯਾ।
ਏਕੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਕਰ ਗੁਰੁ ਗੋਬਿੰਦ ਨਾਉਂ ਸਦਵਾਯਾ।
ਪਾਰ ਬ੍ਰਹਮ ਪੂਰਨ ਬ੍ਰਹਮ ਨਿਰਗੁਣ ਸਰਗੁਣ ਅਲਖ ਲਖਾਯਾ।
ਸਾਧ ਸੰਗਤਿ ਆਰਾਧਯਾ ਭਗਤ ਵਛਲ ਹੋਇ ਅਛਲ ਛਲਾਯਾ।
ੳ ਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਕਰ ਇਕ ਕਵਾਉ ਪਸਾਉ ਪਸਾਯਾ।

੧. ਨਿਰੰਕਾਰ ਆਕਾਰ ਹੋਇ ਏਕੰਕਾਰ ਅਪਾਰ ਸਦਾਯਾ।
੨. ਏਕੰਕਾਰ ਹੁ ਸਬਦ ਧੁਨ ਓਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਬਣਾਯਾ।

ਨਿਰੰਕਾਰ ਤੋਂ ਆਕਾਰ ਹੋਏ, ਅਰਥਾਤ ਉਹ ਏਕੰਕਾਰੋਂ ਅਪਾਰ ਹੋ ਗਇਆ, ਹੋ ਗਇਆ ਨਹੀਂ ਹੋਣਾ ਹਵਾਣਾ ਕੀ ਹੈ, ਸਦਵਾਇਆ। ਕਿਵੇਂ ਸਦਵਾਇਆ ਕਿਵੇਂ ਹੋਇਆ ਸਬਦ ਧੁਨ ਦੁਆਰਾ। ਇਕ ਸ਼ਬਦ ਤੋਂ ਅਨੰਤ ਹੋ ਗਇਆ। ਇਕ ਤੋਂ ਉਹਦੇ ਅਨੰਤ ਨਾਂ ਹੋਏ ਤ ਅਜ ਖ਼ਤਮ ਨਹੀਂ ਹੋਏ।

੩. ਇਕ ਦੁ ਹੋਏ ਤਿਨ ਦੇਵ ਤਿਹੁ ਮਿਲ ਦਸ ਅਵਤਾਰ ਗਣਾਯਾ।
ਸ਼ੇਸ਼ ਨਾਗ ਸਿਮਰਨ ਕਰੇ ਨਾਵਾਂ ਅੰਤ ਬਿਅੰਤ ਨ ਪਾਯਾ।

ੳਂ ਤਾਂ ਓਹ ਨਿਰੰਕਾਰ ਹੈ। ਸਰਿਸ਼ਟੀ ਸਨਬੰਧੀ ਗਲ ਬਾਤ ਕਰਨ ਵੇਲੇ ਅਸੀਂ ਉਸਨੂੰ ਏਕੰਕਾਰ ਕਹਿਕੇ ਕਹਿੰਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਇਕ ਤੋਂ ਅਨੇਕ ਹੋਇਆ। ਏਕੰਕਾਰ ਤੋਂ ਅਨੇਕ ਹੋਣਾ ਕੀ। ੳਂ ਧੁਨੀ ਤੋਂ ਬੇਅੰਤ ਸ਼ਬਦ ਨਾਮ ਰੂਪ ਗੁਣ ਬਣਿਆ। ਓਅੰਕਾਰ ਤੋਂ ਇਹ ਸਭ ਅਕਾਰ, ਨਾਦ ਹੋਇਆ।

੪. ਇਕ ਦੂ ਹੋਵੇ ਤਿੰਨ ਦੇਵ ਤਿਹੁ ਮਿਲ ਦਸ ਅਵਤਾਰ ਗਣਾਯਾ।

੧ ਤੋਂ ੩ ਤੇ ੩ ਤੋਂ ੩ × ੩ + ੧ = ੧੦ ਹੋਏ।

੧੦; ੧ ਨਾਲ ਦੂਜਾ ਕੀ ਲਗਾ, ਬਸ ਹੁਣ ਤੇ ਗਿਣਤੀ ਦਾ ਅੰਤ ਹੀ ਨਹੀਂ ਰਹਿਆ।

ਇਕ ਤੋਂ ਹੋਣਾ ਕੀ, ਉਪਰ ਥਲੇ, ਸਜੇ ਖਬੇ, ਅੰਬਰ ਧਰਤ ਦਾ ਵਿਛੜਨਾ ਹੈ, ਅੰਡੇ ਦਾ ਦੋ ਟੋਟੇ ਹੋਣਾ ਹੈ ਮਿਤਰਵਰਣ ਤੋਂ ਮਿਤਰ ਤੇ ਵਰਣ ਹੋ ਜਾਣਾ ਹੈ।

ਅੰਬਰ ਧਰਤ ਵਿਛੋੜਿਅਨ ਕੁਦਰਤ ਕਰ ਕਰਤਾਰ ਕਹਾਯਾ।
ਧਰਤੀ ਅੰਦਰ ਪਾਣੀਐ ਵਿਣ ਥੰਮ੍ਹਾਂ ਆਗਾਸ ਰਹਾਯਾ।

ਆਗਾਸ ਪੰਜਾਬੀ ਅਪਭਰੰਸ ਹੈ ਆਕਾਸ਼ ਦਾ ।

ਹੁਣ ਵੀ ਸਾਡੇ ਪਾਸੇ ਰਾਵਲਪਿੰਡੀ ਜ਼ਿਲੇ ਵਿਚ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ, ਰੁਪਿਆ ਸੁਟਿਆ ਸੀ ਗਡੀ ਚੜ੍ਹ ਗਿਆ, ਅਗਾਸ ਚੜ੍ਹ ਗਇਆ।

ਛਿਅ ਰੁਤ ਬਾਰਹ ਮਾਹ ਕਰ ਖਾਣੀ ਬਾਣੀ ਚਲਤ ਰਚਾਯਾ।
ਨਿਰੰਕਾਰ ਏਕੰਕਾਰ ਹੋਇ ਓਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਅਪਾਰਾ।
ਰੋਮ ਰੋਮ ਵਿਚ ਰੱਖਿਅਨ ਕਰ ਬ੍ਰਹਮੰਡ ਕਰੋੜ ਪਸਾਰਾ।
ਕੇਤੜਿਆਂ ਜੁਗ ਵਰਤਿਆ ਕਰ ਕਰ ਕੇਤੜਿਆਂ ਅਵਤਾਰਾ।
ਇਕ ਦੂੰ ਹੋਇ ਸਹਸ ਫਲ ਗੁਰੁ ਸਿਖ ਸਾਧ ਸੰਗਤਿ ਓਅੰਕਾਰਾ।

ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਸਭ ਤੋਂ ਵੱਡੇ ਪੰਜਾਬੀ ਦੇ ਆਲਮ ਫ਼ਾਜ਼ਲ ਹਨ। ਇਹਨਾਂ ਤੋਂ ਪੰਜਾਬੀ ਸਿਖੀਏ। ਕੂੜ ਅਹੇਰੀ ਪਿੰਡ ਹੈ ਪੰਜ ਦੂਤ ਵਸਨਿ ਬੁਰਿਆਰਾ। ਇਹੋ ਅਹੀਰ, ਅਹੇਰੇ ਹਨ ਜਿਹਨਾਂ ਪਿੰਡ ਵਸਾਏ ਤੇ ਹੋਰ ਗੱਲਾਂ ਦੇ ਨਾਲ ਪਰਾ-ਕਿਰਤ ਤੇ ਪਾਲੀਨੂੰ ਅਪਭਰਿਸ਼ਟ ਕੀਤਾ, ਪੰਜਾਬੀ ਬਣਾਈ ਕੁਝ ਆਪਣੇ ਲਫ਼ਜ਼ ਵਾੜਕੇ। ਉਨਮਾਦ ਨੂੰ ਭਾਈ ਸਾਹਿਬ ਉਦਮਾਦ ਲਿਖਦੇ ਹਨ।

ਇਕ ਕਵਾਉ ਪਸਾਉ ਕਰ ਓਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਬਨਾਯਾ।
ਅੰਬਰਿ ਧਰਤਿ ਵਿਛੋੜ ਕੈ ਵਿਚ ਥੰਮਾਂ ਆਕਾਸ਼ ਰਹਾਯਾ।
ਪਉਣ ਪਾਣੀ ਬੈਸੰਤਰੇ ਤਿੰਨੇ ਵੈਰੀ ਮੇਲ ਮਿਲਾਯਾ।
ਚੋਜ ਵਿਡਾਣ ਚਲਿਤ ਵਰਤਾਯਾ।

ਤਿੰਨਾਂ ਦੇਵਤਿਆਂ ਦੀ ਪੈਦਾਇਸ਼ ਵੀ ਦੱਸ ਦਿੱਤੀ, ਉਹਨਾਂ ਦਾ ਸਰੂਪ ਵੀ, ਪਰਭਾਉ ਵੀ ਤੇ ਗੁਣ ਵੀ।

ਸ਼ਿਵ ਸ਼ਕਤੀ ਦਾ ਰੂਪ ਕਰ ਸੂਰਜ ਚੰਦ ਚਰਾਗ ਬਲਾਯਾ।
ਸੂਰਜ ਏਕੰਕਾਰ ਦਿਹ ਤਾਰੇ ਦੀਪਕ ਰੂਪ ਲੁਕਾਯਾ।
ਓਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਜਿਸ ਪਰਵਦਗਾਰ ਅਪਾਰ ਅਲਾਯਾ।
ਅਬਗਤਿ ਗਤਿ ਅਗਮ ਹੈ ਅਕਥ ਕਥਾ ਨ ਅਲਖ ਲਖਾਯਾ।
ਏਕੰਕਾਰ ਇਕਾਂਗ ਲਿਖ ਊੜਾ ਓਅੰਕਾਰ ਲਖਾਇਆ।
ਸਤਿਨਾਮ ਕਰਤਾ ਪੁਰਖ ਨਿਰਭਉ ਹੋਇ ਨਿਰਵੈਰ ਸਦਾਇਆ।
ਅਕਾਲ ਮੂਰਤਿ ਪਰਤੱਖ ਸੋਇ ਨਾਂਉ ਅਜੂਨੀ ਸੈਭੰ ਭਾਇਆ।
ਗੁਰਪ੍ਰਸਾਦ ਸੁਆਦਿ ਸਚ ਜੁਗਹ ਜੁਗੰਤਰ ਹੋਂਦਾ ਆਇਆ।

ਅਕਾਰ ਦੀ ਤਫ਼ਸੀਲ ਇਉਂ ਹੈ, ਇਕ ਤੋਂ ਦੋ ਸ਼ਿਵ ਸ਼ਕਤੀ, ਪੁਰਖ-ਮਾਇਆ;

ਫੇਰ ਤਿੰਨ ਗੁਣ ਤੇ ਕਾਲ। ਫੇਰ ਚਾਰ ਦੇਸ਼ ਤੇ ਖਾਂਣੀ। ਫੇਰ ਪੰਜ ਤਤ ਤੇ ਇੰਦਰੇ। ਜਿੰਨੇ ੨, ਜਿੰਨੇ ੩, ਜਿੰਨੇ ੪, ਜਿੰਨੇ ੫ ਆਦਕ ਹਨ, ਉਹ ਭਾਈ ਜੀ ਨੇ ਸਤਵੀਂ ਵਾਰ ਵਿਚ ਗਿਣਾ ਹੀ ਦਿਤੇ ਹਨ।

ਇਕ ਕਵਾਉ ਪਸਾਉ ਕਰ ਕੁਦਰਤ ਅੰਦਰ ਕੀਆ ਪਸਾਰਾ।
ਪੰਜ ਤਤ ਪਰਵਾਣ ਕਰ ਚਹੁ ਖਾਣੀਂ ਵਿਚ ਸਭ ਵਰਤਾਰਾ।
ਪੰਜ ਤਤ ਪਰਵਾਣ ਕਰ ਪੰਜ ਮਿਤ੍ਰ ਪੰਜ ਸਤ੍ਰ ਮਿਲਾਇਆ।
ਪੰਜੇ ਤਿੰਨ ਅਸਾਧ ਸਾਧ ਸਾਧ ਸਦਾਇ ਸਾਧੂ ਬਿਰਦਾਇਆ।
ਪੰਜੇ ਏਕੰਕਾਰ ਲਿਖ ਅੱਗੇਂ ਪਿੱਛੀਂ ਸਹਸ ਫਲਾਇਆ।
ਪੰਜ ਅਖਰ ਪਰਧਾਨ ਕਰ ਪਰਮੇਸ਼ਰ ਹੁਇ ਨਾਂਉਂ ਧਰਾਇਆ।

ਉਹੀ ਇਕ ਬਾਵਨ, ਬਵੰਜਾ ਹੋਇਆ, ਇਕ ਨਾਦ, ਓਂ ਧੁਨੀ ਸੀ। ਬਵੰਜਾ ਅੱਖਰ। ਬਾਵਨ ਚਦਨ, ਬੂੰਦ ਇਕ ਠੰਢੇ ਤਤੇ ਹੋਇ ਖਲੋਆ। ਅਖਰ ਕੁਝ ਸੂਰਜ ਦੇ ਹਨ, ਕੁਝ ਚੰਦ ਤੇ ਕੁਝ ਅਗਨੀ ਦੇ।

ਸ਼ਿਵ ਸ਼ਕਤੀ ਵਿਚ ਵਣਜ ਕਰ ਚਉਦਹ ਹਟ ਸ਼ਾਹ ਵਣਜਾਰਾ। ਚਾਰ ਖਾਣੀ, ਚਾਰ ਵਰਣ। ੧, ੨, ੩, ੪, ੫, ੬, ੭, ੮, ੯, ੧੦, ੧੧, ੧੨ [੧੩, ੧੪]।

ਓ ਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਕਰ ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਪੰਜ ਤੱਤ ਉਪਜਾਯਾ।
ਬ੍ਰਹਮਾ ਬਿਸਨੁ ਮਹੇਸ ਸਾਜ ਦਸ ਅਵਤਾਰ ਚਲਿਤ ਵਰਤਾਯਾ।
ਛਿਅ ਰੁਤਿ ਬਾਰਹ ਮਾਹ ਕਰ ਸੱਤ ਵਾਰ ਸੈਂਸਾਰ ਉਪਾਯਾ।
ਜਨਮ ਮਰਨ ਦੇ ਲੇਖ ਲਿਖ ਸਾਸਤ ਵੇਦ ਪੁਰਾਣ ਸੁਣਾਯਾ।
ਸਾਧ ਸੰਗਤ ਦਾ ਆਦ ਅੰਤ ਥਿਤ ਨ ਵਾਰ ਨ ਮਾਹ ਲਖਾਯਾ।
ਸਾਧ ਸੰਗਤ ਸਚੁ ਖੰਡ ਹੈ ਨਿਰੰਕਾਰ ਗੁਰ ਸਬਦੁ ਵਸਾਯਾ।
ਬ੍ਰਹਮੇ ਦਿਤੇ ਵੇਦ ਚਾਰ ਚਾਰ ਵਰਣ ਆਸ਼੍ਰਮ ਉਪਜਾਏ।
ਛਿਅ ਦਰਸਨ ਛਿਅ ਸਾਸਤਾ ਛਿਅ ਉਪਦੇਸ ਭੇਸ ਵਰਤਾਏ।
ਚਾਰੇ ਕੁੰਡਾ ਦੀਪ ਸੱਤ ਨਉ ਖੰਡ ਦਹ ਦਿਸ ਵੰਡ ਵੰਡਾਏ।

ਇਸ ਸਭ ਕੁਝ ਜਾਣ ਕੇ ਵੀ—ਆਕਾਰ ਦਾ ਅਕਾਰ-ਥੋੜਾ ਬਹੁਤ ਜਾਣਕੇ ਵੀ-ਨਿਰੰਕਾਰ ਨੂੰ ਨਹੀਂ ਪਛਾਣ ਸਕੀਦਾ। ਸਾਇੰਸ ਆਕਾਰ ਦੇ ਮਗਰ ਲੱਗੀ ਹੋਈ ਹੈ। ਚੰਗੀ ਗਲ ਹੈ, ਪਰ ਜੇ ਉਹ ਸਮਝਦੀ ਹੈ ਕਿ ਮੈਂ ਸਾਰਾ ਆਕਾਰ ਮਿਥ ਸਕਦੀ ਹਾਂ ਤੇ ਏਦਾਂ ਨਿਰੰਕਾਰ ਦਾ ਵੀ ਮੇਚ ਲੈ ਸਕਦੀ ਹਾਂ ਤਾਂ ਇਹ ਉਹਦੀ ਭੁੱਲ ਹੈ, ਉਹਦੀ ਵੀ ਤੇ ਗਿਆਨੀਆਂ ਦੀ ਵੀ ਭੁੱਲ ਹੈ।

ਜਪ ਤਪ ਸੰਜਮ ਹੋਮ ਜਗ ਕਰਮ ਧਰਮ ਕਰ ਦਾਨ ਕਰਾਏ!
ਨਿਰੰਕਾਰ ਨ ਪਛਾਣਿਆ ਸਾਧ ਸੰਗਤਿ ਦਸੈ ਨ ਦਸਾਏ।

ਚੰਚਲ ਚਲਤਿ ਪਖੰਡ ਬਹੁ ਵਲ ਛਲ ਨਰ ਪਰਪੰਚ ਵਧਾਏ।
ਪਾਰ ਬ੍ਰਹਮ ਪੂਰਨ ਬ੍ਰਹਮ ਨਿਰਭਉ ਨਿਰੰਕਾਰ ਨ ਦਿਖਾਏ।

ਕਲੀ ਕਾਲ ਅੰਦਰ ਕਿਸ ਕਰਕੇ ਨਿਰੰਕਾਰ ਪਛਾਣਿਆ ਜਾਏਗਾ ?

ਸਦਾ ਸਹਜ ਬੈਰਾਗ ਹੈ ਕਲੀ ਕਾਲ ਅੰਦਰ ਪਰਗਾਸੀ।
ਸਾਧ ਸੰਗਤਿ ਮਿਲ ਬੰਦ ਖਲਾਸੀ।
ਓਅੰਕਾਰ ਅਕਾਰ ਜਿਸ ਤਿਸਦਾ ਅੰਤ ਨ ਕੋਊ ਪਾਈ।
ਕੁਦਰਤਿ ਕੀਮ ਨ ਜਾਣੀਐ ਕਾਦਰ ਅਲਖ ਨ ਲਖਿਆ ਜਾਈ।
ਦਾਤ ਨ ਕੀਮ ਨ ਰਾਤ ਦਿਹੁ ਬੇਸੁਮਾਰ ਦਾਤਾਰ ਖੁਦਾਈ।
ਅਬਿਗਤ ਗਤਿ ਅਨਾਥ ਨਾਥ ਅਕਥ ਕਥਾ ਨੇਤ ਨੇਤ ਅਲਾਈ।

੪ × ੪ = ੧੬
੫ × ੫ = ੨੫
੬ × ੬ = ੩੬ ਵੇਖੋ ਵਾਰ ੪੦, ਪਉੜੀ ੨੦। ਇਹ ਵੀ ਆਕਾਰ
੭ × ੭ = ੪੯ ਹੀ ਹਨ।
੮ × ੮ = ੬੪
੯ × ੯ = ੮੧
੧੦ ×੧੦= ੧੦੦

(੧੧)

ਨਿਰੰਕਾਰ ਤਾਂ ਨਾਂਹ, ਨਾਂਹ, ਇਹ ਵੀ ਨਹੀਂ, ਇਹ ਵੀ ਨਹੀਂ ਕਰਕੇ ਵਰਨਿਆ ਜਾ ਸਕਦਾ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬਾਂ ਮਾਰੂ ਰਾਗ ਤੇ ਗੌੜੀ ਸੁਖਮਨੀ ਵਿਚ ਸਲਾਹਿਆ ਹੈ ਏਦਾਂ। ਜਬ ਆਕਾਰ ਇਹ ਕਛੁ ਨ ਦ੍ਰਿਸ਼ਟੇਤਾ। ਤਬ ਪਾਪ ਪੁੰਨ ਕਹੁ ਕਹਾਂ ਤੇ ਹੋਤਾ। ਓ ਅੰਕਾਰ (ਬੇਦ ਨਿਰਮਏ) ਨੂੰ ਤੇ ਏਕੰਕਾਰ ਨੂੰ ਡਖਣੀ ਓਅੰਕਾਰ ਵਿਚ ਵਰਨਿਆਂ ਹੈ। ਉਹਦਾ ਵਰਨਨ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਤੇ ਆਕਾਰ ਨੂੰ ਸੋਦਰ ਤੇ ਸਹਸਰ ਨਾਮਾ ਵਿਚ, ਜਪੁ ਸਾਹਿਬ ਵਿਚ। ਜ਼ਰਾ ਅਸੀਂ ਨਿਰੰਕਾਰ ਤੇ ਆਕਾਰ ਦੀਆਂ ਤੁਕਾਂ ਤੇ ਸ਼ਬਦ ਲਈਏ। ਨਾਲੇ ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਦੀ ਵਿਆਖਿਆ।

ਪਾਰ ਬ੍ਰਹਮ ਕੇ ਸਗਲੇ ਠਾਉਂ। ਜਿਤੁ ਜਿਤੁ ਘਰਿ ਰਾਖੈ ਤੈਸਾ ਤਿਨ ਨਾਉਂ।

ਆਕਾਰ ਕਿਸ਼ ਬਿਨਾ ਤੇ ਬਣੇ, ਇਹ ਦਸਿਆ ਹੈ ਉਪਰਲੀਆਂ ਤੁਕਾਂ ਵਿਚ। ਓਅੰਕਾਰ ਤੋਂ ਅਨੰਤ ਨਾਮ ਹੋਏ, ਨਾਂ ਦੇ ਨਾਲ ਰੂਪ ਗੁਣ ਲਗੇ ਹੈਨ ਹੀ। ਨਾਂ ਓਸ ਦਿਆਂ ਗੁਣਾਂ ਨੂੰ ਦੇਸ਼ ਕਾਲਵਿਚ ਦਰਸ਼ਾਂਦੇ ਹਨ। ਨਾਂਵਾ ਹੀ ਥੋਂ, ਅੱਖਰਾਂ ਹੀ ਤੋਂ ਸਭ ਰਚਨਾ ਹੋਈ। ਇਹਨਾਂ ਅੱਖਰਾਂ ਵਿਚ ਜੋ ਆਕਾਰ ਹਨ ਨਿਰਾਕਾਰ ਉਹਨਾਂ ਵਿਚ ਛਪਿਆ ਲੁਕਿਆ ਪਇਆ ਹੈ।

ਨਾਨਕ ਰਚਨਾ ਪਭਿ ਰਚੀ ਬਹ ਬਿਧਿ ਅਨਿਕ ਪਕਾਰ।

ਇਹ ਆਕਾਰ ਬਹੁਤ ਬਿਧਿ ਕਰਕੇ ਹੋਇਆ ਤੇ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਤੇ ਬਹੁਤ ਪ੍ਰਕਾਰ ਦਾ ਹੈ। ਅਨੰਤ ਆਕਾਰ ਦੀ ਅਸੀਮਤਾ ਇਉਂ ਦੱਸੀ ਹੈ ਕਿ ਉਸ ਏਕੰਕਾਰ ਦੇ ਰੋਮ ਰੋਮ ਵਿਚ ਬ੍ਰਹਮੰਡ ਹਨ ਤੇ ਅਸੀਂ ਹਿੰਦੂ, ਮੁਸਲਮਾਨ, ਸਿੱਖ, ਈਸਾਈ ਇਸ ਜ਼ਮੀਨ ਵਾਲੇ ਜਿਸ ਗੱਲ ਤੇ ਭੁਲੇ ਫਿਰਦੇ ਤੇ ਜਿਸ ਨੂੰ ਹਉਮੈਂ ਰੂਪ ਵਿਚ ਗੱਲ ਲਾਂਦੇ ਹਾਂ, ਉਹ ਤੁੱਛ ਤੇ ਮਾਮੂਲੀ ਜੇਹੀ ਹੈ। ਇਕ ਬਿਸ਼ਨ ਤੇ ਜ਼ਮੀਨ, ਸੂਰਜ, ਚੰਨ ਤੇ ਨਾਜ਼ ਕਰਦੇ ਹਾਂ, ਭਲਾ ਧਿਆਨ ਕਰੋ ਏਸ ਆਕਾਰ ਦਾ ਜਿੱਥੇ ਲੱਖ ਮੁਹੰਮਦ, ਲੱਖ ਬ੍ਰਹਮੇ, ਬਿਸ਼ਨ, ਮਹੇਸ਼, ਗੋਰਖ ਹਨ। ਤੇ ਇਹ ਅਨੰਤ ਆਕਾਰ ਓਸ ਅਸੀਮ ਦਾ ਕੱਖ ਮਾਤਰ ਵੀ ਨਹੀਂ।

ਕਈ ਕੋਟਿ ਪਵਣ ਪਾਣੀ ਬੈਸੰਤਰ। ਕਈ ਕੋਟਿ ਸਸੀਅਰ ਸੂਰ ਨਖੵਤ੍ਰ।

ਕਈ ਕੋਟਿ ਦੇਵ ਦਾਨਵ ਇੰਦ੍ਰ ਸਿਰਿ ਛਤ੍ਰ। ਸਗਲ ਸਮਗ੍ਰੀ ਅਪਨੈ ਸੂਤਿ ਧਾਰੈ।

ਉਹ ਸੂਤਰਧਾਰ ਹੈ ਏਸ ਡਰਾਮੇ ਦਾ। ਉਹ ਸੂਤਰਕਾਰ ਹੈ। ਵੇਦ ਪੁਰਾਨ ਵੀ ੪ ਤੇ ੧੮ਹੀ ਨਹੀਂ। ਕਈ ਕੋਟਿ ਬੇਦ ਪੁਰਾਨ ਸਿਮ੍ਰਿਤ ਅਰੁ ਸਾਸਤ। ਮੁਦਾ ਗੱਲ ਕੀ

ਕਈ ਕੋਟਿ ਖਾਣੀ ਅਰੁ ਖੰਡ। ਕਈ ਕੋਟਿ ਅਕਾਸ਼ ਬ੍ਰਹਮੰਡ।

ਕਈ ਕੋਟਿ ਹੋਏ ਅਵਤਾਰ। ਕਈ ਜੁਗਤਿ ਕੀਨੋ ਬਿਸਥਾਰ।

ਸਾਇੰਸ ਇਕੋ ਜੁਗਤਿ (ਯੁਕਤਿ ਦਾ ਪੰਜਾਬੀ ਅਪਭਰੰਸ਼) ਨੂੰ ਰੋ ਰਹੀ ਹੈ ਤੇ ਲੈ ਕੇ ਬੜੀ ਆਕੜ ਕਰ ਰਹੀ ਹੈ।

ਕਈ ਬਾਰਿ ਪਸਰਿਓ ਪਾਸਾਰ। ਸਦਾ ਸਦਾ ਇਕੁ ਏਕੰਕਾਰ।

ਏਸ ਪਸਾਰੇ ਨਾਲ ਓਹ ਘਟ ਵਧ ਨਹੀਂ ਜਾਂਦਾ, ਸਦਾ ਇਕ ਹੈ ਤੇ ਹੋਵੇਗਾ।

ਨਾਨਾ ਬਿਧਿ ਕੀਨੋ ਬਿਸਥਾਰੁ। ਪ੍ਰਭੁ ਅਬਿਨਾਸੀ ਏਕੰਕਾਰੁ।

ਆਕਾਰ ਤੇ ਚੁਕਿਆ ਹੁਣ ਨਿਰੰਕਾਰ ਨੂੰ ਲੌ, ਨੇਤ ਨੇਤ ਕਰਕੇ।

ਸਰਗੁਨ ਨਿਰਗੁਨ ਨਿਰੰਕਾਰ ਸੁਨ ਸਮਾਧੀ ਆਪਿ।

ਆਪਨ ਕੀਆ ਨਾਨਕਾ ਆਪੇ ਹੀ ਫਿਰਿ ਜਾਪਿ।

ਜਬ ਅਕਾਰ ਇਹੁ ਕਛੁ ਨ ਦ੍ਰਿਸਟੇਤਾ

[ਦਰਿਸਟਦਾ = ਦੀਹਦਾ]

ਪਾਪ ਪੁੰਨ ਤਬ ਕਹ ਤੇ ਹੋਤਾ। ਜਬ ਧਾਰੀ ਆਪਨ ਸੁੰਨ ਸਮਾਧਿ।

ਤਬ ਬੈਰ ਬਿਰੋਧ ਕਿਸੁ ਸੰਗਿ ਕਮਾਤਿ। ਜਬ ਇਸ ਕਾ ਬਰਨੁ ਚਿਹਨੁ ਨਹੀ ਜਾਪਤ

[ਜਾਪਤ = ਜਾਪਦਾ]

ਜਬ ਆਪਨ ਆਪ ਆਪਿ ਪਾਰ ਬ੍ਰਹਮ। ਤਬ ਮੋਹਾ ਕਹਾ ਕਿਸੁ ਹੋਵਤ ਭਰਮ।

ਲੌ ਸੁਧ ਅਦਵੈਤ ਵੀ ਹੈ ਜੇ-ਇਹੋ ਹੀ ਹੈ ਜੇ ਸਿਖੀ ਵੀ। ਮਾਇਆ ਦੀ ਗੰਜਾਇਸ਼ ਹੀ ਨਹੀਂ-ਨਾ ਰੱਸੀ ਵਿਚ ਸਪ ਦੇ ਭਰਮ ਦੀ।

ਆਪਨ ਖੇਲੁ ਆਪਿ ਵਰਤੀਜਾ। ਨਾਨਕ ਕਰਨੈ ਹਾਰੁ ਨ ਦੂਜਾ।

ਜਬ ਨਿਰਗੁਨ ਪ੍ਰਭ ਸਹਜ ਸੁਭਾਇ। ਤਬ ਸਿਵ ਸਕਤਿ ਕਹਹੁ ਕਿਤੁ ਠਾਇ।

ਇਹ ਵੀ ਸਹਜ ਸੁਭਾਇ ਹੀ ਰਹਿੰਦਾ ਹੈ, ਸਾਨੂੰ ਵੀ ਜਿਹੜੇ ਉਹਦੇ ਪਰੇਮ ਦੁਆਰਾ ਉਹਦੇ ਨਾਲ ਚੇਤ ਕੇ ਇਕ ਹੋਣਾ ਚਾਹੁੰਦੇ ਹਾਂ, ਸਹਜ ਪਦ ਹੀ ਪਰਾਪਤ ਕਰਨਾ ਹੈ। ਫੇਰ ਅਸੀਂ ਵੀ ਸਿਵ ਤੇ ਸਕਤੀ,ਪਾਪ ਤੇ ਪੁੰਨ, ਬੰਧ ਤੇ ਮੁਕਤ, ਬੈਰਾਈ ਤੇ ਮਿਤਰਤਾ, ਬਰਨ ਤੇ ਚਿਹਨ, ਹਰਖ ਤੇ ਸੋਗ, ਮੋਹ ਤੇ ਭਰਮ, ਸੁਰਗ ਤੇ ਨਰਕ ਡਰ ਤੇ ਨਿਡਰਤਾ ਤੋਂ ਪਰੇ, ਉਚੇ ਉਠ ਜਾਵਾਂਗੇ।

ਉਹ ਤਾਂ ਸਦਾ ਨਿਰੰਜਨ ਨਿਰੰਕਾਰ ਨਿਰਬਾਨ ਹੈ। ਉਹ ਸਾਡਾ ਆਖ਼ਰੀ ਲੱਖ ਤੇ Goal ਹੈ। ਏਸੇ ਲਈ ਨਿਰਬਾਨ ਪਦ, ਅਭੈ ਪਦ ਤੇ ਨਿਰਬਾਨ ਤੇ ਨਿਰਭਉ ਇੱਕੋ ਹੀ ਹਨ, ਪਦ ਤੇ ਪਦਵੀ ਦਾ ਮਾਲਕ।

ਉਹ ਤ੍ਰਿਗੁਣਾਤੀਤ ਹੈ।

ਆਪਸ ਕਉ ਆਪਹਿ ਆਦੇਸੁ। ਤਿਹੁ ਗੁਣ ਕਾ ਨਾਹੀ ਪਰਵੇਸੁ।

ਨਤੀਜਾ। ਨਤੀਜਾ ਇਹ ਕਿ

ਤਿਸੁ ਭਾਵੈ ਤਾਂ ਕਰੇ ਬਿਸਥਾਰੁ। ਤਿਸ ਭਾਵੈ ਤਾਂ ਏਕੰਕਾਰ।

ਸਾਡੇ ਲਈ ਐਸ ਵੇਲੇ ਬਿਸਥਾਰ ਹੈ। ਜੇ ਓਸ ਨੂੰ ਭਾਵੇਗਾ ਤਾਂ ਉਹ ਸਾਡੇ ਲਈ, ਸਾਡੀ ਬਿਰਤੀ ਵਿਚ ਏਕੰਕਾਰ ਹੋ ਜਾਵੇਗਾ। ਉਹਦੇ ਭਾਣੇ ਨਾਲ ਹੀ ਸਾਨੂੰ ਸੋਝੀ ਆਉਣੀ ਏਂ।

ਅੰਤਰ ਗਤਿ ਜਿਸੁ ਆਪਿ ਜਨਾਏ। ਨਾਨਕ ਤਿਸੁ ਜਨ ਆਪਿ ਬੁਝਾਏ।

ਭਾਈ ਗੁਰਦਾਸ ਜੀ ਫ਼ਰਮਾਉਂਦੇ ਹਨ :—

ਓਸ ਏਕੰਕਾਰ ਨੂੰ ਨਾਮ ਜਪ ਦੁਆਰਾ ਬੁਝਣਾ ਸਹਜ ਵਿਚ ਸਮਾਉਣਾ ਹੈ।

ਆਦੇ ਆਦਿ ਨਾਦੇ ਨਾਦਿ ਸਲਿਲੈ ਸਲਿਲ ਮਿਲ
ਬ੍ਰਹਮੈ ਬ੍ਰਹਮ ਮਿਲ ਸਹਜ ਸਮਾਏ ਹੈ।
ਰੋਮ ਰੋਮ ਕੋਟਿ ਬ੍ਰਹਮਾਂਡ ਕੋ ਨਿਵਾਸ ਜਾਸ
ਮਾਨਸ ਅਉਤਾਰ ਧਾਰ ਦਰਸ ਦਿਖਾਏ ਹੈਂ।
ਜਾਕੇ ਓਅੰਕਾਰ ਕੇ ਅਕਾਰ ਹੈਂ ਨਾਨਾ ਪ੍ਰਕਾਰ
ਸ੍ਰੀਮੁਖ ਸਬਦ ਗੁਰ ਸਿਖਨ ਸੁਨਾਏ ਹੈਂ।
ਜਗਜ ਭੋਗ ਨਈ ਵੇਦ ਜਗਤ ਭਗਤ ਜਾਹਿ
ਅਸਨ ਬਸਨ ਗੁਰ ਸਿਖਨ ਲਡਾਏ ਹੈਂ।
ਨਿਗਮ ਸੇਖਾਦਿਕ ਕਥਤ ਨੇਤਿ ਨੇਤਿ ਕਰ
ਪਰਨ ਬਹਮ ਗਰ ਸਿਖਨ ਲਖਾਏ ਹੈਂ।

ਗੁਰਮੁਖ ਨੇ ਗੁਰਮੁਖਿ ਲੋਕਾਚਾਰ ਕਰਦਿਆਂ ਏਕੰਕਾਰ ਵਿਚ ਆਪਣੀ ਸੁਰਤ ਸਮਾਉਣੀ ਹੈ।

ਲੋਗਨ ਮੈਂ ਲੋਗਾਚਾਰ ਗੁਰਮੁਖ ਏਕੰਕਾਰ ਸਬਦ ਸੁਰਤ ਉਨਮਨ ਮਨ ਹੀਐ ਸੈ।
ਏਕ ਓਅੰਕਾਰ ਕੇ ਬਿਥਾਰ ਕੌਨ ਪਾਰਾਵਾਰ ਸਬਦ ਸੁਰਤਿ ਸਾਧ ਸੰਗਤਿ ਸਮਾਵਈ।

ਅਨਿਕ ਆਕਾਰ ਓਅੰਕਾਰ ਕੇ ਬਿਥਾਰੇ ਜਾਹਿ
ਤਾਹਿ ਨੰਦ ਨੰਦਨ ਕਹੇ ਕਉਨ ਸ਼ੋਭਤਾਈ ਹੈ।

(੧੨)

ਨਿਰੰਕਾਰ, ਏਕੰਕਾਰ, ਓਅੰਕਾਰ ਤੇ ਆਕਾਰ ਦੇ ਸਮਝਾਉਣ ਵਿਚ ਜੋ ਅਮੀਰੀ ਦਸਮ ਪਿਤਾ ਨੇ ਵਿਖਾਈ ਹੈ, ਬਸ ਓਹ ਬਿਸਮਾਦ ਹੀ ਬਿਸਮਾਦ ਜਾਣੋ।

ਆਦ ਪੁਰਖ ਉਦਾਰ ਮੂਰਤਿ ਅਜੋਨ ਆਦਿ ਅਸੇਖ।
ਏਕ ਮੂਰਤਿ ਅਨੇਕ ਦਰਸਨ ਕੀਨ ਰੂਪ ਅਨੇਕ।
ਆਦਿ ਦੇਵ ਅਨਾਦਿ ਮੂਰਤਿ ਥਾਪਿਓ ਸਬੈ ਜਿਹ ਥਾਪ।
ਸਰਬ ਵਿਸ਼੍ਵ ਰਚਿਓ ਸੁਯੰਭਵ ਗੜਨ ਭੰਜਨਹਾਰ।

ਗੁਰੂ ਮਹਾਰਾਜ ਸਰਬੱਗ ਸਨ। ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਤੇ ਪਰਾਕ੍ਰਿਤ ਤੇ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਤਿੰਨੇ ਰੂਪ ਮੌਜੂਦ ਹਨ। ਦਸਮ ਪਿਤਾ ਨੇ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਅਰਥਾਤ ਦੇਸੀ ਤੇ ਦੇਵਬਾਣੀ ਸੰਸਕ੍ਰਿਤ ਦੋਵੇਂ ਖ਼ੂਬ ਘੋਖੀਆਂ, ਨਹੀਂ, ਗਾਹੀਆਂ ਹੋਈਆਂ ਸਨ। ਕਿਵੇਂ ਠੀਕ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਵਰਤਦੇ ਹਨ। ਇਹੋ ਸੁਯੰਭਵ, ਸੰਭਉ ਹੈ ਤੇ ਇਹੋ ਹੀ ਸੈਭੰ। ਮੂਲ ਮੰਤਰ ਦੇ ਸਭ ਸ਼ਬਦ ਮੈਂ ਦਸਮ ਪਿਤਾ ਦੀ ਬਾਣੀ ਚੋਂ ਦੇਂਦਾ ਹਾਂ।

ਕਾਲ ਹੀਨ ਕਲਾ ਸੰਜੁਗਤਿ ਅਕਾਲ ਪੁਰਖ ਅਦੇਸ।

ਨਿਰਭੈ ਨਿਕਾਮ। ਓਅੰ ਆਦਿ ਰੂਪੇ। ਸੁਯੰਭਵ ਸੁੰਭੰ ਸਰਬਦਾ ਸਰਬ ਜੁਗਤੇ।
ਪ੍ਰਣਵੋ ਆਦਿ ਏਕੰਕਾਰਾ।

ਅਕਾਰ:—ਕੇਤੇ ਕੱਛ ਮੱਛ ਕੇਤੇ ਉਨ ਕਉ ਕਰਤ ਭੱਛ ਕੇਤੇ ਅੱਛ ਵੱਛ ਹੁਇ ਸਪੱਛ ਉਡ ਜਾਹਗੇ। ਕੇਤੇ ਨਭ ਬੀਚ ਅਛ ਮਛ ਕਉ ਕਰੈਗੇ ਭਛ ਕੇਤਕ ਪ੍ਰਤਛ ਹੁਇ ਪਚਾਇ ਖਾਇ ਜਾਹਿਗੇ। ਜਲ ਕਹਾ ਥਲ ਕਹਾ ਗਗਨ ਕੇ ਗਉਨ ਕਹਾ ਕਾਲ ਕੇ ਬਨਾਇ ਸਬੈ ਕਾਲ ਹੀ ਚਬਾਹਗੇ। ਤੇਜ ਜਿਉ ਅਤੇਜ ਮੈ ਅਤੇਜ ਜੈਸੇ ਤੇਜ ਲੀਨ ਤਾਹੀ ਤੇ ਉਪਜ ਸਬੈ ਤਾਹੀ ਮੈ ਸਮਾਹਗੇ।

ਅਦ੍ਵੈਖੰ ਅਭੇਖੰ ਅਜੋਨੀ ਸਰੂਪੇ। ਪਰੇ ਅੰਪਰਾ ਪਰਮ ਪ੍ਰਗਿਆ ਪ੍ਰਕਾਸੀ।
ਅਬਯਕਤ ਤੇਜ ਅਨਭਉ ਪ੍ਰਕਾਸ਼। ਅਨਭਉ-ਅਨਭੈ-ਅਨੁਭਵ।
ਕਈ ਦੇਸ ਦੇਸ ਭਾਖਾ ਰਟੰਤ।......ਨਹੀਂ ਨੈਕ ਤਾਸ ਪਾਯਤ ਨ ਪਾਰ।
ਅਨਖੇਦ ਸਰਪ ਅਭਦ ਅਭਿਅੰ। ਅੰ ਨੇ ਘੋਖਣਾ ਹੈ। ਤੋਟਕ ਛੰਦ ਦੇ ਕੁਝ

ਕਾਫ਼ੀਏ ਵੇਖੋ:–ਜੁਅੰ, ਭੁਅੇ, ਕਲੇ, ਥਲੇ । ਅਭਿਅੰ, ਅਛਿਅੰ, ਅਸੁਅੰ, ਭੁਯੰ ।

ਗੁਰਪ੍ਰਸਾਦਿ ਤੇ ਸਤਿਨਾਮ ਬਾਰੇ ਤਾਂ ਦਸਮ ਪਿਤਾ ਦੇ ਕਥਨ ਕੀ ਉਤਾਰਨੇ ਹਨ । ਹਾਂ ਆਕਾਰ ਬਾਰੇ ਤੇ ਰਚਨਾ ਕ੍ਰਮ (ਤਰਤੀਬ) ਬਾਰੇ ਕੁਝ ਸੁਣੋ :–

ਜਿਹ ਅੰਡਹ ਤੇ ਬ੍ਰਹਮੰਡ ਰਚਿਓ । ਦਸ ਚਾਰ ਕਰੀ ਨਵਖੰਡ ਸਚਿਓ ।
ਰਜ ਤਾਮਸ ਤੇਜ ਅਤੇਜ ਕੀਓ । ਅਨਭਉ ਪਦ ਆਪ ਪ੍ਰਚੰਡ ਲੀਓ ।
ਸ੍ਰਿਅ-ਸਿਰਜ-ਰਚ ।
ਅਨਖੰਡ ਪ੍ਰਤਾਪ ਪ੍ਰਚੰਡ ਗਤ । ਭਵ ਭੂਤ ਭਵਿੱਖ ਭਵਾਨ ਤੁਅੰ ।

ਭੁਅ–ਅਪਭਰੰਸ਼ ਹੈ, ਜਿਵੇਂ ਪਲਾਉ ਜਾਂ ਪਲਾਵ ਹੈ । ਅ ਤੇ ਹ ਤੇ ਉ ਬਹੁਤਿਆਂ ਵਿਅੰਜਨਾਂ ਦੀ ਥਾਂ ਅਪਭਰੰਸ਼ ਵਿਚ ਲੈ ਲੈਂਦੇ ਹਨ ।

ਨਾਮ ਬਾਰੇ ਵੀ ਸੁਨ ਲੌ ।

ਇਕ ਨਾਮ ਬਿਨਾ ਨਹੀ ਕੋਟ ਬ੍ਰਤੀ । ਇਮ ਬੇਦ ਉਚਾਰਤ ਸਾਰਸੁਤੀ ।
ਜੋਊ ਵਾ ਰਸ ਕੇ ਚਸਕੇ ਰਸਹੈ । ਤੇਊ ਭੂਲ ਨ ਕਾਲ ਫਧਾ ਫਸ ਹੈ ।
ਪੁਰਾਨ ਔ ਕੁਰਾਨ ਨੇਤ ਨੇਤ ਕੈ ਬਤਾਵਈ ।
ਨ ਕਰਮ ਹੈ ਨ ਭਰਮ ਹੈ ਨ ਧਰਮ ਕੋ ਪ੍ਰਭਾਉ ਹੈ ।
ਅਭੰਗ ਹੈ ਅਨੰਗ ਹੈ ਨ ਅਗੰਜਸੀ ਬਿਭੂਤ ਹੈ ।
ਜਛ ਗੰਧ੍ਰਬ ਦੈਵ ਦਾਨੌਂ ਨ ਬ੍ਰਹਮ ਛਤ੍ਰੀਅਨ ਮਾਹ ।
ਬੈਸਨ ਕੇ ਬਿਖੈ ਬਿਰਾਜੈ ਸੂਦ੍ਰ ਭੀ ਵਹ ਨਾਹਿ ।
ਸਸ ਨਾਮ ਸਹੰਸ ਫਨ ਨਹਿ ਨੇਤ ਪੂਰਨ ਹੋਤ ।
ਤੁਮ ਕਹੋ ਦੇਵ ਸਰਬੰ ਬਿਚਾਰ

ਸਰਵ = ਸਰਬੰ । ਭਵ = ਭ । ਯਮ = ਸ੍ਵਯ(ਮ) = ਸੈ ।

ਤਉ ਕਹੋ ਜਥਾ ਮਤ ਤ੍ਰੈਣ ਤੰਤ । ਤ੍ਰੈ = ਤ੍ਰਿਤੀਯ ।
ਅਦ੍ਵੈ ਅਭੂਤ ਅਨਭੈ ਦਿਆਲ ।

(੧੩)

ਮੈਨੂੰ ਸਿਫ਼ਤ ਸਲਾਹ ਵਾਸਤੇ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਤੇ ਸਤਿਨਾਮ ਤੋਂ ਥੱਲੇ ਜਗਜੀਵਨ ਨਾਮ ਬਹੁਤ ਚੰਗਾ ਲਗਦਾ ਹੈ । ਕੋਈ ਪੁੱਛੇ ਰੱਬ ਕੀ ਹੈ । ਜੁਆਬ ਦੇਊ ਤੇਰਾ ਜੀਵਨ ਹੈ । ਰੱਬ ਕਿੱਥੇ ਹੈ ? ਤੂੰ ਦੱਸ ਤੇਰਾ ਜੀਵਨ ਕਿੱਥੇ ਹੈ ਤੇ ਕੀ ਹੈ । ਜੀਵਨ ਦੀਆਂ, ਹੋਂਦ ਦੀਆਂ, ਡੂੰਘਿਆਈਆਂ ਕਿਨ ਨਾਪੀਆਂ ਨੇ ਤੇ ਕੌਣ ਇਹਦਾ ਪਾਰ ਪਾ ਸਕਦਾ ਹੈ । ਸਹਜ, ਨਾਮ, ਏਕੰਕਾਰ, ਜਗ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਹੀ ਹੋਰ ਫੋਰੀ ਲੌ ।

ਨਾਨਕ ਸਹਜਿ ਮਿਲੇ ਜਗ ਜੀਵਨ ਨਦਰਿ ਕਰਹੁ ਨਿਸਤਾਰਾ ।

ਜੀਵਨ ਵੀ ਤੇ ਜਗ-ਜੀਵਨ ਵੀ ਓਹਦੀ ਨਦਰ ਨਾਲ ਸਹਜੇ ਹੀ ਮਿਲਦਾ

ਹੈ। ਤੇ ਸਹਜ ਪਰੀਤ ਦੁਆਰਾ ਉਪਜਦਾ ਹੈ। ਜਿਸਦਾ ਅਰਥ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਪਰੇਮ ਹੈ, ਪਰੀਤਮ ਹੈ, ਜੀਵਨ ਹੈ, ਸਹਜ ਤੇ ਪਰੇਮ ਹੈ; ਸਹਜ ਦੁਆਰਾ ਪਰਮ ਪਰੇਮ ਨੂੰ ਮਿਲ ਸਕਦਾ ਹੈ। ਪਰੇਮ ਜੀਵਨ ਹੈ। ਜੀਵਨ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ਤਾਂ ਪਰੇਮ ਕਰੋ,ਪਰੇਮ ਜੀਵਨ ਦਾ ਉਤਪੰਨ ਕਰਨ ਵਾਲਾ ਹੈ। ਪਰੇਮ ਸਹਜ ਦਾ ਉਤਪੰਨ ਕਰਨਹਾਰਾ ਹੈ। ਪਰੇਮ ਬਿਨਾ ਜੀਵਨ ਕੇਹਾ ਤੇ ਸਹਜ ਕਿੱਥੋਂ ਤੇ ਏਕੰਕਾਰ ਦਾ ਸਮਝਣਾ, ਉਹਦੀ ਕਿਰਪਾ ਕੀ।

ਧ੍ਰਿਗੁ ਇਵੇਹਾ ਜੀਵਣਾ ਜਿਤੁ ਹਰਿ ਪ੍ਰੀਤਿ ਨ ਪਾਇ।
ਜਿਤੁ ਕੰਮਿ ਹਰਿ ਵੀਸਰੈ ਦੂਜੈ ਲਗੈ ਜਾਇ।
ਐਸਾ ਸਤਿਗੁਰੁ ਸੇਵੀਐ ਮਨਾ ਜਿਤੁ ਸੇਵਿਐ ਗੋਵਿੰਦ

ਪ੍ਰੀਤਿ ਊਪਜੈ ਅਵਰ ਵਿਸਰਿ ਸਭ ਜਾਇ। ਹਰਿ ਸੇਤੀ ਚਿਤੁ ਗਹਿ ਰਹੈ ਜਰਾ ਕਾ ਭਉ ਨ ਹੋਵਈ ਜੀਵਨ ਪਦਵੀ ਪਾਇ। ਗੋਬਿੰਦ ਪ੍ਰੀਤਿ ਸਿਉ ਇਕੁ ਸਹਜੁ ਉਪਜਿਆ ਵੇਖੁ ਜੈਸੀ ਭਗਤਿ ਬਨੀ। ਆਪ ਸੇਤੀ ਆਪੁ ਖਾਇਆ ਤਾ ਮਨੁ ਨਿਰਮਲੁ ਹੋਆ ਜੋਤੀ ਜੋਤਿ ਸਮਾਈ।

ਬਿਨੁ ਭਾਗਾ ਐਸਾ ਸਤਿਗੁਰੁ ਨ ਪਾਈਐ ਜੇ ਲੋਚੈ ਸਭੁ ਕੋਇ।
ਕੂੜੈ ਕੀ ਪਾਲਿ ਵਿਚਹੁ ਨਿਕਲੈ ਤਾ ਸਦਾ ਸੁਖੁ ਹੋਇ।
ਨਾਨਕ ਐਸੇ ਸਤਿਗੁਰ ਕੀ ਕਿਆ ਓਹੁ ਸੇਵਕੁ ਸੇਵਾ ਕਰੇ ਗੁਰ ਆਗੈ ਜੀਉ ਧਰੇਇ।
ਸਤਿਗੁਰ ਕਾ ਭਾਣਾ ਚਿਤਿ ਕਰੇ ਸਤਿਗੁਰੁ ਆਪੇ ਕ੍ਰਿਪਾ ਕਰੇਇ ॥

ਵੀਰਤਾ।

ਸੱਚੇ ਵੀਰ ਪੁਰਖ ਧੀਰ, ਗੰਭੀਰ ਤੇ ਆਜ਼ਾਦ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਮਨ ਦੀ ਗੰਭੀਰਤਾ ਤੇ ਸ਼ਾਂਤੀ ਸਮੁੰਦਰ ਵਾਂਙੂ ਖੁੱਲੀ ਤੇ ਡੂੰਘੀ ਜਾਂ ਅਸਮਾਨ ਵਾਂਙ ਥਿਰ ਤੇ ਅਚਲ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਉਹ ਕਦੀ ਚੰਚਲ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦੇ। ਰਾਮਾਯਣ ਵਿੱਚ ਵਾਲਮੀਕੀ ਜੀ ਨੇ ਕੁੰਭਕਰਣ ਦੀ ਗਾੜ੍ਹੀ ਨੀਂਦ ਵਿੱਚ ਵੀਰਤਾ ਦਾ ਇਕ ਚਿਨ੍ਹ ਵਿਖਾਇਆ ਹੈ। ਸੱਚ ਹੈ, ਸੱਚੇ ਬਹਾਦੁਰਾਂ ਦੀ ਨੀਂਦ ਆਸਾਨੀ ਨਾਲ ਨਹੀਂ ਖੁਲ੍ਹਦੀ। ਉਹ ਸਤੋ ਗੁਣ ਦੇ ਖਾਰੇ ਸਮੁੰਦਰ ਵਿੱਚ ਅਜਿਹੇ ਡੁੱਬੇ ਰਹਿੰਦੇ ਹਨ ਕਿ ਉਹਨਾਂ ਨੂੰ ਦੁਨੀਆਂ ਦੀ ਕੁਝ ਖ਼ਬਰ ਨਹੀਂ ਰਹਿੰਦੀ। ਉਹ ਸੰਸਾਰ ਦੇ ਸੱਚੇ ਪਰ ਉਪਕਾਰੀ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਅਜਿਹੇ ਲੋਕ ਦੁਨੀਆਂ ਦੇ ਤਖਤੇ ਨੂੰ ਆਪਣੀ ਅੱਖ ਦੀ ਪਲਕ ਨਾਲ ਹੀ ਹਲਚਲ ਵਿੱਚ ਪਾ ਦੇਂਦੇ ਹਨ। ਜਦੋਂ ਇਹ ਸ਼ੇਰ ਜਾਗ ਕੇ ਗੱਜਦੇ ਨੇ, ਤਾਂ ਸਦੀਆਂ ਤਕ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਆਵਾਜ਼ ਦੀ ਗੂੰਜ ਸੁਣਾਈ ਦੇਂਦੀ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ, ਹੋਰ ਸੱਭ ਅਵਾਜ਼ਾਂ ਬੰਦ ਹੋ ਜਾਂਦੀਆਂ ਹਨ। ਬਹਾਦਰੀ ਦੀ ਚਾਲ ਦਾ ਖੜਾਕ ਕੰਨਾ ਵਿੱਚ ਆਉਂਦਾ ਰਹਿੰਦਾ ਹੈ. ਅਤੇ ਕਦੀ ਮੈਨੂੰ ਕਦੀ ਤੈਨੂੰ ਮਸਤ ਕਰਦਾ ਰਹਿੰਦਾ ਹੈ। ਕਿਸੇ ਨਾ ਕਿਸੇ ਦੀ ਪ੍ਰਾਣ ਸਾਰੰਗੀ ਬਹਾਦਰ ਦੇ ਹੱਥਾਂ ਨਾਲ ਵਜਦੀ ਹੀ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ।

ਵੇਖੋ, ਪਹਾੜ ਦੀ ਖੰਦਰ ਵਿੱਚ ਇਕ ਅਨਾਥ, ਦੁਨੀਆਂ ਤੋਂ ਲੁਕਕੇ, ਇਕ ਅਜੀਬ ਨੀਂਦ ਸੌਂਦਾ ਏ। ਜਿੰਦਾਂ ਗਲੀ ਵਿੱਚ ਪਏ ਹੋਏ ਪੱਥਰ ਵਲ ਕੋਈ ਧਿਆਨ ਨਹੀਂ ਦੇਂਦਾ, ਓਨਾਂ ਹੀ ਆਮ ਆਦਮੀਆਂ ਵਾਂਙੂ ਇਸ ਅਨਾਥ ਨੂੰ ਕੋਈ ਜਾਣਦਾ ਨਹੀਂ ਸੀ। ਇਕ ਖੁਲ-ਦਿਲ ਅਮੀਰ ਤੀਵੀਂ ਦੀ ਉਹ ਨੌਕਰੀ ਕਰਦਾ ਏ। ਉਸ ਦੀ ਸੰਸਾਰਕ ਕੀਮਤ ਸਿਰਫ ਇਕ ਮਾਮੂਲੀ ਗੁਲਾਮ ਦੀ ਏ। ਪਰ ਅਜਿਹਾ ਕੋਈ ਰੱਬੀ ਕਾਰਣ ਹੋਇਆ,ਜਿਸ ਨਾਲ ਸੰਸਾਰ ਵਿੱਚ ਉਸ ਅਣਜਾਣੇ ਗੁਲਾਮ ਦੀ ਵਾਰੀ ਆਈ। ਉਸ ਦੀ ਨੀਂਦ ਖੁਲ੍ਹੀ। ਸੰਸਾਰ ਤੇ ਮਾਨੋ ਹਜ਼ਾਰਾਂ ਬਿਜਲੀਆਂ ਡਿੱਗੀਆਂ। ਅਰਬ ਦੇ ਰੇਗਿਸਤਾਨ ਵਿੱਚ ਬਰੂਦ ਵਰਗੀ ਭੜਕ ਉੱਠੀ। ਉਸ ਵੀਰ ਦੀ ਅੱਖਾਂ ਦੀ ਅੱਗ ਦਿੱਲੀ ਤੋਂ ਲੈ ਕੇ ਸਪੇਨ ਤਕ ਜਗੀ। ਉਸ ਅਣ-ਜਾਣੇ ਤੇ ਗੁਪਤ ਪਹਾੜੀ ਖੜ ਵਿੱਚ ਸੌਣ ਵਾਲੇ ਨੇ ਇਕ ਆਵਾਜ਼ ਦਿੱਤੀ। ਸਾਰੀ ਧਰਤੀ ਡਰ ਨਾਲ ਕੰਬਣ ਲਗੀ। ਹਾਂ, ਜਦ ਪੈਗੰਬਰ ਮੁਹੰਮਦ ਨੇ 'ਅੱਲਾਹੋਅਕਬਰ' ਦਾ ਗੀਤ ਗਾਇਆ ਤਾਂ ਸਾਰਾ ਸੰਸਾਰ ਚੁੱਪ ਹੋ ਗਿਆ। ਅਤੇ ਕੁਝ ਦੇਰ ਬਾਦ ਕੁਦਰਤ ਉਸਦੀ ਆਵਾਜ਼ ਦੀ ਗੂੰਜ ਨੂੰ ਹਰ ਥਾਂ ਲੈ ਉਡੀ।'ਅੱਲਾਹ'ਗਾਉਣ ਲੱਗੇ ਤੇ ਮੁਹੰਮਦ ਦੇ ਸੁਨੇਹੇ ਨੂੰ ਏਧਰ ਓਧਰ ਲੈ ਉੱਡੇ। ਪਹਾੜ ਉਸ ਦੀ ਆਵਾਜ਼ ਨੂੰ ਸੁਣਦੇ ਪਿਘਲ ਪਏ ਤੇ ਨਦੀਆਂ 'ਅੱਲਾਹ, ਅੱਲਾਹ' ਦਾ ਅਲਾਪ ਕਰਦੀਆਂ ਹੋਈਆਂ ਪਹਾੜਾਂ ਵਿੱਚੋਂ ਨਿਕਲ ਪਈਆਂ। ਜਿਹੜੇ ਲੋਕੀਂ ਉਸਦੇ ਸਾਮ੍ਹਣੇ ਆਏ,

ਉਹ ਉਸਦੇ ਦਾਸ ਬਣ ਗਏ। ਚੰਨ ਤੇ ਸੂਰਜ ਨੇ ਵਾਰੀ ਵਾਰੀ ਉੱਠ ਕੇ ਸਲਾਮ ਕੀਤਾ। ਉਸ ਵੀਰ ਦਾ ਬਲ ਵੇਖੋ, ਸਦੀਆਂ ਦੇ ਬਾਦ ਵੀ ਸੰਸਾਰ ਦੇ ਲੋਕਾਂ ਦਾ ਬਹੁਤ ਸਾਰਾ ਹਿੱਸਾ ਉਸੇ ਦੇ ਪਵਿਤ੍ਰ ਨਾਮ ਤੇ ਜੀਉਂਦਾ ਹੈ,ਅਤੇ ਆਪਣੇ ਛੋਟੇ ਜਿਹੇ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਅਤਿ ਤੁਛ ਸਮਝ ਕੇ ਉਸ ਅਣ-ਦੇਖੇ, ਤੇ ਅਣ ਜਾਤੇ ਪੁਰਖ ਦੇ ਸਿਰਫ ਸੁਣੇ ਸੁਣਾਏ ਨਾਂ ਤੇ ਕੁਰਬਾਨ ਹੋ ਜਾਣਾ ਜੀਵਨ ਦਾ ਸੱਭ ਤੋਂ ਉੱਤਮ ਫਲ ਸਮਝਦਾ ਹੈ।

ਸਤੋ ਗੁਣ ਦੇ ਸਮੁੰਦਰ ਵਿੱਚ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਅੰਦਰ ਡੁਬ ਗਏ, ਉਹ ਹੀ ਮਹਾਤਮਾ ਸਾਧ ਤੇ ਵੀਰ ਹਨ। ਉਹ ਲੋਕ ਅਪਣੇ ਤੁਛ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਛੱਡਕੇ ਐਸਾ ਰੱਬੀ ਜੀਵਨ ਪਾਂਉਂਦੇ ਹਨ ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਲਈ ਸੰਸਾਰ ਵਿੱਚ ਸਭ ਅਗੰਮ ਰਾਹ ਸਾਫ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਅਕਾਸ਼ ਉਨ੍ਹਾਂ ਲਈ ਬਦਲਾਂ ਦੀਆਂ ਛਤਰੀਆਂ ਤਾਣਦਾ ਹੈ। ਕੁਦਰਤ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਸੁੰਦਰ ਮੱਥੇ ਤੇ ਰਾਜ ਤਿਲਕ ਲਗਾਉਂਦੀ ਹੈ। ਸਾਡੇ ਅਸਲੀ ਤੇ ਸੱਚੇ ਰਾਜਾ ਇਹੋ ਸਾਧ ਲੋਕ ਹਨ। ਹੀਰਿਆਂ ਤੇ ਲਾਲਾਂ ਨਾਲ ਜੜੇ ਹੋਏ, ਸੋਨੇ ਤੇ ਚਾਂਦੀ ਦੇ ਜ਼ਰਕ ਬਰਕ ਸਿੰਘਾਸਣ ਤੇ ਬੈਠਣ ਵਾਲੇ ਰਾਜਿਆਂ—ਜੇਹੜੇ ਗ਼ਰੀਬ ਕਿਸਾਨਾਂ ਦੀ ਕਮਾਈ ਹੋਈ ਦੌਲਤ ਤੇ ਜੀਉਂਦੇ ਹਨ——ਨੂੰ ਤਾਂ ਲੋਕਾਂ ਨੇ ਆਪਣੀ ਮੂਰਖਤਾ ਨਾਲ ਬਹਾਦਰ ਬਣਾ ਛੱਡਿਆ ਏ। ਇਹ ਜ਼ਰੀ, ਮਖਮਲ ਤੇ ਗਹਿਣਿਆਂ ਨਾਲ ਲਦੇ ਹੋਏ ਮਾਸ ਦੇ ਪੁਤਲੇ ਤਾਂ ਹਰ ਵੇਲੇ ਕੰਬਲੇ ਰਹਿੰਦੇ ਹਨ। ਇੰਦਰ ਵਾਂਙੂ ਧਨੀ ਤੇ ਬਲ-ਵਾਨ ਹੋਣ ਤੇ ਵੀ ਦੁਨੀਆਂ ਦੇ ਇਹ ਛੋਟੇ 'ਜਾਰਜ' ਬੜੇ ਕਾਇਰ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਹੋਣ ਵੀ ਕਿਓਂ ਨਾ, ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਹਕੂਮਤ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਦਿਲਾਂ ਤੇ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦੀ। ਦੁਨੀਆਂ ਦੇ ਰਾਜਿਆਂ ਦੀ ਤਾਕਤ ਦੀ ਦੌੜ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਸਰੀਰ ਤਕ ਹੈ। ਹਾਂ, ਜਦੋਂ ਕਦੀ ਕਿਸੇ ਅਕਬਰ ਦਾ ਰਾਜ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਦਿਲਾਂ ਤੇ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਤਾਂ ਇਨ੍ਹਾਂ ਕਾਇਰਾਂ ਦੀ ਬਸਤੀ ਵਿੱਚ ਮਾਨੋ ਇਕ ਸੱਚਾ ਵੀਰ ਪੈਦਾ ਹੁੰਦਾ ਹੈ।

ਇਕ ਬਾਗੀ ਗੁਲਾਮ ਤੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਦੀ ਗਲ ਬਾਤ ਹੋਈ। ਇਹ ਗੁਲਾਮ ਕੈਦੀ ਦਿਲੋਂ ਆਜ਼ਾਦ ਸੀ। ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨ ਆਖਿਆ——'ਮੈਂ ਤੈਨੂੰ ਹੁਣੇ ਜਾਨੋ ਮਾਰ ਦਿਆਂਗਾ।' ਤੂੰ ਕੀ ਕਰ ਸਕਦਾ ਏਂ?'

ਗੁਲਾਮ ਨੇ ਕਿਹਾ—'ਹਾਂ, ਮੈਂ ਫਾਂਸੀ ਤੇ ਤਾਂ ਚੜ੍ਹ ਜਾਵਾਂਗਾ, ਪਰ ਤੇਰਾ ਨਿਰਾ-ਦਰ ਫੇਰ ਵੀ ਕਰ ਸਕਦਾ ਹੈ।" ਬਸ, ਗੁਲਾਮ ਨੇ ਦੁਨੀਆਂ ਦੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨੂੰ ਤਾਕਤ ਦੀ ਹਦ ਵਿਖਾ ਦਿੱਤੀ। ਬਸ, ਏਨੇ ਹੀ ਜੋਰ ਤੇ ਏਨੇ ਹੀ ਸ਼ੇਖੀ ਤੇ ਇਹ ਝੂਠੇ ਰਾਜੇ ਸ਼ਰੀਰ ਨੂੰ ਦੁੱਖ ਦੇਂਦੇ, ਤੇ ਮਾਰ ਕੁਟ ਕੇ ਅਣਜਾਣ ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਡਰਾਉਂਦੇ ਹਨ ਤੇ ਭੋਲੇ ਲੋਕ ਇਨ੍ਹਾਂ ਕੋਲੋਂ ਡਰਦੇ ਰਹਿੰਦੇ ਹਨ। ਕਿਓਂਕਿ ਸੱਭ ਲੋਕ ਸ਼ਰੀਰ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਜੀਵਨ ਦਾ ਕੇਂਦਰ ਸਮਝਦੇ ਹਨ, ਇਸ ਲਈ ਜਿੱਥੇ ਕੋਈ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਸ਼ਰੀਰ ਤੇ ਜ਼ਰਾ ਜੋਰ ਦਾ ਹੱਥ ਲਾਉਂਦਾ

ਹੈ, ਉੱਥੇ ਹੀ ਇਹ ਅਧਮਰੇ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਨ; ਸਿਰਫ ਸ਼ਰੀਰ-ਰੱਖਿਆ ਲਈ ਇਹ ਲੋਕ ਇਨ੍ਹਾਂ ਰਾਜਿਆਂ ਦੀ ਉਪਰਲੇ ਮਨੋਂ ਪੂਜਾ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਜਿਹੋ ਜਹੇ ਰਾਜੇ, ਓਹੋ ਜਿਹਾ ਇਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਸਤਿਕਾਰ। ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਤਾਕਤ ਸ਼ਰੀਰ ਨੂੰ ਜ਼ਰਾ ਜਿੰਨੀ ਰੱਸੀ ਨਾਲ ਲਟਕਾ ਕੇ ਮਾਰ ਦੇਣ ਵਿੱਚ ਹੈ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਉਨ੍ਹਾਂ ਬਲਵਾਨ ਰਾਜਿਆਂ ਨਾਲ ਕੀ ਮੁਕਾਬਿਲਾ ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਰਾਜ ਸਿੰਘਾਸਨ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਦਿਲ ਕਮਲ ਦੀਆਂ ਪੰਖੜੀਆਂ ਤੇ ਹੈ ? ਸੱਚੇ ਰਾਜੇ ਅਪਣੇ ਪਿਆਰ ਦੇ ਜ਼ੋਰ ਨਾਲ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਦਿਲਾਂ ਨੂੰ ਸਦਾ ਲਈ ਬੰਨ੍ਹ ਲੈਂਦੇ ਹਨ। ਦਿਲਾਂ ਤੇ ਹਕੂਮਤ ਕਰਨ ਵਾਲੀ ਫੌਜ਼, ਤੋਪ, ਬੰਦੂਕ ਆਦਿ ਬਿਨਾ ਹੀ ਉਹ ਜ਼ਮਾਨੇ ਦੇ ਸਾਹਿਨਸ਼ਾਹ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਮਨਸੂਰ ਨੇ ਆਪਣੀ ਮੌਜ ਵਿੱਚ ਆ ਕੇ ਕਿਹਾ–'ਮੈਂ ਖ਼ੁਦਾ ਹਾਂ'। ਦੁਨੀਆਂ ਦੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨੇ ਕਿਹਾ–' ਇਹ ਕਾਫ਼ਿਰ ਹੈ'। ਪਰ ਮਨਸੂਰ ਨੇ ਆਪਣੀ ਬਾਣੀ ਨੂੰ ਬੰਦ ਨਾ ਕੀਤਾ । ਪੱਥਰ ਮਾਰ ਮਾਰ ਕੇ ਦੁਨੀਆਂ ਨੇ ਉਹਦੇ ਸ਼ਰੀਰ ਦਾ ਬੁਰਾ ਹਾਲ ਕਰ ਦਿੱਤਾ, ਪਰ ਉਸ ਮਰਦ ਦੇ ਵਾਲ ਵਾਲ ਵਿਚੋਂ ਇਹੋ ਸ਼ਬਦ ਨਿਕਲੇ–"ਅਨਹਲਹੱਕ"–"ਅਹੰਬ੍ਰਹਮ ਅਸਮਿ" "ਮੈਂ ਹੀ ਬ੍ਰਹਮ ਹਾਂ"। ਸੂਲੀ ਤੇ ਚੜ੍ਹਨਾ ਮਨਸੂਰ ਲਈ ਸਿਰਫ ਖੇਡ ਸੀ। ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨੇ ਸਮਝਿਆ ਕਿ ਮਨਸੂਰ ਮਾਰਿਆ ਗਿਆ।

ਸ਼ਮਸ ਤਬਰੇਜ਼ ਨੂੰ ਵੀ ਅਜਿਹਾ ਹੀ ਕਾਫ਼ਰ ਸਮਝਕੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨੇ ਹੁਕਮ ਦਿੱਤਾ ਕਿ ਇਸਦੀ ਖੱਲ ਲਾਹ ਦਿਓ। ਸ਼ਮਸ ਨੇ ਖੱਲ੍ਹ ਉਤਾਰੀ ਤੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨੂੰ ਬਰੂਹੇਂ ਤੇ ਆਏ ਹੋਏ ਕੁੱਤੇ ਵਾਂਙੂ ਭਿਖਕ ਸਮਝਕੇ,ਇਹ ਖਲ ਖਾਣ ਲਈ ਦੇ ਦਿੱਤੀ। ਦੇ ਕੇ ਉਹ ਆਪਣੀ ਗਜ਼ਲ ਬਰਾਬਰ ਗਾਉਂਦਾ ਰਿਹਾ–"ਭਿਖ ਮੰਗਣ ਵਾਲਾ ਤੇਰੇ ਦਰ ਆਇਆ ਏ;ਐ ਸ਼ਾਹ ਦਿਲ ! ਇਹਨੂੰ ਕੁਝ ਦੇ ਦੇ।"ਖੱਲ ਲਾਹ ਕੇ ਸੁਟ ਪਾਈ ਵਾਹ ਓ ਸਤਿ ਪੁਰਖ !

ਭਗਵਾਨ ਸ਼ੰਕਰ ਜਦ ਗੁਜਰਾਤ ਵੱਲੇ ਜਾਤਰਾ ਕਰ ਰਹੇ ਸਨ, ਤਦ ਇਕ ਕਾਪਾਲਿਕ ਸ਼ਿਵ ਮਤ ਦੇ ਸਾਧੂ, ਜਿਹੜੇ ਖੋਪਰੀ ਲਈ ਫਿਰਦੇ ਹਨ ਹੱਥ ਜੋੜ ਸਾਮ੍ਹਣੇ ਆ ਖਲੋਤਾ। ਭਗਵਾਨ ਨੇ ਕਿਹਾ–ਮੰਗ੍ਹ ਕੀ ਮੰਗਦਾ ਏਂ ?"ਉਸਨੇ ਕਿਹਾ– ਹੇ ਭਗਵਨ ! ਅਜ ਕਲ ਦੇ ਰਾਜੇ ਬੜੇ ਕੰਗਾਲ ਨੇ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਕੋਲੋਂ ਹੁਣ ਸਾਨੂੰ ਦਾਨ ਨਹੀਂ ਮਿਲਦਾ। ਤੁਸੀਂ ਬ੍ਰਹਮ ਗਿਆਨੀ ਤੇ ਸਭ ਤੋਂ ਵੱਡੇ ਦਾਨੀ ਓ,ਏਸੇ ਲਈ ਮੈਂ ਤੁਹਾਡੇ ਪਾਸ ਆਇਆ ਹਾਂ। ਤੁਸੀਂ ਕਿਰਪਾ ਕਰਕੇ ਮੈਨੂੰ ਆਪਣਾ ਸਿਰ ਦਾਨ ਕਰੋ, ਜਿਸਦਾ ਭੇਟ ਚੜ੍ਹਾਕੇ ਮੈਂ ਆਪਣੀ ਦੇਵੀ ਨੂੰ ਪ੍ਰਸੰਨ ਕਰਾਂਗਾ, ਅਤੇ ਆਪਣਾ ਜਗ ਪੂਰਾ ਕਰਾਂਗਾ।" ਭਗਵਾਨ ਨੇ ਮੌਜ ਵਿਚ ਆਕੇ ਕਿਹਾ–"ਅੱਛਾ, ਕਲ ਇਹ ਸਿਰ ਲਾਹ ਕੇ ਲੈ ਜਾਈਂ ਤੇ ਆਪਣਾ ਕੰਮ ਸਾਰ ਲਈਂ।"

ਇਕ ਵਾਰ ਦੋ ਬਹਾਦਰ ਅਕਬਰ ਦੇ ਦਰਬਾਰ ਵਿੱਚ ਆਏ। ਇਹ ਮਨੱਖ

ਰੁਜ਼ਗਾਰ ਦੀ ਭਾਲ ਵਿੱਚ ਸਨ। ਅਕਬਰ ਨੇ ਕਿਹਾ—"ਅਪਣੀ ਅਪਣੀ ਬਹਾਦਰੀ ਦਾ ਸਬੂਤ ਦਿਓ।" ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨੇ ਕਹੀ ਮੂਰਖਤਾ ਕੀਤੀ ! ਵੀਰਤਾ ਦਾ ਭਲਾ ਉਹ ਕੀ ਸਬੂਤ ਦੇਂਦੇ। ਪਰ ਦੋਹਾਂ ਨੇ ਤਲਵਾਰਾਂ ਕੱਢ ਲਈਆਂ ਤੇ ਇਕ ਦੂਜੇ ਦੇ ਸਾਮ੍ਹਣੇ ਕਰਕੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਤੇਜ਼ ਧਾਰ ਤ ਦੌੜ ਪਏ, ਅਤੇ ਓਥੇ ਹੀ ਰਾਜਾ ਦੋ ਸ੍ਰਾਮ੍ਹਣੇ ਪਲ ਭਰ ਵਿੱਚ ਆਪਣੇ ਖੂਣ ਵਿਚ ਢੇਰੀ ਹੋ ਗਏ।

ਅਜਿਹੇ ਦੈਵੀ ਵੀਰ ਰੁਪੈਯਾ, ਪੈਸਾ, ਮਾਲ,ਧਨ ਦਾ ਦਾਨ ਨਹੀਂ ਦਿੱਤਾ ਕਰਦੇ। ਜਦ ਇਹ ਦਾਨ ਦੇਣ ਦੀ ਇੱਛਾ ਕਰਦੇ ਹਨ,ਤਾਂ ਅਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਹਵਨ ਵਿੱਚ ਸੁਟਦੇ ਹਨ। ਬੁਧ ਮਹਾਰਾਜ ਨੇ ਜਦ ਇਕ ਰਾਜੇ ਨੂੰ ਹਿਰਣ ਮਾਰਦਿਆਂ ਵੇਖਿਆ,ਤਾਂ ਅਪਣਾ ਸਰੀਰ ਅਗੇ ਕਰ ਦਿੱਤਾ ਕਿ ਹਿਰਣ ਬਚ ਜਾਵੇ,ਅਪਣਾ ਸ਼ਰੀਰ ਭਾਵੇਂ ਚਲਾ ਜਾਵੇ। ਅਜਿਹੇ ਲੋਕ ਕਦੀ ਵਢੇ ਮੌਕਿਆਂ ਨੂੰ ਉਡੀਕਦੇ ਨਹੀਂ ਰਹਿੰਦੇ ਛੋਟੇ ਮੌਕਿਆਂ ਨੂੰ ਹੀ ਵੱਢਾ ਬਣਾ ਲੈਂਦੇ ਹਨ।

ਜਦ ਕਿਸੇ ਦੀ ਕਿਸਮਤ ਜਾਗੀ, ਅਤੇ ਉਸਨੂੰ ਜੋਸ਼ ਆਇਆ,ਤਾਂ ਸਮਝ ਲਓ ਕਿ ਸੰਸਾਰ ਵਿੱਚ ਇਕ ਤੁਫ਼ਾਨ ਆ ਗਿਆ। ਉਸ ਦੀ ਚਾਲ ਸਾਹਵੇਂ ਫਿਰ ਕੋਈ ਰੁਕਾਵਟ ਨਹੀਂ ਆ ਸਕਦੀ। ਪਹਾੜਾਂ ਦੀਆਂ ਪਸਲੀਆਂ ਤੋੜ ਕੇ ਇਹ ਲੋਕ ਝਖੜ ਵਾਂਗੂ ਨਿਕਲ ਜਾਂਦੇ ਹਨ,ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਤਾਕਤ ਦਾ ਇਸ਼ਾਰਾ ਭੂਚਾਲ ਲਿਆਉਂਦਾ ਏ, ਤੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਦਿਲ ਦੀ ਹਰਕਤ ਦਾ ਨਿਸ਼ਾਨ ਸਮੁੰਦਰ ਦਾ ਤੂਫ਼ਾਨ ਲਿਆਉਂਦਾ ਏ। ਕੁਦਰਤ ਦੀ ਹੋਰ ਕੋਈ ਤਾਕਤ ਉਨ੍ਹਾਂ ਸਾਵ੍ਹੇਂ ਫਰਕ ਨਹੀਂ ਸਕਦੀ। ਸਭ ਚੀਜਾਂ ਠਹਿਰ ਜਾਂਦੀਆਂ ਨੇ। ਰਬ ਵੀ ਸਾਹ ਰੋਕ ਕੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਰਾਹ ਵਿਹਦਾ ਏ। ਯੋਰਪ ਵਿੱਚ ਜਦੋਂ ਰੋਮ ਦੇ ਪੋਪ ਦਾ ਜ਼ੋਰ ਬਹੁਤ ਵਧ ਗਿਆ ਸੀ ਤਾਂ ਉਸਦਾ ਮੁਕਾਬਲਾ ਕੋਈ ਵੀ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨਾ ਕਰ ਸਕਦਾ ਸੀ। ਪੋਪ ਦੀ ਅੱਖਾਂ ਦੇ ਇਸ਼ਾਰੇ ਨਾਲ ਯੋਰਪ ਦੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਤਖਤੋਂ ਲਾਹ ਦਿੱਤੇ ਜਾ ਸਕਦੇ ਸਨ। ਪੋਪ ਦਾ ਸਿੱਕਾ ਲੋਕਾਂ ਤੇ ਅਜਿਹਾ ਬਹ ਗਿਆ ਸੀ ਕਿ ਉਸ ਦੀ ਗਲ ਨੂੰ ਲੋਕ ਰਬੀ-ਵਾਕ ਤੋਂ ਵੀ ਵਧ ਕੇ ਸਮਝਦੇ ਸਨ ਤੇ ਪੋਪ ਨੂੰ ਰਬ ਦਾ ਪ੍ਰਤਿਨਿਧ (Representative) ਮੰਨਦੇ ਸਨ। ਲੱਖਾਂ ਈਸਾਈ ਸਾਧੂ ਸੰਨਿਆਸੀ ਤੇ ਯੋਰਪ ਦੇ ਸੱਭ ਗਿਰਜੇ ਪੋਪ ਦੇ ਹੁਕਮ ਦੀ ਪਾਬੰਦੀ ਕਰਦੇ ਸਨ। ਜਿਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਚੂਹੇ ਦੀ ਜਾਨ ਬਿੱਲੀ ਦੇ ਹੱਥ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਓਸੇ ਤਰ੍ਹਾਂ ਯੋਰਪ-ਵਾਸਿਆਂ ਦੀ ਜਾਨ ਪੋਪ ਨੇ ਅਪਨੇ ਹੱਥ ਕਰ ਲਈ ਸੀ। ਇਸ ਪੋਪ ਦਾ ਬਲ ਤੇ ਦਾਬਾ ਬੜਾ ਭਿਆਨਕ ਸੀ। ਪਰ ਜਰਮਨੀ ਦੇ ਇਕ ਛੋਟੇ ਜਿਹੇ ਮੰਦਰ ਦੇ ਇਕ ਕੰਗਾਲ ਪਾਦਰੀ ਦੀ ਆਤਮਾ ਗਰਮ ਹੋ ਪਈ। ਪੋਪ ਨੇ ਇਤਨੀ ਲੀਲਾ ਫੈਲਾਈ ਕਿ ਯੋਰਪ ਵਿੱਚ ਸੁਰਗ ਤੇ ਨਰਕ ਦੇ ਟਿਕਟ ਬੜੀ ਬੜੀ ਕੀਮਤ ਤੇ ਵਿਕਦੇ ਸਨ। ਟਿਕਟ ਵੇਚ ਕੇ ਪੋਪ ਬੜਾ ਵਿਸ਼ਈ ਹੋ ਗਿਆ ਸੀ। ਲਥਰ ਕੋਲ ਜਦ

ਟਿਕਟ ਵਿਕਣ ਵਾਸਤੇ ਪੁੱਜੇ ਤਾਂ ਉਸਨੇ ਪਹਿਲੇ ਇਕ ਚਿੱਠੀ ਲਿਖ ਕੇ ਭੇਜੀ ਕਿ ਅਜਿਹੇ ਕਮ ਝੂਠੇ ਤੇ ਪਾਪ ਭਰੇ ਹਨ। ਪੋਪ ਨੇ ਜਵਾਬ ਦਿੱਤਾ—"ਲੂਥਰ ! ਤੂੰ ਇਸ ਗੁਸਤਾਖ਼ੀ ਬਦਲੇ ਅੱਗ ਵਿੱਚ ਜਿਉਂਦਾ ਸਾੜ ਦਿੱਤਾ ਜਾਏਂਗਾ।" ਇਸ ਜਵਾਬ ਨਾਲ ਲੂਥਰ ਦੀ ਆਤਮਾ ਦੀ ਅੱਗ ਹੋਰ ਵੀ ਭੜਕੀ। ਉਸਨੇ ਲਿਖਿਆ—"ਹੁਣ ਮੈਂ ਅਪਨੇ ਦਿਲ ਵਿੱਚ ਨਿਸਚਾ ਕਰ ਲਿਆ ਏ ਤੂੰ ਈਸ਼ਵਰ ਦਾ ਤਾਂ ਨਹੀਂ, ਸ਼ੈਤਾਨ ਦਾ ਪ੍ਰਤਿਨਿਧਿ ਏਂ। ਅਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਰਬ ਦਾ ਏਲਚੀ ਕਹਿਣ ਵਾਲੇ ਝੂਠਿਆ ! ਜਦ ਮੈਂ ਤੇਰੇ ਕੋਲ ਸਚੇ ਅਰਥ ਦਾ ਸੁਨੇਹਾ ਭੇਜਿਆ ਤਾਂ ਤੂੰ ਅੱਗ ਤੇ ਜਲਾਦ ਦੇ ਨਾਮ ਨਾਲ ਜਵਾਬ ਦਿੱਤਾ। ਇਸ ਤੋਂ ਪਤਾ ਲਗਾ ਏ ਕਿ ਤੂੰ ਸ਼ੈਤਾਨ ਦੀ ਦਲ-ਦਲ ਤੇ ਖਲੋਤਾ ਏਂ, ਸੱਚ ਦੀ ਚਟਾਨ ਤੇ ਨਹੀਂ। ਆਹ ਲੈ, ਤੇਰੀ ਟਿਕਟ ਦੇ ਢੇਰ ਮੈਂ ਅੱਗ ਵਿੱਚ ਸੁਟਦਾ ਹਾਂ। ਜੋ ਮੈਂ ਕਰਨਾ ਸੀ, ਕਰ ਦਿੱਤਾ; ਹੁਣ ਜੋ ਤੇਰੀ ਮਰਜ਼ੀ ਏ, ਕਰ ਲੈ। ਮੈਂ ਸੱਚ ਦੀ ਚੱਟਾਨ ਤੇ ਖਲੋਤਾ ਹਾਂ।" ਇਸ ਛੋਟੇ ਜਹੇ ਸੰਨਿਆਸੀ ਨੇ ਉਹ ਤੂਫਾਨ ਯੋਰਪ ਵਿੱਚ ਪੈਦਾ ਕਰ ਦਿੱਤਾ ਜਿਸਦੀ ਲਹਿਰ ਨਾਲ ਪੋਪ ਦਾ ਸਾਰਾ ਜੰਗੀ ਬੇੜਾ ਚੂਰ ਚੂਰ ਹੋ ਗਿਆ, ਤੂਫਾਨ ਵਿੱਚ ਇਕ ਤੀਲੇ ਵਾਂਗੂ ਉਹ ਨਾ ਜਾਣੇ ਕਿੱਥੇ ਉਡ ਗਿਆ।

ਮਹਾਰਾਜ ਰਣਜੀਤ ਸਿੰਘ ਨੇ ਫੌਜ ਨੂੰ ਕਿਹਾ— "ਅਟਕ ਦੇ ਪਾਰ ਜਾਓ"। ਅਟਕ ਚੜ੍ਹੀ ਹੋਈ ਸੀ ਤੇ ਮਾਰੂ ਲਹਿਰਾਂ ਉੱਠ ਰਹੀਆਂ ਸਨ। ਜਦ ਫੌਜਾਂ ਨੇ ਕੁਝ ਹੌਸਲਾ ਪ੍ਰਗਟ ਕੀਤਾ, ਤਾਂ ਉਸ ਵੀਰ ਨੂੰ ਜ਼ਰਾ ਜੋਸ਼ ਆਇਆ। ਮਹਾਰਾਜ ਨੇ ਆਪਣਾ ਘੋੜਾ ਦਰਿਆ ਵਿੱਚ ਠੇਲ੍ਹ ਦਿੱਤਾ। ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ ਕਿ ਅਟਕ ਸੁੱਕ ਗਈ ਤੇ ਸੱਭ ਪਾਰ ਚਲੇ ਗਏ।

ਦੁਨੀਆਂ ਵਿੱਚ ਜੰਗ ਦੇ ਸੱਭ ਸਾਮਾਨ ਜਮਾ ਹਨ। ਲੱਖਾਂ ਆਦਮੀ ਮਰਨ—ਮਾਰਨ ਲਈ ਤਿਆਰ ਹੋ ਰਹੇ ਹਨ। ਗੋਲੀਆਂ ਪਾਣੀ ਦੀ ਬੂੰਦਾਂ ਵਾਂਙ ਮੋਹਲੇਧਾਰ ਵਰ੍ਹ ਰਹੀਆਂ ਹਨ। ਉਸਨੇ ਕਿਹਾ—ਹਾਲਟ (ਠਹਿਰੋ)" ਸਾਰੀ ਫੌਜ ਖ਼ਾਮੋਸ਼ ਹੋਕੇ ਸਕਤੇ ਦੀ ਹਾਲਤ ਵਿਚ ਖੜੀ ਹੋ ਗਈ। ਐਲਪਸ ਦੇ ਪਹਾੜਾਂ ਤੇ ਫੌਜ ਨੇ ਜਿਓਂ ਹੀ ਨਾਮੁਮਕਿਨ ਸਮਝਿਆ ਤਿਓਂ ਹੀ ਵੀਰ ਨੇ ਕਿਹਾ—"ਐਲਪਸ ਹੈ ਹੀ ਨਹੀਂ।" ਫੌਜ ਨੂੰ ਨਿਸਚਾ ਹੋ ਗਿਆ ਕਿ ਐਲਪਸ ਹੈ ਹੀ ਨਹੀਂ, ਤੇ ਸੱਭ ਲੋਕ ਪਾਰ ਹੋ ਗਏ।

ਇਕ ਭੇਡਾਂ ਚਾਰਨ ਵਾਲੀ ਤੇ ਸਤੋਗੁਣ ਵਿੱਚ ਡੁੱਬੀ ਮੁਟਿਆਰ ਕੁੜੀ ਦੇ ਦਿਲ ਵਿਚ ਜੋਸ਼ ਆਉਂਦਿਆਂ ਹੀ ਕੁਲ ਫਰਾਂਸ ਇਕ ਭਾਰੀ ਹਾਰ ਤੋਂ ਬਚ ਗਿਆ।

ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਹਰ ਘੜੀ ਤੇ ਹਰ ਪਲ ਮਹਾਨ ਤੋਂ ਵੀ ਮਹਾਨ ਬਣਾਉਂਣ ਦਾ ਨਾਂ ਵੀਰਤਾ ਹੈ। ਵੀਰਤਾ ਦੇ ਕਾਰਨਾਮੇ ਤਾਂ ਇਕ ਮਾਮੂਲੀ ਗੱਲ ਨੇ। ਅਸਲ ਵੀਰ ਤਾਂ ਇਨ੍ਹਾਂ ਕਾਰਨਾਮਿਆਂ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਰੋਜ਼ਨਾਮਚੇ ਵਿੱਚ ਲਿਖਦੇ ਹੀ ਨਹੀਂ।

ਰੁੱਖ ਤਾਂ ਜ਼ਮੀਨ ਤੋਂ ਰਸ ਲੈਣ ਵਿੱਚ ਹੀ ਲੱਗਾ ਰਹਿੰਦਾ ਏ। ਉਹਨੂੰ ਇਹ ਖਿਆਲ ਹੀ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦਾ ਕਿ ਮੈਨੂੰ ਕਿੰਨੇ ਫਲ ਯਾ ਫੁੱਲ ਲੱਗਣਗੇ, ਤੇ ਕਦ ਲੱਗਣਗੇ। ਉਸਦਾ ਕੰਮ ਤਾਂ ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਸੱਚ ਵਿੱਚ ਰਖਣਾ ਏ—ਸੱਚ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਅੰਦਰ ਕੁਟ ਕੁਟ ਕੇ ਭਰਨਾ ਏ, ਤੇ ਅੰਦਰ ਹੀ ਅੰਦਰ ਵਧਨਾ ਏ। ਉਸਨੂੰ ਇਸ ਚਿੰਤਾ ਨਾਲ ਕੀ ਮਤਲਬ ਕਿ ਕੌਣ ਪੱਕੇ ਫਲ ਖਾਏਗਾ। ਜਾਂ ਮੈਂ ਕਿੰਨੇ ਫਲ ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਦਿੱਤੇ।

ਵੀਰਤਾ ਦਾ ਵਿਕਾਸ ਕਈ ਤਰ੍ਹਾਂ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਕਦੀ ਤਾਂ ਉਸਦਾ ਵਿਕਾਸ ਲੜਨ ਮਾਰਨ ਵਿੱਚ, ਖ਼ੂਨ ਰੋੜ੍ਹਨ ਵਿੱਚ, ਤਲਵਾਰ ਤੋਪ ਸਾਵੇਂ ਜਾਨ ਗੰਵਾਉਣ ਵਿੱਚ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਕਦੀ ਪਿਆਰ ਦੇ ਮੈਦਾਨ ਵਿੱਚ ਉਸਦਾ ਝੰਡਾ ਖੜਾ ਹੁੰਦਾ ਹੈ। ਕਦੀ ਜੀਵਨ ਦੇ ਗੂੜੇ ਤੱਤ ਤੇ ਸੱਚ ਦੀ ਭਾਲ ਵਿੱਚ ਬੁਧ ਵਰਗੇ ਰਾਜੇ ਵੈਰਾਗੀ ਹੋਕੇ ਵੀਰ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਕਦੀ ਕਿਸੇ ਆਦਰਸ਼ ਤੇ ਅਤੇ ਕਦੀ ਕਿਸੇ ਤੇ ਵੀਰਤਾ ਆਪਣਾ ਝੰਡਾ ਲਹਿਰਾਉਂਦੀ ਹੈ। ਪਰ ਵੀਰਤਾ ਇਕ ਪ੍ਰਕਾਰ ਦਾ ਇਲਹਾਮ ਜਾਂ ਰੱਬੀ ਪ੍ਰੇਰਣਾ ਹੈ। ਜਦ ਕਦੀ ਇਸ ਦਾ ਵਿਕਾਸ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਤਾਂ ਇਕ ਨਵਾਂ ਕਮਾਲ ਨਜ਼ਰ ਆਉਂਦਾ ਹੈ, ਇਕ ਨਵੀਂ ਰੌਨਕ, ਇਕ ਨਵਾਂ ਰੰਗ, ਇਕ ਨਵੀਂ ਬਹਾਰ, ਇਕ ਨਵੀਂ ਸ਼ਾਨ ਸੰਸਾਰ ਵਿਚ ਛਾ ਜਾਂਦੀ ਹੈ, ਵੀਰਤਾ ਹਮੇਸ਼ਾ ਨਿਰਾਲੀ ਤੇ ਨਵੀਂ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਨਵਾਂ-ਪਨ ਵੀ ਵੀਰਤਾ ਦਾ ਇਕ ਖ਼ਾਸ ਰੰਗ ਹੈ। ਹਿੰਦੂਆਂ ਦੇ ਪੁਰਾਣਾਂ ਦਾ ਉਹ ਆਲੰ-ਕਾਰਿਕ—ਕਲਪਨਾ, ਜਿਸ ਨਾਲ ਪੁਰਾਣਕਾਰਾਂ ਨੇ ਈਸ਼੍ਵਰ ਅਵਤਾਰਾਂ ਨੂੰ ਅਜੀਬ ਅਜੀਬ ਤੇ ਅਡਰੇ ਅਡਰੇ ਵੇਸ ਦਿੱਤੇ ਹਨ, ਸੱਚੀ ਮਾਲੂਮਾਤ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਕਿਉਂਕਿ ਵੀਰਤਾ ਦਾ ਇਕ ਵਿਕਾਸ ਦੂਸਰੇ ਵਿਕਾਸ ਨਾਲ ਕਦੀ ਕਿਸੀ ਤਰਾਂ ਵੀ ਨਹੀਂ ਮਿਲ ਸਕਦਾ। ਵੀਰਤਾ ਦੀ ਕਦੀ ਨਕਲ ਨਹੀਂ ਹੋ ਸਕਦੀ, ਜਿਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਮਨ ਦੀ ਖ਼ੁਸ਼ੀ ਕਦੀ ਕੋਈ ਉਧਾਰ ਨਹੀਂ ਲੈ ਸਕਦਾ। ਵੀਰਤਾ ਦੇਸ ਕਾਲ ਦੇ ਅਨੁਸਾਰ ਸੰਸਾਰ ਵਿੱਚ ਜਦੋ ਕਦੀ ਵੀ ਪ੍ਰਗਟ ਹੋਈ, ਤਾਂ ਇਕ ਨਵਾਂ ਰੂਪ ਲੈ ਕੇ ਆਈ, ਜਿਸਦੇ ਦਰਸ਼ਨ ਕਰਦਿਆਂ ਸੱਭ ਲੋਕ ਹੈਰਾਨ ਹੋ ਗਏ—ਕੁਝ ਹੋ ਨ ਸਕਿਆ, ਅਤੇ ਵੀਰਤਾ ਅੱਗੇ ਸਿਰ ਨਵਾ ਦਿੱਤਾ।

ਜਾਪਾਨੀ ਵੀਰਤਾ ਦੀ ਮੂਰਤੀ ਪੂਜਦੇ ਹਨ। ਇਸ ਮੂਰਤੀ ਦਾ ਦਰਸ਼ਨ ਉਹ ਚੇਰੀ ਦੇ ਫੁਲ ਦੀ ਸ਼ਾਂਤ ਹਾਸੀ ਵਿੱਚ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਕਿਹੀ ਸੱਚੀ ਤੇ ਹੁਨਰ ਭਰੀ ਪੂਜਾ ਹੈ। ਵੀਰਤਾ ਸਦਾ ਜ਼ੋਰ ਨਾਲ ਭਰਿਆ ਹੋਇਆ ਹੀ ਉਪਦੇਸ਼ ਨਹੀਂ ਦੇਂਦੀ। ਵੀਰਤਾ ਕਦੀ ਕਦੀ ਦਿਲ ਦੀ ਕੋਮਲਤਾ ਦਾ ਦਰਸ਼ਨ ਵੀ ਕਰਾਉਂਦੀ ਹੈ, ਅਜਿਹੀ ਸੁੰਦਰਤਾ ਵੇਖ ਕੇ ਲੋਕ ਮੋਹੇ ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਜਦ ਕੋਮਲਤਾ ਤੇ ਸੁੰਦਰਤਾ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿੱਚ ਉਹ ਦਰਸ਼ਨ ਦੇਂਦੀ ਹੈ, ਤਾਂ ਚੇਰੀ ਫੁਲ ਤੋਂ ਵੀ ਜ਼ਿਆਦਾ ਨਾਜ਼ਕ ਤੇ ਮਨੋਹਰ ਹੁੰਦੀ

(ਚਲਦਾ)

मत्स्यपुराणान्तर्गतं राजनीतिप्रकरणम् ।

[एम० ए०, एम० ओ० एल०, इत्युपाधिभूषितेन जगदीशशास्त्रिणा संकलितम्]

अथ पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

मनुरुवाच—

राज्ञोऽभिषिक्तमात्रस्य किं नु कृत्यतमं भवेत् ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सम्यग्वेत्ति यतो भवान् ॥ १ ॥

मत्स्य उवाच—

अभिषेकार्द्रशिरसा राज्ञा राज्यावलोकिना ।
सहायवरणं कार्यं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्यं महोदयम् ॥ ३ ॥
तस्मात्सहायान्वरयेत्कुलीनान्नृपतिः स्वयम् ।
शूरान्कुलीनजातीयान्बलयुक्ताञ्छ्रियान्वितान् ॥ ४ ॥
रूपसत्त्वगुणोपेतान् सज्जनान्क्षमयाऽन्वितान ।
क्लेशक्षमान्महोत्साहान्धर्मज्ञांश्च प्रियंवदान् ॥ ५ ॥
हितोपदेशकालज्ञान् स्वामिभक्तान्यशोऽर्थिनः ।
एवंविधान्सहायांश्च शुभकर्मसु योजयेत् ॥ ६ ॥
गुणहीनानपि तथा विज्ञाय नृपतिः स्वयम् ।
कर्मस्वेव नियुञ्जीत यथायोग्येषु भागशः ॥ ७ ॥
कुलीनः शीलसम्पन्नो धनुर्वेदविशारदः ।
हस्तिशिक्षाश्वशिक्षासु कुशलः श्लक्ष्णभाषिता ॥ ८ ॥
निमित्ते शकुनज्ञाने वेत्ता चैव चिकित्सिते ।
कृतज्ञः कर्मणां शूरस्तथा क्लेशसहस्त्वृजुः ॥ ९ ॥
व्यूहतत्त्वविधानज्ञः फल्गुसारविशेषवित् ।
राज्ञः सेनापतिः कार्यो ब्राह्मणः क्षत्त्रियोऽथवा ॥१०॥
प्रांशुः सुरूपो दक्षश्च प्रियवादी न चोद्धतः ।
चित्तग्राहश्च सर्वेषां प्रतीहारो विधीयते ॥११॥

यथोक्तवादी दूतः स्याद्देशभाषाविशारदः ।
शक्तः क्लेशसहो वाग्मी देशकालविभागवित् ॥१२॥
विज्ञातदेशकालश्च दूतः स स्यान्महीक्षितः ।
वक्ता नयस्य यः काले स दूतो नृपतेर्भवेत् ॥१३॥
प्रांशवोऽव्यसनाः शूरा दृढभक्ता निराकुलाः ।
राज्ञा तु रक्षिणः कार्याः सदा क्लेशसहा हिताः ॥ १४ ॥
अनाहार्योऽनृशंसश्च दृढभक्तिश्च पार्थिवे ।
ताम्बूलधारी भवति नारी वाऽप्यथ तद्गुणा ॥ १५ ॥
षाड्गुण्यविधितत्त्वज्ञो देशभाषाविशारदः ।
सान्धिविग्रहिकः कार्यो राज्ञा नयविशारदः ॥ १६ ॥
कृताकृतज्ञो भृत्यानां ज्ञेयः स्याद्देशरक्षिता ।
आयव्ययज्ञो लोकज्ञो देशोत्पत्तिविशारदः ॥ १७ ॥
सुरूपस्तरुणः प्रांशुर्दृढभक्तिः कुलोचितः ।
शूरः क्लेशसहश्चैव खड्गधारी प्रकीर्तितः ॥ १८ ॥
शूरश्च बलयुक्तश्च गजाश्वरथकोविदः ।
धनुर्धारी भवेद्राज्ञः सर्वक्लेशसहः शुचिः ॥ १९ ॥
निमित्तशकुनज्ञानी हयशिक्षाविशारदः ।
हयायुर्वेदतत्त्वज्ञो भुवो भागविचक्षणः ॥ २० ॥
बलाबलज्ञो रथिनः स्थिरदृष्टिः प्रियंवदः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च सारथिः परिकीर्तितः ॥ २१ ॥
अनाहार्यः शुचिर्दक्षश्चिकित्सितविदां परः ।
सूदशास्त्रविधानज्ञः सूदाध्यक्षः प्रशस्यते ॥ २२ ॥
सूदशास्त्रविधानज्ञाः पराभेद्याः कुलोद्गताः ।
सर्वे महानसे धार्याः कृत्तकेशनखा नराः ॥ २३ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च धर्मशास्त्रविशारदः ।
विप्रमुख्यः कुलीनश्च धर्माधिकरणो भवेत् ॥ २४ ॥
कार्यास्तथाविधास्तत्र द्विजमुख्याः सभासदः ।
सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ २५ ॥
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै ।
शीर्षोपेतान्सुसम्पूर्णान् समश्रेणिगतान् समान् ॥ २६ ॥

अक्षरान्वै लिखेद्यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः ।
उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ २७ ॥
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्यान्नृपोत्तम !
वाक्याभिप्रायतत्त्वज्ञो देशकालविभागवित् ॥ २८ ॥
अनाहार्यो भवेत्सक्तो लेखकः स्यान्नृपोत्तम !
पुरुषान्तरतत्त्वज्ञाः प्रांशवश्चाप्यलोलुपाः ॥ २९ ॥
धर्माधिकारिणः कार्या जना दानकरा नराः ।
एवंविधास्तथा कार्या राज्ञा दौवारिका जनाः ॥ ३० ॥
लोहवस्त्राजिनादीनां रत्नानां च विधानवित् ।
विज्ञाता फल्गुसाराणामनाहार्यः शुचिः सदा ॥३१ ॥
निपुणश्चाप्रमत्तश्च धनाध्यक्षः प्रकीर्तितः ॥ ३२ ॥
आयद्वारेषु सर्वेषु धनाध्यक्षसमा नराः ।
व्ययद्वारेषु च तथा कर्तव्याः पृथिवीक्षिता ॥ ३३ ॥
परम्परागतो यः स्यादष्टाङ्गे सुचिकित्सिते ।
अनाहार्यः स वैद्यः स्याद्धर्मात्मा च कुलोद्गतः ॥ ३४ ॥
प्राणाचार्यः स विज्ञेयो वचनं तस्य भूभुजा ।
राजन् ! राज्ञा सदा कार्यं यथा कार्यं पृथग्जनैः ॥ ३५ ॥
हस्तिशिक्षाविधानज्ञो वनजातिविशारदः ।
क्लेशक्षमस्तथा राज्ञो गजाध्यक्षः प्रशस्यते ॥ ३६ ॥
एतैरेव गुणैर्युक्तः स्थविरश्च विशेषतः ।
गजारोही नरेन्द्रस्य सर्वकर्मसु शस्यते ॥ ३७ ॥
हयशिक्षाविधानज्ञश्चिकित्सितविशारदः ।
अश्वाध्यक्षो महीभर्तुः स्वासनश्च प्रशस्यते ॥ ३८ ॥
अनाहार्यश्च शूरश्च तथा प्राज्ञः कुलोद्गतः ।
दुर्गाध्यक्षः स्मृतो राज्ञा उद्युक्तः सर्वकर्मसु ॥ ३९ ॥
वास्तुविद्याविधानज्ञो लघुहस्तो जितश्रमः ।
दीर्घदर्शी च शूरश्च स्थपतिः परिकीर्तितः ॥ ४० ॥
यन्त्रमुक्ते पाणिमुक्ते विमुक्ते मुक्तधारिते ।
अस्त्राचार्यो निरुद्वेगः कुशलश्च विशिष्यते ॥ ४१ ॥
वृद्धः कुलोद्गतः सूक्तः पितृपैतामहः शुचिः ।

राज्ञामन्तःपुराध्यक्षो विनीतश्च तथेष्यते ॥ ४२ ॥
एवं सप्ताधिकारेषु पुरुषाः सप्त ते पुरे ।
परीक्ष्य चाधिकार्याः स्यू राज्ञा सर्वेषु कर्मसु ॥ ४३ ॥
स्थापनाजातितत्त्वज्ञाः सततं प्रतिजागृताः ॥ ४४ ॥
राज्ञः स्यादायुधागारे दक्षः कर्मसु चोद्यतः ।
कर्माण्यपरिमेयानि राज्ञो नृपकुलोद्वह ! ॥ ४५ ॥
उत्तमाधममध्यानि बुद्ध्वा कर्माणि पार्थिवः ।
उत्तमाधममध्येषु पुरुषेषु नियोजयेत् ॥ ४६ ॥
नरकर्मविपर्यासाद्राजा नाशमवाप्नुयात् ।
नियोगं पौरुषं भक्तिं श्रुतं शौर्यं कुलं नयम् ॥ ४७ ॥
ज्ञात्वा वृत्तिर्विधातव्या पुरुषाणां महीक्षिता ।
पुरुषान्तरविज्ञानतत्त्वसारनिबन्धनात् ॥ ४८ ॥
बहुभिर्मन्त्रयेत्कामं राजा मन्त्रं पृथक् पृथक् ।
मन्त्रिणामपि नो कुर्यान्मन्त्रिमन्त्रप्रकाशनम् ॥ ४९ ॥
क्वचिन्न कस्य विश्वासो भवतीह सदा नृणाम् ।
निश्चयस्तु सदा मन्त्रे कार्य एकेन सूरिणा ॥ ५० ॥
भवेद्वा निश्चयावाप्तिः परबुद्ध्युपजीवनात् ।
एकस्यैव महीभर्तुर्भूयः कार्यो विनिश्चयः ॥ ५१ ॥
ब्राह्मणान्पर्युपासीत त्रयीशास्त्रसुनिश्चितान् ।
नासच्छास्त्रवतो मूढांस्ते हि लोकस्य कण्टकाः ॥ ५२ ॥
वृद्धान् हि नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ।
तेभ्यः शिक्षेत विनयं विनीतात्मा च नित्यशः ॥ ५३ ॥
समग्रां वशगां कुर्यात्पृथिवीं नात्र संशयः ॥ ५४ ॥
बहवोऽविनयाद् भ्रष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्थाश्चैव राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ५५ ॥
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं त्वात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ ५६ ॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ ५७ ॥
यजेत राजा बहुभिः क्रतुभिश्च सदक्षिणैः ।

धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ५८ ॥
सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम् ।
स्यात्स्वाध्यायपरो लोके वर्तेत पितृबन्धुवत् ॥ ५९ ॥
आवृत्तानां गुरुकुलाद् द्विजानां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ६० ॥
तं च स्तेना न वाऽमित्रा हरन्ति न विनश्यति ।
तस्माद्राज्ञा विधातव्यो ब्राह्मो वै ह्यक्षयो विधिः ॥ ६१ ॥
समोत्तमाधमै राजा ह्याहूय पालयेत्प्रजाः ।
न निवर्तेत सङ्ग्रामात् क्षात्त्रं व्रतमनुस्मरन् ॥ ६२ ॥
सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां परिपालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां निःश्रेयसं परम् ॥ ६३ ॥
कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम ।
योगक्षेमं च वृत्तिं च तथैव परिकल्पयेत् ॥ ६४ ॥
वर्णाश्रमव्यवस्थानं तथा कार्यं विशेषतः ।
स्वधर्मप्रच्युतान् राजा स्वधर्मे स्थापयेत्तथा ॥ ६५ ॥
आश्रमेषु तथा कार्यमन्नं तैलं च भाजनम् ।
स्वयमेवानयेद्राजा सत्कृतान्नावमानयेत् ॥ ६६ ॥
तापसे सर्वकार्याणि राज्यमात्मानमेव च ।
निवेदयेत्प्रयत्नेन देववच्चिरमर्चयेत् ॥ ६७ ॥
द्वे प्रज्ञे वेदितव्ये च ऋज्वी वक्रा च मानवैः ।
वक्रां ज्ञात्वा न सेवेत प्रतिबाधेत चाऽऽगताम् ॥ ६८ ॥
नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ ६९ ॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ७० ॥
विश्वासयेच्चाप्यपरं तत्त्वभूतेन हेतुना ।
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ॥ ७१ ॥
वृकवच्चापि लुम्पेत शशवच्च विनिक्षिपेत् ।
दृढप्रहारी च भवेत्तथा शूकरवन्नृपः ॥ ७२ ॥
चित्राकारश्च शिखिवद् दृढभक्तस्तथाश्ववत् ।

तथा च मधुराभाषी भवेत्कोकिलवन्नृप: ॥ ७३ ॥
काकशङ्की भवेन्नित्यं नाज्ञातवसतिं वसेत् ।
नापरीक्षितपूर्वं च भोजनं शयनं व्रजेत् ॥ ७४ ॥
वस्त्रं पुष्पमलङ्कारं यच्चान्यन्मनुजोत्तम ! ॥ ७५ ॥
न गाहेज्जनसंबाधं न चाज्ञातजलाशयम् ।
अपरीक्षितपूर्वं च पुरुषैराप्तकारिभि: ॥ ७६ ॥
नारोहेत्कुञ्जरं व्यालं वाऽदान्तं तुरगं तथा ।
नाविज्ञातां स्त्रियं गच्छेन्नैव देवोत्सवे वसेत् ॥ ७७ ॥
नरेन्द्रलक्ष्म्या धर्मज्ञ ! त्राताऽश्रान्तो भवेन्नृप: ।
सद्भृत्याश्च तथा पुष्टा: सततं प्रतिमानिता: ॥ ७८ ॥
राज्ञा सहाया: कर्तव्या: पृथिवीं जेतुमिच्छता ।
यथार्हं चाप्यसुभृतो राजा कर्मसु योजयेत् ॥ ७९ ॥
धर्मिष्ठान्धर्मकार्येषु शूरान संग्रामकर्मसु ।
निपुणानर्थकृत्येषु सर्वत्रैव तथा शुचीन ॥ ८० ॥
स्त्रीषु षण्डं नियुञ्जीत तीक्ष्णं दारुणकर्मसु ।
धर्मे चार्थे च कामे च नये च रविनन्दन ! ॥ ८१ ॥
राजा यथार्हं कुर्याच्च उपधाभि: परीक्षणम् ।
समतीतोपधान्भृत्यान्कुर्याच्छस्तवनेचरान ॥ ८२ ॥
तत्पादान्वेषिणो यत्तांस्तदध्यक्षांस्तु कारयेत् ।
एवमादीनि कर्माणि नृपै: कार्याणि पार्थिव ! ॥ ८३ ॥
सर्वथा नेष्यते राज्ञस्तीक्ष्णोपकरणक्रम: ।
कर्माणि पापसाध्यानि यानि राज्ञो नराधिप ! ॥ ८४ ॥
सन्तस्तानि न कुर्वन्ति तस्मात्तानि त्यजेन्नृप: ।
नेष्यते पृथिवीशानां तीक्ष्णोपकरणक्रिया ॥ ८५ ॥
यस्मिन्कर्मणि यस्य स्याद्विशेषेण च कौशलम् ।
तस्मिन्कर्मणि तं राजा परीक्ष्य विनियोजयेत् ॥ ८६ ॥
पितृपैतामहान् भृत्यान सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ ८७ ॥
विना दायादकृत्येषु तत्र ते हि समागता: ।
राजा दायादकृत्येषु परीक्ष्य तु कृताश्नरान ॥ ८८ ॥
नियुञ्जीत महाभाग ! तस्य ते हितकारिण: ॥ ८९ ॥

परराजगृहात्प्राप्ताञ्जनसङ्ग्रहकाम्यया ।
दुष्टान्वाऽप्यथवाऽदुष्टानाश्रयीत प्रयत्नतः ॥ ९० ॥
दुष्टं विज्ञाय विश्वासं न कुर्यात्तत्र भूमिपः ।
वृत्तिं तस्यापि वर्तेत जनसङ्ग्रहकाम्यया ॥ ९१ ॥
राजा देशान्तरप्राप्तं पुरुषं पूजयेद् भृशम् ।
ममायं देशसम्प्राप्तो बहुमानेन चिन्तयेत् ॥ ९२ ॥
कामं भृत्यार्जनं राजा नैव कुर्यान्नराधिप !
न च वाऽसंविभक्तांस्तान् भृत्यान् कुर्यात्कथञ्चन ॥ ९३ ॥
शत्रवोऽग्निर्विषं सर्पो निस्त्रिंश इति चैकतः ।
भृत्या मनुजशार्दूल रुषिताश्च तथैकतः ॥ ९४ ॥
तेषां चारेण चारित्रं राजा विज्ञाय नित्यशः ।
गुणिनां पूजनं कुर्यान्निर्गुणानां च शासनम् ॥ ९५ ॥
कथिताः सततं राजन् ! राजानश्चारचक्षुषः ॥ ९६ ॥
स्वके देशे परे देशे ज्ञानशीलान्विचक्षणान् ।
अनाहार्यान्क्लेशसहान्नियुञ्जीत तथा चरान ॥ ९७ ॥
जनस्याविदितान्सौम्यांस्तथाऽज्ञातान्परस्परम् ।
वणिजो मन्त्रकुशलान्सांवत्सरचिकित्सकान् ॥ ९८ ॥
तथा प्रव्रजिताकारांश्चारान् राजा नियोजयेत् ॥ ९९ ॥
नैकस्य राजा श्रद्दध्याच्चारस्यापि सुभाषितम् ।
द्वयोः सम्बन्धमाज्ञाय श्रद्दध्यान्नृपतिस्तदा ॥१००॥
परस्परस्याविदितौ यदि स्यातां च तावुभौ ।
तस्माद्राजा प्रयत्नेन गूढांश्चारान्नियोजयेत् ॥१०१॥
राज्यस्य मूलमेतावद्या राज्ञश्चारदर्शिता ।
चाराणामपि यत्नेन राज्ञा कार्यं परीक्षणम् ॥ १०२॥
रागापरागौ भृत्यानां जनस्य च गुणागुणान् ।
सर्वं राज्ञां चरायत्तं तेषु यत्नपरो भवेत् ॥१०३॥
कर्मणा केन मे लोके जनः सर्वोऽनुरज्यते ।
विरज्यते केन तथा विज्ञेयं तन्महीक्षिता ॥१०४॥
अनुरागकरं लोके कर्म कार्यं महीक्षिता ।
विरागजनकं लोके वर्जनीयं विशेषतः ॥१०५॥

जनानुरागप्रभवा हि लक्ष्मी
राज्ञां यतो भास्करवंशचन्द्र !
तस्मात्प्रयत्नेन नरेन्द्रमुख्यैः
कार्योऽनुरागो भुवि मानवेषु ॥१०६॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राज्ञां सहायसम्पत्तिर्नाम पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

मत्स्य उवाच—

यथाऽनुवर्तितव्यं स्यान्मनो राज्ञोऽनुजीविभिः ।
तथा ते कथयिष्यामि निबोध गदतो मम ॥१०७॥
ज्ञात्वा सर्वात्मना कार्यं स्वशक्त्या रविनन्दन !
राजा यत्तु वदेद्वाक्यं श्रोतव्यं तत्प्रयत्नतः ॥१०८॥
आक्षिप्य वचनं तस्य न वक्तव्यं तथा वचः ॥१०९॥
अनुकूलं प्रियं तस्य वक्तव्यं जनसंसदि ।
रहोगतस्य वक्तव्यमप्रियं तद्धितं भवेत् ॥११०॥
परार्थमस्य वक्तव्यं स्वस्थे चेतसि पार्थिव ।
स्वार्थः सुहृद्भिर्वक्तव्यो न स्वयं तु कथञ्चन ॥१११॥
कार्यातिपातः सर्वेषु रक्षितव्यः प्रयत्नतः ।
नच हिंस्यं धनं किञ्चिन्नियुक्तेन च कर्मणि ॥११२॥
नोपेक्ष्यस्तस्य मानश्च तथा राज्ञः प्रियो भवेत् ।
राज्ञश्च न तथा कार्यं वेषभाषितचेष्टितम् ॥११३॥
राजलीला न कर्तव्या तद्विद्विष्टं च वर्जयेत् ।
राज्ञः समोऽधिको वा न कार्यो वेषो विजानता ॥११४॥
द्यूतादिषु तथैवान्यत्कौशलं तु प्रदर्शयेत् ।
प्रदर्श्य कौशलं चास्य राजानं तु विशेषयेत् ॥११५॥
अन्तःपुरजनाध्यक्षैर्वैरिदूतैर्निराकृतैः ।
संसर्गं न व्रजेद्राजन्विना पार्थिवशासनात् ॥११६॥
निःस्नेहतां चावमानं प्रयत्नेन तु गोपयेत् ।
यच्च गुह्यं भवेद्राज्ञो न तल्लोके प्रकाशयेत् ॥११७॥
नृपेण श्रावितं यत्स्याद्वाच्यावाच्यं नृपोत्तम !

न तत्संश्रावयेल्लोके तथा राज्ञोऽप्रियो भवेत् ॥११८॥
आज्ञाप्यमाने वाऽन्यस्मिन् समुत्थाय त्वरान्वितः ।
किमहं करवाणीति वाच्यो राजा विजानता ॥११९॥
कार्यावस्थां च विज्ञाय कार्यमेव यथा भवेत् ।
सततं क्रियमाणेऽस्मिँल्लाघवं तु व्रजेद् ध्रुवम् ॥१२०॥
राज्ञः प्रियाणि वाक्यानि न चात्यर्थं पुनः पुनः ।
न हास्यशीलस्तु भवेन्न चापि भृकुटीमुखः ॥१२१॥
नातिवक्ता न निर्वक्ता न च मात्सरिकस्तथा ।
आत्मसम्भावितश्चैव न भवेत्तु कथञ्चन ॥१२२॥
दुष्कृतानि नरेन्द्रस्य नतु सङ्कीर्तयेत्क्वचित् ।
वस्त्रमस्त्रमलङ्कारं राज्ञा दत्तं तु धारयेत् ॥१२३॥
औदार्येण न तद्देयमन्यस्मै भूतिमिच्छता ।
न चैवात्यशनं कार्यं दिवा स्वप्नं न कारयेत् ॥१२४॥
नानिर्दिष्टे तथा द्वारे प्रविशेत्तु कथञ्चन ।
न च पश्येत्तु राजानमयोग्यासु च भूमिषु ॥१२५॥
राज्ञस्तु दक्षिणे पार्श्वे वामे चोपविशेत्तदा ।
पुरस्ताच्च तथा पश्चादासनं तु विगर्हितम् ॥१२६॥
जृम्भां निष्ठीवनं कासं कोपं पर्यस्तिकाश्रयम् ।
भृकुटिं वान्तमुद्गारं तत्समीपे विवर्जयेत् ॥१२७॥
स्वयं तत्र न कुर्वीत स्वगुणाख्यापनं बुधः ।
स्वगुणाख्यापने युक्त्या परमेव प्रयोजयेत् ॥१२८॥
हृदयं निर्मलं कृत्वा परां भक्तिमुपाश्रितैः ।
अनुजीविगणैर्भाव्यं नित्यं राज्ञामतन्द्रितैः ॥१२९॥
शाठ्यं लौल्यं च पैशुन्यं नास्तिक्यं क्षुद्रता तथा ।
चापल्यं च परित्याज्यं नित्यं राज्ञोऽनुजीविभिः ॥१३०॥
श्रुतेन विद्याशीलैश्च संयोज्यात्मानमात्मना ।
राजसेवां ततः कुर्याद् भूतये भूतिवर्धनीम् ॥१३१॥
नमस्कार्याः सदा चास्य पुत्रवल्लभमन्त्रिणः ।
सचिवैश्चास्य विश्वासो नतु कार्यः कथञ्चन ॥१३२॥
अपृष्टश्चास्य न ब्रूयात्कामं ब्रूयात्तथापदि ।

हितं तथ्यं च वचनं हितैः सह सुनिश्चितम् ॥१३३॥
चित्तं चैवास्य विज्ञेयं नित्यमेवानुजीविना ।
भर्तुराराधनं कुर्याच्चित्तज्ञो मानवः सुखम् ॥१३४॥
रागापरागौ चैवास्य विज्ञेयौ भूतिमिच्छता ।
त्यजेद्विरक्तं नृपतिं रक्ताद्वृत्तिं तु कारयेत् ॥१३५॥
विरक्तः कारयेन्नाश विपक्षाभ्युदयं तथा ।
आशावर्धनकं कृत्वा फलनाशं करोति च ॥१३६॥
अकोपोऽपि सकोपाभः प्रसन्नोऽपि च निष्फलः ।
वाक्यं च समदं वक्ति वृत्तिच्छेदं करोति वै ॥१३७॥
प्रदेशवाक्यमुदितो न च सम्भावयेत्तथा ।
आराधनासु सर्वासु सुप्तवच्च विचेष्टते ॥१३८॥
कथासु दोषं क्षिपति वाक्यभङ्गं करोति च ।
लक्ष्यते विमुखश्चैव गुणसङ्कीर्तनेऽपि च ॥ १३९॥
दृष्टिं क्षिपति चान्यत्र क्रियमाणे च कर्मणि ।
विरक्तलक्षणं चैतच्छृणु रक्तस्य लक्षणम् ॥१४०॥
दृष्ट्वा प्रसन्नो भवति वाक्यं गृह्णाति चाऽऽदरात् ।
कुशलादिपरिप्रश्नं सम्प्रयच्छति चाऽऽसनम् ॥१४१॥
विविक्तदर्शने चास्य रहस्येनं न शङ्कते ।
जायते हृष्टवदनः श्रुत्वा तस्य तु तत्कथाम् ॥१४२॥
अप्रियाण्यपि वाक्यानि तदुक्तान्यभिनन्दते ।
उपायनं च गृह्णाति स्तोकमप्यादरात्तथा ॥१४३॥
कथान्तरेषु स्मरति प्रहृष्टवदनस्तथा ।
इति रक्तस्य कर्तव्या सेवा रविकुलोद्वह ! ॥१४४॥
आपत्सु न त्यजेत्पूर्वं विरक्तमपि सेवितम् ॥१४५॥
मित्रं न चापत्सु तथा च भृत्यं
त्यजन्ति ये निर्गुणमप्रमेयम् ।
विभुं विशेषेण च ते व्रजन्ति
सुरेन्द्रधामामरवृन्दजुष्टम् ॥१४६॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मेऽनुजीविवर्तनं नाम षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अथ सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

मत्स्य उवाच—

राजा सहायसंयुक्तः प्रभूतयवसेन्धनम् ।
रम्यमानतसामन्तं मध्यमं देशमावसेत् ॥१४७॥
वैश्यशूद्रजनप्रायमनाहार्यं तथा परैः ।
किञ्चिद्‌ब्राह्मणसंयुक्तं बहुकर्मकरं तथा ॥१४८॥
अदेवमातृकं रम्यमनुरक्तजनान्वितम् ।
करैरपीडितं चापि बहुपुष्पफलं तथा ॥१४९॥
अगम्यं परचक्राणां तद्वासगृहमापदि ।
समदुःखसुखं राज्ञः सततं प्रियमास्थितम् ॥१५०॥
सरीसृपविहीनं च व्याघ्रतस्करवर्जितम् ।
एवंविधं यथालाभं राजा विषयमावसेत् ॥१५१॥
तत्र दुर्गं नृपः कुर्यात्षण्णामेकतमं बुधः ।
धनुर्दुर्गं महीदुर्गं नरदुर्गं तथैव च ॥१५२॥
वार्क्षं चैवाम्बुदुर्गं च गिरिदुर्गं च पार्थिव !
सर्वेषामेव दुर्गाणां गिरिदुर्गं प्रशस्यते ॥१५३॥
दुर्गं च परिखोपेतं वप्राट्टालकसंयुतम् ।
शतघ्नीयन्त्रमुख्यैश्च शतशश्च समावृतम ॥१५४॥
गोपुरं सकपाटं च तत्र स्यात्सुमनोहरम् ।
सपताकं गजारूढो येन राजा विशेत्पुरम् ॥१५५॥
चतस्रश्च तथा तत्र कार्यास्त्वायतवीथयः ।
एकस्मिंस्तत्र वीथ्यग्रे देववेश्म भवेद् दृढम् ॥१५६॥
वीथ्यग्रे च द्वितीये च राजवेश्म विधीयते ।
धर्माधिकरणं कार्यं वीथ्यग्रे च तृतीयके ॥१५७॥
चतुर्थे त्वथ वीथ्यग्रे गोपुरञ्च विधीयते ।
आयतं चतुरस्रं वा वृत्तं वा कारयेत्पुरम् ॥१५८॥
मुक्तिहीनं त्रिकोणं च यवमध्यं तथैव च ।
अर्धचन्द्रप्रकारं च वज्राकारं च कारयेत् ॥१५९॥
अर्धचन्द्रं प्रशंसन्ति नदीतीरेषु तद्वसन् ।
अन्यत्र तन्न कर्तव्यं प्रयत्नेन विजानता ॥१६०॥

राज्ञा कोशगृहं कार्यं दक्षिणे राजवेश्मनः ।
तस्यापि दक्षिणे भागे गजस्थानं विधीयते ॥१६१॥
गजानां प्राङ्मुखी शाला कर्तव्या वाऽप्युदङ्मुखी ।
आग्नेये च तथा भागे आयुधागारमिष्यते ॥१६२॥
महानसं च धर्मज्ञ ! कर्मशालास्तथा पराः ।
गृहं पुरोधसः कार्यं वामतो राजवेश्मनः ॥१६३॥
मन्त्रिवेदविदां चैव चिकित्साकर्तुरेव च ।
तत्रैव च तथा भागे कोष्ठागारं विधीयते ॥१६४॥
गवां स्थानं तथैवात्र तुरगाणां तथैव च ।
उत्तराभिमुखा श्रेणी तुरगाणां विधीयते ॥१६५॥
दक्षिणाभिमुखा वाऽथ परिशिष्टास्तु गर्हिताः ।
तुरगास्ते तथा धार्याः प्रदीपैः सार्वरात्रिकैः ॥१६६॥
कुक्कुटान्वानरांश्चैव मर्कटांश्च विशेषतः ।
धारयेदश्वशालासु सवत्सां धेनुमेव च ॥१६७॥
अजाश्च धार्या यत्नेन तुरगाणां हितैषिणा ।
गोगजाश्वादिशालासु तत्पुरीषस्य निर्गमः ॥१६८॥
अस्तं गते न कर्तव्यो देवदेवे दिवाकरे ।
तत्र तत्र यथास्थानं राजा विज्ञाय सारथीन ॥ ६९॥
दद्यादावसथस्थानं सर्वेषामनुपूर्वशः ।
योधानां शिल्पिनां चैव सर्वेषामविशेषतः ॥१७०॥
दद्यादावसथान्दुर्गे कालमन्त्रविदां शुभान् ।
गोवैद्यानश्ववैद्यांश्च गजवैद्यांस्तथैव च ॥१७१॥
आहरेत भृशं राजा दुर्गे हि प्रबला रुजः ।
कुशीलवानां विप्राणां दुर्गे स्थानं विधीयते ॥१७२॥
न बहूनामतो दुर्गे विना कार्यं तथा भवेत् ।
दुर्गे च तत्र क ेव्या नानाप्रहरणान्विताः ॥१७३॥
सहस्रघातिनो राजंस्तैस्तु रक्षा विधीयते ।
दुर्गे द्वाराणि गुप्तानि कार्याण्यपि च भूभुजा ॥१७४॥
सञ्चयश्चात्र सर्वेषामायुधानां प्रशस्यते ।
धनुषां क्षेपणीयानां तोमराणां च पार्थिव ! ॥१७५॥

शराणामथ खड्गानां कवचानां तथैव च ।
लगुडानां गुडानां च हुडानां परिघैः सह ॥१७६॥
अश्मनां च प्रभूतानां मुद्गराणां तथैव च ।
त्रिशूलानां पट्टिशानां कुठाराणां च पार्थिव! ॥१७७॥
प्रासानां च सशूलानां शक्तिनां च नरोत्तम!
परश्वधानां चक्राणां वर्मणां चर्मभिः सह ॥१७८॥
कुद्दालरज्जुवेत्राणां पीठकानां तथैव च ।
तुषाणां चैव दात्राणामङ्गाराणां च संचयः ॥१७९॥
सर्वेषां शिल्पिभाण्डानां संचयश्चात्र चेष्यते ।
वादित्राणां च सर्वेषामोषधीनां तथैव च ॥१८०॥
यवसानां प्रभूतानामिन्धनस्य च संचयः ।
गुडस्य सर्वतैलानां गोरसानां तथैव च ॥१८१॥
वसानामथ मज्जानां स्नायूनामस्थिभिः सह ।
गोचर्मपटहानां च धान्यानां सर्वतस्तथा ॥१८२॥
तथैवाभ्रपटानां च यवगोधूमयोरपि ।
रत्नानां सर्ववस्त्राणां लोहानामप्यशेषतः ॥१८३॥
कलायमुद्गमाषाणां चणकानां तिलैः सह ।
तथा च सर्वसस्यानां पांसुगोमययोरपि ॥१८४॥
शणसर्जरसं भूर्जं जतु लाक्षा च टङ्कणम् ।
राजा संचिनुयाद् दुर्गे यच्चान्यदपि किञ्चन ॥१८५॥
कुम्भाश्चाशीविषैः कार्या व्यालसिंहादयस्तथा ।
मृगाश्च पक्षिणश्चैव रक्ष्यास्ते च परस्परम् ॥१८६॥
स्थानानि च विरुद्धानां सुगुप्तानि पृथक् पृथक् ।
कर्त्तव्यानि महाभाग! यत्नेन पृथिवीक्षिता ॥१८७॥
उक्तानि चाप्यनुक्तानि राजद्रव्याण्यशेषतः ।
सुगुप्तानि पुरे कुर्याज्जनानां हितकाम्यया ॥१८८॥
जीवकर्षभकाकोलमामलक्याटरूषकान् ।
शालपर्णी पृश्निपर्णी मुद्गपर्णी तथैव च ॥१८९॥
माषपर्णी च मेदे द्वे शारिवे द्वे बलात्रयम् ।
वीरा श्वसन्ती वृष्या च बृहती कण्टकारिका ॥१९०॥

शृङ्गी शृङ्गाटकी द्रोणी वर्षाभूर्दर्भरेणुका ।
मधुपर्णी विदार्यौ द्वे महाक्षीरा महातपाः ॥१९१॥
धन्वनः सहदेवाह्वा कण्टुकैरण्डकं विषः ।
पर्णी शताह्वा मृद्वीका फल्गुखर्जूरयष्टिकाः ॥१९२॥
शुक्रातिशुक्रकाश्मर्यश्छत्रातिच्छत्रवीरणाः ।
इक्षुरिक्षुविकाराश्च फाणिताद्याश्च सत्तम ! ॥१९३॥
सिंही च सहदेवी च विश्वेदेवाश्वरोधकम् ।
मधुकं पुष्पहंसाख्या शतपुष्पा मधूलिका ॥१९४॥
शतावरीमधूके च पिप्पलं तालमेव च ।
आत्मगुप्ता कट्फलाख्या दार्विका राजशीर्षकी ॥१९५॥
राजसर्षपधान्याकमृष्यप्रोक्ता तथोत्कटा ।
कालशाकं पद्मबीजं गोवल्ली मधुवल्लिका ॥१९६॥
शीतपाकी कुलिङ्गाक्षी काकजिह्वोरुपुष्पिका ।
पर्वतत्रपुसौ चोभौ गुञ्जातकपुनर्नवे ॥१९७॥
कसेरुका तु काश्मीरी बिल्वशालूककेसरम् ।
शूकधान्यानि सर्वाणि शमीधान्यानि चैव हि ॥१९८॥
क्षीरं क्षौद्रं तथा तक्रं तैलं मज्जा वसाघृतम् ।
नीपश्चारिष्टकक्षोडवातामासोमबाणकम् ॥१९९॥
एवमादीनि चान्यानि विज्ञेयो मधुरो गणः ।
राजा संचिनुयात्सर्वं पुरे निरवशेषतः ॥२००॥
दाडिमाम्रातकौ चैव तिन्तिडीकाम्लवेतसम् ।
भव्यकर्कन्धुलकुचकरमर्दकरूपकम् ॥२०१॥
बीजपूरककण्डूरे मालती राजबन्धुकम् ।
कोलकद्वयपर्णानि द्वयोराम्रातयोरपि ॥२०२॥
परावतं नागरकं प्राचीनारुकमेव च ।
कपित्थामलकं चुक्रफलं दन्तशठस्य च ॥२०३॥
जाम्बवं नवनीतञ्च सौवीरकतुषोदके ।
सुरासवं च मद्यानि मण्डतक्रदधीनि च ॥२०४॥
शुक्लानि चैव सर्वाणि ज्ञेयमाम्लगणं द्विज !
एवमादीनि चान्यानि राजा संचिनुयात्पुरे ॥२०५॥

सैन्धवोद्भिद्पाठेयपाक्यसामुद्रलोमकम् ।
कुप्यसौवर्चलाबिल्वं बालकेयं यवाह्वकम् ॥२०६॥
औवं क्षारं कालभस्म विज्ञेयो लवणो गणः ।
एवमादीनि चान्यानि राजा संचिनुयात्पुरे ॥२०७॥
पिप्पली पिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरम् ।
कुबेरकं च मरिचं शिग्रुभल्लातसर्षपाः ॥२०८॥
कुष्ठाजमोदा किणिही हिङ्गुमूलकधान्यकम् ।
कारवी कुञ्चिका याज्या सुमुखा कलमालिका ॥२०९॥
फणिज्झकोऽथ लशुनं भूस्तृणं सुरसं तथा ।
कायस्था च वयःस्था च हरितालं मनःशिला ॥२१०॥
अमृता च रुदन्ती च रोहिषं कुङ्कुमं तथा ।
जया एरण्डकाण्डीरं शल्लकी हञ्जिका तथा । ॥२११॥
सर्वपित्तानि मूत्राणि प्रायो हरितकानि च ।
संगतानि च मूलानि यष्टिश्चातिविषाणि च ॥२१२॥
फलानि चैव हि तथा सूक्ष्मैला हिंगुपत्रिका ॥२१३॥
एवमादीनि चान्यानि गणः कटुकसंज्ञितः ।
राजा संचिनुयाद् दुर्गे प्रयत्नेन नृपोत्तम ! ॥२१४॥
मुस्तं चन्दनह्रीबेरकृतमालकदारवः ।
हरिद्रानलदोशीरनक्तमालकदम्बकम् ॥२१५॥
दूर्वा पटोलकटुका दन्तीत्वक्पत्रकं त्वचा ।
किराततिक्तभूतुम्बी विषा चातिविषा तथा ॥२१६॥
तालीसपत्रतगरं सप्तपर्णविकङ्कताः ।
काकोदुम्बरिका दिव्यास्तथा चैव सुरोद्भवा ॥२१७॥
षड्ग्रन्था रोहिणी मांसी पर्पटश्चाथ दन्तिका ।
रसाञ्जनं भृङ्गराजं पतङ्गी परिपेलवम् ॥२१८॥
दुःस्पर्शा गुरुणी कामा श्यामाकं गन्धनाकुली ।
तुषपर्णी व्याघ्रनखं मञ्जिष्ठा चतुरङ्गुला ॥२१९॥
रम्भा चैवाङ्कुरास्फोता तालास्फोता हरेणुका ।
वेताग्रवेतसस्तुम्बी विषाणी लोध्रपुष्पिणी ॥२२०॥
मालतीकरकृष्णाख्या वृश्चिका जीविता तथा ।

पर्णिका च गुडूची च स गणस्तिक्तसंज्ञकः ॥२२१॥
एवमादीनि चान्यानि राजा संचिनुयात्पुरे ।
अभयामलके चोभे तथैव च बिभीतकम् ॥२२२॥
प्रियङ्गुधातकीपुष्पं मोचाख्या चार्जुनासनाः ।
अनन्ता स्त्री तुवरिका श्योणाकं कट्फलं तथा ॥२२३॥
भूर्जपत्रं शिलापत्रं पाटलापत्रलोमकम् ।
समङ्गात्रिवृतामूलकार्पासगैरिकाञ्जनम् ॥२२४॥
विद्रुमं समधूच्छिष्टं कुम्भिका कुमुदोत्पलम् ।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थकिंशुकाः शिंशपा शमी ॥२२५॥
प्रियालपीलुकासारीशिरीषाः पद्मकं तथा ।
बिल्वोऽग्निमन्यः लक्षश्च श्यामाकं च बको घनम् ॥२२६॥
राजादनं करीरं च धान्यकं प्रियकस्तथा ।
कङ्कोलाशोकबदराः कदम्बखदिरद्वयम् ॥२२७॥
एषां पत्राणि साराणि मूलानि कुसुमानि च ।
एवमादीनि चान्यानि कषायाख्यो गणो मतः ॥२२८॥
प्रयत्नेन नृपश्रेष्ठ ! राजा संचिनुयात्पुरे ।
कीटाश्च मारणे योग्या व्यङ्गतायां तथैव च ॥२२९॥
वातधूमाम्बुमार्गाणां दूषणानि तथैव च ।
धार्याणि पार्थिवैर्दुर्गे तानि वक्ष्यामि पार्थिव ! ॥२३०॥
विषाणां धारणं कार्यं प्रयत्नेन महीभुजा ।
विचित्राश्चागदा धार्या विषस्य शमनास्तथा ॥२३१॥
रक्षोभूतपिशाचघ्नाः पापघ्नाः पुष्टिवर्धनाः ।
कलाविदश्च पुरुषाः पुरे धार्याः प्रयत्नतः ॥२३२॥
भीतान्प्रमत्तान्कुपितांस्तथैव च विमानितान् ।
कुभृत्यान्पापशीलांश्च न राजा वासयेत्पुरे ॥२३३॥
यन्त्रायुधाट्टालचयोपपन्नं
समग्रधान्यौषधिसम्प्रयुक्तम् ।
वणिग्जनैश्चावृतमावसेत
दुर्गं सुगुप्तं नृपतिः सदैव ॥२३४॥

इति श्रीमत्स्ये महापुराणे राजधर्मे राज्ञामोषध्यादिसंचयकथनं नाम सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

अथाष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

मनुरुवाच—

रक्षोघ्नानि विषघ्नानि यानि धार्याणि भूभुजा ।
अगदानि समाचक्ष्व तानि धर्मभृतां वर ! ॥२३५॥

मत्स्य उवाच—

बिल्वाटकी यवक्षारं पाटला बाह्लिकोषणा ।
श्रीपर्णी शल्लकीयुक्तो निक्काथः प्रोक्षणं परम् ॥२३६॥
सविषं प्रोक्षितं तेन सद्यो भवति निर्विषम् ।
यवसैन्धवपानीयवस्त्रशय्यासनोदकम् ॥२३७॥
कवचाभरणं छत्रं बालव्यजनवेश्मनाम् ।
शेलुः पाटल्यतिविषा शिग्रुमूर्वा पुनर्नवा ॥२३८॥
समङ्गा वृषमूलं च कपित्थवृषशोषितम् ।
महादन्तशठं तद्वत्प्रोक्षणं विषनाशनम् ॥२३९॥
लाक्षाप्रियङ्गुमञ्जिष्ठाः सममेला हरेणुका ।
यष्ट्याह्वा मधुरा चैव बभ्रुपित्तेन कल्पिताः ॥२४०॥
निखनेद्गोविषाणस्थं सप्तरात्रं महीतले ।
ततः कृत्वा मणिं हेम्ना बद्धं हस्तेन धारयेत् ॥ २४१॥
संसृष्टं सविषं तेन सद्यो भवति निर्विषम् ।
मनोह्वया शमीपत्रं तुम्बिका श्वेतसर्षपाः ॥२४२॥
कपित्थकुष्ठमञ्जिष्ठाः पित्तेन श्लक्ष्णकल्पिताः ।
शुनो गोः कपिलायाश्च सौम्याक्षिप्तोऽपरो गदः ॥२४३॥
विषजित्परमं कार्यं मणिरत्नं च पूर्ववत् ।
मूषिका जतुका चापि हस्ते बद्ध्वा विषापहा ॥२४४॥
हरेणुमांसी मञ्जिष्ठा रजनी मधुका मधु ।
अक्षत्वक्सुरसे लाक्षा श्वपित्तं पूर्ववद्भुवि ॥२४५॥
वादित्राणि पताकाश्च पिष्टैरेतैः प्रलेपिताः ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा समाघ्राय सद्यो भवति निर्विषः ॥२४६॥
त्र्यूषणं पञ्चलवणं मञ्जिष्ठा रजनीद्वयम् ।
सूक्ष्मैला त्रिवृतापत्रं विडङ्गानीन्द्रवारुणी ॥२४७॥

मधुकं वेतसं क्षौद्रं विषाणे च निधापयेत् ।
तस्मादुष्णाम्बुना मात्रं प्रागुक्तं योजयेत्ततः ॥२४८॥
विषभुक्तं जरं याति निर्विषं पित्तदोषकृत् ।
शुक्लं सर्जरसोपेतं सर्षपा एलवालुकैः ॥२४९॥
सुवेगा तस्करसुरौ कुसुमैरर्जुनस्य तु ।
धूपो वासगृहे हन्ति विषं स्थावरजङ्गमम् ॥२५०॥
न तत्र कीटा न विषं दर्दुरा न सरीसृपाः ।
न कृत्या कर्मणां चापि धूपोऽयं यत्र दह्यते ॥२५१॥
कल्पितैश्चन्दनक्षीरपलाशद्रुमवल्कलैः ।
मूर्वैलावालुसरसानाकुलीतण्डुलीयकैः ॥२५२॥
क्काथः सर्वोदकार्येपु काकमाचीयुतो हितः ।
रोचनापत्रनेपालीकुङ्कुमैस्तिलकान्वहन् ॥२५३॥
विषैर्न बाध्यतेऽस्माच्च नरनारीनृपप्रियः ।
चूर्णैर्हरिद्रामञ्जिष्ठाकिणिहीकणनिम्बजैः ॥२५४॥
दिग्धं निर्विषतामेति गात्रं सर्वविषार्दितम् ।
शिरीषस्य फलं पत्रं पुष्पं त्वङ्मूलमेव च ॥ २५५॥
गोमूत्रघृष्टो ह्यगदः सर्वकर्मकरः स्मृतः ।
एकवीरमहौषध्यः शृणु चातः परं नृप ! ॥२५६॥
वन्ध्या कर्कोटकी राजन्! विष्णुक्रान्ता तथोत्कटा।
शतमूली सितानन्दा बला मोचा पटोलिका ॥२५७॥
सोमा पिण्डा निशा चैव तथा दग्धरुहा च या ।
स्थले कमलिनी या च विशाली शङ्खमूलिका ॥२५८॥
चाण्डाली हस्तिमगधा गोजापर्णी करम्भिका ।
रक्ता चैव महारक्ता तथा बर्हिशिखा च या ॥२५९॥
कोशातकी नक्तमालं प्रियालं च सुलोचनी ।
वारुणी वसुगन्धा च तथा वै गन्धनाकुली ॥२६०॥
ईश्वरी शिवगन्धा च श्यामला वंशनालिका ।
जतुकाली महाश्वेता श्वेता च मधुयष्टिका ॥२६१॥
वज्रकः पारिभद्रश्च तथा वै सिन्धुवारकाः ।
जीवानन्दा वसुच्छिद्रा नतनागरकण्टका ॥२६२॥

नालं च जाली जाती च तथा च वटपत्रिका ।
कार्तस्वरं महानीला कुन्दुरुर्हंसपादिका ॥२६३॥
मण्डूकपर्णी वाराही द्वे तथा तण्डुलीयके ।
सर्पाक्षी लवली ब्राह्मी विश्वरूपा सुखाकरा ॥२६४॥
रुजापहा वृद्धिकरी तथा चैव तु शल्यदा ।
पत्रिका रोहिणी चैव रक्तमाला महौषधी ॥२६५॥
तथाऽऽमलकवन्दाकं श्यामचित्रफला च या ।
काकोली क्षीरकाकोली पीलुपर्णी तथैव च ॥२६६॥
केशिनी वृश्चिकाली च महानागा शतावरी ।
गरुडी च तथा वेगा जले कुमुदिनी तथा ॥२६७॥
स्थले चोत्पलिनी या च महाभूमिलता च या ।
उन्मादिनी सोमराजी सर्वरत्नानि पार्थिव ! ॥२६८॥
विशिखाऽमरकन्या च कीटपक्षं विशेषतः ।
जीवजाताश्च मणयः सर्वे धार्याः प्रयत्नतः ॥२६९॥
रक्षोघ्नाश्च विषघ्नाश्च कृत्या वैतालनाशनाः ।
विशेषान्नरनागाश्च गोखरोष्ट्रसमुद्भवाः ॥२७०॥
सर्पतित्तिरगोमायुबभ्रमण्डुकजाश्च ये ।
सिंहव्याघ्रर्क्षमार्जारद्वीपिवानरसम्भवाः ॥२७१॥
कपिञ्जला गजा वाजिमहिषैणभवाश्च ये ॥२७२॥
इत्येवमेतैः सकलैरुपेतैर्द्रव्यैः परार्घ्यैः परिरक्षितः स्यात् ।
राजा वसेत्तत्र गृहे सुशुभ्रे गुणान्विते लक्षणसम्प्रयुक्ते ॥२७३॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणेऽगदाध्यायो नामाष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अथैकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

मनुरुवाच—

राजरक्षारहस्यानि यानि दुर्गे निधापयेत् ।
कारयेद्वा महीभर्ता ब्रूहि तत्त्वानि तानि मे ॥२७४॥

मत्स्य उवाच—

शिरीषोदुम्बरशमीबीजपूरं घृतप्लुतम् ।
क्षुद्योगः कथितो राजन् ! मासार्धस्य पुरातनैः ॥२७५॥

कशेरुफलमूलानि इक्षुमूलं तथा विषम् ।
दूर्वाक्षीरघृतैर्मण्डः सिद्धोयं मासिकः परः ॥२७६॥
नरं शस्त्रहतं प्राप्तो न तस्य मरणं भवेत् ।
कल्माषवेणुना तत्र जनयेत् तु विभावसुम् ॥२७७॥
गृहे त्रिरपसव्यं तु क्रियते यत्र पार्थिव !
नान्योऽग्निर्ज्वलते तत्र नात्र कार्या विचारणा ॥२७८॥
कार्पासास्थि भुजङ्गस्य तेन निर्मोचनं भवेत् ।
सर्पनिर्वासने धूपः प्रशस्तः सततं गृहे ॥२७९॥
सामुद्रसैन्धवयवा विद्युद्दग्धा च मृत्तिका ।
तयानुलिप्तं यद्वेश्म नाग्निना दह्यते नृप ! ॥२८०॥
दिवा च दुर्गे रक्ष्योऽग्निर्वाति वाते विशेषतः ।
विषाच्च रक्ष्यो नृपतिस्तत्र युक्तिं निबोध मे ॥२८१॥
क्रीडानिमित्तं नृपतिर्धारयेन्मृगपक्षिणः ।
अन्नं वै प्राक् परीक्षेत वह्नौ चान्यतरेषु च ॥२८२॥
वस्त्रं पुष्पमलङ्कारं भोजनाच्छादनं तथा ।
नापरीक्षितपूर्वं तु स्पृशेदपि महीपतिः ॥२८३॥
स्याच्चासौ वक्त्रसंतप्तः सोद्वेगं च निरीक्षते ।
विषदोऽथ विषं दत्तं यच्च तत्र परीक्षते ॥२८४॥
स्रस्तोत्तरीयो विमनाः स्तम्भकुड्यादिभिस्तथा ।
प्रच्छादयति चाऽऽत्मानं लज्जते त्वरते तथा ॥२८५॥
भुवं विलिखति ग्रीवां तथा चालयते नृप !
कण्डूयति च मूर्धानं परिलोड्याननं तथा ॥२८६॥
क्रियासु त्वरितो राजन् ! विपरीतास्वपि ध्रुवम् ।
एवमादीनि चिह्नानि विषदस्य परीक्षयेत् ॥२८७॥
समीपैर्विक्षिपेद्वह्नौ तदन्नं त्वरयान्वितः ।
इन्द्रायुधसवर्णं तु रूक्षं स्फोटसमन्वितम् ॥२८८॥
एकावर्तं तु दुर्गन्धि भृशं चटचटायते ।
तद्धूमसेवनाज्जन्तोः शिरोरोगश्च जायते ॥२८९॥
सविषेऽन्ने विलीयन्ते नच पार्थिव ! मक्षिकाः ।
विलीनाश्च विपद्यन्ते संस्पृष्टे सविषे तथा ॥२९०॥

विरज्यति चकोरस्य दृष्टिः पार्थिवसत्तम !
विकृतिं च स्वरो याति कोकिलस्य तथा नृप !२६१॥
गतिः स्खलति हंसस्य भृङ्गराजश्च कूजति ।
क्रौञ्चो मदमथाभ्येति कृकवाकुर्विरौति च ॥२६२॥
विक्रोशति शुको राजन् ! सारिका वमते ततः ।
चामीकरोऽन्यतो याति मृत्युं कारण्डवस्तथा ॥२६३॥
मेहते वानरो राजन् ! ग्लायते जीवजीवकः ।
हृष्टरोमा भवेद् बभ्रुः पृषतश्चैव रोदिति ॥२६४॥
हर्षमायाति च शिखी विषसन्दर्शनान्नृप !
अन्नं च सविषं राजंश्चिरेण च विपद्यते ॥२६५॥
तदा भवति निःश्राव्यं पक्वपर्युषितोपमम् ।
व्यापन्नरसगन्धं च चन्द्रिकाभिस्तथा युतम् ॥२६६॥
व्यञ्जनानां तु शुष्कत्वं द्रवाणां बुद्बुदोद्भवः ।
ससैन्धवानां द्रव्याणां जायते फेनमालिता ॥२६७॥
सस्यराजिश्च ताम्रा स्यान्नीला च पयसस्तथा ।
कोकिलाभा च मद्यस्य तोयस्य च नृपोत्तम ! ॥२६८॥
धान्याम्लस्य तथा कृष्णा कपिला कोद्रवस्य च ।
मधुश्यामा च तक्रस्य नीला पीता तथैव च ॥२६९॥
घृतस्योदकसंकाशा कपोताभा च मस्तुनः ।
हरिता माक्षिकस्यापि तैलस्य च तथारुणा ॥३००॥
फलानामप्यपक्वानां पाकः क्षिप्रं प्रजायते ।
प्रकोपश्चैव पक्वानां माल्यानां म्लानता तथा ॥३०१॥
मृदुता कठिनानां स्यान्मृदूनां च विपर्ययः ।
सूक्ष्माणां रूपदलनं तथा चैवातिरञ्जता ॥३०२॥
श्याममण्डलता चैव वस्त्राणां वै तथैव च ।
लोहानां च मणीनां च मलपङ्कोपदिग्धता ॥३०३॥
अनुलेपनगन्धानां माल्यानां च नृपोत्तम !
विगन्धता च विज्ञेया वर्णानां म्लानता तथा ॥३०४॥
पीतावभासता ज्ञेया तथा राजञ्जलस्य तु ॥३०५॥
दन्ता ओष्ठौ त्वचः श्यामास्तनुसत्त्वास्तथैव च ।

एवमादीनि चिह्नानि विज्ञेयानि नृपोत्तम ! ॥३०६॥
तस्माद्राजा सदा तिष्ठेन्मणिमन्त्रौषधागदैः ।
उक्तैः संरक्षितो राजा प्रमादपरिवर्जकः ॥३०७॥
प्रजातरोर्मूलमिहावनीश-
स्तद्रक्षणाद्राष्ट्रमुपैति वृद्धिम् ।
तस्मात्प्रयत्नेन नृपस्य रक्षा
सर्वेण कार्या रविवंशचन्द्र ! ॥३०८॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मे राजरक्षा नामैकोनविंशत्यधिक-
द्विशततमोऽध्यायः ।

अथ विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

मत्स्य उवाच—

राजन् ! पुत्रस्य रक्षा च कर्तव्या पृथिवीक्षिता ।
आचार्यश्चात्र कर्तव्यो नित्ययुक्तश्च रक्षिभिः ॥३०९॥
धर्मकामार्थशास्त्राणि धनुर्वेदं च शिक्षयेत् ।
रथे च कुञ्जरे चैनं व्यायामं कारयेत्सदा ॥३१०॥
शिल्पानि शिक्षयेच्चैनं नाप्तैर्मिथ्याप्रियं वदेत् ।
शरीररक्षाव्याजेन रक्षिणोऽस्य नियोजयेत् ॥३११॥
न चास्य सङ्गो दातव्यः क्रुद्धलुब्धावमानितैः ।
तथा च विनयेदेनं यथा यौवनगोचरे ॥३१२॥
इन्द्रियैर्नापकृष्येत सतां मार्गात्सुदुर्गमात् ।
गुणाधानमशक्यं तु यस्य कर्तुं स्वभावतः ॥३१३॥
बन्धनं तस्य कर्तव्यं गुप्तदेशे सुखान्वितम् ।
अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते ॥३१४॥
अधिकारेषु सर्वेषु विनीतं विनियोजयेत् ।
आदौ स्वल्पे ततः पश्चात्क्रमेणाथ महत्स्वपि ॥३१५॥
मृगया पानमक्षांश्च वर्जयेत्पृथिवीपतिः ।
एतांस्तु सेवमानास्तु विनष्टाः पृथिवीक्षितः ॥३१६॥
बहवो नृपशार्दूल ! तेषां संख्या न विद्यते ।
वृथाटनं दिवास्वप्नं विशेषेण विवर्जयेत् ॥३१७॥

वाक्पारुष्यं न कर्तव्यं दण्डपारुष्यमेव च ।
परोक्षनिन्दा च तथा वर्जनीया महीक्षिता ॥३१८॥
अर्थस्य दूषणं राजा द्विप्रकारं विवर्जयेत् ।
अर्थानां दूषणं चैकं तथार्थेषु च दूषणम् ॥३१९॥
प्राकाराणां समुच्छेदो दुर्गादीनामसत्क्रिया ।
अर्थानां दूषणं प्रोक्तं विप्रकीर्णत्वमेव च ॥३२०॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रे दानमेव च ।
अर्थेषु दूषणं प्रोक्तमसत्कर्मप्रवर्तनम् ॥३२१॥
कामः क्रोधो मदो मानो लोभो हर्षस्तथैव च ।
एते वर्ज्याः प्रयत्नेन सादरं पृथिवीक्षिता ॥३२२॥
एतेषां विजयं कृत्वा कार्यो भृत्यजयस्ततः ।
कृत्वा भृत्यजयं राजा पौराञ्जानपदाञ्जयेत् ॥३२३॥
कृत्वा च विजयं तेषां शत्रून्बाह्यांस्ततो जयेत् ।
बाह्याश्च त्रिविधा ज्ञेयास्तुल्याभ्यन्तरकृत्रिमाः ॥३२४॥
गुरवस्ते यथापूर्वं तेषु यत्नपरो भवेत् ।
पितृपैतामहं मित्रममित्रं च तथा रिपोः ॥३२५॥
कृत्रिमं च महाभाग ! मित्रं त्रिविधमुच्यते ।
तथाऽपि च गुरुः पूर्वं भवेत्तत्रापि चाऽऽदृतः ॥३२६॥
स्वाम्यमात्यो जनपदो दुर्गं दण्डस्तथैव च ।
कोशो मित्रं च धर्मज्ञ ! सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥३२७॥
सप्ताङ्गस्यापि राज्यस्य मूलं स्वामी प्रकीर्तितः ।
तन्मूलत्वात्तथाङ्गानां स तु रक्ष्यः प्रयत्नतः ॥३२८॥
षडङ्गरक्षा कर्तव्या तथा तेन प्रयत्नतः ।
अङ्गेभ्यो यस्तथैकस्य द्रोहमाचरतेऽल्पधीः ॥३२९॥
वधस्तस्य तु कर्तव्यः शीघ्रमेव महीक्षिता ।
न राज्ञा मृदुना भाव्यं मृदुर्हि परिभूयते ॥३३०॥
न भाव्यं दारुणेनातितीक्ष्णादुद्विजते जनः ।
काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ॥३३१॥
राजा लोकद्वयापेक्षी तस्य लोकद्वयं भवेत् ।
भृत्यैः सह महीपालः परिहासं विवर्जयेत् ॥३३२॥

भृत्याः परिभवन्तीह नृपं हर्षवशं गतम् ।
व्यसनानि च सर्वाणि भूपतिः परिवर्जयेत् ॥३३३॥
लोकसंग्रहणार्थाय कृतकव्यसनी भवेत् ।
शौण्डीरस्य नरेन्द्रस्य नित्यमुद्रिक्तचेतसः ॥३३४॥
जना विरागमायान्ति सदा दुःसेव्यभावतः ।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात्सर्वस्यैव महीपतिः ॥३३५॥
वध्येष्वपि महाभाग ! भ्रुकुटिं न समाचरेत् ।
भाव्यं धर्मभृतां श्रेष्ठ ! स्थूललक्ष्येण भूभुजा ॥३३६॥
स्थूललक्ष्यस्य वशगा सर्वा भवति मेदिनी ।
अदीर्घसूत्रश्च भवेत्सर्वकर्मसु पार्थिवः ॥३३७॥
दीर्घसूत्रस्य नृपतेः कर्महानिर्ध्रुवं भवेत् ।
रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ॥३३८॥
अप्रिये चैव कर्तव्ये दीर्घसूत्रः प्रशस्यते ।
राज्ञा संवृतमन्त्रेण सदा भाव्यं नृपोत्तम ! ॥३३९॥
तस्यासंवृतमन्त्रस्य राज्ञः सर्वापदो ध्रुवम् ।
कृतान्येव तु कार्याणि ज्ञायन्ते यस्य भूपतेः ॥३४०॥
नारब्धानि महाभाग ! तस्य स्याद्वसुधा वशे ।
मन्त्रमूलं सदा राज्यं तस्मान्मन्त्रः सुरक्षितः ॥३४१॥
कर्तव्यः पृथिवीपालैर्मन्त्रभेदभयात्सदा ।
मन्त्रवित्साधितो मन्त्रः संपत्तीनां सुखावहः ॥३४२॥
मन्त्रच्छलेन बहवो विनष्टाः पृथिवीक्षितः ।
आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ॥३४३॥
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ।
न यस्य कुशलैस्तस्य वशे सर्वा वसुन्धरा ॥३४४॥
भवतीह महीभर्तुः सदा पार्थिवनन्दन !
नैकस्तु मन्त्रयेन्मन्त्रं राजा न बहुभिस्सह ॥३४५॥
नाऽऽरोहेद्विषमां नावमपरीक्षितनाविकाम् ।
ये चास्य भूमिजयिनो भवेयुः परिपन्थिनः ॥३४६॥
तानानयेद्वशे सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः ।
यथा न स्यात्कृशीभावः प्रजानामनवेक्षया ॥३४७॥

तथा राज्ञा प्रकर्तव्यं स्वराष्ट्रं परिरक्षता ।
मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्शयत्यनवेक्षया ॥३४८॥
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ।
भृतो वत्सो जातबलः कर्मयोग्यो यथा भवेत् ॥३४९॥
तथा राष्ट्रं महाभाग! भृतं कर्मसहं भवेत् ।
यो राष्ट्रमनुगृह्णाति राज्यं स परिरक्षति ॥३५०॥
संजातमुपजीवेत्तु विन्दते स महत्फलम् ।
राष्ट्राद्धिरण्यं धान्यं च महीं राजा सुरक्षिताम् ॥३५१॥
महता तु प्रयत्नेन स्वराष्ट्रस्य च रक्षिता ।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च यथा माता यथा पिता ॥३५२॥
गोपितानि सदा कुर्यात्संयतानीन्द्रियाणि च ।
अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं तेभ्यस्तथैव च ॥३५३॥
सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।
तयोर्दैवमचिन्त्यं च पौरुषे विद्यते क्रिया ॥३५४॥
एवं महीं पालयतोऽस्य भर्तु-
लोकानुरागः परमो भवेत्तु ।
लोकानुरागप्रभवा च लक्ष्मी-
र्लक्ष्मीवतश्चापि परा च कीर्तिः ॥३५५॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मानुकीर्तने विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अथैकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

मनुरुवाच—

दैवे पुरुषकारे च किं ज्यायस्तद् ब्रवीहि मे ।
अत्र मे संशयो देव! छेत्तुमर्हस्यशेषतः ॥३५६॥

मत्स्य उवाच—

स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम् ।
तस्मात्पौरुषमेवेह श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥३५७॥
प्रतिकूलं तथा दैवं पौरुषेण विहन्यते ।
मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यमुत्थानशालिनाम् ॥३५८॥

येषां पूर्वकृतं कर्म सात्विकं मनुजोत्तम !
पौरुषेण विना तेषां केषाञ्चिद् दृश्यते फलम् ॥३५९॥
कर्मणः प्राप्यते लोके राजसस्य तथा फलम् ।
कृच्छ्रेण कर्मणा विद्धि तामसस्य तथा फलम् ॥३६०॥
पौरुषेणाप्यते राजन्! प्रार्थितव्यं फलं नरैः ।
दैवमेव विजानन्ति नराः पौरुषवर्जिताः ॥३६१॥
तस्मात् त्रिकालं संयुक्तं दैवं तु सफलं भवेत् ।
पौरुषं दैवसम्पत्त्या काले फलति पार्थिव! ॥३६२॥
दैवं पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम !
त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यात्फलावहम् ॥३६३॥
कृषिवृष्टिसमायोगाद् दृश्यन्ते फलसिद्धयः ।
तास्तु काले प्रदृश्यन्ते नैवाकाले कथञ्चन ॥३६४॥
तस्मात्सदैव कर्तव्यं सधर्मं पौरुषं नरैः ।
विपत्तावपि यस्येह परलोके ध्रुवं फलम् ॥३६५॥
नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न च दैवपरायणाः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पौरुषं यत्नमाचरेत् ॥३६६॥
त्यक्त्वाऽलसान्दैवपरान्मनुष्या-
नुत्थानयुक्तान् पुरुषान् हि लक्ष्मीः ।
अन्विष्य यत्नाद् वृणुयान्नृपेन्द्र !
तस्मात्सदोत्थानवता हि भाव्यम् ॥३६७॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे दैवपुरुषकारवर्णनं नामैकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

मनुरुवाच —

उपायांस्त्वं समाचक्ष्व सामपूर्वान्महाद्युते !
लक्षणं च तथा तेषां प्रयोगं च सुरोत्तम ! ॥३६८॥

मत्स्य उवाच —

साम भेदस्तथा दानं दण्डश्च मनुजेश्वर !
उपेक्षा च तथा माया इन्द्रजालं च पार्थिव ! ॥३६९॥

प्रयोगाः कथिताः सप्त तन्मे निगदतः शृणु ।
द्विविधं कथितं साम तथ्यं चातथ्यमेव च ॥३७०॥
तत्राप्यतथ्यं साधूनामाक्रोशायैव जायते ।
तत्र साधुः प्रयत्नेन सामसाध्यो नरोत्तम ! ॥३७१॥
महाकुलीना ऋजवो धर्मनित्या जितेन्द्रियाः ।
सामसाध्या न चातथ्यं तेषु साम प्रयोजयेत् ॥३७२॥
तथ्यं साम च कर्तव्यं कुलशीलादिवर्णनम् ।
तथा तदुपचाराणां कृतानां चैव वर्णनम् ॥३७३॥
अनयैव तथा युक्त्या कृतज्ञाख्यापनं स्वकम् ।
एवं साम्ना च कर्तव्या वशगा धर्मतत्पराः ॥३७४॥
साम्ना यद्यपि रक्षांसि गृह्णन्तीति परा श्रुतिः ।
तथाप्येतदसाधूनां प्रयुक्तं नोपकारकम् ॥३७५॥
अतिशङ्कितमित्येवं पुरुषं सामवादिनम् ।
असाधवो विजानन्ति तस्मात्तत्तेषु वर्जयेत् ॥३७६॥
ये शुद्धवंशा ऋजवः प्रणीता
धर्मे स्थिताः सत्यपरा विनीताः ।
ते सामसाध्याः पुरुषाः प्रदिष्टा
मानोन्नता ये सततं च राजन् ! ॥३७७॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मे सामबोधो नाम द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

मत्स्य उवाच—

परस्परं तु ये दुष्टाः क्रुद्धा भीतावमानिताः ।
तेषां भेदं प्रयुञ्जीत भेदसाध्या हि ते मताः ॥३७८॥
ये तु येनैव दोषेण परस्मान्नापि बिभ्यति ।
ते तु तद्दोषपातेन भेदनीया भृशं ततः ॥३७९॥
आत्मीयां दर्शयेदाशां परस्माद्दर्शयेद्भयम् ।
एवं हि भेदयेद्भिन्नान्यथावद्वशमानयेत् ॥३८०॥

संहता हि विना भेदं शक्रेणापि सुदुःसहाः ।
भेदमेव प्रशंसन्ति तस्मान्नयविशारदाः ॥३८१॥
स्वमुखेनाश्रयेद्भेदं भेदं परमुखेन च ।
परीक्ष्य साधु मन्येत भेदं परमुखाच्छ्रुतम् ॥३८२॥
सद्यः स्वकार्यमुद्दिश्य कुशलैर्ये हि भेदिताः ।
भेदितास्ते विनिर्दिष्टा नैव राज्ञार्थवादिभिः ॥३८३॥
अन्तःकोपो बहिःकोपो यत्र स्यातां महीक्षिताम् ।
अन्तःकोपो महांस्तत्र नाशकः पृथिवीक्षिताम् ॥३८४॥
सामन्तकोपो बाह्यस्तु कोपः प्रोक्तो महीभृतः ।
महिषीयुवराजाभ्यां तथा सेनापतेर्नृप ! ॥३८५॥
अमात्यमन्त्रिणां चैव राजपुत्रे तथैव च ।
अन्तःकोपो विनिर्दिष्टो दारुणः पृथिवीक्षिताम् ॥३८६॥
बाह्यकोपे समुत्पन्ने सुमहत्यपि पार्थिवः ।
शुद्धान्तस्तु महाभाग ! शीघ्रमेव जयी भवेत् ॥३८७॥
अपि शक्रसमो राजा अन्तःकोपेन नश्यति ।
सोऽन्तःकोपः प्रयत्नेन तस्माद्रक्ष्यो महीभृता ॥३८८॥
परतः कोपमुत्पाद्य भेदेन विजिगीषुणा ।
ज्ञातीनां भेदनं कार्यं परेषां विजिगीषुणा ॥३८९॥
रक्ष्यश्चैव प्रयत्नेन ज्ञातिभेदस्तथाऽऽत्मनः ।
ज्ञातयः परितप्यन्ते सततं परितापिताः ॥३९०॥
तथापि तेषां कर्तव्यं सुगम्भीरेण चेतसा ।
ग्रहणं दानमानाभ्यां भेदस्तेभ्यो भयङ्करः ॥३९१॥
न ज्ञातिमनुगृह्णन्ति न ज्ञातिं विश्वसन्ति च ।
ज्ञातिभिर्भेदनीयास्तु रिपवस्तेन पार्थिवैः ॥३९२॥
भिन्ना हि शक्या रिपवः प्रभूताः
स्वल्पेन सैन्येन निहन्तुर्माजौ ।
सुसंहतानां हि तदस्तु भेदः
कार्यो रिपूणां नयशास्त्रविद्भिः ॥३९३॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मे भेदप्रशंसा नाम त्रयोविंशत्यधिक-द्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

मत्स्य उवाच—

सर्वेषामप्युपायानां दानं श्रेष्ठतमं मतम् ।
सुदत्तेनेह भवति दानेनोभयलोकजित् ॥३९४॥
न सोऽस्ति राजन ! दानेन वशगो यो न जायते ।
दानेन वशगा देवा भवन्तीह सदा नृणाम् ॥३९५॥
दानमेवोपजीवन्ति प्रजाः सर्वा नृपोत्तम !
प्रियो हि दानवाँल्लोके सर्वस्यैवोपजायते ॥३९६॥
दानवानचिरेणैव तथा राजा पराञ्जयेत् ।
दानवानेव शक्नोति संहतान्भेदितुं परान् ॥३९७॥
यद्यप्यलुब्धगम्भीराः पुरुषाः सागरोपमाः ।
न गृह्णन्ति तथाप्येते जायन्ते पक्षपातिनः ॥३९८॥
अन्यत्रापि कृतं दानं करोत्यन्यान्यथा वशे ।
उपायेभ्यः प्रशंसन्ति दानं श्रेष्ठतमं जनाः ॥३९९॥
दानं श्रेयस्करं पुंसां दानं श्रेष्ठतमं परम् ।
दानवानेव लोकेषु पुत्रत्वे ध्रियते सदा ॥४००॥
न केवलं दानपरा जयन्ति भूर्लोकमेकं पुरुषप्रवीराः ।
जयन्ति ते राजसुरेन्द्रलोकं सुदुर्जयं यो विबुधाधिवासः ॥४०१॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मदानप्रशंसा नाम चतुर्विंशत्यधिक-
द्विशततमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

मत्स्य उवाच—

न शक्या ये वशे कर्तुमुपायत्रितयेन तु ।
दण्डेन तान्वशीकुर्याद्दण्डो हि वशकृन्नृणाम् ॥४०२॥
सम्यक्प्रणयनं तस्य तथा कार्यं महीक्षिता ।
धर्मशास्त्रानुसारेण सुसहायेन धीमता ॥४०३॥
तस्य सम्यक् प्रणयनं यथा कार्यं महीक्षिता ।
वानप्रस्थांश्च धर्मज्ञान्निर्ममान्निष्परिग्रहान् ॥४०४॥

स्वदेशे परदेशे वा धर्मशास्त्रविशारदान् ।
समीक्ष्य प्रणयेद्दण्डं सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् ॥४०५॥
आश्रमी यदि वा वर्णी पूज्यो वाऽथ गुरुर्महान् ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मेण तिष्ठति ॥४०६॥
अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
इह राज्यात्परिभ्रष्टो नरकं च प्रपद्यते ॥४०७॥
तस्माद्राज्ञा विनीतेन धर्मशास्त्रानुसारतः ।
दण्डप्रणयनं कार्यं लोकानुग्रहकाम्यया ॥४०८॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति निर्भयः ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥४०९॥
बालवृद्धातुरयतिद्विजस्त्रीविधवा यतः ।
मात्स्यन्यायेन भक्ष्येरन यदि दण्डं न पातयेत् ॥४१०॥
देवदैत्योरगगणाः सर्वे भूतपतत्त्रिणः ।
उत्क्रामयेयुर्मर्यादां यदि दण्डं न पातयेत् ॥४११॥
एष ब्रह्माभिशापेषु सर्वप्रहरणेषु च ।
सर्वविक्रमकोपेषु व्यवसाये च तिष्ठति ॥४१२॥
पूज्यन्ते दण्डिनो देवैर्न पूज्यन्ते त्वदण्डिनः ।
न ब्रह्माणं विधातारं न पूषार्यमणावपि ॥४१३॥
यजन्ते मानवाः केचित्प्रशान्ताः सर्वकर्मसु ।
रुद्रमग्निं च शक्रं च सूर्याचन्द्रमसौ तथा ॥४१४॥
विष्णुं देवगणांश्चान्यान्दण्डिनः पूजयन्ति च ।
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ॥४१५॥
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ।
राजदण्डभयादेव पापाः पापं न कुर्वते ॥४१६॥
यमदण्डभयादेके परस्परभयादपि ।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम ॥४१७॥
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डं न पातयेत् ।
यस्माद्दण्डो दमयति दुर्मदान् दण्डयत्यपि ॥४१८॥
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधाः ॥४१९॥

दण्डस्य भीतैस्त्रिदशैः समेतै-
भोगो धृतः शूलधरस्य यज्ञे ।
दत्तं कुमारे ध्वजिनीपतित्वं
वरं शिशूनां च भयाद् बलस्थम् ॥४२०॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मे दण्डप्रशंसा नाम पञ्चविंशत्यधिकद्विशत-
तमोऽध्यायः ।

अथ षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मत्स्य उवाच—

दण्डप्रणयनार्थाय राजा सृष्टः स्वयम्भुवा ।
देवभागानुपादाय सर्वभूतादिगुप्तये ॥४२१॥
तेजसा यदमुं कश्चिन्नैव शक्नोति वीक्षितुम् ।
ततो भवति लोकेषु राजा भास्करवत्प्रभुः ॥४२२॥
यदाऽस्य दर्शने लोकः प्रसादमुपगच्छति ।
नयनानन्दकारित्वात्तदा भवति चन्द्रमाः ॥४२३॥
यथा यमः प्रियद्वेष्ये प्राप्ते काले प्रयच्छति ।
तथा राज्ञा विधातव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥४२४॥
वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एव प्रदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥४२५॥
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यति मानवः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चन्द्रप्रतिमो नृपः ॥४२६॥
प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रेषु राजाऽऽग्नेयव्रते स्थितः ॥४२७॥
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते स्वयम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥४२८॥
इन्द्रस्यार्कस्य वातस्य यमस्य वरुणस्य च ।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोव्रतं नृपश्चरेत् ॥४२९॥
वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽप्यभिवर्षति ।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं काममिन्द्रव्रतं स्मृतम् ॥४३०॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥४३१॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥४३२॥
इति श्रीमात्स्ये महापुराणे राजधर्मे लोकपालसाम्यनिर्देशो नाम षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥

अथ चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

मनुरुवाच—

इदानीं सर्वधर्मज्ञ ! सर्वशास्त्रविशारद !
यात्राकालविधानं मे कथयस्व महीक्षिताम् ॥४३३॥

मत्स्य उवाच—

यदा मन्येत नृपतिराक्रन्देन बलीयसा।
पार्ष्णिग्राहाभिभूतोऽरिस्तदा यात्रां प्रयोजयेत् ॥४३४॥
योधान् मत्वा प्रभूतांश्च प्रभूतं च बलं मम।
मूलरक्षासमर्थोऽस्मि तदा यात्रां प्रयोजयेत् ॥४३५॥
अशुद्धपार्ष्णिर्नृपतिर्नतु यात्रां प्रयोजयेत्।
पार्ष्णिग्राहाधिकं सैन्यं मूले निक्षिप्य च व्रजेत् ॥४३६॥
चैत्र्यां वा मार्गशीर्ष्यां वा यात्रां यायान्नराधिपः।
चैत्र्यां पश्येच्च नैदाघं हन्ति पुष्टिं च शारदीम् ॥४३७॥
एतदेव विपर्यस्तं मार्गशीर्ष्यां नराधिपः।
शत्रोर्वा व्यसने यायात्काल एव सुदुर्लभः ॥४३८॥
दिव्यान्तरिक्षक्षितिजैरुत्पातैः पीडितं परम्।
षड्ऋक्षपीडासन्तप्तं पीडितं च तथा ग्रहैः।४३९॥
ज्वलन्ती च तथैवोल्का दिशं यां च प्रपद्यते।
भूकम्पोल्कादि संयाति यां च केतुः प्रसूयते ॥४४०॥
निर्घातश्च पतेद्यत्र तां यायाद्वसुधाधिपः।
स्वबलव्यसनोपेतं तथा दुर्भिक्षपीडितम् ॥४४१॥
सम्भूतान्तरकोपं च क्षिप्रं यायादरिं नृपः।
यूकामाक्षीकबहुलं बहुपङ्कं तथाऽऽविलम् ॥४४२॥

नास्तिकं भिन्नमर्यादं तथाऽमङ्गलवादिनम् ।
अपेतप्रकृतिं चैव निस्सारं च तथा जयेत् ॥४४३॥
विद्विष्टनायकं सैन्यं तथा भिन्नं परस्परम् ।
व्यसनासक्तनृपतिं बलं राजाऽभियोजयेत् ॥४४४॥
सैनिकानां न शस्त्राणि स्फुरन्त्यङ्गानि यत्र च ।
दुःस्वप्नानि च पश्यन्ति बलं तदभियोजयेत् ॥४४५॥
उत्साहबलसम्पन्नः स्वानुरक्तबलस्तथा ।
तुष्टपुष्टबलो राजा परानभिमुखो व्रजेत् ॥४४६॥
शरीरस्फुरणे धन्ये तथा दुःस्वप्ननाशने ।
निमित्ते शकुने धन्ये जाते शत्रुपुरं व्रजेत् ॥४४७॥
ऋक्षेषु षट्सु शुद्धेषु ग्रहेष्वनुगुणेषु च ।
प्रश्नकाले शुभे जाते परान्यायान्नराधिपः ॥४४८॥
एवं तु दैवसम्पन्नस्तथा पौरुषसंयुतः ।
देशकालोपपन्नां तु यात्रां कुर्यान्नराधिपः ॥४४९॥
स्थले नक्रस्तु नागस्य तस्यापि सजले वशे ।
उलूकस्य निशि ध्वाङ्क्षः स च तस्य दिवा वशे ॥४५०॥
एवं देशं च कालं च ज्ञात्वा यात्रां प्रयोजयेत् ।
पदातिनागबहुलां सेनां प्रावृषि योजयेत् ॥४५१॥
हेमन्ते शिशिरे चैव रथवाजिसमाकुलाम् ।
खरोष्ट्रबहुलां सेनां तथा ग्रीष्मे नराधिपः ॥४५२॥
चतुरङ्गबलोपेतां वसन्ते वा शरद्यथ ।
सेना पदातिबहुला यस्य स्यात्पृथिवीपतेः ॥४५३॥
अभियोज्यो भवेत्तेन शत्रुर्विषममाश्रितः ।
गम्ये वृक्षावृते देशे स्थितं शत्रुं तथैव च ॥४५४॥
किञ्चित्पङ्के तथा यायाद् बहुनागो नराधिपः ।
रथाश्वबहुलो यायाच्छत्रुं समपथस्थितम् ॥४५५॥
तमाश्रयन्तो बहुलास्तांस्तु राजा प्रपूजयेत् ।
खरोष्ट्रबहुलो राजा शत्रुर्बन्धेन संस्थितः ॥४५६॥
बन्धनस्थोऽभियोज्योऽरिस्तथा प्रावृषि भूभुजा ।
हिमपातयुते देशे स्थितं ग्रीष्मेऽभियोजयेत् ॥४५७॥

यवसेन्धनसंयुक्तः कालः पार्थिव! हैमनः ।
शरद्वसन्तौ धर्मज्ञ! कालौ साधारणौ स्मृतौ ॥४५८॥
विज्ञाय राजा द्विजदेशकालौ
दैवं त्रिकालं च तथैव बुद्ध्वा ।
यायात्परं कालविदां मतेन
सञ्चिन्त्य सार्धं द्विजमन्त्रविद्भिः ॥४५९॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे यात्रानिमित्तकालयोऽयचिन्ता नाम चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अग्निपुराणान्तर्गतं राजनीतिप्रकरणम्

अथाष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

राजाभिषेककथनम् ।

अग्निरुवाच—

पुष्करेण च रामाय राजधर्मं हि पृच्छते ।
यथादौ कथितं तद्वद्वसिष्ठ! कथयामि ते ॥ १ ॥

पुष्कर उवाच—

राजधर्मं प्रवक्ष्यामि सर्वस्माद् राजधर्मतः ।
राजा भवेच्छत्रुहन्ता प्रजापालः सुदण्डवान् ॥ २ ॥
पालयिष्यति वः सर्वान् धर्मस्थान् व्रतमाचरेत् ।
संवत्सरं स वृणुयात् पुरोहितमथ द्विजम् ॥ ३ ॥
मन्त्रिणश्चाखिलात्मज्ञान्महिषीं धर्मलक्षणाम् ।
संवत्सरं नृपः काले ससम्भारोऽभिषेचनम् ॥ ४ ॥
कुर्यान्मृते नृपे नात्र कालस्य नियमः स्मृतः ।
तिलैः सिद्धार्थकैः स्नानं सांवत्सरपुरोहितौ ॥ ५ ॥
घोषयित्वा जयं राज्ञो राजा भद्रासने स्थितः ।
अभयं घोषयेद् दुर्गान्मोचयेद्राज्यपालके ॥ ६ ॥
पुरोधसाऽभिषेकात् प्राक् कार्यैन्द्री शान्तिरेव च ।
उपवास्याभिषेकाहे वेद्यग्नौ जुहुयान्मनून् ॥ ७ ॥

वैष्णवानैन्द्रमन्त्रांस्तु सावित्रान्वैश्वदैवतान ।
सौम्यान् स्वस्त्ययनं शर्म आयुष्याभयदानमनून ॥ ८ ॥
अपराजिताञ्च कलसं वह्नेर्दक्षिणपार्श्वगम् ।
सम्पातवन्तं हैमञ्च पूजयेद्गन्धपुष्पकैः ॥ ९ ॥
प्रदक्षिणावर्तशिखस्तप्तजाम्बूनदप्रभः ।
रथौघमेघनिर्घोषो विधूमश्च हुताशनः ॥१०॥
अनुलोमः सुगन्धश्च स्वस्तिकाकारसन्निभः ।
प्रसन्नार्चिर्महाज्वालः स्फुलिङ्गरहितो हितः ॥११॥
न व्रजेयुश्च मध्येन मार्जारमृगपक्षिणः ।
पर्वताग्रमृदा तावन्मूर्द्धानं शोधयेन्नृपः ॥१२॥
वल्मीकाग्रमृदा कर्णौ वदनं केशवालयात् ।
इन्द्रालयमृदा ग्रीवा हृदयन्तु नृपाजिरात् ॥१३॥
करिदन्तोद्धृतमृदा दक्षिणन्तु तथा भुजम् ।
वृषशृङ्गोद्धृतमृदा वामञ्चैव तथा भुजम् ॥१४॥
सरोमृदा तथा पृष्ठमुदरं सङ्गमान्मृदा ।
नदीतटद्वयमृदा पार्श्वे संशोधयेत्तथा ॥१५॥
वेश्याद्वारमृदा राज्ञः कटिशौचं विधीयते ।
यज्ञस्थानात्तथैवोरू गोस्थानाज्जानुनी तथा ॥१६॥
अश्वस्थानात्तथा जङ्घे रथचक्रमृदाङ्घ्रिके ।
मूर्धानं पञ्चगव्येन भद्रासनगतं नृपम् ॥१७॥
अभिषिञ्चेदमात्यानां चतुष्टयमथो घटैः ।
पूर्वतो हेमकुम्भेन घृतपूर्णेन ब्राह्मणः ॥१८॥
रूप्यकुम्भेन याम्ये च क्षीरपूर्णेन क्षत्रियः ।
दध्ना च ताम्रकुम्भेन वैश्यः पश्चिमगेन च ॥१९॥
मृण्मयेन जलेनोदक् शूद्रामात्योऽभिषेचयेत् ।
ततोऽभिषेकं नृपतेर्बह्वृचप्रवरो द्विजः ॥२०॥
कुर्वीत मधुना विप्रश्छन्दोगश्च कुशोदकैः ।
सम्पातवन्तं कलशं तथा गत्वा पुरोहितः ॥२१॥
विधाय वह्निरक्षान्तु सदस्येषु यथाविधि ।
राजश्रियाभिषेके च ये मन्त्राः परिकीर्तिताः ॥२२॥

तैस्तु दद्यान्महाभाग ! ब्राह्मणानां स्वनैस्तथा ।
ततो पुरोहितो गच्छेद्वेदिमूलन्तदेव तु ॥२३॥
शतच्छिद्रेण पात्रेण सौवर्णेनाभिषेचयेत् ।
या ओषधीत्योषधीभीरथेत्युक्त्वेति गन्धकैः ॥२४॥
पुष्पैः पुष्पवतीत्येव ब्राह्मणेति च बीजकैः ।
रत्नैराशुः शिशानश्च ये देवाश्च कुशोदकैः ॥२५॥
यजुर्वेद्यथर्ववेदी गन्धद्वारेति संस्पृशेत् ।
शिरः कण्ठं रोचनया सर्वतीर्थोदकैर्द्विजाः ॥२६॥
गीतवाद्यादिनिर्घोषैश्चामरव्यजनादिभिः ।
सर्वौषधिमयं कुम्भं धारयेयुर्नृपाग्रतः ॥२७॥
तं पश्येद्दर्पणं राजा घृतं वै मङ्गलादिकम् ।
अभ्यर्च्य विष्णुं ब्रह्माणमिन्द्रादींश्च ग्रहेश्वरान् ॥२८॥
व्याघ्रचर्मोत्तरां शय्यामुपविष्टः पुरोहितः ।
मधुपर्कादिकं दत्त्वा पट्टबन्धं प्रकारयेत् ॥२९॥
राज्ञो मुकुटबन्धश्च पञ्चचर्मासनं ददेत् ।
ध्रुवाद्यैरिति च विशेद् वृषजं वृषदंशजम् ॥३०॥
द्वीपिजं सिंहजं व्याघ्रजातञ्चर्म तदासने ।
अमात्यसचिवादींश्च प्रतीहारः प्रदर्शयेत् ॥३१॥
गोजाविगृहदानाद्यैः सांवत्सरपुरोहितौ ।
पूजयित्वा द्विजान् प्राच्र्य ह्यन्यभूगोन्नमुख्यकैः ॥३२॥
वह्निं प्रदक्षिणीकृत्य गुरुं नत्वाथ पृष्ठतः ।
वृषमालभ्य गां वत्सां पूजयित्वाथ मन्त्रितम् ॥३३॥
अश्वमारुह्य नागञ्च पूजयेत्तं समारुहेत् ।
परिभ्रमेद्राजमार्गे बलयुक्तः प्रदक्षिणम् ॥३४॥
पुरं विशेच्च दानाद्यैः प्राच्र्य सर्वान् विसर्जयेत् ॥३५॥

इत्याग्नेये महापुराणे राजाभिषेको नाम अष्टादशाधिक-
द्विशततमोऽध्यायः ।

अथैकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

सहायसम्पत्तिः ।

पुष्कर उवाच—

सोऽभिषिक्तः सहामात्यो जयेच्छत्रून्नृपोत्तमः ।
राज्ञः सेनापतिः कार्यो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽथ वा ॥३६॥
कुलीनो नीतिशास्त्रज्ञः प्रतीहारश्च नीतिवित् ।
दूतश्च प्रियवादी स्यादक्षीणोऽतिबलान्वितः ॥३७॥
ताम्बूलधारी ना स्त्री वा भक्तः क्लेशसहप्रियः ।
सान्धिविग्रहिकः कार्यः षाड्गुण्यादिविशारदः ॥३८॥
खड्गधारी रक्षकः स्यात्सारथिः स्याद्बलादिवित् ।
सूदाध्यक्षो हितो विज्ञो महानसगतो हि सः ॥३९॥
सभासदस्तु धर्मज्ञा लेखकोऽक्षरविद्धितः ।
आह्वानकालविज्ञाः स्युर्हिता दौवारिका जनाः ॥४०॥
रत्नादिज्ञो धनाध्यक्षः अनुद्वारे हितो नरः ।
स्यादायुर्वेदविद् वैद्यो गजाध्यक्षोऽथ हस्तिवित् ॥४१॥
जितश्रमो गजारोहो हयाध्यक्षो हयादिवित् ।
दुर्गाध्यक्षो हितो धीमान स्थपतिर्वास्तुवेदवित् ॥४२॥
यन्त्रमुक्ते पाणिमुक्ते अमुक्ते मुक्तधारिते ।
अस्त्राचार्यो नियुद्धे च कुशलो नृपतेर्हितः ॥४३॥
वृद्धश्चान्तःपुराध्यक्षः पञ्चाशद्वार्षिकाः स्त्रियः ।
सप्तत्यब्दास्तु पुरुषाश्चरेयुः सर्वकर्मसु ॥४४॥
जाग्रत्स्यादायुधागारे ज्ञात्वा वृत्तिर्विधीयते ।
उत्तमाधममध्यानि बुद्ध्वा कर्माणि पार्थिवः ॥४५॥
उत्तमाधममध्यानि पुरुषाणि नियोजयेत् ।
जयेच्छुः पृथिवीं राजा सहायानानयेद्धितान् ॥४६॥
धर्मिष्ठान् धर्मकार्येषु शूरान् सङ्ग्रामकर्मसु ।
निपुणानर्थकृत्येषु सर्वत्र च तथा शुचीन् ॥४७॥
स्त्रीषु षण्डान्नियुञ्जीत तीक्ष्णान दारुणकर्मसु ।
यो यत्र विदितो राज्ञा शुचित्वेन तु तं नरम् ॥४८॥

धर्मे चार्थे च कामे च नियुञ्जीताधमेऽधमान् ।
राजा यथार्हं कुर्याच्च उपधाभिः परीक्षितान् ॥४६॥
समन्त्री च यथान्यायात् कुर्याद्धस्तिवनेचरान् ।
तत्पदान्वेषणे यत्तानध्यक्षांस्तत्र कारयेत् ॥५०॥
यस्मिन्कर्मणि कौशल्यं यस्य तस्मिन् नियोजयेत् ।
पितृपैतामहान्भृत्यान् सर्वकर्मसु योजयेत् ॥५१॥
विना दायादकृत्येषु तत्र ते हि समागताः ।
परराजगृहात् प्राप्तान् जनान् संश्रयकाम्यया ॥५२॥
दुष्टानप्यथ वाऽदुष्टान् संश्रयेत प्रयत्नतः ।
दुष्टं ज्ञात्वा विश्वसेन्न तद्वृत्तिं वर्त्तयेद्वशे ॥५३॥
देशान्तरागतान् पार्श्वे चारैर्ज्ञात्वा हि पूजयेत् ।
शत्रवोऽग्निर्विषं सर्पो निस्त्रिंशमपि चैकतः ॥५४॥
भृत्या वसिष्ठ ! विज्ञेया कुभृत्याश्च तथैकतः ।
चारचक्षुर्भवेद्राजा नियुञ्जीत सदा चरान ॥५५॥
जनस्याविहितान् सौम्यांस्तथाज्ञातान् परस्परम् ।
वणिजो मन्त्रकुशलान सांवत्सरचिकित्सकान् ॥५६॥
तथा प्रव्रजिताकारान् बलाबलविवेकिनः ।
नैकस्य राजा श्रद्दध्याच्छ्रद्दध्याद् बहुवाक्यतः ॥५७॥
रागापरागौ भृत्यानां जनस्य च गुणागुणान् ।
शुभानामशुभानाञ्च ज्ञानं कुर्याद्वशाय च ॥५८॥
अनुरागकरं कर्म चरेज्जह्याद्विरागजम् ।
जनानुरागया लक्ष्म्या राजा स्याज्जनरञ्जनात् ॥५६॥

इत्याग्नेये महापुराणे सहायसम्पत्तिर्नामैकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ विंशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

भृत्यः कुर्यात्तु राजाज्ञां शिष्यवत्सच्छ्रियः पतेः ।
न क्षिपेद्वचनं राज्ञः अनुकूलं प्रियं वदेत् ॥६०॥
रहोगतस्य वक्तव्यमप्रियं यद्धितं भवेत् ।
न नियुक्तो हरेद्वित्तं नोपेक्षेत्तस्य मानकम् ॥६१॥

राज्ञश्च न तथाकार्यं वेशभाषाविचेष्टितम् ।
अन्तःपुरचराध्यक्षो वैरभूतैर्निराकृतैः ॥६२॥
संसर्गं न व्रजेद् भृत्यो राज्ञो गुह्यञ्च गोपयेत ।
प्रदर्श्य कौशलं किञ्चिद्राजानन्तु विशेषयेत् ॥६३॥
राज्ञा यच्छ्रावितं गुह्यं न तल्लोके प्रकाशयेत ।
आज्ञाप्यमाने वान्यस्मिन किङ्करोमीति वा वदेत् ॥६४॥
वस्त्रं रत्नमलङ्कारं राज्ञा दत्तं च धारयेत ।
नानिर्दिष्टो द्वारि विशेन्नायोग्ये भुवि राजदृक् ॥६५॥
जृम्भान्निष्ठीवनं कासं कोपं पर्यन्तिकाश्रयम् ।
भृकुटीं वातमुद्गारं तत्समीपे विसर्जयेत ॥६६॥
स्वगुणाख्यापने युक्त्या परानेव प्रयोजयेत ।
शाठ्यं लौल्यं सपैशुन्यं नास्तिक्यं क्षुद्रता तथा ॥६७॥
चापल्यञ्च परित्याज्यं नित्यं राजानुजीविना ।
श्रुतेन विद्याशिल्पैश्च संयोज्यात्मानमात्मना ॥६८॥
राजसेवां ततः कुर्याद् भूतये भूतिवर्द्धनः ।
नमस्कार्याः सदा चास्य पुत्रवल्लभमन्त्रिणः ॥६९॥
सचिवैर्नास्य विश्वासो राजचित्तप्रियञ्चरेत् ।
त्यजेद्विरक्तं रक्तात्तु वृत्तिमीहेत राजवित् ॥७०॥
अपृष्टश्चास्य न ब्रूयात् कामं कुर्यात्तथापदि ।
प्रसन्नो वाक्यसङ्ग्राही रहस्ये नच शङ्कते ॥७१॥
कुशलादिपरिप्रश्नं सम्प्रयच्छति चासनम् ।
तत्कथाश्रवणाद् धृष्टः अप्रियाण्यपि नन्दते ॥७२॥
अल्पं दत्तं प्रगृह्णाति स्मरेत् कथान्तरेष्वपि ।
इति रक्तस्य कर्त्तव्यं सेवामन्यस्य वर्जयेत् ॥७३॥

इत्याग्नेये महापुराणे अनुजीविवृत्तं नाम विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अथैकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

दुर्गसम्पत्तिः ।

पुष्कर उवाच —

दुर्गसम्पत्तिमाख्यास्ये दुर्गदेशे वसेन्नृपः ।
वैश्यशूद्रजनप्रायो ह्यनाहार्यस्तथाऽपरैः ॥७४॥
किञ्चिद्ब्राह्मणसंयुक्तो बहुकर्मकरस्तथा ।
अदेवमातृको भक्तजलो देशः प्रशस्यते ॥७५॥
परैरपीडितः पुष्पफलधान्यसमन्वितः ।
अगम्यः परचक्राणां व्यालतस्करवर्जितः ॥७६॥
षण्णामेकतमं दुर्गं तत्र कृत्वा वसेद् बली ।
धनुर्दुर्गं महीदुर्गं नरदुर्गं तथैव च ॥७७॥
वार्क्षञ्चैवाम्बुदुर्गञ्च गिरिदुर्गञ्च भार्गव !
सर्वोत्तमं शैलदुर्गमभेद्यं चान्यभेदनम् ॥७८॥
पुरन्तत्र च हट्टाद्यदेवतायतनादिकम् ।
अनुयन्त्रायुधोपेतं सोदकं दुर्गमुत्तमम् ॥७९॥
राजरक्षां प्रवक्ष्यामि रक्ष्यो भूपो विषादितः ।
पञ्चाङ्गस्तु शिरीषः स्यान्मूत्रपिष्टो विषार्दनः ॥८०॥
शतावरी छिन्नरुहा विषघ्नी तण्डुलीयकम् ।
कोषातकी च कल्हारी ब्राह्मी चित्रपटोलिका ॥८१॥
मण्डूकपर्णी वाराही धात्र्यानन्दकमेव च ।
उन्मादिनी सोमराजी विषघ्नं रत्नमेव च ॥८२॥
वास्तुलक्षणसंयुक्ते वसन्दुर्गे सुरान्यजेत् ।
प्रजाश्च पालयेद् दुष्टाञ्जयेद् दानानि दापयेत् ॥८३॥
देवद्रव्यादिहरणात्कल्पन्तु नरकं वसेत् ।
देवालयानि कुर्वीत देवपूजारतो नृपः ॥८४॥
सुरालयाः पालनीयाः स्थापनीयाश्च देवताः ।
मृण्मयाद्दारुजं पुण्यं दारुजादिष्टकामयम् ॥८५॥
ऐष्टकाच्छैलजं पुण्यं शैलजात् स्वर्णरत्नजम् ।
क्रीडन् सुरगृहं कुर्वन् भुक्तिमुक्तिमवाप्नुयात् ॥८६॥

चित्रकृद् गीतवाद्यादिप्रेक्षणीयादिदानकृत् ।
तैलाज्यमधुदुग्धाद्यैः स्नाप्य देवं दिवं व्रजेत् ॥८७॥
पूजयेत् पालयेद्विप्रान् द्विजस्वं न हरेन्नृपः ।
सुवर्णमेकं गामेकां भूमेरप्येकमङ्गुलम् ॥८८॥
हरन्नरकमाप्नोति यावदाभूतसंप्लवम् ।
दुराचारन्न द्विषेच्च सर्वपापेष्वपि स्थितम् ॥८९॥
नैवास्ति ब्राह्मणवधात् पापं गुरुतरं क्वचित् ।
अदैवं दैवतं कुर्युः कुर्युर्दैवमदैवतम् ॥९०॥
ब्राह्मणा हि महाभागास्तान्नमस्येत्सदैव तु ।
ब्राह्मणी रुदती हन्ति कुलं राज्यं प्रजास्तथा ॥९१॥
साध्वीस्त्रीणां पालनञ्च राजा कुर्याच्च धार्मिकः ।
स्त्रिया प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्यैकदक्षया ॥९२॥
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ।
यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां शुश्रूषेत्तं पतिं सदा ॥९३॥
मृते भर्तरि स्वर्यायाद् ब्रह्मचर्ये स्थिताङ्गना ।
परवेश्मरुचिर्न स्यान्न स्यात्कलहशालिनी ॥९४॥
मण्डनं वर्जयेन्नारी तथा प्रोषितभर्तृका ।
देवताराधनपरा तिष्ठेद्भर्तृहिते रता ॥९५॥
धारयेन्मङ्गलार्थाय किञ्चिदाभरणान्तथा ।
भर्त्राग्निं या विशेन्नारी सापि स्वर्गमवाप्नुयात् ॥९६॥
श्रियः सम्पूजनं कार्यं गृहसम्मार्जनादिकम् ।
द्वादश्यां कार्त्तिके विष्णुं गां सवत्सां ददेत्तथा ॥९७॥
सावित्र्या रक्षितो भर्ता सत्याचारव्रतेन च ।
सप्तम्यां मार्गशीर्षे तु सितेऽभ्यर्च्य दिवाकरम् ॥९८॥
पुत्रानाप्नोति च स्त्रीह नात्र कार्या विचारणा ॥९९॥

इत्याग्नेये महापुराणे राजधर्मो नामैकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अथ द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

राजधर्माः ।

पुष्कर उवाच—

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामाधिपं नृपम् ।
शतग्रामाधिपञ्चान्यं तथैव विषयेश्वरम् ॥१००॥
तेषां भोगविभागश्च भवेत्कर्मानुरूपतः ।
नित्यमेव तथा कार्यं तेषाञ्चारैः परीक्षणम् ॥१०१॥
ग्रामे दोषान् समुत्पन्नान ग्रामेशः प्रशमं नयेत् ।
अशक्तो दशपालस्य स तु गत्वा निवेदयेत् ॥१०२॥
श्रुत्वापि दशपालोऽपि तत्र युक्तिमुपाचरेत ।
वित्ताद्याप्नोति राजा वै विषयात्तु सुरक्षितात् ॥१०३॥
धनवान्धर्ममाप्नोति धनवान् काममश्नुते ।
उच्छिद्यन्ते विना ह्यर्थैः क्रिया ग्रीष्मे सरिद्यथा ॥१०४॥
विशेषो नास्ति लोकेषु पतितस्याधनस्य च ।
पतितान्न तु गृह्णन्ति दरिद्रो न प्रयच्छति ॥१०५॥
धनहीनस्य भार्यापि नैका स्यादुपवर्त्तिनी ।
राष्ट्रपीडाकरो राजा नरके वसते चिरम् ॥१०६॥
नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणी ।
यथा स्वं सुखमुत्सृज्य गर्भस्य सुखमावहेत् ॥१०७॥
किं यज्ञैस्तपसा तस्य प्रजा यस्य न रक्षिताः ।
सुरक्षिताः प्रजा यस्य स्वर्गस्तस्य गृहोपमः ॥१०८॥
अरक्षिताः प्रजा यस्य नरकं तस्य मन्दिरम् ।
राजा षड्भागमादत्ते सुकृताद् दुष्कृतादपि ॥१०९॥
धर्मागमो रक्षणाच्च पापमाप्नोत्यरक्षणात् ।
सुभगा विटभीतेव राजवल्लभतस्करैः ॥११०॥
भक्ष्यमाणाः प्रजा रक्ष्याः कायस्थैश्च विशेषतः ।
रक्षिता तद्भयेभ्यस्तु राज्ञो भवति सा प्रजा ॥१११॥
अरक्षिता सा भवति तेषामेवेह भोजनम् ।
दुष्टसम्मर्दनं कुर्याच्छास्त्रोक्तं करमाददेत् ॥११२॥

कोषे प्रवेशयेदर्द्धं नित्यञ्चार्द्धं द्विजे ददेत् ।
निधिं द्विजोत्तमः प्राप्य गृह्णीयात्सकलं तथा ॥११३॥
चतुर्थमष्टमं भागं तथा षोडशमं द्विजः ।
वर्णक्रमेण दद्याच्च निधिं पात्रे तु धर्मतः ॥११४॥
अनृतन्तु वदन् दण्ड्यः सुवित्तस्यांशमष्टमम् ।
प्रणष्टस्वामिकमृक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ॥११५॥
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत् स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ।
ममेदमिति यो ब्रूयात् सोऽर्थयुक्तो यथाविधि ॥११६॥
सम्पाद्य रूपसङ्ख्यादीन् स्वामी तद् द्रव्यमर्हति ।
बालदायादिकमृक्थं तावद्राजानुपालयेत् ॥११७॥
यावत्स्यात्स समावृत्तो यावद्वातीतशैशवः ।
बालपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ॥११८॥
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ।
जीवन्तीनां तु तासां ये संहरेयुः स्वबान्धवाः ॥११९॥
तान्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
सामान्यतो हृतञ्चौरैस्तद्वै दद्यात् स्वयं नृपः ॥१२०॥
चौररक्षाधिकारिभ्यो राजापि हृतमाप्नुयात् ।
अहृते यो हृतं ब्रूयान्निस्सार्यो दण्ड्य एव सः ॥१२१॥
न तद्राज्ञा प्रदातव्यं गृहे यद् गृहगैर्हृतम् ।
स्वराष्ट्रपण्यादादद्याद्राजा विंशतिमं द्विज ! ॥१२२॥
शुल्कांशं परदेशाच्च क्षयव्ययप्रकाशकम् ।
ज्ञात्वा सङ्कल्पयेच्छुल्कं लाभं वणिग्यथाप्नुयात् ॥१२३॥
विंशांशं लाभमादद्याद्दण्डनीयस्ततोऽन्यथा ।
स्त्रीणां प्रव्रजितानाञ्च तरशुल्कं विवर्जयेत् ॥१२४॥
तरेषु दासदोषेण नष्टं दासांस्तु दापयेत् ।
शूकधान्येषु षड्भागं शिम्बिधान्ये तथाष्टमम् ॥१२५॥
राजा वन्यार्थमादद्याद्देशकालानुरूपकम् ।
पञ्च षड्भागमादद्यात् राजा पशुहिरण्ययोः ॥१२६॥
गन्धौषधिरसानाञ्च पुष्पमूलफलस्य च ।
पत्रशाकतृणानाञ्च वंशवैणवचर्मणाम् ॥१२७॥

वैदलानाञ्च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ।
षड्भागमेव चादद्यान्मधुमांसस्य सर्पिषः ॥१२८॥
म्रियन्नपि न चाददद्याद् ब्राह्मणेभ्यस्तथा करम् ।
यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ॥१२६॥
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं व्याधिदुर्भिक्षतस्करैः ।
श्रुतं वृत्तं तु विज्ञाय वृत्तिं तस्य प्रकल्पयेत् ॥१३०॥
रक्षेच्च सर्वतस्त्वेनं पिता पुत्रमिवौरसम् ।
संरक्ष्यमाणो राज्ञा यः कुरुते धर्ममन्वहम् ॥१३१॥
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ।
कर्म कुर्युर्नरेन्द्रस्य मासेनैकञ्च शिल्पिनः ॥१३२॥
भुक्तमात्रेण ये चान्ये स्वशरीरोपजीविनः ॥१३३॥

इत्याग्नेये महापुराणे राजधर्मो नाम द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अथ त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

राजधर्माः ।

पुष्कर उवाच—

वक्ष्येऽन्तःपुरचिन्तां च धर्माद्याः पुरुषार्थकाः ।
अन्योऽन्यरक्षया तेषां सेवा कार्या स्त्रिया नृपैः ॥१३४॥
धर्ममूलोऽर्थविटपस्तथा कर्मफलो महान् ।
त्रिवर्गपादपस्तत्र रक्षया फलभाग् भवेत् ॥१३५॥
कामाधीनाः स्त्रियो राम ! तदर्थं रत्नसङ्ग्रहः ।
सेव्यास्ता नातिसेव्याश्च भूभुजा विषयैषिणा ॥१३६॥
आहारो मैथुनं निद्रा सेव्या नाति हि रुग् भवेत् ।
मञ्चाधिकारे कर्तव्याः स्त्रियः सेव्याः स्वरामिकाः ॥१३७॥
दुष्टान्याचरते या तु नाभिनन्दति तत्कथाम् ।
ऐक्यं द्विषद्भिर्व्रजति गर्वं वहति चोद्धता ॥१३८॥
चुम्बिता मार्ष्टि वदनं दत्तञ्च बहु मन्यते ।
स्वपित्यादौ प्रसुप्तापि तथा पश्चाद्विबुध्यते ॥१३९॥

स्पृष्टा धुनोति गात्राणि गात्रं च विरुणद्धि या ।
ईषच्छृणोति वाक्यानि प्रियाण्यपि पराङ्मुखी ॥१४०॥
न पश्यत्यप्रदत्तन्तु जघनञ्च निगूहति ।
दृष्टे विवर्णवदना मित्रेष्वथ पराङ्मुखी ॥१४१॥
तत्कामितासु च स्त्रीषु मध्यस्थेव च लक्ष्यते ।
ज्ञातमण्डनकालापि न करोति च मण्डनम् ॥१४२॥
या सा विरक्ता तान्त्यक्त्वा सानुरागां स्त्रियम्भजेत् ।
दृष्ट्वैव हृष्टा भवति वीक्षिते च पराङ्मुखी ॥१४३॥
दृश्यमाना तथाऽन्यत्र दृष्टिं क्षिपति चञ्चलाम् ।
तथाप्युपावर्तयितुं नैव शक्नोत्यशेषतः ॥१४४॥
विवृणोति तथाङ्गानि स्वस्या गुह्यानि भार्गव !
गर्हितञ्च तथैवाङ्गं प्रयत्नेन निगूहति ॥१४५॥
तद्दर्शने च कुरुते बालालिङ्गनचुम्बनम् ।
आभाष्यमाणा भवति सत्यवाक्या तथैव च ॥१४६॥
स्पृष्टा पुलकितैरङ्गैः स्वेदेनैव च भज्यते ।
करोति च तथा राम ! सुलभद्रव्ययाचनम् ॥१४७॥
ततः स्वल्पमपि प्राप्य करोति परमां मुदम् ।
नामसङ्कीर्तनादेव मुदिता बहु मन्यते ॥१४८॥
करजाङ्काङ्कितान्यस्य फलानि प्रेषयत्यपि ।
तत्प्रेषितञ्च हृदये विन्यसत्यपि चादरात् ॥१४९॥
आलिङ्गनैश्च गात्राणि लिम्पतीवामृतेन या ।
सुप्ते स्वपित्यथादौ च तथा तस्य विबुध्यते ॥१५०॥
ऊरू स्पृशति चात्यर्थं सुप्तश्चैनं विबुध्यते ।
कपित्थचूर्णयोगेन तथा दध्नः स्रजा तथा ॥१५१॥
घृतं सुगन्धि भवति दुग्धैः क्षिप्तैस्तथा यवैः ।
भोज्यस्य कल्पनैवं स्याद्गन्धमुक्तिः प्रदर्श्यते ॥१५२॥
शौचमाचमनं राम ! तथैव च विरेचनम् ।
भावना चैव पाकश्च बोधनं धूपनन्तथा ॥१५३॥
वासनं चैव निर्दिष्टं कर्माष्टकमिदं स्मृतम् ।
कपित्थबिल्वजम्बाम्रकरवीरकपल्लवैः ॥१५४॥

कृत्वोदकन्तु यद्द्रव्यं शौचितं शौचनन्तु तत् ।
तेषामभावे शौचन्तु मृगदर्पाम्भसा भवेत् ॥१५५॥
नखं कुष्ठं घनं मांसी स्पृक्कशैलेयजं जलम् ।
तथैव कुंकुमं लाक्षा चन्दनागुरुनीरदम् ॥१५६॥
सरलं देवकाष्ठञ्च कर्पूरं कान्तया सह ।
बालः कुन्दुरुकश्चैव गुग्गुलुः श्रीनिवासकः ॥१५७॥
सह सर्जरसेनैवं धूपद्रव्यैकविंशतिः ।
धूपद्रव्यगणादस्मादेकविंशाद्यथेच्छया ॥१५८॥
द्वे द्वे द्रव्ये समादाय सर्जभागैर्नियोजयेत् ।
नखपिण्याकमलयैः संयोज्य मधुना तथा ॥१५९॥
धूपयोगा भवन्तीह यथावत्स्वेच्छया कृताः ।
त्वचन्नाडीं फलन्तैलं कुंकुमं ग्रन्थि पर्वकम् ॥१६०॥
शैलेयन्तगरं क्रान्तां चोलकर्पूरमेव च ।
मांसीं सुराञ्च कुष्ठञ्च स्नानद्रव्याणि निर्दिशेत् ॥१६१॥
एतेभ्यस्तु समादाय द्रव्यत्रयमथेच्छया ।
मृगदर्पयुतं स्नानं कार्यं कन्दर्पवर्द्धनम् ॥१६२॥
त्वङ्मुरानलदैस्तुल्यैर्वालकार्द्धसमायुतैः ।
स्नानमुत्पलगन्धि स्यात् सतैलं कुङ्कुमायते ॥१६३॥
जातीपुष्पसुगन्धि स्यात् तगरार्द्धेन योजितम् ।
सद्‌व्यामकं स्याद्बकुलैस्तुल्यगन्धि मनोहरम् ॥१६४॥
मञ्जिष्ठातगरं चोलं त्वचं व्याघ्रनखं नखम् ।
गन्धपत्रञ्च विन्यस्य गन्धतैलं भवेच्छुभम् ॥१६५॥
तैलं निपीडितं राम ! तिलैः पुष्पाधिवासितैः ।
वासनात् पुष्पसदृशं गन्धेन तु भवेद् ध्रुवम् ॥१६६॥
एलालवङ्गकक्कोलजातीफलनिशाकराः ।
जातीपत्रिकया सार्द्धं स्वतन्त्रा मुखवासकाः ॥१६७॥
कर्पूरं कुङ्कुमं कान्ता मृगदर्पं हरेणुकम् ।
कक्कोलैलालवङ्गञ्च जाती कोशकमेव च ॥१६८॥
त्वक्पत्रं त्रुटिमुस्तौ च लतां कस्तूरिकं तथा ।
कण्टकानि लवङ्गस्य फलपत्रे च जातितः ॥१६९॥

कटुकञ्च फलं राम ! कार्षिकाण्युपकल्पयेत् ।
तच्चूर्णे खादिरं सारं दद्यात्तुर्य तु वासितम् ॥१७०॥
सहकाररसेनास्मात् कर्तव्या गुटिकाः शुभाः ।
मुखन्यस्ता सुगन्धास्ता मुखरोगविनाशनाः ॥१७१॥
पूगं प्रक्षालितं सम्यक् पञ्चपल्लववारिणा ।
शक्त्या तु गुटिकाद्रव्यैर्वासितं मुखवासकम् ॥१७२॥
कटुकं दन्तकाष्ठञ्च गोमूत्रे वासितं त्र्यहम् ।
कृतञ्च पूगवद्राम ! मुखसौगन्धिकारकम् ॥१७३॥
त्वक्पथ्ययोः समावंशौ शशिभागार्द्धसंयुतौ ।
नागवल्लीसमो भाति मुखवासो मनोहरः ॥१७४॥
एवं कुर्यात् सदा स्त्रीणां रक्षणं पृथिवीपतिः ।
न चासां विश्वसेज्जातु पुत्रमातुर्विशेषतः ॥१७५॥
न स्वपेत् स्त्रीगृहे रात्रौ विश्वासः कृत्रिमो भवेत् ॥१७६॥
इत्याग्नेये महापुराणे स्त्रीरक्षादिकामशास्त्रं नाम त्रयोविंशत्यधिक-द्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

राजधर्माः ।

पुष्कर उवाच—

राजपुत्रस्य रक्षा च कर्तव्या पृथिवीक्षिता ।
धर्मार्थकामशास्त्राणि धनुर्वेदञ्च शिक्षयेत् ॥१७७॥
शिल्पानि शिक्षयेच्चैवमाप्तैर्मिथ्याप्रियंवदैः ।
शरीररक्षाव्याजेन रक्षिणोऽस्य नियोजयेत् ॥१७८॥
न चास्य सङ्गो दातव्यः क्रुद्धलुब्धविमानितैः ।
अशक्यन्तु गुणाधानं कर्तुं तं बन्धयेत् सुखैः ॥१७९॥
अधिकारेषु सर्वेषु विनीतं विनियोजयेत् ।
मृगयां पानमक्षांश्च राज्यनाशांस्त्यजेत् नृपः ॥१८०॥
दिवास्वप्नं वृथाट्याञ्च वाक्पारुष्यं विवर्जयेत् ।
निन्दाञ्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमुत्सृजेत् ॥१८१॥

आकाराणां समुच्छेदो दुर्गादीनामसत्क्रिया ।
अर्थानां दूषणं प्रोक्तं विप्रकीर्णत्वमेव च ॥१८२॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रे दानमेव च ।
अर्थेषु दूषणं प्रोक्तमसत्कर्मप्रवर्तनम् ॥१८३॥
कामं क्रोधं मदं मानं लोभं दर्पञ्च वर्जयेत् ।
ततो भृत्यजयं कृत्वा पौरजानपदं जयेत् ॥१८४॥
जयेद्बाह्यानरीन् पश्चाद्बाह्याश्च त्रिविधारयः ।
गुरवस्ते यथापूर्वं कुल्यानन्तरकृत्रिमाः ॥१८५॥
पितृपैतामहं मित्रं सामन्तश्च तथा रिपोः ।
कृत्रिमं च महाभाग ! मित्रन्त्रिविधमुच्यते ॥१८६॥
स्वाम्यमात्यजनपदा दुर्गं दण्डस्तथैव च ।
कोषो मित्रश्च धर्मज्ञ ! सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥१८७॥
मूलं स्वामी स वै रक्ष्यस्तस्माद्राज्यं विशेषतः ।
राज्याङ्गद्रोहिणं हन्यात् काले तीक्ष्णो मृदुर्भवेत् ॥१८८॥
एवं लोकद्वयं राज्ञो भृत्यैर्हासं विवर्जयेत् ।
भृत्याः परिभवन्तीह नृपं हर्षणसत्कथम् ॥१८९॥
लोकसंग्रहणार्थाय कृतकव्यसनो भवेत् ।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात् लोकानां रञ्जनं चरेत् ॥१९०॥
दीर्घसूत्रस्य नृपतेः कर्महानिर्ध्रुवं भवेत् ।
रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ॥१९१॥
अप्रिये चैव वक्तव्ये दीर्घसूत्रः प्रशस्यते ।
गुप्तमन्त्रो भवेद्राजा नापदो गुप्तमन्त्रतः ॥१९२॥
ज्ञायते हि कृतं कर्म नारब्धं तस्य राज्यकम् ।
आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ॥१९३॥
नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ।
नैकस्तु मन्त्रयेन्मन्त्रं न राजा बहुभिः सह ॥१९४॥
बहुभिर्मन्त्रयेत्कामं राजा मन्त्रान् पृथक् पृथक् ।
मन्त्रिणामपि नो कुर्यान्मन्त्री मन्त्रप्रकाशनम् ॥१९५॥
क्वापि कस्यापि विश्वासो भवतीह सदा नृणाम् ।
निश्चयश्च तथा मन्त्रे कार्य एकेन सूरिणा ॥१९६॥

नश्येदविनयाद्राजा राज्यञ्च विनयाल्लभेत् ।
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम् ॥१६७॥
आन्वीक्षिकीञ्चार्थविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥१६८॥
पूज्या देवा द्विजाः सर्वे दद्याद्दानानि तेषु च ।
द्विजे दानञ्चाक्षयोऽयं निधिः कैश्चिन्न नाश्यते ॥१६६॥
संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां परिपालनम् ।
दानानि ब्राह्मणानाञ्च राज्ञो निःश्रेयसस्परम् ॥२००॥
कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमञ्च वृत्तिञ्च तथैव परिकल्पयेत् ॥२०१॥
वर्णाश्रमव्यवस्थानं कार्यं तापसपूजनम् ।
न विश्वसेच्च सर्वत्र तापसेषु च विश्वसेत् ॥२०२॥
विश्वासयेच्चापि परं तत्त्वभूतेन हेतुना ।
वकवच्चिन्तयेदर्थं सिंहवच्च पराक्रमेत ॥२०३॥
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ।
दृढप्रहारी च भवेत् तथा शूकरवन्नृपः ॥२०४॥
चित्राकारश्च शिखिवद् दृढभक्तिस्तथाश्ववत् ।
भवेच्च मधुराभाषी तथा कोकिलवन्नृपः ॥२०५॥
काकशङ्की भवेन्नित्यमज्ञातां वसतिं वसेत् ।
नापरीक्षितपूर्वञ्च भोजनं शयनं स्पृशेत् ॥२०६॥
नाविज्ञातां स्त्रियं गच्छेन्नाज्ञातां नावमारुहेत् ।
राष्ट्रकर्षी भ्रश्यते च राज्यार्थाच्चैव जीवितात् ॥२०७॥
भृतो वत्सो जातबलः कर्मयोग्यो यथा भवेत् ।
तथा राष्ट्रं महाभाग ! भृतं कर्मसहं भवेत् ॥२०८॥
सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवपौरुषे ।
तयोर्दैवमचिन्त्यं हि पौरुषे विद्यते क्रिया ॥२०९॥
जनानुरागप्रभवा राज्ञो राज्यमहीश्रियः ॥२१०॥

इत्याग्नेये महापुराणे राजधर्मो नाम चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

राजधर्माः ।

पुष्कर उवाच—

स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम् ।
तस्मात्पौरुषमेवेह श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥२११॥
प्रतिकूलं तथा दैवं पौरुषेण विहन्यते ।
सात्त्विकात्कर्मणः पूर्वात्सिद्धिः स्यात्पौरुषं विना ॥२१२॥
पौरुषं दैवसम्पत्त्या काले फलति भार्गव !
दैवं पुरुषकारश्च द्वयं पुंसः फलावहम् ॥२१३॥
कृषेर्वृष्टिसमायोगात् काले स्युः फलसिद्धयः ।
सधर्मं पौरुषं कुर्यान्नालसो नच दैववान् ॥२१४॥
सामादिभिरुपायैस्तु सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः ।
सामं चोपप्रदानञ्च भेददण्डौ तथापरौ ॥२१५॥
मायोपेक्षेन्द्रजालञ्च उपायाः सप्त ताञ्छृणु ।
द्विविधं कथितं साम तथ्यञ्चातथ्यमेव च ॥२१६॥
तत्राप्यतथ्यं साधूनामाक्रोशायैव जायते ।
महाकुलीना ह्यृजवो धर्मनित्या जितेन्द्रियाः ॥२१७॥
सामसाध्या अतथ्यैश्च गृह्यन्ते राक्षसा अपि ।
तथा तदुपकाराणां कृतानाञ्चैव वर्णनम् ॥२१८॥
परस्परन्तु ये द्विष्टाः क्रुद्धभीतावमानिताः ।
तेषां भेदं प्रयुञ्जीत परमं दर्शयेद्भयम् ॥२१९॥
आत्मीयां दर्शयेदाशां येन दोषेण बिभ्यति ।
परास्तेनैव ते भेद्या रक्ष्यो वै ज्ञातिभेदकः ॥२२०॥
सामन्तकोपो बाह्यस्तु मन्त्रामात्यात्मजादिकः ।
अन्तःकोपश्चोपशाम्यं कुर्वन् शत्रोश्च तं जयेत् ॥२२१॥
उपायश्रेष्ठं दानं स्याद्दानादुभयलोकभाक् ।
न सोऽस्ति नाम दानेन वशगो यो न जायते ॥२२२॥
दानवानेव शक्नोति संहतान भेदितुं परान् ।
त्रयासाध्यं साधयेत् तं दण्डेन च कृतेन च ॥२२३॥

दण्डे सर्वं स्थितं दण्डो नाशयेद् दुष्प्रणीकृतः ।
अदण्ड्यान दण्डयन्नश्येद्दण्ड्यान राजाप्यदण्डयन ॥२२४॥
देवदैत्योरगनराः सिद्धा भूताः पतत्त्रिणः ।
उत्क्रमेयुः स्वमर्यादां यदि दण्डान्न पालयेत् ॥२२५॥
यस्माददान्तान दमयत्यदण्ड्यान्दण्डयत्यपि ।
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधाः ॥२२६॥
तेजसा दुर्निरीक्ष्यो हि राजा भास्करवत्ततः ।
लोकप्रसादं गच्छेत दर्शनाच्चन्द्रवत्ततः ॥२२७॥
जगद् व्याप्नोति वै चारैरतो राजा समीरणः ।
दोषनिग्रहकारित्वाद्राजा वैवस्वतः प्रभुः ॥२२८॥
यदा दहति दुर्बुद्धिं तदा भवति पावकः ।
यदा दानं द्विजातिभ्यो दद्यात्तस्माद्धनेश्वरः ॥२२९॥
धनधाराप्रवर्षित्वाद्देवादौ वरुणः स्मृतः ।
क्षमया धारयंल्लोकान पार्थिवः पार्थिवो भवेत ॥२३०॥
उत्साहमन्त्रशक्त्याद्यै रक्षेद् यस्माद्धरिस्ततः ॥२३१॥

इत्याग्नेये महापुराणे सामाद्युपायो नाम पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

युद्धयात्रा ।

पुष्कर उवाच—

यदा मन्येत नृपतिराक्रन्देन बलीयसा ।
पार्ष्णिग्राहोऽभिभूतो मे तदा यात्रां प्रयोजयेत् ॥२३२॥
पुष्टा योधा भृता भृत्याः प्रभूतञ्च बलं मम ।
मूलरक्षासमर्थोऽस्मि तैर्गत्वा शिबिरं व्रजेत् ॥२३३॥
शत्रोर्वा व्यसने यायाद् दैवाद्यैः पीडितं परम् ।
भूकम्पो यां दिशं याति याञ्च केतुर्व्यदूषयत् ॥२३४॥
विद्विष्टनाशकं सैन्यं सम्भूतान्तःप्रकोपनम् ।
शरीरस्फुरणे धन्ये तथा सुस्वप्नदर्शने ॥२३५॥
निमित्ते शकुने धन्ये जाते शत्रुपुरं व्रजेत् ।

पदातिनागबहुलां सेनां प्रावृषि योजयेत् ॥२३६॥
हेमन्ते शिशिरे चैव रथवाजिसमाकुलाम् ।
चतुरङ्गबलोपेतां वसन्ते वा शरन्मुखे ॥२३७॥
सेना पदातिबहुला शत्रून जयति सर्वदा ।
अङ्गदक्षिणभागे तु शस्तं प्रस्फुरणं भवेत् ॥२३८॥
न शस्तं तु तथा वामे पृष्ठस्य हृदयस्य च ।
लाञ्छनं पिटकञ्चैव विज्ञेयं स्फुरणं तथा ॥२३९॥
विपर्ययेणाभिहितं सव्ये स्त्रीणां शुभं भवेत् ॥२४०॥
इत्याग्नेये महापुराणे यात्रा नाम सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अथ द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

यात्रामण्डलचिन्तादिः ।

पुष्कर उवाच—

सर्वयात्रां प्रवक्ष्यामि राजधर्मसमाश्रयात् ।
अस्तङ्गते नीचगते विकले रिपुराशिगे ॥२४१॥
प्रतिलोमे च विध्वस्ते शुक्रे यात्रां विसर्जयेत् ।
प्रतिलोमे बुधे यात्रां दिक्पतौ च तथा ग्रहे ॥२४२॥
वैधृतौ च व्यतीपाते नागे च शकुनौ तथा ।
चतुष्पादे च किन्तुघ्ने तथा यात्रां विवर्जयेत् ॥२४३॥
विपत्तारे नैधने च प्रत्यरौ चाथ जन्मनि ।
गण्डे विवर्जयेद् यात्रां रिक्तायाञ्च तिथावपि ॥२४४॥
उदीची च तथा प्राची तयोरैक्यं प्रकीर्तितम् ।
पश्चिमा दक्षिणा या दिक् तयोरैक्यं तथैव च ॥२४५॥
वाय्वग्निदिक्समुद्भूतं परिघन्तु लङ्घयेत् ।
आदित्यचन्द्रशौरास्तु दिवसाश्च न शोभनाः ॥२४६॥
कृत्तिकाद्यानि पूर्वेण मघाद्यानि च याम्यतः ।
मैत्राद्यान्यपरे चाथ वासवाद्यानि चाप्युदक् ॥२४७॥
सर्वद्वाराणि शस्तानि छायामानं वदामि ते ।
आदित्ये विंशतिर्ज्ञेयाश्चन्द्रे षोडश कीर्तिताः ॥२४८॥

भौमे पञ्चदशैवोक्ताश्चतुर्दश तथा बुधे ।
त्रयोदश तथा जीवे शुक्रे द्वादश कीर्तिताः ॥२४९॥
एकादश तथा सौरे सर्वकर्मसु कीर्तिताः ।
जन्मलग्ने शक्रचापे सम्मुखे न व्रजेन्नरः ॥२५०॥
शकुनादौ शुभे यायाज्जयाय हरिमास्मरन् ।
वक्ष्ये मण्डलचिन्तान्ते कर्तव्यं राजलक्षणम् ॥२५१॥
स्वाम्यमात्यं तथा दुर्गं कोषो दण्डस्तथैव च ।
मित्रं जनपदश्चैव राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥२५२॥
सप्ताङ्गस्य तु राज्यस्य विघ्नकर्तॄन् विनाशयेत् ।
मण्डलेषु च सर्वेषु वृद्धिः कार्या महीक्षिता ॥२५३॥
आत्ममण्डलमेवात्र प्रथमं मण्डलं भवेत् ।
सामन्तास्तस्य विज्ञेया रिपवो मण्डलस्य तु ॥२५४॥
उपेतस्तु सुहृज् ज्ञेयः शत्रुमित्रमतः परम् ।
मित्रमित्रं ततो ज्ञेयं मित्रमित्ररिपुस्ततः ॥२५५॥
एतत्पुरस्तात्कथितं पश्चादपि निबोध मे ।
पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चात्ततस्त्वाक्रन्द उच्यते ॥२५६॥
आसारस्तु ततोऽन्यः स्यादाक्रन्दासार उच्यते ।
जिगीषोः शत्रुयुक्तस्य विमुक्तस्य तथा द्विज ! ॥२५७॥
नात्रापि निश्चयः शक्यो वक्तुं मनुजपुङ्गव !
निग्रहानुग्रहे शक्तो मध्यस्थः परिकीर्तितः ॥२५८॥
निग्रहानुग्रहे शक्तः सर्वेषामपि यो भवेत् ।
उदासीनः स कथितो बलवान् पृथिवीपतिः ॥२५९॥
न कस्यचिद् रिपुर्मित्रं कारणाच्छत्रुमित्रके ।
मण्डलं तव सम्प्रोक्तमेतद् द्वादशराजकम् ॥२६०॥
त्रिविधा रिपवो ज्ञेयाः कुल्यानन्तरकृत्त्रिमाः ।
पूर्वपूर्वो गुरुस्तेषां दुश्चिकित्स्यतमो मतः ॥२६१॥
अनन्तरोऽपि यः शत्रुः सोऽपि मे कृत्त्रिमो मतः ।
पार्ष्णिग्राहो भवेच्छत्रोर्मित्राणि रिपवस्तथा ॥२६२॥
पार्ष्णिग्राहमुपायैश्च शमयेच्च तथा स्वकम् ।
मित्रेण शत्रोरुच्छेदं प्रशंसन्ति पुरातनाः ॥२६३॥

मित्रश्च शत्रुतामेति सामन्तत्वादनन्तरम् ।
शत्रुं जिगीषुरुच्छिन्द्यात् स्वयं शक्नोति चेद्यदि ॥२६४॥
प्रतापवृद्धौ तेनापि नामित्राज्जायते भयम् ।
यथास्य नोद्विजेल्लोको विश्वासश्च यथा भवेत् ॥२६५॥
जिगीषुर्धर्मविजयी तथा लोकं वशन्नयेत् ॥२६६॥

इत्याग्नेये महापुराणे यात्रामण्डलचिन्तादिर्नाम द्वात्रिंशदधिक-द्विशततमोऽध्यायः ।

अथ त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

षाड्गुण्यम् ।

पुष्कर उवाच—

सामभेदौ मया प्रोक्तौ दानदण्डौ तथैव च ।
दण्डः स्वदेशे कथितः परदेशे ब्रवीमि ते ॥२६७॥
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च द्विविधो दण्ड उच्यते ।
लुण्ठनं ग्रामघातश्च शस्यघातोऽग्निदीपनम् ॥२६८॥
प्रकाशोऽथ विषं वाह्नर्विविधैः पुरुषैर्वधः ।
दूषणञ्चैव साधूनामुदकानाञ्च दूषणम् ॥२६९॥
दण्डप्रणयनं प्रोक्तमुपेक्षां शृणु भार्गव !
यदा मन्येत नृपतो रणे न मम विग्रहः ॥२७०॥
अनर्थायानुबन्धः स्यात् सन्धिना च तथा भवेत् ।
साम लब्धास्पदञ्चात्र दानञ्चार्थक्षयङ्करम् ॥२७१॥
भेदो दण्डानुबन्धः स्यात्तदोपेक्षां समाश्रयेत् ।
नचायं मम शक्नोति किञ्चित् कर्तुमुपद्रवम् ॥२७२॥
न चाहमस्य शक्नोमि तत्रोपेक्षां समाश्रयेत् ।
अवज्ञोपहतस्तत्र राज्ञा कार्यो रिपुर्भवेत् ॥२७३॥
मायोपायं प्रवक्ष्यामि उत्पातैरनृतैश्चरन् ।
शत्रोरुद्वेजनं शत्रोः शिविरस्थस्य पक्षिणः ॥२७४॥
स्थूलस्य तस्य पुच्छस्थां कृत्वोल्कां विपुलां द्विज!
विसृजेच्च ततश्चैवमुल्कापातं प्रदर्शयेत् ॥२७५॥

एवमन्ये दर्शनीया उत्पाता बहवोऽपि च ।
उद्वेजनं तथा कुर्यात् कुहकैर्विविधैर्द्विषाम् ॥२७६॥
सांवत्सरास्तापसाश्च नाशं ब्रूयुः परस्य च ।
जिगीषुः पृथिवीं राजा तेन चोद्वेजयेत् परान् ॥२७७॥
देवतानां प्रसादश्च कीर्तनीयः परस्य तु ।
आगतं नोऽमित्रबलं प्रहरध्वमभीतवत् ॥२७८॥
एवं ब्रूयाद्रणे प्राप्ते भग्नाः सर्वे परे इति ।
क्ष्वेडाः किलकिलाः कार्या वाच्यः शत्रुर्हतस्तथा ॥२७९॥
देवाज्ञाबृंहितो राजा सन्नद्धः समरं प्रति ।
इन्द्रजालं प्रवक्ष्यामि इन्द्रं कालेन दर्शयेत् ॥२८०॥
चतुरङ्गं बलं राजा सहायार्थं दिवौकसाम् ।
बलन्तु दर्शयेत्प्राप्तं रक्तवृष्टिञ्चरेद्रिपौ ॥२८१॥
छिन्नानि रिपुशीर्षाणि प्रासादाग्रेषु दर्शयेत् ।
षाड्गुण्यं सम्प्रवक्ष्यामि तद्वरौ सन्धिविग्रहौ ॥२८२॥
सन्धिश्च विग्रहश्चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावः संशयश्च षड्गुणाः परिकीर्त्तिताः ॥२८३॥
पणाबन्धः स्मृतः सन्धिरपकारस्तु विग्रहः ।
जिगीषोः शत्रुविषये यानं यात्राऽभिधीयते ॥२८४॥
विग्रहेण स्वके देशे स्थितिरासनमुच्यते ।
बलार्द्धेन प्रयाणन्तु द्वैधीभावः स उच्यते ॥२८५॥
उदासीनो मध्यमो वा संश्रयात्संश्रयः स्मृतः ।
समेन सन्धिरन्वेष्योऽहीनेन च बलीयसा ॥२८६॥
हीनेन विग्रहः कार्यः स्वयं राज्ञा बलीयसा ।
तत्रापि शुद्धपार्ष्णिस्तु बलीयांसं समाश्रयेत् ॥२८७॥
आसीनः कर्मविच्छेदं शक्तः कर्तुं रिपोर्यदा ।
अशुद्धपार्ष्णिश्चासीत विगृह्य वसुधाधिपः ॥२८८॥
अशुद्धपार्ष्णिर्बलवान् द्वैधीभावं समाश्रयेत् ।
बलिना विगृहीतस्तु योऽसन्देहेन पार्थिवः ॥२८९॥
संश्रयस्तेन वक्तव्यो गुणानामधमो गुणः ।
बहुक्षयव्ययायासं तेषां यानं प्रकीर्तितम् ॥२९०॥

बहुलाभकरं पश्चात्तदा राजा समाश्रयेत् ।
सर्वशक्तिविहीनस्तु तदा कुर्यात्तु संश्रयम् ॥२६१॥
इत्याग्नेये महापुराणे उपायषड्गुणादिर्नाम त्रयस्त्रिंशदधिक-
द्विशततमोऽध्यायः ।

अथ चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

दैनिकं राजकर्म ।

पुष्कर उवाच—

अजस्रं कर्म वक्ष्यामि दिनं प्रति यदाचरेत् ।
द्विमुहूर्त्तावशेषायां रात्रौ निद्रान्त्यजेन्नृपः ॥२६२॥
वाद्यवन्दिस्वनैर्गीतैः पश्येद् गूढांस्ततो नरान् ।
विज्ञायते न ये लोकास्तदीया इति केनचित् ॥२६३॥
आयव्ययस्य श्रवणं ततः कार्यं यथाविधि ।
वेगोत्सर्गं ततः कृत्वा राजा स्नानगृहं व्रजेत् ॥२६४॥
स्नानं कुर्यान्नृपः पश्चाद्दन्तधावनपूर्वकम् ।
कृत्वा सन्ध्यान्ततो जप्यं वासुदेवं प्रपूजयेत् ॥२६५॥
वह्नौ पवित्रान् जुहुयात्तर्पयेदुदकैः पितॄन् ।
दद्यात्सकाञ्चनीं धेनुं द्विजाशीर्वादसंयुतः ॥२६६॥
अनुलिप्तोऽलङ्कृतश्च मुखं पश्येच्च दर्पणे ।
ससुवर्णे घृते राजा शृणुयाद्दिवसादिकम् ॥२६७॥
औषधं भिषजोक्तं च मङ्गलालम्भनञ्चरेत् ।
पश्येद् गुरुं तेन दत्ताशीर्वादोऽथ व्रजेत्सभाम ॥२६८॥
तत्रस्थो ब्राह्मणान पश्येदमात्यान्मन्त्रिणस्तथा ।
प्रकृतीश्च महाभाग ! प्रतीहारनिवेदिताः ॥२६९॥
श्रुत्वेतिहासं कार्याणि कार्याणां कार्यनिर्णयम् ।
व्यवहारन्ततः पश्येन्मन्त्रं कुर्यात्तु मन्त्रिभिः ॥३००॥
नैकेन सहितः कुर्यान्न कुर्याद् बहुभिः सह ।
नच मूर्खैर्नचानाप्तैर्गुप्तं न प्रकटं चरेत् ॥३०१॥
मन्त्रं स्वधिष्ठितं कुर्याद्येन राष्ट्रं न बाधते ॥

आकारग्रहणे राज्ञो मन्त्ररक्षा परा मता ॥३०२॥
आकारैरिङ्गितैः प्राज्ञा मन्त्रं गृह्णन्ति पण्डिताः ।
सांवत्सराणां वैद्यानां मन्त्रिणां वचने रतः ॥३०३॥
राजा विभूतिमाप्नोति धारयन्ति नृपं हि ते ।
मन्त्रं कृत्वाथ व्यायामञ्चक्रे याने च शस्त्रके ॥३०४॥
निःसत्वादौ नृपः स्नातः पश्येद्विष्णुं सुपूजितम् ।
हुतञ्च पावकं पश्येद्विप्रान्पश्येत् सुपूजितान् ॥३०५॥
भूषितो भोजनं कुर्याद् दानाद्यैः सुपरीक्षितम् ।
भुक्त्वा गृहीतताम्बूलो वामपार्श्वेन संस्थितः ॥३०६॥
शास्त्राणि चिन्तयेद् दृष्ट्वा योधान् कोष्ठायुधं गृहम् ।
अन्वास्य पश्चिमां सन्ध्यां कार्याणि च विचिन्त्य तु॥३०७॥
चरान् सम्प्रेष्य भुक्तान्नमन्तःपुरचरो भवेत् ।
वाद्यगीतै रक्षितोऽन्यैरेवं नित्यञ्चरेन्नृपः ॥३०८॥

इत्याग्नेये महापुराणे आजस्रिकं नाम चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

रणदीक्षा ।

पुष्कर उवाच—

यात्राविधानपूर्वन्तु वक्ष्ये साङ्ग्रामिकं विधिम् ।
सप्ताहेन यदा यात्रा भविष्यति महीपतेः ॥३०९॥
पूजनीयो हरिः शम्भुर्मोदकाद्यैर्विनायकः ।
द्वितीयेऽहनि दिक्पालान् सम्पूज्य शयनञ्चरेत् ॥३१०॥
शय्यायां वा तदग्रेऽथ देवान् प्रार्च्य मनुं स्मरेत् ।
नमः शम्भो ! त्रिनेत्राय रुद्राय वरदाय च ॥३११॥
वामनाय विरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ।
भगवन्देवदेवेश ! शूलभृद्वृषवाहन ! ॥३१२॥
इष्टानिष्टे ममाचक्ष्व स्वप्ने सुप्तस्य शाश्वत !
यज्जाग्रतो दूरमिति पुरोधा मन्त्रमुच्चरेत् ॥३१३॥
तृतीयेऽहनि दिक्पालान् रुद्रांस्तान् दिक्पतीन् यजेत् ।

ग्रहान् यजेच्चतुर्थेऽह्नि पञ्चमे चाश्विनौ यजेत् ॥३१४॥
मार्गे या देवतास्तासां नद्यादीनाञ्च पूजनम् ।
दिव्यान्तरीक्षभौमस्थदेवानाञ्च तथा बलिः ॥३१५॥
रात्रौ भूतगणानां च वासुदेवादिपूजनम् ।
भद्रकाल्याः श्रियः कुर्यात् प्रार्थयेत् सर्वदेवताः ॥३१६॥
वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः ।
नारायणोऽब्जजो विष्णुर्नारसिंहो वराहकः ॥३१७॥
शिव ईशस्तत्पुरुषो ह्यघोरो राम ! सत्यजः ।
सूर्यः सोमः कुजश्चान्द्रिजीवशुक्रशनैश्चराः ॥३१८।
राहुः केतुर्गणपतिः सेनानी चण्डिका ह्युमा ।
लक्ष्मीः सरस्वती दुर्गा ब्रह्माणीप्रमुखा गणाः ॥३१९॥
रुद्रा इन्द्रादयो वह्निर्नागास्ताक्ष्योऽपरे सुराः ।
दिव्यान्तरीक्षभूमिष्ठा विजयाय भवन्तु मे ॥३२०॥
मर्दयन्तु रणे शत्रून् सम्प्रगृह्योपहारकम् ।
सपुत्रमातृभृत्योऽहं देवाः ! वः शरणङ्गतः ॥३२१॥
चमूनां पृष्ठतो गत्वा रिपुनाशाः ! नमोऽस्तु वः ।
विनिवृत्तः प्रदास्यामि दत्तादभ्यधिकं बलिम् ॥३२२॥
षष्ठेऽह्नि विजयस्नानं कर्तव्यं चाभिषेकवत् ।
यात्रादिने सप्तमे च पूजयेच्च त्रिविक्रमम् ॥३२३॥
नीराजनोक्तमन्त्रैश्च आयुधं वाहनं यजेत् ।
पुण्याहजयशब्देन मन्त्रमेतन्निशामयेत् ॥३२४॥
दिव्यान्तरीक्षभूमिष्ठाः सन्त्वायुर्दाः सुराश्च ते ।
देवसिद्धिं प्राप्नुहि त्वं देवयात्रास्तु सा तव ॥३२५॥
रक्षन्तु देवताः सर्वा इति श्रुत्वा नृपो व्रजेत् ।
गृहीत्वा सशरञ्चापं धनुर्नागेति मन्त्रतः ॥३२६॥
तद्विष्णोरिति जप्त्वाथ दद्याद् रिपुमुखे पदम् ।
दक्षिणं पदं द्वात्रिंशद् दिक्षु प्राच्यादिषु क्रमात् ॥३२७॥
नागं रथं हयञ्चैव धुर्यांश्चैवारुहेत् क्रमात् ।
आरुह्य वाद्यैर्गच्छेत पृष्ठतो नावलोकयेत् ॥३२८॥

क्रोशमात्रं गतस्तिष्ठेत् पूजयेद्देवताद्विजान ।
परदेशं व्रजेत् पश्चादात्मसैन्यं हि पालयन ॥३२६॥
राजा प्राप्य विदेशन्तु देशपालन्तु पालयेत् ।
देवानां पूजनं कुर्यान्न छिन्द्यादायमत्र तु ॥३३०॥
नावमानयेत्तद्देश्यानागत्य स्वपुरं पुनः ।
जयं प्राप्यार्चयेद्देवान् दद्याद्दानानि पार्थिवः ॥३३१॥
द्वितीयेऽहनि सङ्ग्रामो भविष्यति यदा तदा ।
स्नापयेद् गजमश्वादि यजेद्देवं नृसिंहकम् ॥३३२॥
छत्रादिराजलिङ्गानि शस्त्राणि निशि वै गणान् ।
प्रातर्नृसिंहकं पूज्य वाहनाद्यमशेषतः ॥३३३॥
पुरोधसा हुतं पश्येद्वह्निं हुत्वा द्विजान्यजेत ।
गृहीत्वा सशरश्चापं गजाद्यारुह्य वै व्रजेत् ॥३३४॥
देशे त्वदृश्यः शत्रूणां कुर्यात्प्रकृतिकल्पनाम् ।
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ॥३३५॥
सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह ।
व्यूहाः प्राण्यङ्गरूपाश्च द्रव्यरूपाश्च कीर्तिताः ॥३३६॥
गरुडो मकरव्यूहश्चक्रः श्येनस्तथैव च ।
अर्द्धचन्द्रश्च वज्रश्च शकटव्यूह एव च ॥३३७॥
मण्डलः सर्वतोभद्रः सूचीव्यूहश्च ते नराः ।
व्यूहानामथ सर्वेषां पञ्चधा सैन्यकल्पना ॥३३८॥
द्वौ पक्षावनुपक्षौ द्वाववश्यं पञ्चमं भवेत् ।
एकेन यदि वा द्वाभ्यां भागाभ्यां युद्धमाचरेत ॥३३९॥
भागत्रयं स्थापयेत्तु तेषां रक्षार्थमेव च ।
न व्यूहकल्पना कार्या राज्ञो भवति कर्हिचित ॥३४०॥
मूलच्छेदे विनाशः स्यान्न युध्येत स्वयं नृपः ।
सैन्यस्य पश्चात्तिष्ठेत्तु क्रोशमात्रे महीपतिः ॥३४१॥
भग्नसन्धारणं तत्र योधानां परिकीर्तितम् ।
प्रधानभङ्गे सैन्यस्य नावस्थानं विधीयते ॥३४२॥
न संहतान्न विरलान्योधान् व्यूहे प्रकल्पयेत ।
आयुधानान्तु सम्मर्दो यथा न स्यात्परस्परम् ॥३४३॥

भेत्तुकाम: परानीकं संहतैरेव भेदयेत् ।
भेदरक्ष्या: परेणापि कर्तव्या: संहतास्तथा ॥३४४॥
व्यूहं भेदावहं कुर्यात परव्यूहेषु चेच्छया ।
गजस्य पादरक्षार्थाश्चत्वारस्तु तथा द्विज ! ॥३४५॥
रथस्य चाश्वाश्चत्वार: समास्तस्य च चर्मिण: ।
धन्विनश्चर्मिभिस्तुल्या: पुरस्ताच्चर्मिणो रणे ॥३४६॥
पृष्ठतो धन्विन: पश्चाद्धन्विनान्तुरगा रथा: ।
रथानां कुञ्जरा: पश्चाद्दातव्या: पृथिवीक्षिता ॥३४७॥
पदातिकुञ्जराश्वानां धर्मकार्यं प्रयत्नत: ।
शूरा: प्रमुखतो देया: स्कन्धमात्रप्रदर्शनम् ॥३४८॥
कर्तव्यं भीरुसङ्घेन शत्रुविद्रावकारकम् ।
दारयन्ति पुरस्तात्तु न देया भीरव: पुर: ॥३४९॥
प्रोत्साहयन्त्येव रणे भीरून् शूरा: पुरस्थिता: ।
प्रांशव: शुकनासाश्च ये चाजिह्मेक्षणा नरा: ॥३५०॥
संहतभ्रूयुगाश्चैव क्रोधना: कलहप्रिया: ।
नित्यहृष्टा: प्रहृष्टाश्च शूरा ज्ञेयाश्च कामिन: ॥३५१॥
संहतानां हतानाञ्च रणापनयनक्रिया ।
प्रतियुद्धं गजानाञ्च तोयदानादिकञ्च यत् ॥३५२॥
आयुधानयनं चैव पत्तिकर्म विधीयते ।
रिपूणां भेत्तुकामानां स्वसैन्यस्य तु रक्षणम् ॥३५३॥
भेदनं संहतानाञ्च चर्मिणां कर्म कीर्तितम् ।
विमुखीकरणं युद्धे धन्विनां च तथोच्यते ॥३५४॥
दूरापसरणं यानं सुहतस्य तथोच्यते ।
त्रासनं रिपुसैन्यानां रथकर्म तथोच्यते ॥३५५॥
भेदनं संहतानाञ्च भेदानामपि संहति: ।
प्राकारतोरणाट्टालद्रुमभङ्गश्च सद्गजे ॥३५६॥
पत्तिभूर्विषमा ज्ञेया रथाश्वस्य तथा समा ।
सकर्दमा च नागानां युद्धभूमिरुदाहृता ॥३५७॥
एवं विरचितव्यूह: कृतपृष्ठदिवाकर: ।
तथानुलोमशुक्रार्किदिकपालमृदुमारुता: ॥३५८॥

योधानुत्तेजयेत्सर्वान्नामगोत्रावदानतः ।
भोगप्राप्त्या च विजये स्वर्गप्राप्त्या मृतस्य च ॥३५९॥
जित्वारीन् भोगसम्प्राप्तिर्मृतस्य च परा गतिः ।
निष्कृतिः स्वामिपिण्डस्य नास्ति युद्धसमा गतिः ॥३६०॥
शूराणां रक्तमायाति तेन पापं त्यजन्ति ते ।
घातादिदुःखसहनं रणे तत्परमं तपः ॥३६१॥
वराप्सरःसहस्राणि यान्ति शूरं रणे मृतम् ।
स्वामी सुकृतमादत्ते भग्नानां विनिवर्त्तिनाम् ॥३६२॥
ब्रह्महत्याफलं तेषां तथा प्रोक्तं पदे पदे ।
त्यक्त्वा सहायान् यो गच्छेद्देवास्तस्य विनष्टये ॥३६३॥
अश्वमेधफलं प्रोक्तं शूराणामनिवर्तिनाम् ।
धर्मनिष्ठे जयो राज्ञि योद्धव्याश्च समाः समैः ॥३६४॥
गजाद्यैश्च गजाद्याश्च न हन्तव्याः पलायिनः ।
न प्रेक्षकाः प्रविष्टाश्च अशस्त्राः पतितादयः ॥४६५॥
शान्ते निद्राभिभूते च अर्द्धोत्तीर्णे नदीवने ।
दुर्दिने कूटयुद्धानि शत्रुनाशार्थमाचरेत् ॥३६६॥
बाहू प्रगृह्य विक्रोशेद्भग्ना भग्नाः परे इति ।
प्राप्तं मित्रं बलं भूरि नायकोऽत्र निपातितः ॥३६७॥
सेनानीर्निहतश्चायं भूपतिश्चापि विप्लुतः ।
विद्रुतानान्तु योधानां सुखं घातो विधीयते ॥३६८॥
धूपाश्च देया धर्मज्ञ ! तथा च परमोहनाः ।
पताकाश्चैव सम्भारो वादित्राणां भयावहः ॥३६९॥
सम्प्राप्य विजयं युद्धे देवान्विप्रांश्च संयजेत् ।
रत्नानि राजगामीनि अमात्येन कृते रणे ॥३७०॥
तस्य स्त्रियो न कस्यापि रक्ष्यास्ताश्च परस्य च ।
शत्रुं प्राप्य रणे मुक्तं पुत्रवत्परिपालयेत् ॥३७१॥
पुनस्तेन न योद्धव्यं देशाचारादि पालयेत् ।
ततश्च स्वपुरं प्राप्य ध्रुवे भे प्रविशेद् गृहम् ॥३७२॥
देवादिपूजनं कुर्याद्रक्षेद्योधकुटुम्बकम् ।

संविभागं परावाप्तैः कुर्याद् भृत्यजनस्य च ॥३७३॥
रणदीक्षा मयोक्ता ते जयाय नृपतेर्ध्रुवा ॥३७४॥
इत्याग्नेये महापुराणे रणदीक्षा नाम पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

रामोक्तनीतिः ।

अग्निरुवाच —

नीतिस्ते पुष्करोक्ता तु रामोक्ता लक्ष्मणाय या ।
जयाय तां प्रवक्ष्यामि शृणु धर्मादिवर्द्धनीम् ॥३७५॥

राम उवाच —

न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्द्धनं रक्षणं चरेत् ।
सत्पात्रप्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम् ॥३७६॥
नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्चयात् ।
विनयो हीन्द्रियजयस्तैर्युक्तः पालयेन्महीम् ॥३७७॥
शास्त्रं प्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्यं प्रागल्भ्यं धारयिष्णुता ।
उत्साहो वाग्मितौदार्यमापत्कालसहिष्णुता ॥३७८॥
प्रभावः शुचिता मैत्री त्यागः सत्यं कृतज्ञता ।
कुलं शीलं दमश्चेति गुणाः सम्पत्तिहेतवः ॥३७९॥
प्रकीर्णविषयारण्ये धावन्तं विप्रमाथिनम् ।
ज्ञानाङ्कुशेन कुर्वीत वश्यमिन्द्रियदन्तिनम् ॥३८०॥
कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥३८१॥
आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्त्तां दण्डनीतिं च पार्थिवः ।
तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेद् विनयान्वितः ॥३८२॥
आन्वीक्षिक्यार्थविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ ।
अर्थानर्थौ तु वार्त्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥३८३॥
अहिंसा सूनृता वाणी सत्यं शौचं दया क्षमा ।
वर्णिनां लिङ्गिनां चैव सामान्यो धर्म उच्यते ॥३८४॥
प्रजाः समनुगृह्णीयात् कुर्यादाचारसंस्थितिम् ।

वाक् सूनृता दया दानं दीनोपगतरक्षणम् ॥३८५॥
इति वृत्तं सतां साधुहितं सत्पुरुषव्रतम् ।
आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने ॥३८६॥
को हि राजा शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ।
न हि स्वसुखमन्विच्छन् पीडयेत्कृपणं जनम् ॥३८७॥
कृपणः पीड्यमानो हि मन्युना हन्ति पार्थिवम् ।
क्रियतेऽभ्यर्हणीयाय स्वजनाय यथाञ्जलिः ॥३८८॥
ततः साधुतरः कार्यो दुर्जनाय शिवार्थिना ।
प्रियमेवाभिधातव्यं सत्सु नित्यं द्विषत्सु च ॥३८९॥
देवास्ते प्रियवक्तारः पशवः क्रूरवादिनः ।
शुचिरास्तिक्यपूतात्मा पूजयेद्देवताः सदा ॥३९०॥
देवतावद् गुरुजनमात्मवच्च सुहृज्जनम् ।
प्रणिपातेन हि गुरुं सतोऽमृषानुचेष्टितैः ॥३९१॥
कुर्वीताभिमुखान् भृत्यैर्देवान् सुकृतकर्मणा ।
सद्भावेन हरेन्मित्रं सम्भ्रमेण च बान्धवान् ॥३९२॥
स्त्रीभृत्यान् प्रेमदानाभ्यां दाक्षिण्येनेतरं जनम् ।
अनिन्दा परकृत्येषु स्वधर्मपरिपालनम् ॥३९३॥
कृपणेषु दयालुत्वं सर्वत्र मधुरा गिरः ।
प्राणैरप्युपकारित्वं मित्रायाव्यभिचारिणे ॥३९४॥
गृहागते परिष्वङ्गः शक्त्या दानं सहिष्णुता ।
स्वसमृद्धिष्वनुत्सेकः परवृद्धिष्वमत्सरः ॥३९५॥
अपरोपतापि वचनं मौनव्रतचरिष्णुता ।
बन्धुभिर्बद्धसंयोगः स्वजने चतुरस्रता ।
उचितानुविधायित्वमिति वृत्तं महात्मनाम् ॥३९६॥

इत्याग्नेये महापुराणे रामोक्तनीतिर्नाम सप्तत्रिंशदधिक-
द्विशततमोऽध्यायः ॥

अथाष्टत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

राजधर्माः ।

राम उवाच—

स्वाम्यमात्यं च राष्ट्रं च दुर्गं कोषो बलं सुहृत् ।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥३९७॥
राज्याङ्गानां वरं राष्ट्रं साधनं पालयेत् सदा ।
कुलं शीलं वयः सत्त्वं दाक्षिण्यं क्षिप्रकारिता ॥३९८॥
अविसंवादिता सत्यं वृद्धसेवा कृतज्ञता ।
दैवसम्पन्नता बुद्धिरक्षुद्रपरिवारता ॥३९९॥
शक्यसामन्तता चैव तथा च दृढभक्तिता ।
दीर्घदर्शित्वमुत्साहः शुचिता स्थूललक्षिता ॥४००॥
विनीतत्वं धार्मिकता साधोश्च नृपतेर्गुणाः ।
प्रख्यातवंशमक्रूरं लोकसङ्ग्राहिणं शुचिम् ॥४०१॥
कुर्वीतात्महिताकाङ्क्षी परिचारं महीपतिः ।
वाग्मी प्रगल्भः स्मृतिमानुदग्रो बलवान् वशी ॥४०२॥
नेता दण्डस्य निपुणः कृतशिल्पपरिग्रहः ।
पराभियोगप्रसहः सर्वदुष्टप्रतिक्रियः ॥४०३॥
परवृत्तान्ववेक्षी च सन्धिविग्रहतत्त्ववित् ।
गूढमन्त्रप्रचारज्ञो देशकालविभागवित् ॥४०४॥
आदाता सम्यगर्थानां विनियोक्ता च पात्रवित् ।
क्रोधलोभभयद्रोहदम्भचापलवर्जितः ॥४०५॥
परोपतापपैशुन्यमात्सर्येर्ष्यानृतातिगः ।
वृद्धोपदेशसम्पन्नः शक्तो मधुरदर्शनः ॥४०६॥
गुणानुरागस्थितिमानात्मसम्पद्गुणाः स्मृताः ।
कुलीनाः शुचयः शूराः श्रुतवन्तोऽनुरागिणः ॥४०७॥
दण्डनीतेः प्रयोक्तारः सचिवाः स्युर्महीपतेः ।
सुविग्रहो जानपदः कुलशीलकलान्वितः ॥४०८॥
वाग्मी प्रगल्भश्चक्षुष्मानुत्साही प्रतिपत्तिमान ।
दम्भचापलहीनश्च मैत्रः क्लेशसहः शुचिः ॥४०९॥

सत्यसत्त्वधृतिस्थैर्यप्रभावारोग्यसंयुतः ।
कृतशिल्पश्च दक्षश्च प्रज्ञावान् धारणान्वितः ॥४१०॥
दृढभक्तिरकर्त्ता च वैराणां सचिवो भवेत् ।
स्मृतिस्तत्परतार्थेषु चित्तज्ञो ज्ञाननिश्चयः ॥४११॥
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिसम्पत् प्रकीर्त्तिता ।
त्रय्यां च दण्डनीत्याञ्च कुशलः स्यात्पुरोहितः ॥४१२॥
अथर्ववेदविहितं कुर्याच्छान्तिकपौष्टिकम् ।
साधुतैषाममात्यानां तद्विद्यैः सह बुद्धिमान् ॥४१३॥
चक्षुष्मत्तां च शिल्पञ्च परीक्षेत गुणाद्वयम् ।
स्वजनेभ्यो विजानीयात् कुलं स्थानमवग्रहम् ॥४१४॥
परिकर्मसु दक्षञ्च विज्ञानं धारयिष्णुताम् ।
गुणत्रयं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रीतितां तथा ॥४१५॥
कथायोगेषु बुध्येत वाग्मित्वं सत्यवादिताम् ।
उत्साहं च प्रभावं च तथा क्लेशसहिष्णुताम् ॥४१६॥
धृतिं चैवानुरागं च स्थैर्यञ्चापदि लक्षयेत् ।
भक्तिं मैत्रीं च शौचं च जानीयाद् व्यवहारतः ॥४१७॥
संवासिभ्यो बलं सत्त्वमारोग्यं शीलमेव च ।
अस्तब्धतामचापल्यं वैराणां चाप्यकीर्तनम् ॥४१८॥
प्रत्यक्षतो विजानीयाद् भद्रतां क्षुद्रतामपि ।
फलानुमेयाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः ॥४१९॥
सस्याकरवती पुण्या खनिद्रव्यसमन्विता ।
गोहिता भूरिसलिला पुण्यैर्जनपदैर्युता ॥४२०॥
रम्या सकुञ्जरबला वारिस्थलपथान्विता ।
अदेवमातृका चेति शस्यते भूरिभूतये ॥४२१॥
शूद्रकारुवणिक्प्रायो महारम्भः कृषीबलः ।
सानुरागो रिपुद्वेषी पीडासहकरः पृथुः ॥४२२॥
नानादेश्यैः समाकीर्णो धार्मिकः पशुमान् बली ।
ईदृक् जनपदः शस्तोऽमूर्खव्यसनिनायकः ॥४२३॥
पृथुसीमं महाखातमुच्चप्राकारतोरणम् ।
पुरं समावसेच्छैलसरिन्मरुवनाश्रयम् ॥४२४॥

जलवद्धान्यधनवद् दुर्गं कालसहं महत् ।
औदकं पार्वतं वार्क्षमैरिणं धन्विनं च षट् ॥४२५॥
ईप्सितद्रव्यसम्पूर्णः पितृपैतामहोचितः ।
धर्मार्जितो व्ययसहः कोषो धर्मादिवृद्धये ॥४२६॥
पितृपैतामहो वश्यः संहतो दत्तवेतनः ।
विख्यातपौरुषो जन्यः कुशलः शकुनैर्वृतः ॥४२७॥
नानाप्रहरणोपेतो नानायुद्धविशारदः ।
नानायोधसमाकीर्णो नीराजितहयद्विपः ॥४२८॥
प्रवासायासदुःखेषु युद्धेषु च कृतश्रमः ।
अद्वैधक्षत्रियप्रायो दण्डो दण्डवतां मतः ॥४२९॥
योगविज्ञानसत्त्वाढ्यं महापक्षं प्रियम्वदम् ।
आयतिक्षममद्वैधं मित्रं कुर्वीत सत्क्रियम् ॥४३०॥
दूरादेवाभिगमनं स्पष्टार्थहृदयानुगा ।
वाक् सत्कृत्य प्रदानञ्च त्रिविधो मित्रसंग्रहः ॥४३१॥
धर्मकामार्थसंयोगो मित्रात्तु त्रिविधं फलम् ।
औरसं तत्र सम्बद्धं तथा वंशक्रमागतम् ॥४३२॥
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ।
मित्रे गुणाः सत्यताद्याः समानसुखदुःखता ॥४३३॥
वक्ष्येऽनुजीविनां वृत्तं सेवी सेवेत भूपतिम् ।
दक्षता भद्रता दार्ढ्यं क्षान्तिः क्लेशसहिष्णुता ॥४३४॥
सन्तोषः शीलमुत्साहो मण्डयत्यनुजीविनम् ।
यथाकालमुपासीत राजानं सेवको नयात् ॥४३५॥
परस्थानगमं क्रौर्यमौद्धत्यं मत्सरं त्यजेत् ।
विगृह्य कथनं भृत्यो न कुर्याज्ज्यायसा सह ॥४३६॥
गुह्यं मर्म च मन्त्रञ्च नच भर्तुः प्रकाशयेत् ।
रक्ताद् वृत्तिं समीहेत विरक्तं सन्त्यजेन्नृपम् ॥४३७॥
अकार्ये प्रतिषेधश्च कार्ये चापि प्रवर्त्तनम् ।
सङ्क्षेपादिति सद्वृत्तं बन्धुमित्रानुजीविनाम् ॥४३८॥
आजीव्यः सर्वसत्त्वानां राजा पर्जन्यवद्भवेत् ।
आयद्वारेषु चाप्यर्थं करमेवाददीत च ॥४३९॥

कुर्यादुद्योगसम्पन्नानध्यक्षान् सर्वकर्मसु ।
कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् ॥४४०॥
खन्याकरबलादानं शून्यानां च निवेशनम् ।
अष्टवर्गमिमं राजा साधुवृत्तोऽनुपालयेत् ॥४४१॥
आयुक्तिकेभ्यश्चौरेभ्यः पौरेभ्यो राजवल्लभात् ।
पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ॥४४२॥
अवेक्ष्यैतद्भयं काल आददीत करं नृपः ।
आभ्यन्तरं शरीरं स्वं बाह्यं राष्ट्रञ्च रक्षयेत् ॥४४३॥
दण्ड्यांस्तु दण्डयेद्राजा स्वं रक्षेच्च विषादितः ।
स्त्रियः पुत्रांश्च शत्रुभ्यो विश्वसेन्न कदाचन ॥४४४॥
इत्याग्नेये महापुराणे राजधर्मो नामाष्टत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

अथोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ।

षाड्गुण्यम् ।

राम उवाच—

मण्डलं चिन्तयेन्मुख्यं राजा द्वादशराजकम् ।
अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम् ॥४४५॥
तथारिमित्रमित्रञ्च विजिगीषोः पुरः स्मृताः ।
पार्ष्णिग्राहः स्मृतः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् ॥४४६॥
आसारावनयोश्चैवं विजिगीषोश्च मण्डलम् ।
अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः ॥४४७॥
अनुग्रहे संहतयोर्निग्रहे व्यस्तयोः प्रभुः ।
मण्डलाद् बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः ॥४४८॥
अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः ।
सन्धिञ्च विग्रहं यानमासनादि वदामि ते ॥४४९॥
बलवद्विगृहीतेन सन्धिं कुर्याच्छिवाय च ।
कपाल उपहारश्च सन्तानः सङ्गतस्तथा ॥४५०॥
उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः ।
अदृष्टनर आदिष्ट आत्मापि स उपग्रहः ॥४५१॥

परिक्रमस्तथा छिन्नस्तथा च परदूषणम् ।
स्कन्धोपनेयः सन्धिश्च सन्धयः षोडशेरिताः ॥४५२॥
परस्परोपकारश्च मैत्रः सम्बन्धकस्तथा ।
उपहारश्च चत्वारस्तेषु मुख्याश्च सन्धयः ॥४५३॥
बालो वृद्धो दीर्घरोगस्तथा बन्धुबहिष्कृतः ।
भीरुको भीरुकजनो लुब्धो लुब्धजनस्तथा ॥४५४॥
विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिशक्तिमान् ।
अनेकचित्तमन्त्रश्च देवब्राह्मणनिन्दकः ॥४५५॥
दैवोपहतकश्चैव दैवनिन्दक एव च ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसनसंकुलः ॥४५६॥
स्वदेशस्थो बहुरिपुर्मुक्तः कालेन यश्च ह ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च विंशतिः पुरुषा अमी ॥४५७॥
एतैः सन्धिं न कुर्वीत विगृह्णीयात्तु केवलम् ।
परस्परापकारेण पुंसां भवति विग्रहः ॥४५८॥
आत्मनोऽभ्युदयाकांक्षी पीड्यमानः परेण वा ।
देशकालबलोपेतः प्रारभेतेह विग्रहम् ॥४५९॥
राज्यस्त्रीस्थानदेशानां ज्ञानस्य च बलस्य च ।
अपहारो मदो मानः पीडा वैषयिकी तथा ॥४६०॥
ज्ञानात्मशक्तिधर्माणां विघातो दैवमेव च ।
मित्रार्थश्चापमानश्च तथा बन्धुविनाशनम् ॥४६१॥
भूतानुग्रहविच्छेदस्तथा मण्डलदूषणम् ।
एकार्थाभिनिवेशित्वमिति विग्रहयोनयः ॥४६२॥
सापत्न्यं वास्तुजं स्त्रीजं वाग्जातमपराधजम् ।
वैरं पञ्चविधं प्रोक्तं साधनैः प्रशमं नयेत् ॥४६३॥
किञ्चित्फलं निष्फलं वा सन्दिग्धफलमेव च ।
तदात्वे दोषजननमायत्याञ्चैव निष्फलम् ॥४६४॥
आयत्याञ्च तदात्वे च दोषसञ्जननं तथा ।
अपरिज्ञातवीर्येण परेण स्तोभितोऽपि वा ॥४६५॥
परार्थं स्त्रीनिमित्तञ्च दीर्घकालं द्विजैः सह ।
अकालदैवयुक्तेन बलोद्धतसखेन च ॥४६६॥

तदात्वे फलसंयुक्तमायत्यां फलवर्जितम् ।
आयत्यां फलसंयुक्तं तदात्वे निष्फलं तथा ॥४६७॥
इतीमं षोडशविधन्न कुर्यादेव विग्रहम् ।
तदात्वायतिसंशुद्धं कर्म राजा सदाचरेत् ॥४६८॥
हृष्टं पुष्टं बलं मत्वा गृह्णीयाद्विपरीतकम् ।
मित्रमाक्रन्द आसारो यदा स्युर्दृढभक्तयः ॥४६९॥
परस्य विपरीतश्च तदा विग्रहमाचरेत् ।
विगृह्य सन्धाय तथा सम्भूयाथ प्रसङ्गतः ॥४७०॥
उपेक्षया च निपुणैर्यानं पञ्चविधं स्मृतम् ।
परस्परस्य सामर्थ्यविघातादासनं स्मृतम् ॥४७१॥
अरेश्च विजिगीषोश्च यानवत् पञ्चधा स्मृतम् ।
बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयन् ॥४७२॥
द्वैधीभावेन तिष्ठेत काकाक्षिवदलक्षितः ।
उभयोरपि सम्पाते सेवेत बलवत्तरम् ॥४७३॥
यदा द्वावपि नेच्छेतां संश्लेषं जातसंविदौ ।
तदोपसर्पेत्तच्छत्रुमधिकं वा स्वयं व्रजेत् ॥४७४॥
उच्छिद्यमानो बलिना निरुपायप्रतिक्रियः ।
कुलोद्भवं सत्यमार्यमासेवेत बलोत्कटम् ॥४७५॥
तद्दर्शनोपास्तिकता नित्यन्तद्भावभाविता ।
तत्कारितप्रश्रयिता वृत्तं संश्रयिणः श्रुतम् ॥४७६॥
इत्याग्नेये महापुराणे षाड्गुण्यं नामैकोनचत्वारिंशदधिक-
द्विशततमोऽध्यायः ॥

अथ चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।

सामादिः ।

राम उवाच—

प्रभावोत्साहशक्तिभ्यां मन्त्रशक्तिः प्रशस्यते ।
प्रभावोत्साहवान् काव्यो जितो देवपुरोधसा ॥४७७॥
मन्त्रयेतेह कार्याणि नानाप्तैर्नाविपश्चिता ।

अशक्यारम्भवृत्तीनां कुतः क्लेशादृते फलम् ॥४७८॥
अविज्ञातस्य विज्ञानं विज्ञातस्य च निश्चयः ।
अर्थद्वैधस्य सन्देहच्छेदनं शेषदर्शनम् ॥४७९॥
सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः ।
विपत्तेश्च प्रतीकारः पञ्चाङ्गो मन्त्र इष्यते ॥४८०॥
मनःप्रसादः श्रद्धा च तथा करणपाटवम् ।
सहायोत्थानसम्पच्च कर्मणां सिद्धिलक्षणम् ॥४८१॥
मनःप्रमादः कामश्च सुप्तप्रलपितानि च ।
भिन्दन्ति मन्त्रं प्रच्छन्नाः कामिन्यो रमतां तथा ॥४८२॥
प्रगल्भः स्मृतिमान्वाग्मी शस्त्रे शास्त्रे च निष्ठितः ।
अभ्यस्तकर्मा नृपतेर्दूतो भवितुमर्हति ॥४८३॥
निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा शासनहारकः ।
सामर्थ्यात् पादतो हीनो दूतस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥४८४॥
नाविज्ञातं पुरं शत्रोः प्रविशेच्च न संसदम् ।
कालमीक्षेत कार्यार्थमनुज्ञातश्च निष्पतेत् ॥४८५॥
छिद्रं च शत्रोर्जानीयात् कोषमित्रबलानि च ।
रागापरागौ जानीयाद् दृष्टिगात्रविचेष्टितैः ॥४८६॥
कुर्याच्चतुर्विधं स्तोत्रं पक्षयोरुभयोरपि ।
तपस्विव्यञ्जनोपेतैः सुचरैः सह संवसेत् ॥४८७॥
चरः प्रकाशो दूतः स्यादप्रकाशश्चरो द्विधा ।
वणिक् कृषीवलो लिङ्गी भिक्षुकाद्यात्मकाश्चराः ॥४८८॥
यायादरिं व्यसनिनं निष्फले दूतचेष्टिते ।
प्रकृतिव्यसनं यत्स्यात्तत् समीक्ष्य समुत्पतेत् ॥४८९॥
अनयाद् व्यस्यति श्रेयस्तस्मात्तद् व्यसनं स्मृतम् ।
हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरकं तथा ॥४९०॥
इति पञ्चविधं दैवं व्यसनं मानुषं परम् ।
दैवं पुरुषकारेण शान्त्या च प्रशमं नयेत् ॥४९१॥
उत्थापितेन नीत्या च मानुषं व्यसनं हरेत् ।
मन्त्रो मन्त्रफलावाप्तिः कार्यानुष्ठानमायतिः ॥४९२॥
आयव्ययौ दण्डनीतिरमित्रप्रतिषेधनम् ।

व्यसनस्य प्रतीकारो राज्यराजाभिरक्षणम् ॥४९३॥
इत्यमात्यस्य कर्मेदं हन्ति स व्यसनान्वितः ।
हिरण्यधान्यवस्त्राणि वाहनं प्रजया भवेत् ॥४९४॥
तथान्ये द्रव्यनिचया हन्ति सव्यसना प्रजा ।
प्रजानामापदिस्थानां रक्षणं कोषदण्डयोः ॥४९५॥
पौराणाश्चोपकुर्वन्ति संश्रयादिह दुर्दिनम् ।
तूष्णीं युद्धं जनत्राणं मित्रामित्रपरिग्रहः ॥४९६॥
सामन्तादिकृते दोषे नश्येत्तद् व्यसनाच्च तत् ।
भृत्यानां भरणं दानं प्रजामित्रपरिग्रहः ॥४९७॥
धर्मकामादिभेदश्च दुर्गसंस्कारभूषणम् ।
कोषात्तद् व्यसनाद् हन्ति कोषमूलो हि भूपतिः ॥४९८॥
मित्रामित्रावनीहेमसाधनं रिपुमर्दनम् ।
दूरकार्याशुकारित्वं दण्डात्तद् व्यसनाद् हरेत् ॥४९९॥
राजा सव्यसनी हन्याद्राजकार्याणि यानि च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥५००॥
पानं स्त्री मृगया द्यूतं व्यसनानि महीपतेः ।
आलस्यं स्तब्धता दर्पः प्रमादो द्वैधकारिता ॥५०१॥
इति पूर्वोपदिष्टश्च सचिवव्यसनं स्मृतम् ।
अनावृष्टिश्च पीडादी राष्ट्रव्यसनमुच्यते ॥५०२॥
विशीर्णयन्त्रप्राकारपरिखात्वमशस्त्रता ।
क्षीणया सेनया नद्धं दुर्गव्यसनमुच्यते ॥५०३॥
व्ययीकृतः परिक्षिप्तोऽप्रजितोऽसञ्चितस्तथा ।
दूषितो दूरसंस्थश्च कोषव्यसनमुच्यते ॥५०४॥
उपरुद्धं परिक्षिप्तममानितविमानितम् ।
अभृतं व्याधितं श्रान्तं दूरायातं नवागतम् ॥५०५॥
परिक्षीणं प्रतिहतं प्रहताग्रतरं तथा ।
आशानिर्वेदभूयिष्ठमनृतप्राप्तमेव च ॥५०६॥
कलत्रगर्भं निक्षिप्तमन्तःशल्यं तथैव च ।
विच्छिन्नवीवधासारं शून्यमूलं तथैव च ॥५०७॥
अस्वाम्यसंहतं वापि भिन्नकूटं तथैव च ।

दुष्पार्ष्णिग्राहमर्थश्च बलव्यसनमुच्यते ॥५०८॥
दैवोपपीडितं मित्रं ग्रस्तं शत्रुबलेन च ।
कामक्रोधादिसंयुक्तमुत्साहादरिभिर्भवेत् ॥५०९
अर्थस्य दूषणं क्रोधात् पारुष्यं वाक्यदण्डयोः ।
कामजं मृगया द्यूतं व्यसनं पानकं स्त्रियः ॥५१०॥
वाक्पारुष्यं परं लोके उद्वेजनमनर्थकम् ।
असिद्धसाधनं दण्डस्तं युक्त्याऽवनयेन्नृपः ॥५११॥
उद्वेजयति भूतानि दण्डपारुष्यवान् नृपः ।
भूतान्युद्वेज्यमानानि द्विषतां यान्ति संश्रयम् ॥५१२॥
विवृद्धाः शत्रवश्चैव विनाशाय भवन्ति ते ।
दूष्यस्य दूषणार्थश्च परित्यागो महीयसः ॥५१३॥
अर्थस्य नीतितत्त्वज्ञैरर्थदूषणमुच्यते ।
पानात्कार्यादिनो ज्ञानं मृगयातोऽरितः क्षयः ॥५१४॥
जितश्रमार्थं मृगयां विचरेद्रक्षिते वने ।
धर्मार्थप्राणनाशादि द्यूते स्यात्कलहादिकम् ॥५१५॥
कालातिपातो धर्मार्थपीडा स्त्रीव्यसनाद्भवेत् ।
पानदोषात् प्राणनाशः कार्याकार्याविनिश्चयः ॥५१६॥
स्कन्धावारनिवेशज्ञो निमित्तज्ञो रिपुं जयेत् ।
स्कन्धावारस्य मध्ये तु सकोषं नृपतेर्गृहम् ॥५१७॥
मौलिभूतं श्रेणिसुहृद् द्विषदाटविकं बलम् ।
राजहर्म्यं समावृत्य क्रमेण विनिवेशयेत् ॥५१८॥
सैन्यैकदेशः सन्नद्धः सेनापतिपुरस्सरः ।
परिभ्रमेच्चत्वरांश्च मण्डलेन बहिर्निशि ॥५१९॥
वार्ताः स्वका विजानीयाद् दूरसीमान्तचारिणः ।
निर्गच्छेत्प्रविशेच्चैव सर्व एवोपलक्षितः ॥५२०॥
सामदानं च भेदश्च दण्डोपेक्षेन्द्रजालकम् ।
मायोपायाः सप्त परे निक्षिपेत्साधनाय तान् ॥५२१॥
चतुर्विधं स्मृतं साम उपकारानुकीर्तनात् ।
मिथःसम्बन्धकथनं मृदुपूर्वं च भाषणम् ॥५२२॥
आयाते दर्शनं वाचा तवाहमिति चार्पणम् ।

यः सम्प्राप्रधनोत्सर्ग उत्तमाधममध्यमः ॥५२३॥
प्रतिदानं तदा तस्य गृहीतस्यानुमोदनम् ।
द्रव्यदानमपूर्वं च स्वयंग्राहप्रवर्तनम् ॥५२४॥
देयश्च प्रतिमोक्षश्च दानं पञ्चविधं स्मृतम् ।
स्नेहरागापनयनसंहर्षोत्पादनं तथा ॥५२५॥
मिथो भेदश्च भेदज्ञैर्भेदश्च त्रिविधः स्मृतः ।
वधोऽर्थहरणं चैव परिक्लेशस्त्रिधा दमः ॥५२६॥
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकद्विष्टान् प्रकाशतः ।
उद्विजेत हतैर्लोकस्तेषु पिण्डः प्रशस्यते ॥५२७॥
विशेषोपनिषद्योगैर्हन्याच्छस्त्रादिना द्विषः ।
जातिमात्रं द्विजं नैव हन्यात्सामोत्तरं वशे ॥५२८॥
प्रलिम्पन्निव चेतांसि दृष्ट्वा साधु पिबन्निव ।
प्रसन्निवामृतं साम प्रयुञ्जीत प्रियं वचः ॥५२९॥
मिथ्याभिशस्तः श्रीकाम आहूयाप्रतिमानितः ।
राजद्वेषी चातिकर आत्मसम्भावितस्तथा ॥५३०॥
विच्छिन्नधर्मकामार्थः क्रुद्धो मानी विमानितः ।
अकारणात्परित्यक्तः कृतवैरोऽपि सान्त्वितः ॥५३१॥
हृतद्रव्यकलत्रश्च पूजार्होऽप्रतिपूजितः ।
एतांस्तु भेदयेच्छत्रौ स्थितान्नित्यान सुशङ्कितान ॥५३२॥
आगतान् पूजयेत कामैर्निजांश्च प्रशमं नयेत् ।
सामदृष्टानुसन्धानमत्युग्रभयदर्शनम् ॥५३३॥
प्रधानदानमानं च भेदोपायाः प्रकीर्तिताः ।
मित्रं हतं काष्ठमिव घुणजग्धं विशीर्यते ॥५३४॥
त्रिशक्तिर्देशकालज्ञो दण्डेनास्तं नयेदरीन् ।
मैत्रीप्रधानं कल्याणबुद्धिं सान्त्वेन साधयेत ॥५३५॥
लुब्धं क्षीणञ्च दानेन मित्रानन्योन्यशङ्कया ।
दण्डस्य दर्शनाद् दुष्टान् भ्रातृपुत्रादिकांस्तथा ॥५३६॥
दानभेदैश्चमूमुख्यान् योधान् जनपदादिकान् ।
सामन्ताटविकान भेददण्डाभ्यामपराद्धकान् ॥५३७॥
देवताप्रतिमानां तु पूजया नर्तनैर्नरैः ।

पुमान् स्त्रीवस्त्रसंवीतो निशि चाद्भुतदर्शनः ॥५३८॥
वेतालोल्कापिशाचानां शिवानां च स्वरूपिकी ।
कामतो रूपधारित्वं शस्त्राग्न्यश्माम्बुवर्षणम् ५३९॥
तमोऽनिलोऽनलो मेघ इति माया ह्यमानुषी ।
जघान कीचकं भीम आस्थितः स्त्रीस्वरूपताम् ॥५४०॥
अन्याये व्यसने युद्धे प्रवृत्तस्यानिवारणम् ।
उपेक्षेयं स्मृता भ्रातोपेक्षितश्च हिडिम्बया ॥५४१॥
मेघान्धकारवृष्ट्यग्निपर्वताद्भुतदर्शनम् ।
दूरस्थानं च सैन्यानां दर्शनं ध्वजशालिनाम् ॥५४२॥
छिन्नपाटितभिन्नानां संसृतानां च दर्शनम् ।
इतीन्द्रजालं द्विषतां भीत्यर्थमुपकल्पयेत् ॥५४३॥
इत्याग्नेये महापुराणे सामादिर्नाम चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥

अथैकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः।

राजनीतिः ।

राम उवाच—

षड्विधं तु बलं व्यूह्य देवान् प्रार्च्य रिपुं व्रजेत ।
मौलं भूतं श्रेणिसुहृद्द्विषदाटविकं बलम् ॥५४४॥
पूर्वं पूर्वं गरीयस्तु बलानां व्यसनं तथा ।
षडङ्गं मन्त्रकोषाभ्यां पदात्यश्वरथद्विपैः ॥५४५॥
नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं भवेत् ।
सेनापतिस्तत्र तत्र गच्छेद् व्यूहीकृतैर्बलैः ॥५४६॥
नायकः पुरतो यायात्प्रवीरपुरुषावृतः ।
मध्ये कलत्रं स्वामी च कोषः फल्गु च यद् बलम् ॥५४७॥
पार्श्वयोरुभयोरश्वा वाजिनां पार्श्वयो रथाः ।
रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां चाटवीबलम् ॥५४८॥
पश्चात्सेनापतिः सर्वं पुरस्कृत्य कृती स्वयम् ।
यायात्सन्नद्धसैन्यौघः खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ॥५४९॥
यायाद् व्यूहेन महता मकरेण पुरोभये ।

श्येनेनोद्धृतपक्षेण सूच्या वा वीरवक्त्रया ॥५५०॥
पश्चाद्भये तु शकटं पार्श्वयोर्वज्रसंज्ञितम् ।
सर्वतः सर्वतोभद्रं भये व्यूहं प्रकल्पयेत् ॥५५१॥
कन्दरे शैलगहने निम्नगावनसङ्कटे ।
दीर्घाध्वनि परिश्रान्तं क्षुत्पिपासाहितक्लमम् ॥५५२॥
व्याधिदुर्भिक्षमरकपीडितं दस्युविद्रुतम् ।
पङ्कपांसुजलस्कन्धं व्यस्तं पुञ्जीकृतं पथि ॥५५३॥
प्रसुप्तं भोजनव्यग्रमभूमिष्ठमसुस्थितम् ।
चौराग्निभयवित्रस्तं वृष्टिवातसमाहतम् ॥५५४॥
इत्यादौ स्वचमूं रक्षेत परसैन्यं च घातयेत् ।
विशिष्टो देशकालाभ्यां भिन्नविप्रकृतिर्बली ॥५५५॥
कुर्यात्प्रकाशयुद्धं हि कूटयुद्धं विपर्यये ।
तेष्ववस्कन्दकालेषु परं हन्यात्समाकुलम् ॥५५६॥
अभूमिष्ठं स्वभूमिष्ठः स्वभूमौ चोपजायतः ।
प्रकृतिप्रग्रहाकृष्टं पाशैर्वनचरादिभिः ॥५५७॥
हन्यात् पश्चात्प्रवीरेण बलेनोपेत्य वेगिना ।
पश्चाद्वा संकुलीकृत्य हन्याच्छूरेण पूर्वतः ॥५५८॥
आभ्यां पार्श्वाभिघातौ तु व्याख्यातौ कूटयोधने ।
पुरस्ताद्विषमे देशे पश्चाद्धन्यात्तु वेगवान् ॥५५९॥
पुरः पश्चात्तु विषमे एवमेव तु पार्श्वयोः ।
प्रथमं योधयित्वा तु दूष्यामित्राटवीबलैः ॥५६०॥
श्रान्तं मन्दं निराक्रन्दं हन्यादश्रान्तवाहनम् ।
दूष्यामित्रबलैर्वापि भङ्गं दत्त्वा प्रयत्नवान् ॥५६१॥
जितमित्येव विश्वस्तं हन्यान्मन्त्रव्यपाश्रयः ।
स्कन्धावारपुरग्रामशस्यस्वामिप्रजादिषु ॥५६२॥
विश्रम्यन्तं परानीकमप्रमत्तो विनाशयेत् ।
अथवा गोग्रहाकृष्टं तल्लक्ष्यं मार्गबन्धनात् ॥५६३॥
अवस्कन्दभयाद्रात्रिप्रजागरकृतश्रमम् ।
दिवा सुप्तं समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम् ॥५६४॥
निशि विश्रब्धसंसुप्तं नागैर्वा खड्गपाणिभिः ।

प्रयाणे पूर्वयायित्वं वनदुर्गप्रवेशनम् ॥५६५॥
अभिन्नानामनीकानां भेदनं भिन्नसङ्ग्रहः ।
विभीषिकाद्वारघातं कोषरक्षेभकर्म च ॥५६६॥
अभिन्नभेदनं मित्रसन्धानं रथकर्म च ।
वनदिङ्मार्गविचये वीवधासारलक्षणम् ॥५६७॥
अनुयानापसरणे शीघ्रकार्योपपादनम् ।
दीनानुसरणं घातः कोटीनां जघनस्य च ॥५६८॥
अश्वकर्माथ पत्तेश्च सर्वदा शस्त्रधारणम् ।
शिविरस्य च मार्गादेः शोधनं वस्तिकर्म च ॥५६९॥
संस्थूलस्थाणुवल्मीकवृक्षगुल्मापकण्टकम् ।
सापसारा पदातीनां भूर्नातिविषमा मता ॥५७०॥
स्वल्पवृक्षोपला क्षिप्रलङ्घनीयनगा स्थिरा ।
निःशर्करा विपङ्का च सापसारा च वाजिभूः ॥५७१॥
निस्थाणुवृक्षकेदारा रथभूमिरकर्दमा ।
मर्दनीयतरुच्छेद्यव्रततीपङ्कवर्जिता ॥५७२॥
निर्झरागम्यशैला च विषमा गजमेदिनी ।
उरस्यादीनि भिन्नानि प्रतिगृह्णन् बलानि हि ॥५७३॥
प्रतिग्रह इति ख्यातो राजकार्यान्तरक्षमः ।
तेन शून्यस्तु यो व्यूहः स भिन्न इव लक्ष्यते ॥५७४॥
जयार्थी नच युद्ध्येत मतिमानप्रतिग्रहः ।
यत्र राजा तत्र कोषः कोषाधीना हि राजता ॥५७५॥
योधेभ्यस्तु ततो दद्यात् किञ्चिद्दातुं न युज्यते ।
द्रव्यलक्षं राजघाते तदर्द्धं तत्सुतार्दने ॥५७६॥
सेनापतिवधे तद्वद्दद्याद्धस्त्यादिमर्दने ।
अथवा खलु युध्येरन् पत्त्यश्वरथदन्तिनः ॥५७७॥
यथा भवेदसम्बाधो व्यायामविनिवर्तने ।
असङ्करेण युद्धेरन् सङ्करः सङ्कुलावहः ॥५७८॥
महासङ्कुलयुद्धेषु संश्रयेरन्मतङ्गजम् ।
अश्वस्य प्रतियोद्धारो भवेयुः पुरुषास्त्रयः ॥५७९॥
इति कल्प्यास्त्रयश्चाश्वा विधेयाः कुञ्जरस्य तु ।

पादगोपा भवेयुश्च पुरुषा दश पञ्च च ॥५८०॥
विधानमिति नागस्य विहितं स्यन्दनस्य च ।
अनीकमिति विज्ञेयमिति कल्प्या नव द्विपाः ॥५८१॥
तथानीकस्य रन्ध्रन्तु पञ्चधा च प्रचक्षते ।
इत्यनीकविभागेन स्थापयेद् व्यूहसम्पदः ॥५८२॥
उरस्यकक्षपक्षांस्तु कल्प्यानेतान प्रचक्षते ।
उरःकक्षौ च पक्षौ च मध्यं पृष्ठं प्रतिग्रहः ॥५८३॥
कोटी च व्यूहशास्त्रज्ञैः सप्ताङ्गो व्यूह उच्यते ।
उरस्यकक्षपक्षास्तु व्यूहोऽयं सप्रतिग्रहः ॥५८४॥
गुरोरेष च शुक्रस्य कक्षाभ्यां परिवर्जितः ।
तिष्ठेयुः सेनापतयः प्रवीरैः पुरुषैर्वृताः ॥५८५॥
अभेदेन च युध्येरन् रक्षेयुश्च परस्परम् ।
मध्यव्यूहे फल्गु सैन्यं युद्धवस्तु जघन्यतः ॥५८६॥
युद्धं हि नायकप्राणं हन्यते तदनायकम् ।
उरसि स्थापयेन्नागान् प्रचण्डान् कक्षयो रथान् ॥५८७॥
हयांश्च पक्षयोर्व्यूहो मध्यभेदी प्रकीर्तितः ।
मध्यदेशे हयानीकं रथानीकञ्च कक्षयोः ॥५८८॥
पक्षयोश्च गजानीकं व्यूहोऽन्तर्भेद्ययं स्मृतः ।
रथस्थाने हयान् दद्यात् पदातींश्च हयाश्रये ॥५८९॥
रथाभावे तु द्विरदान् व्यूहे सर्वत्र दापयेत् ।
यदि स्याद्दण्डबाहुल्यमाबाधः सम्प्रकीर्तितः ॥५९०॥
मण्डलासंहतो भोगो दण्डस्ते बहुधा शृणु ।
तिर्यग् वृत्तिस्तु दण्डः स्याद् भोगोऽन्यावृत्तिरेव च ।५९१॥
मण्डलः सर्वतोवृत्तिः पृथग्वृत्तिरसंहतः ।
प्रदरो दृढकोऽसह्यः चापो वै कुक्षिरेव च ॥५९२॥
प्रतिष्ठः सुप्रतिष्ठश्च श्येनो विजयसञ्जयौ ।
विशालो विजयः शूली स्थूणाकर्णचमूमुखौ ॥५९३॥
सर्पास्यो वलयश्चैव दण्डभेदाश्च दुर्जयाः ।
अतिक्रान्तः प्रतिक्रान्तः कक्षाभ्याञ्चैकपक्षतः ॥५९४॥
अतिक्रान्तस्तु पक्षाभ्यां त्रयोऽन्ये तद्विपर्यये ।

पक्षोरस्यैरतिक्रान्तः प्रतिष्ठोऽन्यो विपर्ययः ॥५९५॥
स्थूणापक्षो धनुःपक्षो द्विस्थूणो दण्ड ऊर्ध्वगः ।
द्विगुणोऽन्तस्त्वतिक्रान्तपक्षोऽन्यस्य विपर्ययः ॥५९६॥
द्विचतुर्दण्ड इत्येते ज्ञेया लक्षणतः क्रमात् ।
गोमूत्रिकाहिसञ्चारी शकटो मकरस्तथा ॥५९७॥
भोगभेदाः समाख्यातास्तथा पारिप्लवङ्गकः ।
दण्डपक्षौ युगोरस्यः शकटस्तद्विपर्यये ॥५९८॥
मकरो व्यतिकीर्णश्च शेषः कुञ्जरराजिभिः ।
मण्डलव्यूहभेदौ तु सर्वतोभद्रदुर्जयौ ॥५९९॥
अष्टानीको द्वितीयस्तु प्रथमः सर्वतोमुखः ।
अर्द्धचन्द्रक ऊर्ध्वाङ्गो वज्रभेदास्तु संहतेः ॥६००॥
तत: कर्कटशृङ्गी च काकपादी च गोधिका ।
त्रिचतुःपञ्चसैन्यानां ज्ञेया आकारभेदतः ॥६०१॥
दण्डस्य स्युः सप्तदश व्यूहा द्वौ मण्डलस्य च ।
असङ्घातस्य षट् पञ्च भोगस्यैव तु सङ्गरे ॥६०२॥
पक्षादीनामथैकेन हत्वा शेषैः परिक्षिपेत् ।
उरसा वा समाहत्य कोटिभ्यां परिवेष्टयेत् ॥६०३॥
परे कोटी समाक्रम्य पक्षाभ्यामप्रतिग्रहात् ।
कोटिभ्याञ्जघनं हन्यादुरसा च प्रपीडयेत् ॥६०४॥
यतः फल्गु यतो भिन्नं यतश्चान्यैरधिष्ठितम् ।
ततश्चारिबलं हन्यादात्मनश्चोपबृंहयेत् ॥६०५॥
सारं द्विगुणसारेण फल्गुसारेण पीडयेत् ।
संहतञ्च गजानीकैः प्रचण्डैर्दारयेद् बलम् ॥६०६॥
स्यात्कक्षपक्षोरस्यैश्च वर्तमानस्तु दण्डकः ।
तत्र प्रयोगो दण्डस्य स्थानं तुर्येण दर्शयेत् ॥६०७॥
स्याद्दण्डसमपक्षाभ्यामतिक्रान्तः प्रदारकः ।
भवेत्स पक्षकक्षाभ्यामतिक्रान्तो दृढः स्मृतः ॥६०८॥
कक्षाभ्याञ्च प्रतिक्रान्तव्यूहोऽसह्यः स्मृतो यथा ।
कक्षपक्षावधः स्थाप्योरस्यैः क्रान्तश्च खातकः ॥६०९॥
द्वौ दण्डौ वलयः प्रोक्तो व्यूहो रिपुविदारणः ।

दुर्जयश्चतुर्वलयः शत्रोर्बलविमर्दनः ॥६१०॥
कक्षपक्षोरस्यैर्भोगो विषयं परिवर्तयन् ।
सर्पचारी गोमूत्रिका शकटः शकटाकृतिः ॥६११॥
विपर्ययोऽमरः प्रोक्तः सर्वशत्रुविमर्दकः ।
स्यात्कक्षपक्षोरस्यानामेकीभावस्तु मण्डलः ।६१२॥
चक्रपद्मादयो भेदा मण्डलस्य प्रभेदकाः ।
एवञ्च सर्वतोभद्रो वज्राक्षवरकाकवत् ॥६१३॥
अर्द्धचन्द्रश्च शृङ्गाटो ह्यचलो नामरूपतः ।
व्यूहा यथासुखं कार्याः शत्रूणां बलवारणाः ॥६१४॥

अग्निरुवाच—

रामस्तु रावणं हत्वा अयोध्यां प्राप्तवान् द्विज !
रामोक्तनीत्येन्द्रजितं हतवांल्लक्ष्मणः पुरा ॥६१५॥

इत्याग्नेये महापुराणे रामोक्तराजनीतिर्नामैकचत्वारिंशदधिक-द्विशततमोऽध्यायः ॥

मार्कण्डेयपुराणान्तर्गतं राजनीतिप्रकरणम् ॥

अथ सप्तविंशतितमोऽध्यायः ।

मदालसोवाच—

वत्स ! राज्याभिषिक्तेन प्रजारञ्जनमादितः ।
कर्तव्यमविरोधेन स्वधर्मश्च महीभृताम् ॥ १ ॥
व्यसनानि परित्यज्य सप्तमूलहराणि वै ।
आत्मा रिपुभिः संरक्ष्यो बहिर्मन्त्रविनिर्गमात् ॥ २ ॥
दुष्टादुष्टांश्च जानीयादमात्यानरिदोषतः ।
अष्टधा नाशमाप्नोति स्वचक्रात् स्यन्दनाद्यथा ॥ ३ ॥
तथा राजाप्यसन्दिग्धं बहिर्मन्त्रविनिर्गमात् ।
चरैश्चारास्तथा शत्रोरन्वेष्टव्याः प्रयत्नतः ॥ ४ ॥
विश्वासो नतु कर्तव्यो राज्ञा मित्राप्तबन्धुषु ।
कार्ययोगादमित्रेषु विश्वसीत नराधिपः ॥ ५ ॥
स्थानवृद्धिक्षयज्ञेन षाड्गुण्यविदितात्मना ।
भवितव्यं नरेन्द्रेण न कामवशवर्तिना ॥ ६ ॥

प्रागात्ममन्त्रिणश्चैव ततो भृत्या महीभृता ।
ज्ञेयाश्चानन्तरं पौरा विरुध्येत ततोऽरिभिः ॥ ७ ॥
यस्त्वेतानविजित्यैव वैरिणो विजिगीषते ।
सोऽजितात्मा जितामात्यः शत्रुवर्गेण बाध्यते ॥ ८ ॥
तस्मात्कामादयः पूर्वं जेयाः पुत्र ! महीभृता ।
तज्जये हि जयो राज्ञो राजा नश्यति तैर्जितः ॥ ९ ॥
कामः क्रोधश्च लोभश्च मदो मानस्तथैव च ।
हर्षश्च शत्रवो ह्येते नाशाय कुमहीभृताम् ॥१०॥
कामप्रसक्तमात्मानं स्मृत्वा पाण्डुं निपातितम् ।
निवर्तयेत्तथा क्रोधादनुह्रादं हतात्मजम् ॥११॥
हतमैलं तथा लोभान्मदाद्वेनं द्विजैर्हतम् ।
मानादनायुषः पुत्रं हतं हर्षात्पुरञ्जयम् ॥१२॥
एभिर्जितैर्जितं सर्वं मरुत्तेन महात्मना ।
स्मृत्वा विवर्जयेदेतान् षड् दोषांश्च महीपतिः ॥१३॥
काककोकिलभृङ्गाणां बकव्यालशिखण्डिनाम् ।
हंसकुक्कुटलोहानां शिक्षेत चरितं नृपः ॥१४॥
कौशिकस्य क्रियां कुर्याद्विपक्षे मनुजेश्वरः ।
चेष्टां पिपीलिकानां च काले भूपः प्रदर्शयेत् ॥१५॥
ज्ञेयाग्निविस्फुलिङ्गानां बीजचेष्टा च शाल्मलेः ।
चन्द्रसूर्यस्वरूपं च नीत्यर्थे पृथिवीक्षिता ॥१६॥
बन्धकीपद्मशरभशूलिकागुर्विणीस्तनात् ।
एवं साम्ना च भेदेन प्रदानेन च पार्थिव ! ॥१७॥
दण्डेन च प्रकुर्वीत नीत्यर्थं पृथिवीक्षिता ।
प्रज्ञा नृपेण वादेया तथा चण्डालयोषितः ॥१८॥
शक्रार्कयमसोमानां तद्वद्वायोर्महीपतिः ।
रूपाणि पञ्च कुर्वीत महीपालनकर्मणि ॥१९॥
यथेन्द्रश्चतुरो मासान्वार्योघेणैव भूतलम् ।
आप्याययेत्तथा लोकान् परिचारैर्महीपतिः ॥२०॥
मासानष्टौ यथा सूर्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
सूक्ष्मेणैवाभ्युपायेन तथा शुल्कादिना नृपः ॥२१॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा प्रियाप्रिये राजा दुष्टादुष्टे समो भवेत् ॥२२॥
पूर्णेन्दुमालोक्य यथा प्रीतिमाञ्जायते नरः ।
एवं यत्र प्रजाः सर्वा निर्वृतास्तच्छशिव्रतम् ॥२३॥
मारुतः सर्वभूतेषु निगूढश्चरते यथा ।
एवं चरेन्नृपश्चारैः पौरामात्यारिबन्धुषु ॥२४॥
न लोभार्थैर्न कामार्थैर्नार्थार्थैर्यस्य मानसम् ।
पदार्थैः कृष्यते धर्मात्स राजा स्वर्गमृच्छति ॥२५॥
उत्पथग्राहिणो मूढान्स्वधर्माच्चलितान्नरान् ।
यः करोति निजे धर्मे स राजा स्वर्गमृच्छति ॥२६॥
वर्णधर्मा न सीदन्ति यस्य राष्ट्रे तथाऽऽश्रमाः ।
राज्ञस्तस्य सुखं तात ! परत्रेह च शाश्वतम् ॥२७॥
एतद्राज्ञः परं कृत्यं तथैतद्वृद्धिकारणम् ।
स्वधर्मे स्थापनं नृणां चाल्यते न कुबुद्धिभिः ॥२८॥
पालनेनैव भूतानां कृतकृत्यो महीपतिः ।
सम्यक् पालयिता भागं धर्मस्याप्नोति वै यतः ॥२९॥
एवमाचरते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणम् ।
ससुखी विहरत्येष शक्रस्यैति सलोकताम् ॥३०॥
इति मार्कण्डेयपुराणे मदालसोपाख्याने चतुर्विंशोऽध्यायः ।

अथ गरुडपुराणान्तर्गतं नीतिप्रकरणम् ॥

अथाष्टाधिकशततमोऽध्यायः ।

सूत उवाच—

नीतिसारं प्रवक्ष्यामि अर्थशास्त्रादिसंश्रितम् ।
राजादिभ्यो हितं पुण्यमायुःस्वर्गादिदायकम् ॥ १ ॥
सद्भिः सङ्गं प्रकुर्वीत सिद्धिकामः सदा नरः ।
नासद्भिरिहलोकाय परलोकाय वा हितम् ॥ २ ॥
वर्जयेत् क्षुद्रसंवादं दुष्टस्य चैव दर्शनम् ।
विरोधं सह मित्रेण सम्प्रीतिं शत्रुसेविना ॥ ३ ॥

मूर्खशिष्योपदेशेन दुष्टस्त्रीभरणेन च ।
दुष्टानां सम्प्रयोगेण पण्डितोऽप्यवसीदति ॥ ४ ॥
ब्राह्मणं बालिशं क्षत्रमयोद्धारं विशं जडम् ।
शूद्रमक्षरसंयुक्तं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ५ ॥
कालेन रिपुणा सन्धिः काले मित्रेण विग्रहः ।
कार्यकारणमाश्रित्य कालं क्षिपति पण्डितः ॥ ६ ॥
कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ७ ॥
कालेषु चरते वीर्यं काले गर्भं च वर्द्धते ।
कालो जनयते सृष्टिं पुनः कालोऽपि संहरेत् ॥ ८ ॥
कालः सूक्ष्मगतिर्नित्यं द्विविधश्चेह भाव्यते ।
स्थूलसंग्रहचारेण सूक्ष्मचारान्तरेण च ॥ ९ ॥
नीतिसारं सुरेन्द्राय इममूचे बृहस्पतिः ।
सर्वज्ञो येन चेन्द्रोऽभूद् दैत्यान् हत्वाप्नुयाद्दिवम् ॥१०॥
राजर्षिब्राह्मणैः कार्यं देवविप्रादिपूजनम् ।
अश्वमेधेन यष्टव्यं महापातकनाशनम् ॥११॥
उत्तमैः सह साङ्गत्यं पण्डितैः सह सत्कथाम् ।
अलुब्धैः सह मित्रत्वं कुर्वाणो नावसीदति ॥१२॥
परदारं परार्थञ्च परिहासं परस्त्रियाः ।
परवेश्मनि वासञ्च न कुर्वीत कदाचन ॥१३॥
परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ॥१४॥
स बन्धुर्यो हिते युक्तः स पिता यस्तु पोषकः ।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते ॥१५॥
स भृत्यो यो विधेयस्तु तद् बीजं यत्प्ररोहति ।
सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यस्तु जीवति ॥१६॥
स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य स जीवति ।
गुणधर्मविहीनो यो निष्फलन्तस्य जीवनम् ॥१७॥
सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रियंवदा ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥१८॥

हिता स्नाता सुगन्धा च नित्यञ्च प्रियवादिनी ।
अल्पभक्ताल्पभाषिणी सततं मङ्गलैर्युता ॥१९॥
सततं धर्मबहुला सततञ्च पतिप्रिया ।
सततं प्रियवक्त्री च सततमृतुकामिनी ॥२०॥
एतदादिक्रियायुक्ता सर्वसौभाग्यवर्द्धिनी ।
यस्येदृशी भवेद्भार्या देवेन्द्रो न स मानुषः ॥२१॥
यस्य भार्या विरूपाक्षी कश्मला कलहप्रिया ।
उत्तरोत्तरवादास्या सा जरा न जरा जरा ॥२२॥
यस्य भार्याश्रितान्यत्र परवेश्माभिकाङ्क्षिणी ।
कुक्रिया त्यक्तलज्जा च सा जरा न जरा जरा ॥२३॥
यस्य भार्या गुणज्ञा च भर्तारमनुगामिनी ।
अल्पाल्पेन तु सन्तुष्टा सा प्रिया न प्रिया प्रिया ॥२४॥
दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः ।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ॥२५॥
त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम् ।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम् ॥२६॥
व्याली कण्ठप्रदेशादपि च फणभृतो भीषणा या च रौद्री
या कृष्णा व्याकुलाङ्गी रुधिरनयनसंव्याकुला व्याघ्रकल्पा ।
क्रोधे यैवोग्रवक्त्रा स्फुरदनलशिखा काकजिह्वा करालाा
सेव्या न स्त्री विदग्धा परपुरगमना भ्रान्तचित्ता विरक्ता ॥२७॥
भुजङ्गमे वेश्मनि दृष्टदुष्टे
व्याधौ चिकित्साविनिवर्त्तिते च ।
देहे च बाल्यादिवयोऽन्विते च
कालावृतोऽसौ लभते धृतिं कः ॥२८॥

इति गारुडे महापुराणे नीतिसारे अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥

अथ नवाधिकशततमोऽध्यायः ।

सूत उवाच—

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥२९॥
त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥३०॥
वरं हि नरके वासो नतु दुश्चरिते गृहे ।
नरकात् क्षीयते पापं कुगृहान्न निवर्त्तते ॥३१॥
चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।
न परीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत ॥३२॥
त्यजेद्देशमसद्वृत्तं वासं सोपद्रवं त्यजेत ।
त्यजेत्कृपणराजानं मित्रं मायामयं त्यजेत ॥३३॥
अर्थेन किं कृपणहस्तगतेन पुंसां
ज्ञानेन किं बहुशठकुलसंकुलेन ।
रूपेण किं गुणपराक्रमवर्जितेन
मित्रेण किं व्यसनकालपराङ्मुखेन ॥३४॥
अदृष्टपूर्वा बहवः सहायाः
सर्वे पदस्थस्य भवन्ति मित्राः ।
अर्थैर्विहीनस्य पदच्युतस्य
भवत्यकाले स्वजनोऽपि शत्रुः ॥३५॥
आपत्सु मित्रं जानीयाद् रणे शूरं रहः शुचिम् ।
भार्याञ्च विभवे क्षीणे दुर्भिक्षे च प्रियातिथिम् ॥३६॥
वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसा-
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टं नृपं मन्त्रिणः
पुष्पं पर्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः
सर्वः कार्यवशाज्जनो हि रमते कस्यास्ति को वल्लभः ॥३७॥
लुब्धमर्थप्रदानेन श्लाघ्यमञ्जलिकर्मणा ।
मूर्खं छन्दानुवृत्त्या च याथातथ्येन पण्डितम् ॥३८॥
सद्भावेन हि तुष्यन्ति देवाः सत्पुरुषा द्विजाः ।
इतराः खाद्यपानेन मानदानेन पण्डिताः ॥३९॥

उत्तमं प्रणिपातेन शठं भेदेन योजयेत् ।
नीचं स्वल्पप्रदानेन समं तुल्यपराक्रमैः ॥४०॥
यस्य यस्य हि यो भावस्तस्य तस्य हि तं वदन् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥४१॥
नखिनाञ्च नदीनाञ्च शृङ्गिणां शस्त्रपाणिनाम् ।
विश्वासो नैव गन्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥४२॥
अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनञ्चापमानञ्च मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥४३॥
हीनदुर्जनसंसर्गमत्यन्तविरहादरः ।
स्नेहोऽन्यगेहवासश्च नारीसच्छीलनाशनम् ॥४४॥
कस्य दोषः कुले नास्ति व्याधिना को न पीडितः ?
केन न व्यसनं प्राप्तं श्रियः कस्य निरन्तराः ? ॥४५।
कोऽर्थं प्राप्य न गर्वितो भुवि नरः ? कस्यापदो नागताः ?
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः ? को नाम राज्ञां प्रियः ?
कः कालस्य न गोचरान्तरगतः ? कोऽर्थी गतो गौरवम् ?
को वा दुर्जनवागुरानिपतितः क्षेमेण यातः पुमान् ? ॥४६॥
सुहृत् स्वजनबन्धुर्न बुद्धिर्यस्य न चात्मनि ।
यस्मिन् कर्मणि सिद्धेऽपि न दृश्येत फलोदयः ।
विपत्तौ च महद् दुःखं तद् बुधः कथमाचरेत् ॥४७॥
यस्मिन् देशे न सम्मानं न प्रीतिर्न च बान्धवाः ।
न च विद्यागमः कश्चित् तं देशं परिवर्जयेत् ॥४८॥
धनस्य यस्य राजभ्यो भयं नास्ति न चौरतः ।
मृतञ्च यन्न मुच्येत समर्जयस्व तद्धनम् ॥४९॥
यदर्जितं प्राणहरैः परिश्रमै-
मृतस्य तं वै विभजन्ति रिक्थिनः ।
कृतञ्च यद् दुष्कृतमर्थलिप्सया
तदेव दोषापहतस्य यौतुकम् ॥५०॥
सञ्चितं निहितं द्रव्यं परामृश्यं मुहुर्मुहुः ।
आखोरिव कदर्यस्य धनं दुःखाय केवलम् ॥५१॥
नग्ना व्यसनिनो रूक्षाः कपालाङ्कितपाणयः ।

GI. 92.

दर्शयन्तीह लोकस्य अदातुः फलमीदृशम् ॥५२॥
शिक्षयन्ति च याचन्ति देहीति कृपया जनाः।
अवस्थेयमदानस्य माभूदेवं भवानपि ॥५३॥
सञ्चितं क्रतुशतैर्न युज्यते याचितं गुणवते न दीयते।
तत् कदर्यपरिरक्षितं धनं चौरपार्थिवगृहे प्रयुज्यते॥५४॥
न देवेभ्यो न विप्रेभ्यो बन्धुभ्यो नैव चात्मनि।
कदर्यस्य धनं याति अग्नितस्कर राजसु ॥५५॥
अतिक्लेशेन येऽप्यर्था धर्मस्यातिक्रमेण च।
अरेर्वा प्रणिपातेन माभूवंस्ते कदाचन ॥५६॥
विद्याघातो ह्यनभ्यासः श्रीणां घातः कुचेलता।
व्याधीनां भोजनाज्जीर्णं शत्रोर्घातः प्रपञ्चता ॥५७॥
तस्करस्य वधो दण्डः कुमित्रस्याल्पभाषणम्।
पृथक् शय्या तु नारीणां ब्राह्मणस्यानिमन्त्रणम् ॥५८॥
दुर्जनाः शिल्पिनो दासा दुष्टाश्च पटहाः स्त्रियः।
ताडिता मार्दवं यान्ति न ते सत्कारभाजनम् ॥५९॥
जानीयात्प्रेषणे भृत्यान बान्धवान् व्यसनागमे।
मित्रश्चापदि काले च भार्याञ्च विभवक्षये ॥६०॥
स्त्रीणां द्विगुण आहारः प्रज्ञा चैव चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥६१॥
न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन स्त्रियं जयेत्।
न चेन्धनैर्जयेद्वह्निं न मद्येन तृषां जयेत् ॥६२॥
समांसैर्भोजनैः स्निग्धैर्मद्यैर्गन्धविलेपनैः।
वस्त्रैर्मनोरमैर्माल्यैः कामः स्त्रीषु विजृम्भते ॥६३॥
ब्रह्मचर्येऽपि वक्तव्यं प्राप्तं मन्मथचेष्टितम्।
हृद्यं हि पुरुषं दृष्ट्वा योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रियाः ॥६४॥
सुवेशं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं यदि वा सुतम्।
योनिः क्लिद्यति नारीणां सत्यं सत्यं हि शौनक ! ॥६५॥
नद्यश्च नार्यश्च समस्वभावाः
स्वतन्त्रभावे गमनादिकञ्च।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति
नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः ॥६६॥

नदी पातयते कूलं नारी पातयते कुलम् ।
नारीणाञ्च नदीनाञ्च स्वच्छन्दा ललिता गतिः ॥६७॥
नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥६८॥
न तृप्तिरस्ति शिष्टानामिष्टानां प्रियवादिनाम् ।
सुखानाञ्च सुतानाञ्च जीवितस्य वरस्य च ॥ ॥६९॥
राजा न तृप्तो धनसञ्चयेन न सागरस्तृप्तिमगाज्जलेन ।
न पण्डितस्तृप्यति भाषितेन तृप्तं न चक्षुर्नृपदर्शनेन ॥७०॥
स्वकर्मधर्मार्जितजीवितानां शास्त्रेषु दारेषु सदा रतानाम् ।
जितेन्द्रियाणामतिथिप्रियाणां गृहेऽपि मोक्षः पुरुषोत्तमानाम् ॥७१॥
मनोऽनुकूलाः प्रमदा रूपवत्यः स्वलङ्कृताः ।
वासः प्रासादपृष्ठेषु स्वर्गः स्याच्छुभकर्मणः ॥७२॥
न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया ।
न शास्त्रेण न शस्त्रेण सर्वथा विषमाः स्त्रियः ॥७३॥
शनैर्विद्या शनैरर्थाः शनैः पर्वतमारुहेत् ।
शनैः कामञ्च धर्मञ्च पञ्चैतानि शनैः शनैः ॥७४॥
शाश्वतं देवपूजादि विप्रदानञ्च शाश्वतम् ।
शाश्वतं सगुणा विद्या सुहृन्मित्रं च शाश्वतम् ॥७५॥
ये बालभावान्न पठन्ति विद्यां ये यौवनस्था ह्यधनात्मदाराः ।
ते शोचनीया इह जीवलोके मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥७६॥
पठने भोजने चिन्तां न कुर्याच्छास्त्रसेवकः ।
सुदूरमपि विद्यार्थी व्रजेद् गरुडवेगवान् ॥७७॥
ये बालभावे न पठन्ति विद्यां कामातुरा यौवननष्टवित्ताः ।
ते वृद्धकाले परिभूयमानाः सन्दह्यमानाः शिशिरे यथाब्जम् ॥७८॥
तर्केऽप्रतिष्ठा श्रुतयो विभिन्ना नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥७९॥
आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन तु ।
नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥८०॥
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ।
उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशितम् ॥८१॥

अर्थाद् भ्रष्टस्तीर्थयात्रां तु गच्छेत्
सत्याद् भ्रष्टो रौरवं वै व्रजेच्च ।
योगाद् भ्रष्टः सत्यधृतिञ्च गच्छेद्
राज्याद् भ्रष्टो मृगयायां व्रजेच्च ॥८२॥

इति गारुडे महापुराणे नीतिसारे नवाधिकशततमोऽध्यायः ।

अथ दशाधिकशततमोऽध्यायः ।

सूत उवाच—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य ह्यध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च ॥८३॥
वाग्यन्त्रहीनस्य नरस्य विद्या
शस्त्रं यथा कापुरुषस्य हस्ते ।
न तुष्टिमुत्पादयते शरीरे
अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः ॥८४॥
भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वराः स्त्रियः ।
विभवो दानशक्तिश्च नाल्पस्य तपसः फलम् ॥८५॥
अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तिफलं शुभम् ।
रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥८६॥
वरयेत्कुलजां प्राज्ञो विरूपामपि कन्यकाम् ।
सुरूपां सुनितम्बाञ्च नाकुलीनां कदाचन ॥८७॥
अर्थेनापि हि किं तेन यस्यानर्थे तु सङ्गतिः ।
को हि नाम शिखाजातं पन्नगस्य मणिं हरेत् ॥८८॥
हविर्दुष्टकुलाद् ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमेध्यात्काञ्चनं ग्राह्यं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥८९॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम् ।
नीचादप्युत्तमां विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥९०॥
न राज्ञा सह मित्रत्वं न सर्पो निर्विषः क्वचित् ।
न कुलं निर्मलं तत्र स्त्रीजनो यत्र जायते ॥९१॥

कुले नियोजयेद्भक्तं पुत्रं विद्यासु योजयेत् ।
व्यसने योजयेच्छत्रुमिष्टं धर्मे नियोजयेत् ॥९२॥
स्थानेष्वेव प्रयोक्तव्या भृत्याश्चाभरणानि च ।
नहि चूडामणिः पादे शोभते वै कदाचन ॥९३॥
चूडामणिः समुद्रोऽग्निर्घण्टा चाखण्डमम्बरम् ।
अथवा पृथिवीपालो मूर्ध्नि पादे प्रमादतः ॥९४॥
कुसुमस्तवकस्येव द्वे गती तु मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकानां शीर्यतः पतितो वने ॥९५॥
कर्णभूषणसंग्रहणोचितो
यदि मणिस्तु पदे प्रतिबध्यते ।
स मणिः खलु रौति न शोभते
भवति योजयितुर्वचनीयता ॥९६॥
वाजिवारणलौहानां काष्ठपाषाणवाससाम् ।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥९७॥
कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते सर्वगुणप्रमाथः ।
अधः खलेनापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥९८॥
न सदश्वः कशाघातं सिंहो न गजगर्जितम् ।
वीरो वा परनिर्दिष्टं न सहेद्भीमनिःस्वनम् ॥९९॥
यदि विभवविहीनः प्रच्युतो वाशु दैवात्
नतु खलजनसेवां काङ्क्षयेन्नैव नीचम् ।
न तृणमदनकार्ये सुक्षुधार्तोऽस्ति सिंहः
पिबति रुधिरमुष्णं प्रायशः कुञ्जराणाम् ॥१००॥
सकृद्दुष्टञ्च यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।
स मृत्युमेव गृह्णीयाद्गर्भमश्वतरी यथा ॥१०१॥
शत्रोरपत्यानि प्रियंवदानि
नापेक्षितव्यानि बुधैर्मनुष्यैः ।
तान्येव कालेषु विपत्कराणि
विषस्य पात्राणि हि दारुणानि ॥१०२॥
उपकारगृहीतेन शत्रुणा शत्रुमुद्धरेत् ।
पादलग्नं करस्थेन कण्टकेनैव कण्टकम् ॥१०३॥

अपकारपरे नित्यं चिन्तयेन्न कदाचन ।
स्वयमेव पतिष्यन्ति कूलजाता इव द्रुमाः ॥१०४॥
अनर्था ह्यर्थरूपाश्च अर्थाश्चानर्थरूपिणः ।
भवन्ति ते विनाशाय दैवायत्तस्य वै सदा ॥१०५॥
कार्यकालोचिताऽपापा मतिः सञ्जायते हि वै ।
सानुकूलेषु दैवेषु पुंसः सर्वत्र जायते ॥१०६॥
धनप्रयोगकार्येषु तथा विद्यागमेषु च ।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सदैव हि ॥१०७॥
धनिनः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात्तत्र संस्थितिम् ॥१०८॥
लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं दानशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत् ॥१०९॥
कालविच् श्रोत्रियो राजा नदी साधुश्च पञ्चमः ।
एते यत्र न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत् ॥११०॥
नैकत्र परिनिष्ठास्ति ज्ञानस्य किल शौनक !
सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कुत्रचित् ॥१११॥
न सर्ववित्कश्चिदिहास्ति लोके
नात्यन्तमूर्खो भुवि चापि कश्चित् ।
ज्ञानेन नीचोत्तममध्यमेन
यो यं विजानाति स तेन विद्वान ॥११२॥

इति गारुडे महापुराणे नीतिसारे दशाधिकशततमोऽध्यायः ।

अथैकादशाधिकशततमोऽध्यायः ।

सूत उवाच—

पार्थिवस्य तु वक्ष्यामि भृत्यानाञ्चैव लक्षणम् ।
सर्वाणि हि महीपालः सम्यङ् नित्यं परीक्षयेत् ॥११३॥
राज्यं पालयते नित्यं सत्यधर्मपरायणः ।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत् ॥११४॥
पुष्पात् पुष्पं विचिन्वीयान्मूलच्छेदं न कारयेत् ।

मालाकार इवारण्ये न यथाङ्गारकारकः ॥११५॥
दोग्धारः क्षीरभुञ्जाना विकृतं तत् न भुञ्जते ।
परराष्ट्रं महीपालैर्भोक्तव्यं नच दूषयेत् ॥११६॥
नोधश्छिन्द्यात्तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी लभते पयः ।
एवं राष्ट्रं प्रयोगेण पीड्यमानं न वर्जयेत् ॥११७॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पृथिवीमनुपालयेत् ।
पालकस्य भवेद्भूमिः कीर्त्तिरायुर्यशो बलम् ॥११८॥
अभ्यर्च्य विष्णुं धर्मात्मा गोब्राह्मणहिते रतः ।
प्रजाः पालयितुं शक्तः पार्थिवो विजितेन्द्रियः ॥११९॥
ऐश्वर्यमध्रुवं प्राप्य राजा धर्मे मतिश्चरेत् ।
क्षणेन विभवो नश्येत् नात्मायत्तं धनादिकम् ॥१२०॥
सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु वै वनितापाङ्गभङ्गीलोलं हि जीवितम् ॥१२१॥
व्याघ्रीव तिष्ठति जरा अपि तर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रभवन्ति गात्रे ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोको न चात्महितमाचरतीह कश्चित् ॥१२२॥
निःशङ्कं किं मनुष्याः कुरुत परहिते युक्तमग्रे हितं यत्
मोदध्वं कामिनीभिर्मदनशरहता मन्दमन्दातिदृष्ट्या ।
मा पापं संकुरुध्वं द्विजहरिपरमाः संभजध्वं सदैव
आयुर्निःशेषमेति स्खलति जलघटीभूतमृत्युच्छलेन ॥१२३॥
मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥१२४॥
एतदर्थं हि विप्रेन्द्रा राज्यमिच्छन्ति भूभृतः ।
यदेषां सर्वकार्येषु वचो न प्रतिहन्यते ॥१२५॥
एतदर्थं हि कुर्वन्ति राजानो धनसञ्चयम् ।
रक्षयित्वा तु चात्मानं यद्धनं तद् द्विजातये ॥१२६॥
ओङ्कारशब्दो विप्राणां येन राष्ट्रं प्रवर्द्धते ।
स राजा वर्द्धते योगाद् व्याधिभिश्च न वध्यते ॥१२७॥
असमर्थाश्च कुर्वन्ति मुनयो द्रव्यसञ्चयम् ।

किं पुनस्तु महीपालः पुत्रवत्पालयन्प्रजाः ॥१२८॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमान् लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥१२९॥

त्यजन्ति मित्राणि धनैर्विहीनं पुत्राश्च दाराश्च सुहृज्जनाश्च ।
ते चार्थवन्तं पुनराश्रयन्ति अर्थो हि लोके पुरुषस्य बन्धुः ॥११०॥

अन्धो हि राजा भवति यस्तु शास्त्रविवर्जितः ।
अन्धः पश्यति चारेण शास्त्रहीनो न पश्यति ॥१३१॥

यस्य पुत्राश्च भृत्याश्च मन्त्रिणश्च पुरोहिताः ।
इन्द्रियाणि प्रसुप्तानि तस्य राज्यं चिरं नहि ॥१३२॥

येनार्जितास्त्रयोऽप्येते पुत्रा भृत्याश्च बान्धवाः ।
जिता तेन समं भूपैश्चतुरब्धिर्वसुन्धरा ॥१३३॥

लङ्घयेच्छास्त्रयुक्तानि हेतुयुक्तानि यानि च ।
स हि नश्यति वै राजा इह लोके परत्र च ॥१३४॥

मनस्तापं न कुर्वीत आपदं प्राप्य पार्थिवः ।
समबुद्धिः प्रसन्नात्मा सुखदुःखे समो भवेत् ॥१३५॥

धीराः कष्टमनुप्राप्य न भवन्ति विषादिनः ।
प्रविश्य वदनं राहोः किं नोदेति पुनः शशी ? ॥१३६॥

धिक् धिक् शरीरसुखलालितमानवेषु
मा खेदयेद्धनकृशं हि शरीरमेव ।
सद्दारका ह्यधनपाण्डुसुताः श्रुता हि
दुःखं विहाय पुनरेव सुखं प्रपन्नाः ॥१३७॥

गन्धर्वविद्यामालोक्य वाद्ये च गणिकागणाः ।
धनुर्वेदार्थशास्त्राणि लोके रक्षेच्च भूपतिः ॥१३८॥

कारणेन विना भृत्ये यस्तु कुप्यति पार्थिवः ।
स गृह्णाति विषोन्मादं कृष्णसर्पविसर्जितम् ॥१३९॥

चापलाद्वारयेद् दृष्टिं मिथ्यावाक्यञ्च वारयेत् ।
मानवे श्रोत्रिये चैव भृत्यवर्गे सदैव हि ॥१४०॥

लीलां करोति यो राजा भृत्यस्वजनगर्वितः ।
शासने सर्वदा क्षिप्रं रिपुभिः परिभूयते ।
विना दोषेण यो भृत्यान् राजाऽधर्मेण शास्ति च ॥१४१॥

हुङ्कारं भ्रूकुटिं नैव सदा कुर्वीत पार्थिवः ।
लीलासुखानि भोग्यानि त्यजेदिह महीपतिः ॥१४२॥
सुखप्रवृत्तैः साध्यन्ते शत्रवो विग्रहे स्थितैः ॥१४३॥
उद्योगः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ।
षड्विधो यस्य उत्साहस्तस्य देवोऽपि शङ्कते ॥१४४॥
उद्योगेन कृते कार्ये सिद्धिर्यस्य न विद्यते ।
दैवं तस्य प्रमाणं हि कर्त्तव्यं पौरुषं सदा ॥१४५॥
इति गारुडे महापुराणे नीतिसारे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ।

अथ द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ।

सूत उवाच—

भृत्या बहुविधा ज्ञेया उत्तमाधममध्यमाः ।
नियोक्तव्या यथार्हेषु त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥१४६॥
भृत्ये परीक्षणं वक्ष्ये यस्य यस्य हि ये गुणाः ।
तमिमं सम्प्रवक्ष्यामि यद्यद्यत् कथितानि च ॥१४७॥
यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणाच्छेदनतापताडनैः ।
तथा चतुर्भिर्भृतकं परीक्षयेत् व्रतेन शीलेन कुलेन कर्मणा ॥१४८॥
कुलशीलगुणोपेतः सत्यधर्मपरायणः ।
रूपवान् सुप्रसन्नश्च कोषाध्यक्षो विधीयते ॥१४९॥
मूल्यरूपपरीक्षाकृद्भवेद्रत्नपरीक्षकः ।
बलाबलपरीक्षाकृत् सेनाध्यक्षो विधीयते ॥१५०॥
इङ्गिताकारतत्त्वज्ञो बलवान् प्रियदर्शनः ।
अप्रमादी प्रमाथी च प्रतीहारः स उच्यते ॥१५१॥
मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
सर्वशास्त्रसमालोकी ह्येष साधुः स लेखकः ॥१५२॥
बुद्धिमान मतिमांश्चैव परचित्तोपलक्षकः ।
क्रूरो यथोक्तवादी च एष दूतो विधीयते ॥१५३॥
समस्तस्मृतिशास्त्रज्ञः पण्डितोऽथ जितेन्द्रियः ।
शौर्यवीर्यगुणोपेतो धर्माध्यक्षो विधीयते ॥१५४॥

पितृपैतामहो दक्षः शास्त्रज्ञः सत्यवाचकः ।
शुचिश्च कठिनश्चैव सूपकारः स उच्यते ॥१५५॥
आयुर्वेदकृताभ्यासः सर्वेषां प्रियदर्शनः ।
आयुःशीलगुणोपेतो वैद्य एष विधीयते ॥१५६॥
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो जपहोमपरायणः ।
आशीर्वादपरो नित्यमेष राजपुरोहितः ॥१५७॥
लेखकः पाठकश्चैव गणकः प्रतिबोधकः ।
आलस्ययुक्तश्चेद्राजा कर्मणो वर्जयेत्सदा ॥१५८॥
द्विजिह्वमुद्वेगकरं क्रूरमेकान्तदारुणम् ।
खलस्याहेश्च वदनमपकाराय केवलम् ॥१५९॥
दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययाऽलंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥१६०॥
अकारणाविष्कृतकोपधारिणः
खलाद्भयं कस्य न नाम जायते ।
विषं महाहेर्विषमस्य दुर्वचः
सुदुःसहं सन्निपतेत्सदा मुखे ॥१६१॥
तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञं व्यवसायिनम् ।
अर्द्धराज्यहरं भृत्यं यो हन्यात् स न हन्यते ॥१६२॥
शूरत्वयुक्ता मृदुमन्दवाक्या
जितेन्द्रियाः सत्यपराक्रमाश्च ।
प्रागेव पश्चाद्विपरीतरूपा
ये ते तु भृत्या न हिता भवन्ति ॥१६३॥
निरालस्याः सुसन्तुष्टाः सुस्वप्नाः प्रतिबोधकाः ।
सुखदुःखसमा धीरा भृत्या लोकेषु दुर्लभाः ॥१६४॥
क्षान्तिसत्यविहीनश्च क्रूरबुद्धिश्च निन्दकः ।
दाम्भिकः पेटुकश्चैव शठश्च स्पृहयान्वितः ।
अशक्तो भयभीतश्च राज्ञा त्यक्तव्य एव सः ॥१६५॥
सुसन्धानानि चास्त्राणि शस्त्राणि विविधानि च ।
दुर्गे प्रवेशितव्यानि ततः शत्रुं निपातयेत् ॥१६६॥
षण्मासमथ वर्षं वा सन्धिं कुर्यान्नराधिपः ।

पश्यन् सञ्चितमात्मानं पुनः शत्रुं निपातयेत् ॥१६७॥
मूर्खान्नियोजयेद्यस्तु त्रयोऽप्येते महीपतेः ।
अयशश्चार्थनाशश्च नरके चैव पातनम् ॥१६८॥
यत्किञ्चित्कुरुते कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
तेन स्म वर्द्धते राजा सूक्ष्मतो भृत्यकार्यतः ॥१६९॥
तस्माद् भूमीश्वरः प्राज्ञं धर्मकर्मार्थसाधने ।
नियोजयेद्धि सततं गोब्राह्मणहिताय च ॥१७०॥
इति गारुडे महापुराणे नीतिसारे द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥

अथ त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ।

सूत उवाच—

गुणवन्तं नियुञ्जीत गुणहीनं विवर्जयेत् ।
पण्डितस्य गुणाः सर्वे मूर्खे दोषाश्च केवलाः ॥१७१॥
सद्भिरासीत सततं सद्भिः कुर्वीत सङ्गतिम् ।
सद्भिर्विवादं मैत्रीञ्च नासद्भिः किञ्चिदाचरेत् ॥१७२॥
पण्डितैश्च विनीतैश्च धर्मज्ञैः सत्यवादिभिः ।
बन्धनस्थोऽपि तिष्ठेत न तु राज्ये खलैः सह ॥१७३॥
सावशेषाणि कार्याणि कुर्वन्नर्थैश्च युज्यते ।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ॥१७४॥
मधुहेव दुहेद्राष्ट्रं कुसुमञ्च न पातयेत् ।
वत्सापेक्षी दुहेत्क्षीरं भूमिं गाञ्चैव पार्थिवः ॥१७५॥
यथा क्रमेण पुष्पेभ्यश्चिनुते मधु षट्पदः ।
तथा वित्तमुपादाय राजा कुर्वीत सञ्चयम् ॥१७६॥
वल्मीकं मधुजालञ्च शुक्लपक्षे तु चन्द्रमाः ।
राजद्रव्यञ्च भैक्ष्यञ्च स्तोकस्तोकेन वर्द्धते ॥१७७॥
अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य तु सञ्चयम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥१७८॥
वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।

अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥१७९॥
सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते पात्रं कुलं शीलेन रक्ष्यते ॥१८०॥
वरं विन्ध्याटव्यां निवसनमभुक्तस्य मरणं
वरं सर्पाकीर्णे शयनमथ कूपे निपतनम् ।
वरं भ्रान्तावर्त्ते सभयजलमध्ये प्रविशनं
नतु स्वीये पक्षे तु धनमणु देहीति कथनम् ॥१८१॥
भाग्यक्षयेषु क्षीयन्ते नोपभोगेन सम्पदः ।
पूर्वार्जिते हि सुकृते न नश्यन्ति कदाचन ॥१८२॥
विप्राणां भूषणं विद्या पृथिव्या भूषणं नृपः ।
नभसो भूषणं चन्द्रः शीलं सर्वस्य भूषणम् ॥१८३॥
एते ते चन्द्रतुल्याः क्षितिपतितनया भीमसेनार्जुनाद्याः
शूराः सत्यप्रतिज्ञा दिनकरवपुषा केशवेनोपगूढाः ।
ते वै दुष्टग्रहस्थाः कृपणवशगता भैक्ष्यचर्यां प्रयाताः
को वा कस्मिन् समर्थो भवति विधिवशाद् भ्राम्यते कर्मरेखा ॥१८४॥
ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे ।
रुद्रो येन कपालपाणिपुरमरो भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥१८५॥
दाता बलिर्याचनको मुरारिर्दानं मही विप्रमुखस्य मध्ये ।
दत्त्वा फलं बन्धनमेव लब्धं नमोऽस्तु ते दैव! यथेष्टकारिणे ॥१८६॥
माता यदि भवेल्लक्ष्मीः पिता साक्षाज्जनार्दनः ।
कुबुद्धिप्रतिपत्तिश्चेत् तद्दण्डं विधृतं सदा ॥१८७॥
येन येन यथा यद्वत् पुरा कर्म सुनिश्चितम् ।
स तदेवान्तरा भुङ्क्ते स्वयमाहितमात्मनः ॥१८८॥
आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् ।
गर्भशय्यामुपादाय भुङ्क्ते वै पौर्वदेहिकम् ॥१८९॥
न चान्तरीक्षे न समुद्रमध्ये न पर्वतानां विविधप्रदेशे ।
न मातृमूर्ध्नि प्रधृतस्तथाङ्के त्यक्तुं क्षमः कर्मकृतं नरो हि ॥१९०॥

दुर्गस्त्रिकूटः परिखा समुद्रो रक्षांसि योधाः परमा च वृत्तिः ।
शास्त्रं च वै तूशनसा प्रदिष्टं स रावणः कालवशाद्विनष्टः ॥१६१॥
यस्मिन् वयसि यत्काले यद्दिवा यच्च वा निशि ।
यन्मुहूर्ते क्षणे वापि तत्तथा न तदन्यथा ॥१६२॥
गच्छन्ति चान्तरीक्षे वा प्रविशन्ति महीतले ।
धारयन्ति दिशः सर्वा नादत्तमुपलभ्यते ॥१६३॥
पुराधीता च या विद्या पुरा दत्तञ्च यद्धनम् ।
पुरा कृतानि कर्माणि ह्यग्रे धावन्ति धावतः ॥१६४॥
कर्माण्यत्र प्रधानानि सम्यगृक्षे शुभग्रहे ।
वसिष्ठकृतलग्नेऽपि जानकी दुःखभाजनम् ॥१६५॥
स्थूलजङ्घो यदा रामः शब्दगामी च लक्ष्मणः ।
घनकेशी यथा सीता त्रयस्ते दुःखभाजनम् ॥१६६॥
न पितृकर्मणा पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा ।
कर्मजन्यशरीरेषु रोगाः शारीरमानसाः ॥१६७॥
शरा इव पतन्तीह विमुक्ता दृढधन्विनः ।
अतो वै शास्त्रगर्भिण्या धिया धीरोऽर्थमीहते ॥१६८॥
बालो युवा च वृद्धश्च यः करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि ॥१६९॥
अनिच्छमानोऽपि नरो विदेशस्थोऽपि मानवः ।
स्वकर्मपोतवातेन नीयते यत्र तत् फलम् ॥२००॥
प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि तं वारयितुं न शक्तः ।
अतो न शोचामि न विस्मयो मे ललाटलेखा न पुनः प्रयाति ॥
(यदस्मदीयं नतु तत्परेषाम् ॥२०१॥
सर्पः कूपे गजः स्कन्धे आखुर्बिले च धावति ।
नरः शीघ्रतरादेव कर्मणः कः पलायते ॥२०२॥
नाल्पायति हि सद्विद्या दीयमानापि वर्द्धते ।
कूपस्थमिव पानीयं भवत्येव बहूदकम् ॥२०३॥
येऽर्था धर्मेण ते सत्या ये धर्मेण गताः श्रियः ।
धर्मार्थी च महान् लोके तत् स्मृत्वा ह्यर्थकारणात् ॥२०४॥
अन्नार्थी यानि दुःखानि करोति कृपणो जनः ।

तान्येव यदि धर्मार्थी न भूयः क्लेशभाजनम् ॥२०५॥
सर्वेषामेव शौचानामन्नशौचं विशिष्यते ।
योऽन्नार्थैरशुचिः शौचान्न मृदा वारिणा शुचिः ॥२०६॥
सत्यं शौचं मनः शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूते दया शौचं जलशौचञ्च पञ्चमम् ॥२०७॥
यस्य सत्यं च शौचं च तस्य स्वर्गो न दुर्लभः ।
सत्यं हि वचनं यस्य सोऽश्वमेधाद्विशिष्यते ॥२०८॥
मृत्तिकानां सहस्रेण उदकानां शतेन च ।
न शुध्यति दुराचारो भावोपहतचेतनः ॥२०९॥
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥२१०॥
न प्रहृष्यति सम्माने नावमानेन कुप्यति ।
न क्रुद्धः परुषं ब्रूयादेतत् साधोस्तु लक्षणम् ॥२११॥
दरिद्रस्य मनुष्यस्य प्राज्ञस्य मधुरस्य च ।
काले श्रुत्वा हितं वाक्यं न कश्चित्परितुष्यते ॥२१२॥
न मन्त्रबलवीर्येण प्रज्ञया पौरुषेण च ।
अलभ्यं लभ्यते मर्त्यैस्तत्र का परिवेदना ॥२१३॥
अयाचितो मया लब्धो मत्प्रेषितः पुनर्गतः ।
यत्रागतस्तत्र गतस्तत्र का परिवेदना ॥२१४॥
एकवृक्षे सदा रात्रौ नानापक्षिसमागमः ।
प्रभातेऽन्यदिशं यान्ति का तत्र परिवेदना ॥२१५॥
एकस्वार्थप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम् ।
यस्त्वेकस्त्वरितो याति का तत्र परिवेदना ॥२१६॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि शौनक !
अव्यक्तनिधनान्येव का तत्र परिवेदना ॥२१७॥
नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि ।
कुशाग्रेण तु संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥२१८॥
लब्धव्यान्येव लभते गन्तव्यान्येव गच्छति ।
प्राप्तव्यान्येव प्राप्नोति दुःखानि च सुखानि च ॥२१९॥
ततः प्राप्नोति पुरुषः किं प्रलापं करिष्यति ।

आच्छोद्यमानानि तथा पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वकालं नातिवर्त्तन्ते यथा कर्म पुराकृतम् ॥२२०॥
शीलं कुलं नैव न चैव विद्या
ज्ञानं गुणा नैव न बीजशुद्धिः ।
भाग्यानि पूर्वं तपसार्जितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥२२१॥
तत्र मृत्युर्यत्र हन्ता तत्र श्रीर्यत्र सम्पदः ।
तत्र तत्र स्वयं याति प्रेष्यमाणः स्वकर्मभिः ॥२२२॥
भूतपूर्वं कृतं कर्म कर्त्तारमनुतिष्ठति ।
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ॥२२३॥
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुतिष्ठति ।
सुकृतं भुङ्क्ष्व चात्मीयं मूढः किं परितप्यसे ? ॥२२४॥
यथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुतिष्ठति ।
एवं पूर्वकृतं कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥२२५॥
नीचः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥२२६॥
रागद्वेषादियुक्तानां न सुखं कुत्रचिद् द्विज !
विचार्य खलु पश्यामि तत् सुखं यत्र निर्वृतिः ॥२२७॥
यत्र स्नेहो भयं तत्र स्नेहो दुःखस्य भाजनम् ।
स्नेहमूलानि दुःखानि तस्मिंस्त्यक्ते महत्सुखम् ॥२२८॥
शरीरमेवायतनं दुःखस्य च सुखस्य च ।
जीवितञ्च शरीरञ्च जात्यैव सह जायते ॥२२९॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥२३०॥
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखं दुःखं मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्त्तते ॥२३१॥
यद् गतं तदतिक्रान्तं यदि स्यात्तच्च दूरतः ।
वर्त्तमानेन वर्तेत न स शोकेन बाध्यते ॥२३२॥

इति गारुडे महापुराणे नीतिसारे त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ।

सूत उवाच—

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः ।
कारणादेव जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥२३३॥
शोकत्राणं भयत्राणं प्रीतिविश्वासभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥२३४॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥२३५॥
न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे ।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृक् मित्रे स्वभावजे ॥२३६॥
यदीच्छेत् शाश्वतीं प्रीतिं त्रीणि दोषाणि वर्जयेत् ।
द्यूतमर्थप्रयोगञ्च परोक्षे दारदर्शनम् ॥२३७॥
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासने वसेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥२३८॥
विपरीतरतिः कामः स्वायत्तेषु न विद्यते ।
यत्रापायो वधो दण्डस्तत्रैव ह्यनुवर्त्तते ॥२३९॥
अपि कल्पानिलस्यैव तुरगस्य महोदधेः ।
शक्यते प्रसरो रोद्धुं न ह्यरक्तस्य चेतसः ॥२४०॥
क्षणो नास्ति रहो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता जनः ।
तेन शौनक ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥२४१॥
एकं वै सेवते नित्यमन्यं चेतसि रोचते ।
पुरुषाणामलाभेन नारी चैव पतिव्रता ॥२४२॥
जननी यानि कुरुते रहस्यं मदनातुरा ।
सुतैस्तानि न चिन्त्यानि शीलविप्रतिपत्तिभिः ॥२४३॥
पराधीना निद्रा परहृदयकृत्यानुशरणं
सदा हेलाहास्यं नियतमपि शोकेन रहितम् ।
पणो न्यस्तः कायः विटजनखुरैर्दारितगलो
बहूत्कण्ठावृत्तिर्गति गणिकाया बहुमतः ॥२४४॥
अप्निरापः स्त्रियो मूर्खाः सर्पा राजकुलानि च ।

नित्यं परोपसेव्यानि सद्यः प्राणहराणि षट् ॥२४५॥
किं चित्रं यदि शब्दशास्त्रकुशलो विप्रो भवेत्पण्डितः ?
किं चित्रं यदि दण्डनीतिकुशलो राजा भवेद्धार्मिकः ?
किं चित्रं यदि रूपयौवनवती योषिन्न साध्वी भवेत् ?
किं चित्रं यदि निर्धनोऽपि पुरुषः पापं न कुर्यात्कचित्?॥२४६॥
नात्मच्छिद्रं परे दद्याद् विद्याच्छिद्रं परस्य च।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि परभावञ्च लक्षयेत् ॥२४७॥
पातालतलवासिन्य उच्चप्राकारच्छादिताः ।
यदि नो चिकुरोद्भेदः स्त्रियः केनोपलभ्यते ॥२४८॥
समधर्मो हि मर्मज्ञस्तीक्ष्णः स्वजनकण्टकः ।
न तथा बाधते शत्रुः कृतवैरो बहिःस्थितः ॥२४९॥
स पण्डितो यो ह्यनुरञ्जयेद्वै
मिष्टेन बालं विनयेन शिष्टम् ।
अर्थेन नारीं तपसा हि देवान्
सर्वांश्च लोकांश्च सुसंग्रहेण ॥२५०॥
छलेन मित्रं कलुषेण धर्मं परोपतापेन समृद्धिभावम् ।
सुखेन विद्यां परुषेण नारीं वाञ्छन्ति वै ये नच पण्डितास्ते ॥२५१॥
फलार्थी फलिनं वृक्षं यश्छिन्द्याद् दुर्मतिर्नरः।
निष्फलं तस्य वै कार्यं तन्मूलं दोषमाप्नुयात् ॥२५२॥
सधनो हि तपस्वी च दूरतो वै कृतश्रमः।
मद्यपा स्त्री सतीत्येवं विप्र ! न श्रद्दधाम्यहम् ॥२५३॥
न विश्वसेदविश्वस्ते मित्रस्यापि न विश्वसेत् ।
कदाचित्कुपितं मित्रं सर्वं गुह्यं प्रकाशयेत् ॥२५४॥
सर्वभूतेषु विश्वासः सर्वभूतेषु सात्त्विकः ।
स्वभावमात्मना गुह्यमेतत्साधोर्हि लक्षणम् ॥२५५॥
यस्मिन् कस्मिन् कृते कार्ये कर्त्तारमनुवर्त्तते ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि धैर्यबुद्धिं तु कारयेत् ॥२५६॥
वृद्धाः स्त्रियो नवं मद्यं शुष्कं मांसं त्रिमूलकम् ।
रात्रौ दधि दिवा स्वप्नं विद्वान् षट् परिवर्जयेत् ॥२५७॥
विषं गोष्ठी दरिद्रस्य वृद्धस्य तरुणी विषम् ।

विषं कुशिक्षिता विद्या अजीर्णे भोजनं विषम् ॥२५८॥
प्रियं दानमकुण्ठस्य नीचस्योच्चासनं प्रियम् ।
प्रियं दानं दरिद्रस्य यूनश्च तरुणी प्रिया ॥२५६॥
अत्यम्बुपानं कठिनाशनञ्च धातुक्षयो वेगविधारणञ्च ।
दिवाशयो जागरणञ्च रात्रौ षड्भिर्नराणां निवसन्ति रोगाः॥२६०॥
बालातपश्चाप्यतिमैथुनञ्च श्मशानधूमः करतापनञ्च ।
रजस्वलावक्त्रनिरीक्षणञ्च सुदीर्घमायुस्त्वपि कर्षयेच ॥२६१॥
शुष्कं मांसं स्त्रियो वृद्धा बालार्कस्तरुणं दधि ।
प्रभाते मैथुनं निद्रा सद्यः प्राणहराणि षट् ॥२६२॥
सद्यः पक्वघृतं द्राक्षा बाला स्त्री क्षीरभोजनम् ।
उष्णोदकं तरुच्छाया सद्यः प्राणकराणि षट् ॥२६३॥
कूपोदकं वटच्छाया नारीणां च पयोधरः ।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम् ॥२६४॥
सद्यो बलकराक्षीणि बालाभ्यङ्गसुभोजनम ।
सद्यो बलहरास्त्रीणि अध्वा च मैथुनं ज्वरः ॥२६५॥
शुष्कं मांसं पयो नित्यं भार्यामित्रैः सहैव तु ।
न भोक्तव्यं नृपैः सार्द्धं वियोगं कुरुते क्षणात् ॥२६६॥
कुचेलिनं दन्तमलापधारिणं
बह्वाशिनं निष्ठुरवाक्यभाषिणम् ।
सूर्योदये ह्यस्तमयेऽपि शायिनं
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिनम् ॥२६७॥
नित्यं छेदस्तृणानां धरणिविलिखनं पादयोश्चापमार्ष्टि-
र्दन्तानामप्यशौचं मलिनवसनता रूक्षता मूर्द्धजानाम् ।
द्वे सन्ध्ये चापि निद्रा विवसनशयनं ग्रासहासातिरेकः
स्वाङ्गे पीठे च वाद्यं निधनमुपनयेत्केशवस्यापि लक्ष्मीम्॥२६८॥
शिरः सुधौतं चरणौ सुमार्जितौ
वराङ्गनासेवनमल्पभोजनम् ।
अनग्नशायित्वमपर्वमैथुनं
चिरप्रनष्टां श्रियमानयन्ति षट् ॥२६९॥
पक्ष्य लक्ष्य तु पुष्पस्य पावकस्य विशेषतः ।

शिरसा धार्यमाणस्य अलक्ष्मीः प्रतिहन्यते ॥२७०॥
दीपस्य पश्चिमा छाया छाया शय्यासनस्य च ।
रजकस्य तु यत्तीर्थमलक्ष्मीस्तत्र तिष्ठति ॥२७१॥
बालातपः प्रेतधूपः स्त्री वृद्धा तरुणं दधि ।
आयुष्कामो न सेवेत तथा सम्मार्जनीरजः ॥२७२॥
गजाश्वरथधान्यानां गवाश्चैव रजः शुभम् ।
अशुभञ्च विजानीयात् खरोष्ट्राजाविकेषु च ॥२७३॥
गवां रजो धान्यरजः पुत्रस्याङ्गभवं रजः ।
एतद्रजो महाशस्तं महापातकनाशनम् ॥२७४॥
अजारजः खररजो यत्तु सम्मार्जनीरजः ।
एतद्रजो महापापं महाकिल्बिषकारकम् ॥२७५॥
शूर्पवातो नखाग्राम्बु स्नानवस्त्रमृजोदकम् ।
मार्जनीरेणुः केशाम्बु हन्ति पुण्यं पुरा कृतम् ॥२७६॥
विप्रयोर्विप्रवह्न्योश्च दम्पत्योः स्वामिनोस्तथा ।
अन्तरेण न गन्तव्यं हयस्य वृषभस्य च ॥२७७॥
स्त्रीषु राजाग्निसर्पेषु स्वाध्याये शत्रुसेवने ।
भोगास्वादेषु विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ? ॥२७८॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥२७९॥
वैरिणा सह सन्धाय विश्वस्तो यदि तिष्ठति ।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो हि पतितः प्रतिबुध्यते ॥२८०॥
नात्यन्तं मृदुना भाव्यं नात्यन्तं क्रूरकर्मणा ।
मृदुनैव मृदुं हन्ति दारुणेनैव दारुणम् ॥२८१॥
नात्यन्तं सरलैर्भाव्यं नात्यन्तं मृदुना तथा ।
सरलास्तत्र छिद्यन्ते कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥२८२॥
नमन्ति फलिनो वृक्षा नमन्ति गुणिनो जनाः ।
शुष्कवृक्षाश्च मूर्खाश्च भिद्यन्ते न नमन्ति च ॥२८३॥
अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायान्ति यान्ति च ।
मार्जार इव लुम्पेत तथा प्रार्थयते नरः ॥२८४॥
पूर्वं पश्चाच्चरन्त्यार्ये सदैव बहुसम्पदः ।

विपरीतमनार्यं च यथेच्छसि तथा चर ॥२८५॥
षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णश्च धार्यते ।
द्विकर्णस्य तु मन्त्रस्य ब्रह्माप्येको न बुध्यते ॥२८६॥
तया गवा किं क्रियते या न दोग्ध्री न गर्भिणी ।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः ॥२८७॥
एकेनापि सुपुत्रेण विद्यायुक्तेन धीमता ।
कुलं पुरुषसिंहेन चन्द्रेण गगनं यथा ॥२८८॥
एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना ।
वनं सुवासितं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा ॥२८९॥
एको हि गुणवान् पुत्रो निर्गुणेन शतेन किम् ?
चन्द्रो हन्ति तमांस्येको नच ज्योतिः सहस्रशः ॥२९०॥
लालयेत्पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् ॥२९१॥
जायमानो हरेद् दारान् वर्धमानो हरेद्धनम् ।
म्रियमाणो हरेत्प्राणान् नास्ति पुत्रसमो रिपुः ॥२९२॥
केचिन्मृगमुखा व्याघ्राः केचिद् व्याघ्रमुखा मृगाः ।
तत्स्वरूपपरिज्ञाने ह्यविश्वासः पदे पदे ॥२९३॥
एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥२९४॥
एतदेवानुमन्येत भोगा हि क्षणभङ्गिनः ।
स्निग्धेषु च विदग्धस्य मतयो वै ह्यनाकुलाः ॥२९५॥
ज्येष्ठः पितृसमो भ्राता मृते पितरि शौनक !
सर्वेषां स पिता हि स्यात्सर्वेषामनुपालकः ॥२९६॥
कनिष्ठेषु च सर्वेषु समत्वेनानुवर्तते ।
समोपभोगजीवेषु यथैव तनयेषु च ॥२९७॥
बहूनामप्यसाराणां समुदायो हि दारुणः ।
तृणैरावेष्टिता रज्जुस्तया नागोऽपि बध्यते ॥२९८॥
अपहृत्य परस्वं हि यस्तु दानं प्रयच्छति ।
स दाता नरकं याति यस्यार्थस्तस्य तत्फलम् ॥२९९॥
देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।

ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਿਜ ਮੈਗਜ਼ੀਨ, ਲਾਹੌਰ।

ਹਿੱਸਾ ੧੯ ਵਾਂ ਨੰਬਰ ੩	ਮਈ ੧੯੪੩	ਕੁਲ ਨੰ: ੭੩

ਐਡੀਟਰ—ਬਲਦੇਵ ਸਿੰਘ

ਲੇਖ ਸੂਚੀ।

ਕੁਝ ਜ਼ਰੂਰੀ ਗੱਲਾਂ

ਇਸ ਮੈਗਜ਼ੀਨ ਵਿਚ ਕੇਵਲ ਖੋਜ ਤੇ ਡੂੰਘੀ ਵਿਚਾਰ ਭਰੇ ਲੇਖ ਹੀ ਛਾਪਨ ਦਾ ਜਤਨ ਕੀਤਾ ਜਾਵੇਗਾ॥

(੨) ਇਹ ਪਤ੍ਰਿਕਾ ਸਾਲ ਵਿੱਚ ਚਾਰ ਵਾਰੀ ਅਥਵਾ ਕਾਲਜ ਦੀ ਪੜ੍ਹਾਈ ਦੇ ਸਾਲ ਅਨੁਸਾਰ, ਨਵੰਬਰ, ਫ਼ਰਵਰੀ, ਮਈ ਅਤੇ ਅਗਸਤ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਹੋਵੇਗੀ॥

(੩) ਇਸ ਦਾ ਸਾਲਾਨਾ ਚੰਦਾ ੩) ਹੋਵੇਗਾ ਅਰ ਵਿਦਯਾਰਥੀਆਂ ਕੋਲੋਂ ਕੇਵਲ ੧॥) ਹੀ ਲਿਆ ਜਾਵੇਗਾ॥

(੪) ਚੰਦਾ ਪ੍ਰਿੰਸੀਪਲ ਸਾਹਿਬ, ਪੰਜਾਬ ਯੂਨੀਵਰਸਿਟੀ ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਿਜ, ਲਾਹੌਰ ਦੇ ਨਾਮ ਭੇਜਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ॥

ਐਡੀਟਰ

ਵੀਰਤਾ।

(ਪਿਛੇ ਤੋਂ ਅੱਗੇ)

ਹੈ। ਜਿਸ ਮਨੁਖ ਨੇ ਯੋਰਪ ਨੂੰ 'ਕ੍ਰਸੇਡਜ਼' ਦੇ ਲਈ ਹਿਲਾ ਦਿੱਤਾ ਸੀ, ਉਹ ਉਨ੍ਹਾਂ ਸਾਰਿਆਂ ਨਾਲੋਂ ਬਹਾਦਰ ਸੀ ਜਿਹੜੇ ਲੜਾਈ ਵਿੱਚ ਲੜੇ ਸਨ। ਇਸ ਪੁਰਖ ਵਿਚ ਵੀਰਤਾ ਨੇ ਹੰਝੂਆਂ ਤੇ ਹਉਕਿਆਂ ਦਾ ਵੇਸ ਧਾਰਿਆ। ਵੇਖੋ, ਇਕ ਛੋਟਾ ਜਿਹਾ ਮਾਮੂਲੀ ਆਦਮੀ ਯੋਰਪ ਵਿੱਚ ਜਾਕੇ ਰੋਂਦਾ ਏ। ਸਾਡੇ ਤੀਰਥ ਸਾਡੇ ਵਾਸਤੇ ਖੁਲੇ ਨਹੀਂ, ਤੇ ਯਹੂਦ ਦੇ ਰਾਜੇ ਯੋਰਪ ਦੇ ਜਾਤਰੀਆਂ ਨੂੰ ਤੰਗ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਇਸ ਹੰਝੂ-ਭਿੰਨੀ ਅਪੀਲ ਨੂੰ ਸੁਣ ਕੇ ਸਾਰਾ ਯੋਰਪ ਉਸਦੇ ਨਾਲ ਰੋ ਪਿਆ। ਇਹ ਉੱਤਮ ਦਰਜੇ ਦੀ ਵੀਰਤਾ ਏ।

ਬੁਲਬੁਲ ਦੀ ਛਾਂ ਨੂੰ ਬੀਮਾਰ ਲੋਕ ਸਭ ਦਵਾਈਆਂ ਤੋਂ ਵਧ ਕੇ ਸਮਝਦੇ ਹਨ। ਉਸਦੇ ਦਰਸ਼ਨਾਂ ਨਾਲ ਹੀ ਕਿੰਨੇ ਬਿਮਾਰ ਚੰਗੇ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਇਹ ਅੱਵਲ ਦਰਜੇ ਦਾ ਸੱਚਾ ਪੰਛੀ ਏ, ਜਿਹੜਾ ਬਿਮਾਰਾਂ ਦੇ ਸਰ੍ਹਾਣੇ ਖਲੋਕੇ ਦਿਨਰਾਤ ਗਰੀਬਾਂ ਦੀ ਨਿਸ਼ਕਾਮ ਸੇਵਾ ਕਰਦਾ ਏ। ਤੇ ਗੰਦੇ ਜ਼ਖਮਾਂ ਨੂੰ ਲੋੜ ਵੇਲੇ ਅਪਣੇ ਮੂੰਹ ਨਾਲ ਚੂਸ ਕੇ ਸਾਫ ਕਰਦਾ ਏ। ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਦਿਲ ਤੇ ਅਜਿਹੇ ਪਿਆਰ ਦਾ ਰਾਜ ਅਟਲ ਏ। ਇਹ ਵੀਰਤਾ ਪਰਦਾ-ਨਸ਼ੀਨ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨੀ ਤੀਵੀਂ ਵਾਗੂੰ ਚਾਹੇ ਕਦੀ ਦੁਨੀਆਂ ਸਾਵੇਂ ਨ ਆਏ, ਇਤਿਹਾਸ ਦੇ ਵਰਕਿਆਂ ਦੇ ਕਾਲੇ ਅਖਰਾਂ ਵਿੱਚ ਨਾ ਆਏ,ਤਾਂ ਵੀ ਸੰਸਾਰ ਏਜੇ ਬਲ ਤੇ ਜਿਉਂਦਾ ਏ।

ਵੀਰ ਪੁਰਖ ਦਾ ਦਿਲ ਸੱਭ ਦਾ ਦਿਲ ਹੋ ਜਾਂਦਾ ਏ। ਉਸਦਾ ਮਨ ਸਭ ਦਾ ਮਨ ਹੁੰਦਾ ਏ। ਉਸਦੇ ਖ਼ਿਆਲ ਸਭ ਦੇ ਖਿਆਲ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਨੇ। ਉਸਦੇ ਸੰਕਲਪ (ਅਥਵਾ ਖਿਆਲ) ਸਭ ਦੇ ਸੰਕਲਪ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਉਸਦੀ ਤਾਕਤ ਸਭ ਦੀ ਤਾਕਤ ਹੋ ਜਾਂਦੀ ਏ। ਉਹ ਸਾਰਿਆਂ ਦਾ ਤੇ ਸਾਰੇ ਉਸਦੇ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਨ।

ਵੀਰਾਂ ਨੂੰ ਬਣਾਉਣ ਦੇ ਕਾਰਖਾਨੇ ਕਾਇਮ ਨਹੀਂ ਹੋ ਸਕਦੇ। ਓਹ ਤਾਂ ਦਿਓਦਾਰ ਦੇ ਰੁੱਖਾਂ ਵਾਂਙੂ ਜੀਵਨ ਦੇ ਜੰਗਲ ਵਿੱਚ ਆਪ ਮੁਹਾਰੇ ਪੈਦਾ ਹੁੰਦੇ ਹਨ ਤੇ ਬਿਨਾ ਕਿਸੇ ਦੇ ਪਾਣੀ ਦਿੱਤੇ। ਬਿਨਾ ਕਿਸੇ ਦੇ ਦੁੱਧ ਪਿਲਾਏ, ਬਿਨਾ ਕਿਸੇ ਦੇ ਹਥ ਲਾਏ ਤਿਆਰ ਹੁੰਦੇ ਹਨ। ਦੁਨੀਆਂ ਦੇ ਮੈਦਾਨ ਵਿੱਚ ਅਚਾਨਕ ਹੀ ਸਾਵ੍ਹੇਂ ਆ ਖਲੋਂਦੇ ਹਨ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਸਾਰਾ ਜੀਵਨ ਅੰਦਰ-ਹੀ-ਅੰਦਰ ਹੁੰਦਾ ਏ। ਬਾਹਰ ਤਾਂ ਜਵਾਹਰਾਂ ਦੀ ਖ਼ਾਨਾਂ ਦੀ ਓਪਰਲੀ ਭੋਂ ਵਾਂਙੂ ਕੁਝ ਵੀ ਨਜ਼ਰੀਂ ਨਹੀਂ ਆਉਂਦਾ। ਵੀਰ ਦੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਮੁਸ਼ਕਿਲ ਨਾਲ ਹੀ ਕਦੀ ਕਦੀ ਬਾਹਰ ਨਜ਼ਰ ਆਉਂਦੀ ਏ। ਓਨਾ ਦਾ ਸਭਾਵ ਲੁਕੇ ਰਹਿਣ ਦਾ ਹੈ।

ਪੁਸਤਕਾਂ ਤੇ ਅਖਵਾਰਾਂ ਦੇ ਪੜ੍ਹਨ ਨਾਲ ਯਾ ਵਿਦਵਾਨਾਂ ਦੇ ਵਖਿਆਨ ਸੁਣਨ ਨਾਲ ਤਾਂ ਬਸ ਡ੍ਰਾਇੰਗ-ਹਾਲ ਦੇ ਵੀਰ ਪਦਾ ਹੁੰਦੇ ਹਨ, ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਵੀਰਤਾ ਅਣਜਾਨ ਲੋਕਾਂ ਪਾਸੋਂ ਤਾਰੀਫ ਸੁਣਨ ਤਕ ਖ਼ਤਮ ਹੋ ਜਾਂਦੀ ਏ। ਅਸਲੀ ਵੀਰ ਤਾਂ ਦੁਨੀਆਂ ਦੀ ਬਨਾਵਟ ਤੇ ਲਿਖਾਵਟ ਦੇ ਮਖੌਲਾਂ ਲਈ ਨਹੀਂ ਜਿਊਂਦੇ।

ਹਰ ਵਾਰ ਵਖਾਲੇ ਤੇ ਉਜਾਗਰੀ ਲਈ ਛਾਤੀ ਠੋਕ ਕੇ ਅਗੇ ਵਧਨਾ ਅਤੇ ਫੇਰ ਪਿੱਛੇ ਹਟਣਾ ਪਹਿਲੇ ਦਰਜੇ ਦੀ ਬੁਜ਼ਦਿਲੀ ਹੈ। ਵੀਰ ਤਾਂ ਇਹ ਸਮਝਦਾ ਏ ਕਿ ਮਨੁੱਖ ਦਾ ਜੀਵਨ ਇਕ ਜ਼ਰਾ ਜਿੰਨੀ ਚੀਜ਼ ਏ । ਇਹ ਸਿਰਫ ਇਕ ਵਾਰ ਲਈ ਕਾਫੀ ਏ। ਮਾਨੋਂ ਇਸ ਬੰਦੂਕ ਵਿੱਚ ਇਕ ਹੀ ਗੋਲਾ ਏ । ਹਾਂ, ਕਾਇਰ ਪੁਰਖ ਇਸਨੂੰ ਬੜਾ ਹੀ ਕੀਮਤੀ ਤੇ ਕਦੀ ਵੀ ਨਾ ਟੁੱਟਣ ਵਾਲਾ ਹਥਿਆਰ ਸਮਝਦੇ ਹਨ। ਹਰ ਘੜੀ ਅਗੇ ਵਧ ਕੇ ਤੇ ਵਿਖਾ ਕੇ ਅਸੀਂ ਵੱਡੇ ਹਾਂ, ਉਹ ਫਰ ਏਸ ਗ਼ਰਜ਼ ਲਈ ਪਿੱਛੇ ਹਟ ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਅਨਮੋਲ ਜੀਵਨ ਕਿਸੇ ਹੋਰ ਜ਼ਿਆਦਾ ਵੱਡੇ ਲਈ ਬਚ ਜਾਵੇ। ਬੱਦਲ ਗਜ ੨ ਕੇ ਇੰਜ ਹੀ ਚਲੇ ਜਾਂਦੇ ਹਨ– ਅਗੇ ਵਧੇ ਚਲੇ ਜਾਂਦੇ ਹਨ, ਪਰ ਬੱਸਣ ਵਾਲੇ ਬੱਦਲ ਥੋੜੀ ਦੇਰ ਵਿੱਚ ਬਾਰਾਂ ਇੰਚ ਤਕ ਵਰ੍ਹ ਜਾਂਦੇ ਹਨ।

ਕਾਇਰ ਪੁਰਖ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ–"ਅੱਗੇ ਵਧੀ ਚਲੋ।" ਵੀਰ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ–"ਪਿਛੇ ਹਟੀ ਚਲੋ।" ਕਾਇਰ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ–"ਚੁੱਕੋ ਤਲਵਾਰ ਵੀਰ, ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ–"ਸਿਰ ਅੱਗੇ ਕਰੋ। ਵੀਰ ਦਾ ਜੀਵਨ ਕੁਦਰਤ ਨੇ ਆਪਣੀ ਸ਼ਕਤੀਆਂ ਨੂੰ ਫਜ਼ੂਲ ਗਵਾ ਦੇਣ ਲਈ ਨਹੀਂ ਬਣਾਇਆ। ਵੀਰ ਪੁਰਖ ਦਾ ਸਰੀਰ ਕੁਦਰਤ ਦੀ ਕੁਲ ਤਾਕਤ ਦਾ ਭੰਡਾਰ ਹੈ। ਕੁਦਰਤ ਦਾ ਇਹ ਮਰਕਜ਼ ਹਿਲ ਨਹੀਂ ਸਕਦਾ । ਸੂਰਜ ਦਾ ਚੱਕਰ ਹਿਲ ਜਾਏ ਤਾਂ ਹਿਲ ਜਾਏ, ਪਰ ਵੀਰ ਦੇ ਦਿਲ ਵਿੱਚ ਜੋ ਰੱਬੀ ਕੇਂਦਰ ਹੈ ਉਹ ਅਚਲ ਹੈ। ਕੁਦਰਤ ਦੇ ਹੋਰ ਪਦਾਰਥਾਂ ਦੀ ਪਾਲਿਸੀ ਚਾਹੇ ਅੱਗੇ ਵਧਨ ਦੀ ਹੋਵੇ; ਅਰਥਾਤ ਆਪਣੀ ਤਾਕਤ ਨੂੰ ਨਾਸ ਕਰਨ ਦੀ ਹੋਵੇ ਪਰ ਵੀਰਾਂ ਦੀ ਪਾਲਿਸੀ ਤਾਕਤ ਨੂੰ ਹਰ ਤਰਾਂ ਇਕੱਠਾ ਕਰਨ ਤੇ ਵਧਾਨ ਦੀ ਹੁੰਦੀ ਏ । ਵੀਰ ਤਾਂ ਅਪਣੇ ਅੰਦਰ ਹੀ 'ਮਾਰਚ' ਕਰਦੇ ਹਨ; ਕਿਉਂਕਿ ਹਿਰਦਾ-ਆਕਾਸ਼ ਦੇ ਕੇਂਦਰ ਵਿਚ ਖੜੇ ਹੋ ਕੇ ਉਹ ਸਾਰੇ ਸੰਸਾਰ ਨੂੰ ਹਿਲਾ ਸਕਦੇ ਹਨ।

ਵੇਚਾਰੀ ਮਰੀਅਮ ਦਾ ਲਾਡਲਾ, ਖ਼ੂਬਸੂਰਤ ਜਵਾਨ, ਆਪਣੇ ਮਦ ਵਿੱਚ ਮਤਵਾਲਾ ਤੇ ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਸ਼ਹਨਸ਼ਾਹ ਹਕੀਕੀ ਕਹਿਣ ਵਾਲਾ ਈਸਾ ਮਸੀਹ ਓਸ ਵੇਲੇ ਕਮਜ਼ੋਰ ਮਲੂਮ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਜਦ ਭਾਰੀ ਸਲੀਬ ਤੇ ਉਠਕੇ ਕਦੀ ਡਿਗਦਾ ਕਦੀ ਜ਼ਖਮੀ ਹੁੰਦਾ ਤੇ ਕਦੀ ਬੇਹੋਸ਼ ਹੋ ਜਾਂਦਾ ਏ? ਕੋਈ ਪੱਥਰ ਮਾਰਦਾ ਏ, ਕੋਈ ਢੀਮਾ ਮਾਰਦਾ ਏ, ਕੋਈ ਥੁਕਦਾ ਏ, ਪਰ ਓਸ ਮਰਦ ਦਾ ਦਿਲ ਨਹੀਂ ਹਿਲਦਾ।

ਕੋਈ ਹੌਲੇ ਦਿਲ ਦਾ ਕਾਇਰ ਹੁੰਦਾ, ਤਾਂ ਆਪਣੀ ਬਾਦਸ਼ਾਹਤ ਦੇ ਬਲ ਦੀਆਂ ਗੁਥੀਆਂ ਖੋਲ੍ਹ ਦੇਂਦਾ ; ਆਪਣੀ ਤਾਕਤ ਨੂੰ ਨਾਸ ਕਰ ਦੇਂਦਾ ; ਅਤੇ ਮੁਮਕਿਨ ਹੈ, ਇਕ ਨਜ਼ਰ ਨਾਲ ਉਸ ਸਲਤਨਤ ਦੇ ਤਖਤੇ ਨੂੰ ਉਲਟ ਦੇਂਦਾ ਤੇ ਮੁਸੀਬਤ ਨੂੰ ਟਾਲ ਦੇਂਦਾ, ਪਰ ਜਿਸਨੂੰ ਅਸੀਂ ਮੁਸੀਬਤ ਸਮਝਦੇ ਹਾਂ, ਉਹ ਉਸਨੂੰ ਮਖੌਲ ਸਮਝਦਾ ਸੀ। "ਸੂਲ਼ੀ ਮੈਨੂੰ ਏ ਸੇਜ ਯਾਰ ਦੀ, ਮੈਂ ਣ ਦੇਓ, ਮਿੱਠੀ ਮਿੱਠੀ ਨੀਂਦ ਏ ਆਉਂਦੀ"। ਅਰ ਈਸਾ ਨੂੰ ਭਲਾ ਦੁਨੀਆਂ ਦੇ ਵਿਸ਼ੇ-ਵਿਕਾਰ ਵਿੱਚ ਡੁਬੇ ਲੋਕ ਕੀ ਜਾਣ ਸਕਦੇ ਸਨ ? ਜੇ ਚਾਰ ਚਿੜੀਆਂ ਮਿਲਕੇ ਮੈਨੂੰ ਫਾਂਸੀ ਦਾ ਹੁਕਮ ਸੁਣਾ ਦੇਣ ਤੇ ਮੈਂ ਉਸ ਨੂੰ ਸੁਣ ਕੇ ਰੋ ਪਵਾਂ ਯਾ ਡਰ ਜਾਵਾਂ, ਤਾਂ ਮੇਰਾ ਆਦਰ ਚਿੜੀਆਂ ਤੋਂ ਵੀ ਘਟ ਹੋ ਜਾਏ। ਜਿੱਦਾਂ ਚਿੜੀਆਂ ਮੈਨੂੰ ਫਾਂਸੀ ਦੇ ਕੇ ਉਡ ਗਈਆਂ ਉਂਝ ਹੀ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਤੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹਤਾਂ ਅਜ ਮਿੱਟੀ ਵਿੱਚ ਮਿਲ ਗਈਆਂ ਹਨ। ਸਚਮੁਚ ਹੀ ਇਕ ਛੋਟਾ ਜਿਹਾ ਬਾਬਾ ਲੋਕਾਂ ਦਾ ਸੱਚਾ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਹੈ। ਚਿੜੀਆਂ ਯਾ ਜਾਨੌਰਾਂ ਦੀ ਕਚਹਿਰੀਆਂ ਦੇ ਫੈਸਲਿਆਂ ਤੋਂ ਜਿਹੜੇ ਡਰਦੇ ਜਾਂ ਮਰਦੇ ਨੇ, ਉਹ ਮਨੁੱਖ ਨਹੀਂ ਹੋ ਸਕਦੇ। ਰਾਣਾ ਜੀ ਨੇ ਜ਼ਹਿਰ ਦੇ ਪਿਆਲੇ ਨਾਲ ਮੀਰਾਬਾਈ ਨੂੰ ਡਰਾਉਣਾ ਚਾਹਿਆ। ਪਰ ਵਾਹ ਸਚਾਈ ! ਮੀਰਾ ਨੇ ਉਸ ਵਿਹੁ ਨੂੰ ਵੀ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਸਮਝਕੇ ਪੀ ਲਿਆ। ਉਹ ਸ਼ੇਰ ਤੇ ਹਾਥੀ ਸਾਹਵੇਂ ਕੀਤੀ ਗਈ, ਪਰ ਵਾਹ ਪਿਆਰ ! ਮਸਤ ਹਾਥੀ ਤੇ ਸ਼ੇਰ ਨੇ ਦੇਵੀ ਦੇ ਚਰਣਾਂ ਦੀ ਧੂੜ ਅਪਣੇ ਮੱਥੇ ਮਲੀ ਤੇ ਆਪਣਾ ਰਾਹ ਲਇਆ। ਇਸ ਵਾਸਤੇ ਵੀਰ ਪੁਰਖ ਅੱਗੇ ਨਹੀਂ ਪਿੱਛੇ ਜਾਂਦੇ ਨੇ। ਅੰਦਰ ਧਿਆਨ ਕਰਦੇ ਨੇ। ਮਾਰਦੇ ਨਹੀਂ ਮਰਦੇ ਨੇ।

ਉਹ ਵੀਰ ਈ ਕੀ, ਜਿਹੜਾ ਟੀਨ ਦੇ ਭਾਂਡੇ ਵਾਂਙ ਝਟ ਗਰਮ ਤੇ ਠੰਡਾ ਹੋ ਜਾਂਦਾ ਏ। ਸਦੀਆਂ ਹੇਠਾਂ ਅੱਗ ਬਲਦੀ ਰਹੇ ਤਾਂ ਵੀ ਸ਼ੈਤ ਹੀ ਵੀਰ ਗਰਮ ਹੋਵੇ ਅਤੇ ਹਜ਼ਾਰਾਂ ਵਰ੍ਹੇ ਬਰਫ ਉਸ ਤੇ ਜਮਦੀ ਹੈ, ਤਾਂ ਵੀ ਕੀ ਮਜਾਲ, ਉਸ ਦੀ ਬਾਣੀ ਤਕ ਠੰਡੀ ਹੋਵੇ। ਉਸ ਨੂੰ ਆਪੀਂ ਗਰਮ ਤੇ ਸ਼ਰਦ ਹੋਣ ਨਾਲ ਕੀ ਮਤਲਬ? ਕਾਰਲਾਇਲ ਨੂੰ ਜਦ ਅਜਕਲ ਦੀ ਸਭਿਤਾ ਤੇ ਰੋਹ ਚੜ੍ਹਿਆ ਤਾਂ ਦੁਨੀਆਂ ਵਿਚ ਇਕ ਨਵੀਂ ਸ਼ਕਤੀ ਤੇ ਇਕ ਨਵੀਂ ਜ਼ਬਾਨ ਪੈਦਾ ਹੋਈ। ਕਾਰਲਾਇਲ ਅੰਗ੍ਰੇਜ਼ ਜ਼ਰੂਰ ਹੈ ਪਰ ਉਸਦੀ ਬੋਲੀ ਸੱਭ ਤੋਂ ਨਿਰਾਲੀ ਹੈ। ਉਸਦੇ ਸ਼ਬਦ ਮਾਨੋਂ ਅੱਗ ਦੀਆਂ ਚਿਣਗਾਂ ਨੇ, ਜੋ ਆਦਮੀ ਦੇ ਦਿਲ ਨੂੰ ਅੱਗ ਜਹੀ ਲਾ ਦੇਂਦੀਆਂ ਨੇ। ਸਭ ਕੁਝ ਬਦਲ ਜਾਏ ਪਰ ਕਾਰਲਾਇਲ ਦੀ ਗਰਮੀ ਕਦੀ ਨਾ ਘਟੇਗੀ। ਭਾਵੇਂ ਹਜ਼ਾਰ ਵਰ੍ਹੇ ਸੰਸਾਰ ਵਿੱਚ ਦੁਖ ਦਰਦਾਂ ਦਾ ਰੋਣਾ ਰੋਇਆ ਜਾਏ ਤਾਂ ਭੀ ਬੁੱਧੀ ਦੀ ਸਾਂਤੀ ਤੇ ਦਿਲ ਦੀ ਠੰਡਕ ਇਕ ਦਰਜਾ ਵੀ ਐਧਰ ਓਧਰ ਨਾ ਹੋਵੇਗੀ। ਏਥੇ ਆਕੇ ਮਾਦੀ ਸਾਇੰਸ ਦੇ ਨੇਮ ਰੋ ਪੈਂਦੇ ਨੇ। ਹਜ਼ਾਰ ਵਰ੍ਹੇ ਅੱਗ ਬਲਦੀ ਰਹੇ,

ਤਾਂ ਵੀ ਥਰਮਾਮੀਟਰ ਤਿਹੋ ਜਿਹਾ ਹੀ ਰਹੇਗਾ। ਬਾਬਰ ਦੇ ਸਪਾਹੀਆਂ ਨੇ ਹੋਰ ਲੋਕਾਂ ਨਾਲ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਨੂੰ ਵੀ ਵਗਾਰ ਵਿੱਚ ਫੜ ਲਿਆ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਸਿਰ ਤੇ ਭਾਰ ਰਖਿਆ ਤੇ ਕਿਹਾ—'ਚਲੋ'' । ਆਪ ਚਲ ਪਏ। ਦੌੜ, ਧੁਪ, ਭਾਰ, ਮੁਸੀਬਤ, ਵਗਾਰ ਵਿੱਚ ਫੜੀਆਂ ਤੀਵੀਆਂ ਦਾ ਰੋਣ, ਭਲੇ ਮਾਨਸਾਂ ਦਾ ਦੁੱਖ,ਪਿੰਡਾਂ ਦੇ ਪਿੰਡਾਂ ਦਾ ਸੜਨਾ ਸੱਭ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦੀਆਂ ਦੁਖਦਾਈ ਗੱਲਾਂ ਹੋ ਰਹੀਆਂ ਨੇ । ਪਰ ਕਿਸੇ ਦਾ ਕੁਝ ਅਸਰ ਨਹੀਂ ਹੋਇਆ। ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਨੇ ਆਪਣੇ ਸਾਥੀ ਮਰਦਾਨੇ ਨੂੰ ਕਿਹਾ— ''ਸਾਰੰਗੀ ਵਜਾ, ਅਸੀਂ ਗਾਉਂਦੇ ਹਾਂ। '' ਉਸ ਭੀੜ ਵਿੱਚ ਸਾਰੰਗੀ ਵਜ ਰਹੀ ਏ, ਆਪ ਰਸ ਭਰੇ ਹਨ। ਵਾਹ ਸ਼ਾਂਤੀ।

ਜੇ ਕੋਈ ਛੋਟਾ ਜਿਹਾ ਬੱਚਾ ਨੇਪੋਲੀਅਨ ਦੇ ਮੋਢਿਆਂ ਤੇ ਚੜ੍ਹਕੇ ਉਸਦੇ ਸਿਰ ਦੇ ਬਾਲ ਪੁੱਟੇ, ਤਾਂ ਕੀ ਨੇਪੋਲੀਅਨ ਉਸਨੂੰ ਆਪਣੀ ਬੇ-ਇੱਜ਼ਤੀ ਸਮਝਕੇ ਉਸ ਬਾਲਕ ਨੂੰ ਜ਼ਮੀਨ ਤੇ ਪਟਕਾ ਮਾਰੇ ਤਾਂ ਜੁ ਲੋਕ ਉਸਨੂੰ ਬੜਾ ਵੀਰ ਕਹਿੰਣ? ਇਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਸੱਚੇ ਵੀਰ ਜਦ ਉਨਾਂ ਦੇ ਵਾਲ ਚਿੜੀਆਂ ਠੂੰਗਦੀਆਂ ਨੇ ਤੇ, ਤਾਂ ਕੁਝ ਪਰਵ੍ਹਾ ਨਹੀਂ ਕਰਦੇ ਕਿਉਂਕਿ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦਾ ਜੀਵਨ ਆਸ ਪਾਸ ਵਾਲਿਆਂ ਦੇ ਜੀਵਨ ਨਾਲੋਂ ਬਹੁਤ ਹੀ ਬੜ੍ਹ ਚੜ੍ਹ ਕੇ ਉੱਚਾ ਤੇ ਬਲਵਾਨ ਹੁੰਦਾ ਏ । ਭਲਾ, ਅਜਿਹੀਆਂ ਗੱਲਾਂ ਤੇ ਵੀਰ ਕਦੋਂ ਹਿਲਦੇ ਨੇ। ਜਦੋਂ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਮੌਜ ਆਈ ਤਾਂ ਮੈਦਾਨ ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਹੱਥ ਹੈ।

ਜਪਾਨ ਦੇ ਇਕ ਛੋਟੇ ਜਿਹੇ ਪਿੰਡ ਵਿੱਚ ਇਕ ਝੁੱਗੀ ਵਿੱਚ ਮਧਰੇ ਕਦ ਦਾ ਇਕ ਜਪਾਨੀ ਰਹਿੰਦਾ ਸੀ। ਉਸਦਾ ਨਾਮ ਐਸ਼ਿਯੋ ਸੀ। ਇਹ ਮਨੁੱਖ ਬੜਾ ਤਜਰ-ਬੇਕਾਰ ਤੇ ਗਿਆਨੀ ਸੀ। ਬੜੀ ਸਖ਼ਤ ਤਬੀਅਤ ਦਾ,, ਫਿਰ. ਧੀਰ ਤੇ ਅਪਣੇ ਖਿਆਲਾਂ ਦੇ ਸਮੁੰਦਰ ਵਿੱਚ ਡੁੱਬਾ ਰਹਿਣ ਵਾਲਾ ਮਨੁਖ ਸੀ। ਆਸਪਾਸ ਰਹਿਣ ਵਾਲੇ ਲੋਕਾਂ ਦੇ ਮੁੰਡੇ ਇਸ ਸਾਧ ਪਾਸ ਆਉਂਦੇ ਜਾਂਦੇ ਸਨ ਤੇ ਇਹ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੂੰ ਮੁਫ਼ਤ ਪੜ੍ਹਾਇਆ ਕਰਦਾ ਸੀ। ਜੋ ਕੁਝ ਮਿਲ ਜਾਂਦਾ ਉਹੋ ਖਾ ਲੈਂਦਾ ਸੀ। ਦੁਨੀਆਂ ਦੀ ਵਿਹਾਰਕ ਨਜ਼ਰ ਨਾਲ ਉਹ ਇਕ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦਾ ਮਖੱਟੂ ਸੀ, ਕਿਉਂਕਿ ਉਸ ਮੱਨੁਖ ਨੇ ਸੰਸਾਰ ਦਾ ਕੋਈ ਵੱਡਾ ਕੰਮ ਨਹੀਂ ਸੀ ਕੀਤਾ । ਉਸਦੀ ਸਾਰੀ ਉਮਰ ਸ਼ਾਂਤੀ ਤੇ ਸਤੋਗੁਣ ਵਿੱਚ ਗੁਜ਼ਰ ਗਈ ਸੀ। ਲੋਕ ਸਮਝਦੇ ਸਨ ਕਿ ਉਹ ਇਕ ਮਾਮੂਲੀ ਆਦਮੀ ਏ। ਇਕ ਵਾਰ ਸਬੱਬੀ ਦੋ ਤਿੰਨ ਫਸਲਾਂ ਨਾ ਹੋਣ ਕਰਕੇ ਏਸ ਫਕੀਰ ਦੇ ਆਲੇ ਦੁਆਲੇ ਮੁਲਕ ਵਿੱਚ ਕਾਲ ਪੈ ਗਿਆ। ਕਾਲ ਬੜਾ ਭਿਆਨਕ ਸੀ। ਲੋਕ ਬੜੇ ਦੁਖੀ ਹੋਏ। ਲਾਚਾਰ ਹੋਕੇ ਏਸ ਨੰਗੇ ਕੰਗਾਲੇ ਫਕੀਰ ਕੋਲ ਮਦਦ ਮੰਗਣ ਆਏ। ਉਸਦੇ ਦਿਲ ਵਿਚ ਖਿਆਲ ਆਇਆ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਮਦਦ ਕਰਨ ਨੂੰ ਉਹ ਤਿਆਰ ਹੋ ਗਿਆ। ਪਹਿਲੇ ਉਹ ਉਸਾਕੋ ਨਾਂ ਦੇ ਸ਼ਹਿਰ ਦੇ ਵੱਡੇ ਵੱਡੇ ਅਮੀਰਾਂ ਤੇ

ਪਤਵੰਤੀਆਂ ਪਾਸ ਗਿਆ ਤੇ ਮਦਦ ਮੰਗੀ। ਇਹਨਾਂ ਭਲੇਮਾਨਸਾਂ ਨੇ ਵਾਅਦਾ ਤਾਂ ਕੀਤਾ ਪਰ ਉਸਨੂੰ ਪੂਰਾ ਨਾ ਕੀਤਾ। ਫਿਰ ਉਨ੍ਹਾਂ ਕੋਲ ਕਦੀ ਨਾ ਗਿਆ। ਉਸਨੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਦੇ ਵਜ਼ੀਰਾਂ ਨੂੰ ਚਿੱਠੀਆਂ ਲਿਖੀਆਂ ਕਿ ਇਹਨਾਂ ਕਿਸਾਨਾਂ ਨੂੰ ਮਦਦ ਮਿਲਨੀ ਚਾਹੀਦੀ ਏ। ਪਰ ਬਹੁਤ ਦਿਨ ਲੰਘ ਜਾਣ ਤੇ ਵੀ ਜਵਾਬ ਨਾ ਆਇਆ, ਔਸ਼ਿਯੋ ਨੇ ਆਪਣੇ ਕਪੜੇ ਤੇ ਪੁਸਤਕਾਂ ਨਿਲਾਮ ਕਰ ਦਿੱਤੀਆਂ ਤੇ ਜੋ ਕੁਛ ਮਿਲਿਆ ਮੁਠ ਭਰ ਕੇ ਉਨ੍ਹਾਂ ਆਦਮੀਆਂ ਵਲ ਵਗ੍ਹਾ ਮਾਰੀ? ਭਲਾ ਇਸ ਨਾਲ ਕੀ ਹੋ ਸਕਦਾ ਸੀ? ਪਰ ਔਸ਼ਿਯੋ ਦਾ ਦਿਲ ਇਸ ਨਾਲ ਪੂਰਣ ਸ਼ਿਵ-ਰੂਪ ਹੋ ਗਿਆ। ਏਥੇ ਇਹ ਦਸ ਦੇਣਾ ਕਾਫ਼ੀ ਹੈ ਕਿ ਜਪਾਨੀ ਅਪਣੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਨੂੰ ਪਿਤਾ ਵਾਂਗ ਪੂਜਦੇ ਹਨ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੇ ਦਿਲ ਦੀ ਇਹ ਇਕ ਭਾਵਨਾ ਏ। ਆਜਿਹੇ ਕੰਮ ਦੇ ਹਜ਼ਾਰਾਂ ਆਦਮੀ ਏਸ ਵੀਰ ਪਾਸ ਜਮਾ ਨੇ। ਔਸ਼ਿਯੋ ਨੇ ਕਿਹਾ—ਸਭ ਲੋਕ ਹੱਥਾਂ ਵਿਚ ਬਾਂਸ ਲੈ ਕੇ ਤਿਆਰ ਹੋ ਜਾਓ, ਤੇ ਬਗ਼ਾਵਤ ਦਾ ਝੰਡਾ ਖੜਾ ਕਰ ਦਿਓ। ਕੋਈ ਵੀ ਚੂੰ ਚਰਾਂ ਨਾ ਕਰ ਸੱਕਿਆ। ਬਗ਼ਾਵਤ ਦਾ ਝੰਡਾ ਖੜਾ ਹੋ ਗਿਆ। ਔਸ਼ਿਯੋ ਇਕ ਝੰਡਾ ਫੜਕੇ ਸਭਨਾ ਅੱਗੇ ਕਿਓਟੋ ਜਾਕੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਦੇ ਕਿਲੇ ਪੁਰ ਹਮਲਾ ਕਰਨ ਲਈ ਤੁਰਿਆ। ਏਸ ਫਕੀਰ ਜਰਨੈਲ ਦੀ ਫੌਜ ਨੂੰ ਭਲਾ ਕੌਣ ਰੋਕ ਸਕਦਾ ਸੀ? ਜਦ ਸ਼ਾਹੀ ਕਿਲੇ ਦੇ ਸਰਦਾਰ ਨੇ ਵੇਖਿਆ ਤਾਂ ਉਸ ਨੇ ਰਪਟ ਕੀਤੀ ਤੇ ਆਗਿਆ ਮੰਗੀ ਕਿ ਔਸ਼ਿਯੋ ਤੇ ਉਸਦੀ ਬਾਗ਼ੀ ਫ਼ੌਜ ਤੇ ਬੰਦੂਕਾਂ ਦੀ ਵਾਛੜ ਕੀਤੀ ਜਾਏ। ਹੁਕਮ ਹੋਇਆ "ਨਹੀਂ" ਔਸ਼ਿਯੋ ਤਾਂ ਕੁਦਰਤ ਦੇ ਹਰ ਵਾਕਿਆਂ ਨੂੰ ਪੜ੍ਹਣ ਵਾਲਾ ਉਹ ਕਿਸ ਖ਼ਾਸ ਗਲ ਲਈ ਹੀ ਚੜ੍ਹਾਈ ਕਰਨ ਆਇਆ ਹੋਵੇਗਾ। ਉਸਨੂੰ ਹਮਲਾ ਕਰਨ ਦਿਓ, ਤੇ ਆਉਣ ਦੇਓ।" ਜਦ ਔਸ਼ਿਯੋ ਕਿਲੇ ਵਿੱਚ ਵੜਿਆ ਤਾਂ ਉਹ ਸਰਦਾਰ ਇਸ ਮਸਤ ਜਰਨੈਲ ਨੂੰ ਫੜਕੇ ਬਾਦਸ਼ਾਹ ਪਾਸ ਲੈ ਗਿਆ। ਉਸ ਵਲ ਔਸ਼ਿਯੋ ਨੇ ਕਿਹਾ—"ਉਹ ਰਾਜ ਭੰਡਾਰ, ਜੋ ਅਨਾਜ ਨਾਲ ਭਰੇ ਨੇ, ਗਰੀਬਾਂ ਦੀ ਮਦਦ ਲਈ ਕਿਓਂ ਨਹੀਂ ਖ਼ੋਲ੍ਹ ਦਿੱਤੇ ਜਾਂਦੇ।

ਜਪਾਨ ਦੇ ਰਾਜਾ ਨੂੰ ਡਰ ਜਿਹਾ ਲੱਗਾ। ਏਕ ਵੀਰ ਉਸ ਦੇ ਸਾਹਮਣੇ ਖਲੋਤਾ ਸੀ, ਜਿਸਦੀ ਆਵਾਜ਼ ਵਿੱਚ ਰੱਬੀ ਸ਼ਕਤੀ ਸੀ। ਹੁਕਮ ਹੋਇਆ ਕਿ ਸ਼ਾਹੀ ਖਜ਼ਾਨੇ ਖੋਲ੍ਹ ਦਿੱਤੇ ਜਾਣ, ਤੇ ਸਾਰਾ ਅੰਨ ਗ਼ਰੀਬ ਕਿਸਾਨਾਂ ਨੂੰ ਵੰਡ ਦਿੱਤਾ ਜਾਏ ਸਾਰੀ ਫੌਜ ਤੇ ਪੁਲਿਸ ਧਰੀ ਦੀ ਧਰੀ ਰਹਿ ਗਈ। ਵਜ਼ੀਰਾਂ ਦੇ ਦਫਤਰ ਲਗੇ ਦੇ ਲਗੇ ਰਹਿ ਗਏ। ਔਸ਼ਿਯੋ ਨੇ ਜਿਸ ਕੰਮ ਤੇ ਲੱਕ ਬੱਧਾ, ਉਸ ਨੂੰ ਕਰ ਵਖਾਇਆ। ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਬਿਪਤਾ ਕੁਝ ਦਿਨਾਂ ਲਈ ਦੂਰ ਹੋ ਗਈ। ਔਸ਼ਿਯੋ ਦੇ ਦਿਲ ਦੀ ਸਫਾਈ, ਸਚਾਈ ਤੇ ਪਕਿਆਈ ਸਾਹਵੇਂ ਭਲਾ ਕੌਣ ਠਹਿਰ ਸਕਦਾ ਸੀ। ਸੱਚ ਦੀ ਸਦਾ ਜਿਤ ਹੁੰਦੀ ਹੈ। ਇਹ ਵੀ ਇਕ ਵੀਰਤਾ ਦਾ ਚਿੰਨ੍ਹ ਹੈ। ਰਾਜੇ ਨੇ ਜ਼ਾਹਰ ਨੇ ਸਭ ਲੋਕਾਂ ਨੇ ਫਾਂਸੀ ਜੋ

ਦਿੱਤੀ। ਪਰ ਟਾਲਸਟਾਏ ਨੂੰ ਉਹ ਦਿਲੋਂ ਪ੍ਰਣਾਮ ਕਰਦਾ ਸੀ। ਉਹ ਦੀਆਂ ਗੱਲਾਂ ਦਾ ਆਦਰ ਕਰਦਾ ਸੀ। ਜਿੱਤ ਉੱਥੇ ਹੀ ਹੁੰਦੀ ਏ ਜਿੱਥੇ ਪਵਿਤਰਤਾ ਤੇ ਪਿਆਰ ਹੈ। ਦੁਨੀਆਂ ਕਿਸੇ ਕੂੜੇ ਦੇ ਢੇਰ ਤੇ ਨਹੀਂ ਖਲੋਤੀ ਕਿ ਜਿਸ ਕੁੱਕੜ ਨੇ ਬਾਂਗ ਦਿੱਤੀ, ਉਹੀ ਸਿੱਧ ਹੋ ਗਿਆ। ਦੁਨੀਆਂ ਧਰਮ ਤੇ ਅਦਲ ਅਧਿਆਤਮਕ ਨੇਮਾਂ ਤੇ ਖਲੋਤੀ ਹੈ। ਜੋ ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਉਨ੍ਹਾਂ ਨੇਮਾਂ ਨਾਲ ਇਕ ਕਰਕੇ ਖਲੋਤਾ, ਜਿੱਤ ਉਸੇ ਦੀ ਹੋਈ। ਅਜ ਕਲ ਲੋਕ ਕਹਿੰਦੇ ਨੇ ਕਿ ਕੰਮ ਕਰੋ, ਕੰਮ ਕਰੋ। ਪਰ ਸਾਨੂੰ ਤਾਂ ਇਹ ਗਲਾਂ ਫ਼ਜ਼ੂਲ ਮਲੂਮ ਹੁੰਦੀਆਂ ਨੇ। ਪਹਿਲੋਂ ਕੰਮ ਕਰਨ ਦੀ ਤਾਕਤ ਪੈਦਾ ਕਰੋ, ਅਪਣੇ ਅੰਦਰ ਹੀ ਅੰਦਰ ਰੁੱਖ ਵਾਂਙ ਵਧੋ। ਅਜਕਲ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਵਿੱਚ ਪਰ-ਉਪਕਾਰ ਕਰਨ ਦਾ ਬੁਖ਼ਾਰ ਫੈਲ ਰਿਹਾ ਏ। ਜਿਸਨੂੰ ੧੦੫ ਡਿਗਰੀ ਦਾ ਇਹ ਤਾਪ ਚੜ੍ਹਿਆ, ਉਹੋ ਅਜਕਲ ਭਾਰਤ ਵਰਸ਼ ਦਾ ਰਿਸ਼ੀ ਬਣ ਗਿਆ। ਅਜਕਲ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਵਿੱਚ ਅਖਬਾਰਾਂ ਦੀ ਟਕਸਾਲ ਵਿੱਚ ਘੜੇ ਹੋਏ ਵੀਰ ਦਰਜਨਾਂ ਹੀ ਮਿਲਦੇ ਹਨ। ਜਿਥੇ ਕਿਸੇ ਨੇ ਇਕ ਦੋ ਕੰਮ ਕੀਤੇ ਤੇ ਅੱਗੇ ਵਧ ਕੇ ਹਿਕ ਵਖਾਈ ਓਥੇ ਹਿੰਦੁਸਤਾਨ ਦੇ ਸਾਰੇ ਅਖਬਾਰਾਂ ਨੇ "ਹੀਰੋ" ਤੇ 'ਮਹਾਤਮਾ' ਦੀ ਪੁਕਾਰ ਮਚਾਈ। ਬਸ, ਇਕ ਨਵਾਂ ਵੀਰ ਤਿਆਰ ਹੋ ਗਿਆ। ਇਹਤਾਂ ਪਾਗਲਪਨ ਦੀਆਂ ਲਹਿਰਾਂ ਨ। ਅਖ਼ਬਾਰਾਂ ਲਿਖਣ ਵਾਲੇ ਮਾਮੂਲੀ ਸਿੱਕੇ ਦੇ ਮੱਨੁਖ ਹੁੰਦੇ ਨੇ। ਉਨ੍ਹਾਂ ਦੀ ਤਾਰੀਫ ਤੇ ਨਿੰਦਾ ਤੇ ਕਿਓਂ ਮਰ ਜਾਂਦੇ ਓ? ਅਪਣੇ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਅਖਬਾਰਾਂ ਦੇ ਛੋਟੇ ਛੋਟੇ ਪੈਰਾਗਰਾਫਾਂ ਉੱਪਰ ਕਿਓਂ ਲਟਕਾ ਰਹੇ ਓ। ਕੀ ਇਹ ਸਚ ਨਹੀਂ ਕਿ ਸਾਡੇ ਵੀਰਾਂ ਦੀਆਂ ਜਾਨਾਂ ਅਖ਼ਬਾਰਾਂ ਦੇ ਲੇਖਾਂ ਵਿੱਚ ਨੇ? ਇਹਨਾਂ ਨੇ ਰੰਗ ਬਦਲਿਆ ਨਹੀਂ ਤੇ ਸਾਡੇ ਵੀਰਾਂ ਦੇ ਰੰਗ ਬਦਲੇ, ਬਾਲ ਸੁਕੇ, ਤੇ ਵੀਰਤਾ ਦੀਆਂ ਉਮੇਦਾਂ ਟੁਟੀਆਂ ਨਹੀਂ।

ਪਿਆਰਿਓ! ਅੰਦਰ ਦੇ ਕੇਂਦਰ ਵਲ ਅਪਣੀ ਚਾਲ ਮੋੜੋ, ਤੇ ਇਸ ਨੁਮਾਇਸ਼ੀ ਤੇ ਬਨਾਵਟੀ ਜੀਵਨ ਦੀ ਚੰਚਲਤਾ ਵਿੱਚ ਅਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਨਾ ਗੁਮ ਕਰ ਦਿਓ। ਵੀਰ ਨਹੀਂ ਤਾਂ ਵੀਰ ਦੇ ਪਿੱਛੇ ਚੱਲਣ ਵਾਲੇ ਬਣੋ, ਵੀਰਤਾ ਦੇ ਕੰਮ ਨਹੀਂ ਤਾਂ ਹੋਲੀ ਹੋਲੀ ਆਪਣੇ ਅੰਦਰ ਵੀਰਤਾ ਦੇ ਕਿਣਕਿਆਂ ਨੂੰ ਜਮਾ ਕਰੋ।

ਜਦ ਅਸੀਂ ਕਿਸੇ ਵੀਰ ਦਾ ਹਾਲ ਸੁਣਦੇ ਹਾਂ, ਤਾਂ ਸਾਡੇ ਅੰਦਰ ਵੀ ਵੀਰਤਾ ਦੀਆਂ ਲਹਿਰਾਂ ਉਠਦੀਆਂ ਹਨ ਤੇ ਵੀਰਤਾ ਦੀ ਵੰਨੀ ਚੜ੍ਹ ਜਾਂਦੀ ਏ। ਪਰ ਟਿਕਾਊ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦੀ। ਇਸਦਾ ਕਾਰਣ ਸਿਰਫ ਇਹੋ ਹੈ ਕਿ ਸਾਡੇ ਅੰਦਰ ਵੀਰਤਾ ਦਾ ਮਸਾਲਾ ਤਾਂ ਹੁੰਦਾ ਨਹੀਂ, ਅਸੀਂ ਕੇਵਲ ਖ਼ਾਲੀ ਮਹਿਲ ਉਸਦੇ ਵਿਖਾਲੇ ਲਈ ਬਣਾਉਣਾ ਚਾਹੁੰਦੇ ਹਾਂ। ਟੀਨ ਦੇ ਭਾਂਡੇ ਦਾ ਸੁਭਾਵ ਛੱਡ ਕੇ ਅਪਣੇ ਜੀਵਨ ਦੇ ਕੇਂਦਰ ਵਿੱਚ ਨਿਵਾਸ ਕਰੋ, ਤੇ ਸੱਚਾਈ ਦੀ ਚਟਾਨ ਤੇ ਪਇਆਈ ਨਾਲ ਖੜੇ

ਹੋ ਜਾਓ। ਆਪਣੀ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਕਿਸੇ ਹੋਰ ਦੇ ਹਵਾਲੇ ਕਰੋ, ਤਾਂ ਜੁ ਜ਼ਿੰਦਗੀ ਬਣਾਉਣ ਦੀਆਂ ਕੋਸ਼ਿਸ਼ਾਂ ਵਿੱਚ ਵੇਲਾ ਅਵਾਈਂ ਨਾ ਜਾਵੇ। ਇਸ ਲਈ ਬਾਹਰ ਦੀ ਸਤਹ ਨੂੰ ਛਡਕੇ ਜੀਵਨ ਦੀਆਂ ਅੰਦਰਲੀਆਂ ਤੈਹਾਂ ਵਿਚ ਘੁਸ ਜਾਓ;ਤਦ ਨਵੇਂ ਰੰਗ ਖੁੱਲਣਗੇ, ਦ੍ਵੈਖ ਤੇ ਭਿੰਨ ਭੇਦ ਛੱਡੋ, ਰੋਣ ਛੁਟ ਜਾਏਗਾ। ਪਿਆਰ ਤੇ ਅਨੰਦ ਕੋਲੋਂ ਕੰਮ ਲਓ, ਸ਼ਾਂਤੀ ਦਾ ਮੀਂਹ ਵਰ੍ਹੇਗਾ ਤੇ ਦੁਖੜੇ ਦੂਰ ਹੋ ਜਾਣਗੇ। ਜੀਵਨ ਦੇ ਤਤ ਦਾ ਅਨੁਭਵ ਕਰਕੇ ਚੁੱਪ ਹੋ ਜਾਓ, ਧੀਰ ਤੇ ਗੰਭੀਰ ਹੋ ਜਾਓ। ਵੀਰਾਂ ਦੀ, ਫਕੀਰਾਂ ਦੀ, ਪੀਰਾਂ ਦੀ ਇਹੋ ਕੂਕ ਏ–ਹਟੋ ਪਿਛਾਂ, ਅਪਣੇ ਅੰਦਰ ਜਾਓ, ਅਪਣੇ ਆਪਨੂੰ ਵੇਖੋ, ਦੁਨੀਆਂ ਹੋਰ ਦੀ ਹੋਰ ਹੋ ਜਾਏਗੀ। ਅਪਣੀ ਆਤਮਕ ਉੱਨਤੀ ਕਰੋ।

ਪ੍ਰੋ: ਬ੍ਰਿਜਮੋਹਨ ਦੁਆਰਾ ਸੰਗ੍ਰਹੀਤ 'ਆਦਰਸ਼ ਗਦ੍ਯ-ਸੰਗ੍ਰਹਿ' ਵਿੱਚੋਂ ਅਨੁਵਾਦ। ਬ.ਸ.)

—o—

ਸੱਸੀ ਵਾਰਸ਼ ਸ਼ਾਹ

ਏਹ ਸੱਸੀ ਮੁਸੱਨਫ ਨੇ ਕਦੋਂ ਲਿਖੀ ਠੀਕ ਠੀਕ ਪਤਾ ਨਹੀਂ ਲਗਦਾ। ਜਿਸ ਹਥਲਿੱਖੀ ਤੋਂ ਏਹ ਉਰਦੂ ਅੱਖਰਾਂ ਵਿਚ ਹਕੀਮ ਅਬਦੁਲ ਕਾਦਿਰ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਛਪਵਾਈ ਹੈ, ਉਨਹਾਂ ਦੀ ਤਹਿਰੀਰ ਮੂਜਬ ਓਸਦੀ ਲਿਖਾਈ ਦੀ ਤਾਰੀਖ਼੧੨੨੧ ਹਿਜ਼ਰੀ ਹੈ। ਕਾਫ਼ੀ ਪੁਰਾਣੀ ਚੀਜ਼ ਹੈ ਤੇ ਇਸ ਵਿਚੋਂ ਜ਼ਬਾਨ ਦੇ ਖੋਜੀ ਨੂੰ ਬਹੁਤ ਸਾਰੀਆਂ ਕੀਮਤੀ ਗੱਲਾਂ ਮਿਲ ਸਕਦੀਆਂ ਹਨ। ਏਸੇ ਖ਼ਾਤਰ ਅਸੀਂ ਵਾਰਸ ਦੀ ਏਹ ਸੀਹਰਫ਼ੀ ਹੇਠਾਂ ਪੰਜਾਬੀ ਅੱਖਰਾਂ ਵਿੱਚ ਦੇਂਦੇ ਹਾਂ।

੧–ਅਲਫ਼ ਇਕ ਪਲ ਫਿਰਦੀ ਨਾਹੀ ਜੋ ਤਕਦੀਰ ਕਲਮ ਦੀ।
ਸੱਸੀ ਸੇਜ਼ ਪੁਨੂੰ ਵਾਲੇ ਕੂੰ ਰੋਵਣ ਲਗੀ ਜਮਦੀ।
ਪੁੱਨੂੰ ਬਾਝ ਨਾ ਰਹਿੰਦੀ ਹਰਗਿਜ਼ ਖ਼ਬਰ ਲਏ ਦਮ ਦਮ ਦੀ।
ਵਾਰਸ ਓਹ ਸੁਖ ਕਿਥੋਂ ਵੇਖਣ ਜਿਨਹਾਂ ਗੁੜ੍ਹਤੀ ਪੀਤੀ ਗ਼ਮ ਦੀ।

੨–ਬੇ ਬਾਲਣ ਵਾਂਗ ਸੱਸੀ ਦਾ ਜੁੱਸਾ ਤਨ ਮਨ ਸਾਰਾ ਭੜਕੇ।
ਨਿਕਲ ਲੰਬ ਗਈ ਅਸਮਾਨੋਂ ਤਨ ਧਾਣਾਂ ਵਾਂਗੂ ਤੜਕੇ।
ਤਾਂ ਭੀ ਨੇਹੋਂ ਨਾ ਛੋੜਿਆ ਮੂਲੇ ਕੋਇਲਾ ਹੋਈ ਸੜ ਕੇ।
ਵਾਰਸ ਵਾਂਗ ਮਹਾਂ ਸੱਤੀਆਂ ਸਸੀ ਮੋਈ ਚਿਖ ਤੇ ਚੜ੍ਹਕੇ।

੩–ਤੇ ਤਲਵਾਰ ਦਿਨ ਰਾਤ ਹਿਜਰ ਦੀ ਵਿਚ ਕਲੇਜੇ ਰੜਕੇ।
ਹੋਸ਼ੋਂ ਪਹਿਲੇ ਹੋਈ ਬੇਹੋਸ਼ ਸਸੀ ਜੱਸਾ ਵਾਂਗ ਕਬਤਰ ਫੜਕੇ।

ਬਰਸਨ ਨੈਣ ਸਾਵਣ ਘਟ ਬੱਦਲ ਸਿਰ ਤੇ ਮਾਰੂ ਕੜਕੇ।
ਵਾਰਸ ਵਾਸ ਆਇਓਸ ਵਿਚ ਸ਼ੇਰਾਂ ਜ਼ਰਾ ਜੀਉ ਨ ਧੜਕੇ।
੪–ਸੇ ਸਾਬਤ ਰਹੀ ਪਰੀਤ ਪੁੰਨੂੰ ਵਲ ਸੱਸੀ ਪਰੀਤ ਨ ਤੋੜੀ।
ਹਿੱਕ ਹਿਕੱਲੀ ਥਲ ਬਾਂਗਰ ਵਿਚ ਮਾਰ ਲੱਥੀ ਵੰਝ ਘੋੜੀ।
ਮੌਜਾਂ ਬਾਝੋਂ ਯਾਰ ਨਾ ਮਿਲਦੇ ਜੇ ਕੀਜਨ ਜਤਨ ਕਰੋੜੀ।
ਵਾਰਸ ਬਰਕਤ ਸਿਦਕ ਸਚੇ ਦੀ ਪੁੰਨੂੰ ਦੇ ਅੰਗ ਜੋੜੀ।
੫–ਜੀਮ ਜਮਾਲ ਵੇਖ ਸੱਸੀ ਦਾ ਤਰੁਟਣ ਫ਼ਲਕ ਮਨਾਰੇ।
ਚਨ ਦੂਖਨ ਹੋਯਾ ਵਿਚ ਮੱਥੇ ਤਰੁਟ ਤਰੁਟ ਪਵਨ ਸਿਤਾਰੇ।
ਸੂਰਜ ਛਪ ਗਿਆ ਵਿਚ ਬੱਦਲ ਡਰਦਾ ਲਿਸ਼ਕ ਨਾ ਮਾਰੇ।
ਵਾਰਸ ਵੇਖ ਸੱਸੀ ਦਾ ਖੰਦਾ ਬਿਜਲੀ ਲਿਸ਼ਕ ਵਿਸਾਰੇ।
੬–ਹੇ ਹੁਸਨ ਸੁਣ ਸੱਸੀ ਦਾ ਛੋੜ ਪੁੰਨੂੰ ਬਾਦਸ਼ਾਹੀ।
ਸ਼ਹਿਰ ਭੰਬੋਰ ਪੁਛਾਵਣ ਲੱਗਾ ਇਕ ਮਿਲਣ ਦੀ ਆਹੀ।
ਕਿਸਮਤ ਟੋਰ ਬਜ਼ੋਰੀਂ ਆਂਦਾ ਆ ਪਿਆ ਇਸ਼ਕ ਦੀ ਫਾਹੀ।
ਵਾਰਸ ਨੈਨ ਰਲੇ ਨਾਲ ਨੈਨਾਂ ਪਈ ਦੋਹਾਂ ਅਵਾਸਾਹੀ।
੭–ਖ਼ੇ ਖ਼ਾਕ ਥੀਵਾਂ ਮੈਂ ਉਨ ਗਲੀਆਂ ਦੀ ਜਿਥੇ ਪੈਰ ਪੁੰਨੂੰ ਦੇ ਲੱਗੇ।
ਮੈਂ ਭੀ ਤਾਂ ਤਰ ਜਾਵਾਂ ਓਥੇਂ ਪਵਾਂ ਕਬੂਲ ਜੇ ਅੱਗੇ।
ਤਦਾਂ ਬਰਦੀ ਪੁੰਨੇ ਦੀ ਸਾਂ ਜਦ ਫਿਰਦੀ ਸਾਂ ਵਿੱਚ ਝੱਗੇ।
ਵਾਰਸ ਪੁੱਨੇ ਡਿੱਠੇ ਬਾਝੋਂ ਸੱਸੀ ਕੀਕਰ (?)।
੮–ਦਾਲ ਦਾਰੂ ਦਰਦ ਮੇਰੇ ਦਾ ਪੁੰਨੂੰ ਜਿਸ ਦੇ ਇਸ਼ਕ ਪਛਾੜੀ।
ਹੋਰ ਹਕੀਮ ਸਕੀਮ ਕਰਨ ਵੇਖ ਨਾ ਜਾਣਨ ਨਾੜੀ।
ਵੇਦਨ ਹੋਰ ਤੇ ਦਾਰੂ ਹੋਰ ਦੱਸਨ ਕੱਚੇ ਵੇਦ ਅਨਾੜੀ।
ਵਾਰਸ ਸੱਸੀ ਯਾਰ ਢੂੰਡੇਂਦੀ ਮਰਸੀ ਵਿਚ ਉਜਾੜੀ।
੯–ਜ਼ਾਲ ਜ਼ਾਲੋਂ ਜ਼ਿਕਰ ਪੁੰਨੂੰ ਦਾ ਕਰਸਾਂ ਹੋਰ ਵਜ਼ੀਫ਼ਾ ਛਡ ਕੇ।
ਜੋ ਕੋਈ ਪੁੰਨੂੰ ਆਣ ਮਿਲਾਏ ਜਾਨ ਕਰਾਂ ਸਿਰ ਸਦਕੇ।
ਕਰਾਂ ਤਸੱਦਕ ਜਾਨ ਜਾਨੀ ਤੋਂ ਕੋਈ ਕੋਲ ਲਿਆਵੇ ਸਦ ਕੇ।
ਵਾਰਸ ਸੱਸੀ ਢੂਡਣ ਚੱਲੀ ਨਜ਼ਰ ਸ਼ੇਰਾਂ ਦੀ ਬਦ ਕੇ।
੧੦–ਰੇਓਂ ਰਾਹ ਪੁੰਨੂੰ ਦੇ ਸੱਸੀ ਕੂਕੇਂਦਿਆਂ ਉਠ ਵੱਗੀ।
ਕੇਹੀ ਚੁਪ ਚੁਪਾਤਿਆਂ ਰੱਬਾ ਇਸ਼ਕ ਚੁਆਤੀ ਲੱਗੀ।
ਆਹਾ ਚੋਰ ਗਿਆ ਦਿਲ ਖਸ ਕੇ ਕਰ ਕੇ ਮੈਂ ਨਾਲ ਠੱਗੀ।
ਵਾਰਸ ਮੱਢੋਂ ਦੀ ਮੈਂ ਭਾਗੀ ਆਹੀ ਲੋਕ ਕਰੇਂਦਾ ਭੱਗੀ।

੧੧–ਜ਼ੇ ਜ਼ੇਓਂ ਜ਼ਾਰੀ ਕਰ ਬਿਸਿਆਰੀ ਵਿਚ ਉਜਾੜੇ ਫਿਰਦੀ।
ਭੁਜੱਸ ਰੇਤ ਤੱਤੀ ਵਿਚ ਤਲੀਆਂ ਸਾੜ ਘਤੁਸ ਧੁਪ ਸੜਦੀ।
ਹਿੱਕ ਭੁੱਖੀ ਦੂਜਾ ਦੁੱਖਾਂ ਦੀ ਦੁੱਖੀ ਡਿਗੇ ਖਾ ਖਾ ਗਰਦੀ।
ਵਾਰਸ ਇਕ ਪਲ ਦੇ ਵਿਚ ਲਖ ਵਾਰੀ ਜਾਨ ਸੱਸੀ ਦੀ ਕੜਹਦੀ।
੧੨–ਸੀਨ ਸਿਕ ਪੁੱਨੂੰ ਦੀ ਸੱਸੀ ਸੁੱਕ ਸੁੱਕ ਤੀਲਾ ਹੋਈ।
ਜ਼ਾਤ ਸਿਫਾਤ ਵੰਜਾਈ ਸੱਸੀ ਕੀਤੀ ਇਸ਼ਕ ਛੜੋਈ।
ਲਗੀ ਮਲਣ (?) ਹੱਥਾਂ ਵਿਚ ਉਜ਼ਰ ਨਾ ਕੀਤਾ ਕੋਈ।
ਵਾਰਸ ਤਾਂ ਦਰਬਾਰ ਪੁੱਨੂੰ ਦੇ ਮਿਲੀ ਸੱਸੀ ਨੂੰ ਢੋਈ।
੧੩–ਸ਼ੀਨ ਸ਼ਰਮ ਧੀਆ ਤੂੰ ਰਖ ਅਸਾਡਾ ਭਲਾ ਕਰੇਂ ਸ਼ਰਮਾਵੇਂ।
ਚਿੱਟੀ ਚਾਦਰ ਸਾਡੀ ਨੂੰ ਤੂੰ ਕਾਲਾ ਦਾਗ਼ ਕਿਉਂ ਲਾਵੇਂ।
ਕੌਣ ਬਲੋਚ ਜਿਨਹਾਂ ਦੇ ਪਿੱਛੇ ਸੁੰਜੀਂ ਤੂੰ ਉਠ ਜਾਵੇਂ।
ਵਾਰਸ ਆਸ਼ਕ ਪਿੱਛਾ ਵੇਖਣ ਨਾਹੀਂ ਲੀਹਣ ਲਹੂ ਵਿਚ ਭਾਵੇਂ।
੧੪–ਸਵਾਦ ਸੂਰਤ ਪੱਨੂੰ ਵਾਲੀ ਦਿਲ ਮੇਰੇ ਤੇ ਵਸਦੀ।
ਜੇ ਕੋਈ ਮੈਨੂੰ ਕਰੇ ਨਸੀਹਤ ਤੀਰ ਮਰੇਂਦੀ ਕਸਦੀ।
ਦਾਰੂ ਦਰਦ ਮੇਰੇ ਦਾ ਪੁੱਨੂੰ ਕੋਈ ਆਇ ਨਾ ਦਸਦੀ।
ਵਾਰਸ ਮੁੜ ਕਿਸ ਨਾਲ ਕਰੇਂਸੇਂ ਛੋੜ ਜਾਸਾਂ ਜਦ ਵਸਦੀ।
੧੫–ਜ਼ਵਾਦ ਜ਼ਰਬ ਵਿਛੋੜੇ ਵਾਲੀ ਮਾਰੇ ਬਾਝ ਨਾ ਛੋੜੇ।
ਮੈਂ ਗ਼ਮ ਪਰਵਰਦ ਵਿਛੋੜੇ ਮਾਰੀ ਕੌਣ ਨਿਹਾਉਂ (?) ਛੋੜੇ।
(?) ਕੌਣ ਬੰਦੂਕੇ ਲੱਗੀ ਤਨ ਪੁਰਜ਼ੇ ਕਰ ਕਰ ਤੋੜੇ।
ਵਾਰਸ ਤੋੜ ਪੁਚਾਈਂ ਤੋੜੇ ਤਨ ਪੁਰਜ਼ੇ ਕਰ ਕੇ ਤੋੜੇ।
੧੬–ਤੋਏ ਤੋਕ ਮੁਹੱਬਤ ਵਾਲੇ ਸੱਸੀ ਹੱਸ ਕਰ ਪਾਏ।
ਪੈਰੀਂ ਸ਼ੌਕ ਜ਼ੰਜੀਰ ਪੱਨੂੰ ਦੇ ਸੱਸੀ ਆਪ ਘੜਾਏ।
ਹਥ ਹਥੋੜੀਆਂ ਦਰਦ ਅਲੋਰੀਆਂ ਕੜਿਆਂ ਵਾਂਗ ਹੰਡਾਏ।
ਵਾਰਸ ਕੈਦ ਇਸ਼ਕ ਦੀ ਫੱਸ ਕੇ ਸੱਸੀ ਨਾ ਗ਼ਮ ਖਾਏ।
੧੭–ਜ਼ੋਏ ਜ਼ੁਲਮ ਹੋਯਾ ਸਿਰ ਸਸੀ ਪੁੱਨੂੰ ਲੱਭ ਵੰਜਾਏ।
ਖੁਲਹੇਂ ਵਾਲੀਂ ਡੁਲਹੇਂ ਨੈਣੀਂ ਖ਼ਾਕ ਸਿਰੇ ਵਿਚ ਪਾਏ।
ਲੈ ਲੈ ਕੂਕੇ ਨਾਂ ਪੁੱਨੂੰ ਦਾ ਵਨ ਵਨ ਨੂੰ ਗਲ ਲਾਏ।
ਪਰ ਵਾਰਸ ਬਾਰ ਸੁੰਜੇਂ ਵਿਚ ਸੱਸੀ ਪੁੱਨੂੰ ਯਾਰ ਪੁਛਾਏ।
੧੮–ਐਨ ਇਨਾਇਤ ਕਰੀਂ ਤੇ ਰੱਬਾ ਮੈਂ ਦਰ ਤੇਰੇ ਦੀ ਬਾਂਦੀ।
ਸਾਈਆਂ ਸੰਗ ਪੱਨੂੰ ਦੇ ਮੇਲੀਂ ਫਿਰਨੀ ਹਾਂ ਦਰਮਾਂਦੀ।

ਉਨਹਾਂ ਨਾਲ ਮਿਲਾਈਂ ਮੈਨੂੰ ਕਰਨੀ ਹਾਂ ਸਿੱਕ ਜਿਹਨਾਂਦੀ।
ਵਾਰਸ ਵੇਲੇ ਜਾਗ ਜੇ ਬਹਿੰਦੀ ਤੱਤੀ ਕਿਉਂ ਗ਼ਮ ਖਾਂਦੀ।
੧੯–ਗ਼ੈਨ ਗ਼ੌਰ ਨਾ ਕਰਦਾ ਕੋਈ ਫਿਰਿਆ ਹੋਰ ਜ਼ਮਾਨਾ।
ਕੇਹੀ ਸਿਰ ਸੱਸੀ ਦੇ ਵਾਣੀ ਹੋਇਉਸ ਯਾਰ ਬਿਗਾਨਾ।
ਸਲੱਸ ਤੀਰ ਵਿਛੋੜੇ ਦਾ ਤਨ ਕਰਕੇ ਜਿਗਰ ਨਿਸ਼ਾਨਾ।
ਵਾਰਸ ਓਹ ਸੁੱਖ ਕਿੱਥੋਂ ਵੇਖਣ ਜਿਨਹਾਂ ਨਾਲ ਦੁੱਖਾਂ ਗੁਜ਼ਰਾਨਾ
੨੦–ਫ਼ੇ ਫ਼ਿਰਾਕ ਪੁੱਨੂੰ ਦੇ ਸੱਸੀ ਪੁਰਜ਼ੇ ਕਰ ਕਰ ਕੁੱਠੀ।
ਮਰ ਗਈ ਖੋਜ ਪੁੱਨੂੰ ਦੇ ਉੱਤੇ ਖੋਜੋਂ ਅਗਹਾਂ ਨਾ ਉੱਠੀ।
ਦੋਵੇਂ ਹੱਥ ਖੋਜੇ ਤੇ ਧਰ ਕੇ ਡਿੱਗੀ ਹੋਕੇ ਪੁੱਠੀ।
ਵਾਰਸ ਵੇਖੋ ਸਿਦਕ ਸੱਸੀ ਦਾ ਖੋਜੋਂ ਅਗਹਾਂ ਨਾ ਉੱਠੀ।
੨੧–ਕ਼ਾਫ਼ ਕਲਮ ਅਪੁੱਠੀ ਮੇਰੀ ਵਾਰੀ ਵੱਗੀ ਸੀ ਦਰਗਾਹੋਂ।
ਤਾਂ ਮੈਂ ਪੁੱਨੂੰ ਸੁਟ ਘਤੀ ਸਾਂ ਧਰਤ ਉੱਤੇ ਫੜ ਬਾਂਹੋਂ।
ਮੈਂ ਭੈੜੀ ਬਦ ਬਖ਼ਤ ਮੁਵਾਂ ਦੀ ਘੁਸ ਗਈ ਮੈਂ ਰਾਹੋਂ।
ਵਾਰਸ ਮੁੱਢੋਂ ਭਾਗੀ ਸਾਂ ਮੈਂ ਤਾਂ ਝੜਿਆ ਲਾਲ ਹਥਾਹੋਂ;
੨੨–ਕਾਫ਼ ਕਿਤ ਵਲ ਗਿਆ ਪੁੱਨੂੰ ਪੈਰ ਜ਼ਿਮੀਂ ਤੇ ਧਰ ਕੇ।
ਜਾਂ ਓਹ ਵੇਖੇ ਤਾਂ ਰਤ ਰੋਵੇ ਨੀਰ ਲਬਾਲਬ ਭਰ ਕੇ।
ਆਹਾ ਚੋਰ ਗਿਆ ਦਿਲ ਖਸ ਕੇ ਦਗ਼ਾ ਮੇਰੇ ਨਾਲ ਕਰ ਕੇ।
ਵਾਰਸ ਬਹਿ ਲਖ ਸ਼ੁਕਰ ਕਰਾਂ ਮੈਂ ਖੋਜ ਲੱਧਾ ਮਰ ਮਰ ਕੇ।
੨੩–ਲਾਮ ਲੈ ਲੈ ਖੋਜ ਬੇਲੀ ਦਾ ਵਿਚ ਕਲਾਵੇ ਘੁਟਦੀ।
ਜਾਂ ਉਹ ਵੇਖੇ ਤਾਂ ਰੱਤ ਰੋਵੇ ਵਾਲ ਮੁਠੀਂ ਭਰ ਪੁਟਦੀ।
ਜੇ ਕਰ ਯਾਰ ਮਿਲੇ ਅਜ ਮੈਨੂੰ ਜਾਨ ਅਜ਼ਾਬੋਂ ਛੁੱਟਦੀ।
ਵਾਰਸ ਓਹ ਦਿਨ ਕਿੱਥੋਂ ਆਵੇ ਜਾਂਵਾਂ ਸੰਗਲੀ ਸੁੱਟਦੀ।
੨੪–ਮੀਮ ਮੁਹੱਬਤ ਜੋਸ਼ ਸੱਸੀ ਨੂੰ ਪਿਛਾਂ ਨਾ ਜਾਂਵਣ ਦੇਂਦਾ।
ਰੋਵੇ ਤੇ ਕੁਰਲਾਵੇ ਬੈਠੀ ਚੈਨ ਨਾ ਆਵਣ ਦੇਂਦਾ।
ਬੈਠ ਥਹੀ ਉਹ ਖੋਜ ਨੂੰ ਫੜ ਕੇ ਪੈਰ ਨਾ ਚਾਵਣ ਦੇਂਦਾ।
ਮਿਲਦੇ ਸੱਸੀ ਪੁੱਨੂੰ ਵਾਰਸ ਜੇ ਹੋਤ ਮਿਲਾਵਣ ਦੇਂਦਾ।
੨੫–ਨੂਨ ਨਿਆਜ਼ਾਂ ਕਰ ਕਰ ਸੱਸੀ ਵਿਚ ਥਲਾਂ ਦੇ ਵੜਦੀ।
ਤੱਤੀ ਰੇਤ ਸੱਸੀ ਦੇ ਪੈਰੀਂ ਸੱਪਾਂ ਵਾਂਗੂ ਲੜਦੀ।
ਸੂਲੀ ਚੜ੍ਹ ਮਨਸੂਰੇ ਵਾਂਗੂ ਕਦਮ ਹਾਦੀ ਦੇ ਫੜਦੀ।
ਵਾਰਸ ਭਾਹ ਇਸ਼ਕ ਦੀ ਅੰਦਰ ਸਾਦਕ ਹੋਕ ਸੜਦੀ।

੨੬–ਵਾਓ ਵੇਖ ਅਹਵਾਲ ਸੱਸੀ ਦਾ ਚਾਹੜ ਰਤੋਂ ਭਰ ਰੋਈ।
ਆਹੀਂ ਮਾਰ ਘਾਹੀਂ ਅਗ ਲਾਈਉਸ ਕਰ ਕਰ ਯਾਦ ਦੁਖੋਈ।
ਓਹੋ ਦਰਦ ਸੱਸੀ ਦੇ ਥੀਂ ਭੁੱਜ ਕਬਾਬ ਖੜੋਈ।
ਵਾਰਸ ਉਹ ਸੁੱਖ ਕਿੱਥੋਂ ਵੇਖਣ ਦੁੱਖ ਮਿਲੇ ਘੁਟ ਵੋਈ।

੨੭–ਹੇ ਹਿਕ ਹਿਕੱਲੀ ਸੱਸੀ ਥਲ ਵਿਚ ਕਲਵਲ ਆਨ ਕੇ ਹੋਈ।
ਦਰਦਾਂ ਮਾਰ ਕੀਤੀ ਸਰ ਗਰਦਾਂ ਦੁੱਖਾਂ ਕੀ ਕੀਤੋਂਈ।
ਭੁੱਖੀ ਅਤੇ ਪਿਆਸੀ ਆਹੀ ਨਜ਼ਰ ਅਯਾਲ ਪਿਓਈ।
ਵਾਰਸ ਜਾਇ ਅਜਾਲੀ ਅੱਗੇ ਹੰਝੂ ਭਰ ਭਰ ਰੋਈ।

੨੮–ਲਾ ਲਿਆ ਕੇ ਪਾਣੀ ਜਲਦੀ ਕਾਕਾ ਦੇ ਅਯਾਲੀ।
ਲੈ ਕੇ ਸੱਸੀ ਪੀਣਾ ਚਾਹੇ ਦਿਤੀ ਮੌਤ ਦਿਖਾਲੀ।
ਪਾਣੀ ਪੀਵਣ ਬਾਝੋਂ ਮੋਈ ਸੱਸੀ ਹੋ ਬੇ ਹਾਲੀ।
ਕਰਕੇ ਦਫ਼ਨ ਅਯਾਲੀ ਵਾਰਸ ਬੈਠਾ ਹੋ ਮਲਾਲੀ।

੨੯–ਅਲਫ਼ ਉਠਣੀ ਪੁੱਨੂੰ ਲੈ ਕੇ ਵਿਚ ਥਲਾਂ ਜਾਂ ਆਵੇ।
ਕਾਕਾ ਬੈਠਾ ਵੇਖ ਕਬਰ ਤੇ ਪੁੱਨੂੰ ਉਤ ਵਲ ਜਾਵੇ।
ਲਏ ਪਛਾਣ ਅਯਾਲ ਪੁੱਨੂੰ ਨੂੰ ਸਭ ਅਹਵਾਲ ਸੁਣਾਵੇ।
ਵਾਰਸ ਸੁਣ ਆਹਵਾਲ ਸੱਸੀ ਦਾ ਸੂਲ ਪੁੱਨੂੰ ਤਨ ਧਾਵੇ।

੩੦–ਯੇ ਯਾ ਰਬ ਗੋਰ ਸੱਸੀ ਦੇ ਵਿਚ ਸਾਨੂੰ ਭੀ ਘਤ ਨਾਲੇ।
ਇਕ ਦਿਨ ਪੀਤੇ ਨਾਲ ਸੱਸੀ ਦੇ ਭਰ ਭਰ ਪਰੇਮ ਪਿਆਲੇ।
ਮਰਦੇ ਨਾਲ ਜੇ ਮਰ ਪਈਏ ਨਾਂਹੀ ਫਿਰ ਵੱਤ ਕੀ ਸੰਭਾਲੇ।
ਪਰ ਵਾਰਸ ਕੌਲ ਕੀਤੇ ਨ ਪੂਰਾ ਰੱਬ ਇਕਸੇ ਗੋਰ ਸਵਾਲੇ।

ਜੀਵਨ

[ਡਾ: ਮੋਹਣਸਿੰਘ, ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਿਜ, ਲਾਹੌਰ]

(੧)

ਇਹ ਜੀਵਨ ਹੈ ਕੀ ? ਆਇਆ† ਕਿੱਥੋਂ ਤੇ ਕਿਦਾਂ ਵਿਗਾਸ ਹੋਇਆ; ਕਿੱਧਰ

† ਸੁਨਹੁ ਰੇ ਤੂ ਕਉਨੁ ਕਹਾ ਤੇ ਆਇਓ। ਏਤੀ ਨ ਜਾਨਉ ਕੇਤੀਕ ਮੁਦਤਿ ਚਲਤੇ ਖਬਰਿ ਨ ਪਾਇਓ।੧। ਰਹਾਉ। ਸਹਨ ਸੀਲ
ਪਵਨ ਅਰੁ ਪਾਣੀ ਬਸੁਧਾ ਖਿਮਾ ਨਿਭਰਾਤੇ।
ਪੰਚ ਤਤ ਮਿਲਿ ਭਇਓ ਸੰਜੋਗਾ ਇਨ ਮਹਿ ਕਵਨ ਦੁਰਾਤੇ ॥ ੨ ॥

ਜਾ ਰਹਿਆ ਹੈ; ਕੌਣ ਇਹਨੂੰ ਧੱਕੀ ਰੁੜਹਾਵੀ ਜਾਂਦਾ ਹੈ, ਤੇ ਕਿਉਂ ? ਜੀਉਂਣ ਵਾਲਿਆਂ ਦਾ ਕੀ ਪਰੋਜਨ ਸੰਵਰਦਾ ਹੈ ਜੀਵਨ ਤੋਂ ਤੇ ਜੀਵਨ ਦਾਤਾ ਦਾ ਕੀ ਮਤਲਬ ਸਿੱਧ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ? ਸਾਨੂੰ ਕਿਵੇਂ ਜੀਉਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ਜੋ ਸਾਡਾ ਤੇ ਉਹਦਾ ਦੋਹਾਂ ਦਾ ਅਸਲੋਂ ਇੱਕੋ ਹੀ ਪਰੋਜਨ ਪੂਰਾ ਹੋ ਜਾਏ । ਕਿੱਦਾਂ ਜੀਵੀਏ ਤਾਂ ਜੋ ਜੀਵਨ ਸਾਡਾ ਪੂਰਨ ਜੀਵਨ, ਸੁਖ ਮਈ, ਆਨੰਦ ਮਈ ਤੇ ਸੱਤਾ ਵਾਲ ਜੀਵਨ ਹੋ ਕੇ ਰਹੇ ? ਇਹ ਸਵਾਲ ਹਨ ਜਿਹਨਾਂ ਦੇ ਜੁਆਬ ਗੁਰਬਾਣੀ ਵਿਚੋਂ ਲੱਭ ਕੇ ਅਸੀਂ ਜੀਵਨ-ਪਥ ਉੱਤੇ ਬੇਧੜਕ ਤੇ ਬੇਪਰਵਾਹੀ ਨਾਲ ਚਲਦਿਆਂ, ਨਿਰਭੈ ਤੇ ਨਿਰਵੈਰ ਹੋ ਕੇ ਅਕਾਲ-ਮੂਰਤੀ ਦਾ ਧਿਆਨ ਧਰਦਿਆਂ, ਸਤ ਨਾਮ ਸਤ ਨਾਮ ਜਪਦਿਆਂ ਹੋਇਆਂ ਓਸ ਸੱਭ ਠੀਕ ਪਹੁਚ ਸਕਦੇ ਹਾਂ ।

ਜਦੋਂ ਅਸੀਂ ਅਜੇ ਇਹਨਾ ਸੁਆਲਾਂ ਦੇ ਜੁਆਬ ਲੱਭਣ ਵਿਚ ਰੁੱਝਣਾ ਅਰੰਭ ਹੀ ਕਰਦੇ ਹਾਂ ਤਾਂ ਸਾਡੀ ਕੰਨੀਂ ਇਹ ਵਾਜ਼ਾਂ ਆਉਂਦੀਆਂ ਹਨ :-

੧-ਭਾਈ ਇਹ ਜੀਵਨ ਖੇਡ ਤਮਾਸ਼ਾ ਹੋਈ ਕਿਸੇ ਦਾ ਤੇ

੨-ਤੂੰ ਜੀਵਨ ਤਲਬ ਨੂੰ ਨਿਵਾਰ । ਕੀ ਮਤਲਬ ਕਿ ਸਾਨੂੰ ਅਪਣਾ ਆਪ ਤਾਂ ਨਾਂਹ ਹੋਇਆਂ ਜਿਹਾ ਸਮਝ ਲੈਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ਤੇ ਖ਼ੁਦ ਖੇਡਣ ਦੀ ਥਾਂ ਖੇਡ ਦਾ ਪਰਿਓਜਨ, ਖੇਡਨ ਦੇ ਢੰਗ ਕਢਣ ਬਦਲਣ ਦੀ ਥਾਂ ਓਸਦੇ ਪਰਿਓਜਨ ਨੂੰ ਲੱਭ ਕੇ, ਓਸਦੇ ਇਸ਼ਾਰੇ ਤੇ ਹੁਕਮ ਅੰਦਰ, ਓਸਦੀ ਰਜ਼ਾ ਬੁਝ ਕੇ, ਖੇਡਣ ਦੀ ਜ਼ਰੂਰਤ ਹੈ। ਓਹਦੇ ਨਚਾਏ ਨਚੀਏ । ਇਹ ਜੀਵਨ ਹੁਕਮ ਬੁਝ ਕੇ ਲੀਲਾ ਕਰਨ ਦਾ, ਜੀਵਨ ਤਲਬ ਨੂੰ ਛਡ ਕੇ ਜਗ ਜੀਵਨ ਦੇ ਹੋ ਰਹਿਣ ਦਾ ਨਾਂ ਹੈ । ਤੇ ਇਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦਾ ਜੀਵਨ ਸਾਡਾ ਹੀ ਲੱਖ, ਆਦਰਸ਼ ਨਹੀਂ ਸਾਰੀ ਸਰਿਸ਼ਟੀ ਦਾ ਸਾਰੀ ਸਿਰਜ ਦਾ, ਸਭ ਲੋਕਾਂ ਭਵਨਾ ਚਤਰਦਸ ਲੋਕਾਂ ਦਾ ਤੇ ਤਿਨਾਂ ਭਵਨਾਂ ਦਾ ਹੈ । ਕੁਦਰਤ ਉਹਦੇ ਖਿਡਾਇਆਂ ਖੇਡਦੀ ਹੈ ਤੇ ਕਰ ਕੁਝ ਨਹੀਂ ਰਹੀ ਖੇਡ ਹੀ ਰਹੀ ਹੈ । ਇਸੇ ਵਿਚ ਉਹਦੀ ਖ਼ੁਸ਼ੀ, ਸੁੰਦਰਤਾ, ਪੂਰਣਤਾ ਤੇ ਲੱਖ ਪਰਾਪਤੀ ਹੈ । ਜਿਨੀ ਕੁ ਕੋਈ ਸ਼ੈ ਖੇਡ ਕਰਨ ਤੇ ਹੁਕਮ ਬੁਝਨ ਵਿਚ ਮਸਤ ਹੈ, ਉੱਨੀ ਹੀ ਉਹ ਸੁੰਦਰ, ਖ਼ੁਸ਼ ਤੇ ਪੂਰਨ ਹੈ ।

ਜੀਵਨ ਅਧੂਰਾ ਕਿਉਂ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਜੀਉਂਦੇ ਨੂੰ ਦੁਖ ਕਿਉਂ ਚੰਮੜਦਾ ਹੈ, ਕੁਰੂਪਤਾ ਕਿਉਂ ਓਹਦੇ ਭਾਗ ਵਿਚ ਆਉਂਦੀ ਹੈ, ਕਿਉਂਕਿ ਉਹ ਜਗ-ਜੀਵਨ ਨੂੰ

ਜਿਨ ਰਚਿ ਰਚਿਆ ਪੁਰਖਿ ਬਿਧਾਤੈ ਨਾਲ ਹਉਮੈ ਪਾਈ ।

ਜਨਮ ਮਰਣੁ ਉਸ ਹੀ ਕਉ ਹੈ ਰੇ ਓਹਾ ਆਵੈ ਜਾਈ ।

ਬਰਨੁ ਚਿਹਨੁ ਨਾਹੀ ਕਿਛੁ ਰਚਨਾ ਮਿਥਿਆ ਸਗਲ ਪਸਾਰਾ ।

ਭਣਤਿ ਨਾਨਕੁ ਜਬ ਖੇਲੁ ਉਝਾਰੈ ਤਬ ਏਕੈ ਏਕੰਕਾਰਾ ।

ਭੁਲਦਾ ਹੈ, ਤੇ ਏਸ ਖੇਡ ਨੂੰ ਆਪਣਾ ਇਕ ਨਿਜੀ ਮੁਖ਼ਤਿਆਰ ਕੰਮ ਧੰਦਾ ਬਣਾ ਲੈਂਦਾ ਹੈ ਤੇ

ਨਿਰੰਕਾਰੁ ਆਕਾਰੁ ਹੈ ਆਪੇ ਆਪੇ ਭਰਮਿ ਭੁਲਾਏ ।
ਕਰਿ ਕਰਿ ਕਰਤਾ ਆਪੇ ਵੇਖੈ ਜਿਤੁ ਭਾਵੈ ਤਿਤੁ ਲਾਏ ।
ਸੇਵਕ ਕਉ ਏਹਾ ਵਡਿਆਈ ਜਾ ਕਉ ਹੁਕਮੁ ਮਨਾਏ ।

ਜੀਵਨ ਨਿਰੰਕਾਰੁ ਦਾ ਆਕਾਰੁ ਹੈ, ਜੀਵਨ ਭਰਮ ਵਿਚ ਭੁਲਣਾ ਹੈ, ਅਖੀਆਂ ਬੱਨ੍ਹ ਕੇ ਛਪਣ ਛੋਤ ਖੇਡਣਾ ਹੈ, ਸ਼ਿਵ ਦਾ ਸ਼ਕਤੀ ਨਾਲ, ਆਪਣੀ ਸਾਜੀ ਭੁਲਾਈ ਸ਼ਕਤੀ ਨਾਲ । ਸੇਵਕ ਉਹੀ ਹੈ, ਵਡਾ ਖ਼ਾਦਮ ਉਹੀ ਹੈ, ਜਿਸਨੂੰ ਉਹ ਆਪ ਹੁਕਮ ਮੰਨਣ ਦੀ ਇੱਛਾ ਤੇ ਸ਼ਕਤੀ ਪਰਦਾਨ ਕਰੇ ।

ਜੀਵਨ ਵਾਸਤੇ ਆਕਾਰ, ਸੰਸਾਰ, ਬਿਸਥਾਰ, ਬਾਜ਼ੀ ਖ਼ੇਲ, ਜਗ (ਤ), ਨਾਮ, ਰੂਪ ਆਦਿ ਲਫ਼ਜ਼ ਬਹੁਤ ਕਰਕੇ ਵਰਤੇ ਗਏ ਹਨ । ਇਹਨਾਂ ਦੇ ਕੀ ਅਰਥ ਹਨ ਤੇ ਕੀ ਸੰਕੇਤ ਹਨ ?

ਜਿਉ ਜਲ ਊਪਰਿ ਫੇਨੁ ਬੁਦਬੁਦਾ ਤੈਸਾ ਇਹੁ ਸੰਸਾਰਾ ।
ਇਹ ਜਗ ਸਚੇ ਕੀ ਹੈ ਕੋਠੜੀ ਵਿਚ ਸੱਚੇ ਕਾ ਵਾਸ ।
ਇਕਨਾ ਹੁਕਮ ਮਨਾਇ ਲਏ ਇਕਨਾ ਹੁਕਮੈ ਕਰੈ ਵਿਣਾਸ ।
ਸੋ ਪ੍ਰਭੁ ਸਾਚਾ ਸਦ ਹੀ ਸਾਚਾ ਸਾਚਾ ਸਭੁ ਆਕਾਰਾ ।
ਜਿਉ ਖੇਲਾਵਹਿ ਤਿਉ ਖੇਲਣ ਹਾਰੇ ।
ਉਝੜ ਮਾਰਗੁ ਸਭੁ ਤੁਮਹੀ ਕੀਨਾ ਚਲੈ ਨਾਹੀ ਕੋ ਵੇਪਾੜਾ
ਕਉ ਕਤੁ ਕਾਲੁ ਇਹੁ ਹੁਕਮਿ ਪਠਾਇਆ
ਜੀਅ ਜੰਤ ਉਪਾਇ ਸਮਾਇਆ
ਵੇਖੈ ਵਿਗਸੈ ਸਭਿ ਰੰਗ ਮਾਣੇ ਰਚਨੁ ਕੀਨਾ ਇਕੁ ਅਖਾੜਾ ।
ਨਾਨਕ ਕਾ ਪ੍ਰਭੁ ਆਪੇ ਆਪੇ ਕਰਿ ਕਰਿ ਵੇਖੈ ਚੋਜ ਖੜਾ
ਸਭਿ ਕਰਿ-ਕਰਿ ਵੇਖੈ ਅਪਣੇ ਚਲਤਾ
ਬਰਨੁ ਚਿਹਨੁ ਨਾਹੀ ਕਿਛੁ ਰਚਨਾ ਮਿਥਿਆ ਸਗਲ ਪਸਾਰਾ ।
ਭਣਤਿ ਨਾਨਕੁ ਜਬ ਖੇਲ ਉਝਾਰੈ ਤਬ ਏਕੈ ਏਕੰਕਾਰਾ ।

(੨)

ਜੀਵਨ ਇਕ ਪਦਵੀ ਹੈ, ਪਰ ਸਚੇ ਜੀਵਨ ਤੋਂ ਮੁਰਾਦ ਹੈ ਇਹ ਪਦਵੀ । ਮੁਢਲਾ ਜੀਵਨ ਮਨ ਮੁਖਿ ਜੀਵਨ ਨਿਰੀ ਹਉਮੈ ਹੈ । ਹਉਮੈ ਮਰੀ ਤੇ ਜੀਵਨ ਜੀਵਨ ਪਦਵੀ ਹੋ ਗਿਆ । ਹਉਮੈ ਮਰੀ ਤਾਂ ਓਸ ਦੀ ਕਿਰਪਾ, ਗੁਰੂ ਦੀ ਮਿਹਰ ਨਾਲ ।

ਖੁਲਿਆ ਕਰਮੁ ਕ੍ਰਿਪਾ ਭਈ ਠਾਕੁਰ ਕੀਰਤਨੁ ਹਰਿ ਹਰਿ ਗਾਈ ।
ਸ੍ਰਮੁ ਥਾਕਾ ਪਾਏ ਬਿਸਰਾਮਾ ਮਿਟਿ ਗਈ ਸਗਲੀ ਧਾਈ ॥ ੧ ॥
ਅਬ ਮੋਹਿ ਜੀਵਨ ਪਦਵੀ ਪਾਈ ।
ਚੀਤਿ ਆਇਓ ਮਨਿ ਪੁਰਖੁ ਬਿਧਾਤਾ ਸੰਤਨ ਕੀ ਸਰਣਾਈ ॥ ੧ ॥

ਦੋ ਜੀਵਨ ਹੋ ਗਏ, ਸੱਚਾ ਜੀਵਨ; ਨਾਮ ਜਪ ਦਾ,ਸਹਜ ਅਵਸਥਾ, ਏਕੰਕਾਰ ਦੇ ਅਨਭਉ ਦਾ ਅਰ ਝੂਠਾ ਜੀਵਨ ਭ੍ਰਮ ਦਾ, ਮਾਇਆ ਮੋਹ ਦਾ, ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਦਾ, ਓਹ ਦੇ ਹਾਜ਼ਰ ਨਾਜ਼ਰ ਪਣ ਉੱਤੇ ਬੇ ਯਕੀਨੀ ਦਾ ।

ਏਸੇ ਸ਼ਬਦ ਦੀਆਂ ਅਗਲੀਆਂ ਤੁਕਾਂ ਸਚੇ ਜੀਵਨ, ਜੀਵਨ ਪਦਵੀ ਨੂੰ ਇਉਂ ਚਿਤਰਦੀਆਂ ਹਨ:—

ਕਾਮ ਕ੍ਰੋਧੁ ਲੋਭੁ ਮੋਹੁ ਨਿਵਾਰੇ ਨਿਵਰੇ ਸਗਲ ਬੈਰਾਈ ।
ਸਦ ਹਜੂਰਿ ਹਾਜਰੁ ਹੈ ਨਾਜਰੁ ਕਤਹਿ ਨ ਭਇਓ ਦੂਰਾਈ ।

ਇਹ ਜੀਵਨ ਨਿਰਭੈਤਾ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੈ ।

ਨਿਰਭਉ ਭਏ ਸਗਲ ਭੈ ਖੋਏ ਗੋਬਿੰਦ ਚਰਣ ਓਟਾਈ ।

ਤਾਹੀਓਂ ਤਾਂ ਜੀਵਨ ਪਦਵੀ ਦੀ ਥਾਂ ਅਭੈ ਪਦ ਵੀ ਵਰਤਿਆ ਗਇਆ ਹੈ ।

ਝੂਠੇ ਜੀਵਨ ਦੀ ਤਲਬ ਛੱਡ । ਝੂਠਾ ਜੀਵਨ ਜ਼ਾਹਿਰੀ ਜੀਵਨ ਤਾਂ ਖਾਣ ਵਿਚ ਤੇ ਜੀਆ-ਪਰਾਣ ਦਮ ਲੈਣ ਵਿਚ ਹੈ । ਤੇ ਇਹਦੀ ਤਲਬ ਕਰਨਾ ਫ਼ਜ਼ੂਲ ਹੈ ਕਿਓਂਕਿ ਇਹ ਪਹਿਲਾਂ ਹੀ ਨੀਯਤ, ਮੁਕੱਰਰ ਹੋ ਚੁਕਿਆ ਹੈ ।

ਖਾਣ ਜੀਣ ਕੀ ਬਹੁਤੀ ਆਸ ! ਲੇਖੈ ਤੇਰੈ ਸਾਸ ਗਿਰਾਸ ।

ਸੋ ਜੀਵਨ ਤੋਂ ਮੁਰਾਦ ਸਚਾ ਜੀਵਨ, ਏਕਤਾ ਦਾ ਜੀਵਨ, ਹਉ ਮੈ ਰਹਿਤ ਅਨੰਦ ਮਈ, ਤੇ ਸਹਜਾਵਸਥਾ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੈ ਤੇ ਉਹ ਗੁਰਮੁਖਿ, ਗੁਪਦੁਆਰਾ, ਉਹਦੀ ਮਿਹਰ ਨਾਲ ਨਾਮ ਜਪਣ ਤੋਂ ਪਰਾਪਤ ਹੁੰਦਾ ਹੈ । ਉਸ ਜੀਵਨ ਦਾ ਤਅਲੁੱਕ ਸੁਖ ਨਾਲ ਨਹੀਂ, ਉਹਦਾ ਤਅਲੁੱਕ ਆਰਜਾ, ਆਯੂ, ਉਮਰ ਦੀ ਲੰਮਿ-ਆਈ ਵਡਾਈ ਨਾਲ ਨਹੀਂ,ਸੇਹਤ ਨਾਲ ਨਹੀਂ। ਖਾਣ ਪੀਣ ਨਾਲ ਨਹੀਂ । ਮਾਲ ਮਤਾਹ ਨਾਲ, ਦੋਸਤਾਂ ਨਾਤੇਦਾਰਾਂ ਨਾਲ ਨਹੀਂ । ਉਸ ਜੀਵਨ ਦਾ ਯਾਦ ਨਾਲ ਸਿਮਰਣ ਨਾਲ ਸਨਬੰਧ ਹੈ, ਆਖਾਂ ਜੀਵਾਂ ਵਿਸਰੈ ਮਰ ਜਾਉਂ । ਉਹਦਾ ਰਿਸ਼ਤਾ ਸਿਰਫ਼ ਆਖਣ ਨਾਲ ਹੈ । ਜਿੰਨਾ ਬਹੁਤਾ,ਨਿਰਬਾਣ,ਅਤੁਟ,ਡੂੰਘਾ,ਸੱਚਾ ਸਿਫ਼ਤ-ਭਰਿਆ ਆਖਣ ਆਖੋਗੇ ਉੰਨਾ ਹੀ ਉਹ ਜਵਿਨ Intense ਡੂੰਘਾ, ਲੰਮਾ, ਪੂਰਾ, ਸੁਚਾ ਤੇ ਸਚਾ, ਜੋਤਿਰ ਮੈ, ਤਾਕਤ-ਵਰ, ਫ਼ਾਇਦੇਮੰਦ (ਖ਼ਲਕ ਲਈ, ਤੇ

ਖ਼ਾਲਿਕ ਲਈ) ਤੇ ਖ਼ੁਸ਼ੀ ਨਾਲ ਰਸਿਆ ਤੇ ਰਚਿਆ ਹੋਇਆ ਹੋਵੇਗਾ ।

†ਸਿਮਰਨ ਜੀਵਨ ਹੈ । ਪਰਾਂਨ ਅਧਾਰ ਹੈ । ਜੀਵਨ ਰਸ ਹੈ ਪਰ ਕਾਹਦਾ ਰਸ, ਖਾਣ ਪੀਣ ਦਾ ਹਕੂਮਤ ਦਾ ਜਾਂ ਮੋਹ ਪਿਆਰ ਦਾ ਨਹੀਂ, ਉਹ ਤਾਂ ਪਰਾਣਾਂ ਦਾ ਵੀ ਤੇ ਦਮ ਦਾ ਵੀ ਅਧਾਰ ਆਸਰਾ ਤੇ ਖ਼ੁਰਾਕ ਹੈ । ਤੇਰੇ ਜਨ ਰਸਿਕ ਰਸਿਕ ਗੁਣ ਗਾਵਹਿ । ਜੀਉਂਦੇ ਉਹੀ ਹਨ ਜੋ ਨਾਮ ਦੇ ਰਸੀਏ ਹਨ । ਇਸ ਤੋਂ ਬਗ਼ੈਰ ਭਾਵੇਂ ਉਹ ਕਿਨੇ ਵੀ ਮਸਲਤਿ, ਮਤਾ ਤੇ ਸਿਆਣਪ ਭਰੇ ਕਿਉਂ ਨ ਹੋਣ ਮੁਰਦੇ ਹਨ, ਤੁਰਦੀਆਂ ਫਿਰਦੀਆਂ ਲੋਥਾਂ" । ਜੀਵਨ ਦਾ ਉਲਟ ਹੈ ਮਰਿਤਿਉ । ਨ ਮਰਨਾ ਹੋਵੇ ਤਾਂ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਪੀਉ ਪਰ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਕੀ ਹੈ ਤੇ ਕਿਥੇ ਹੈ ?

ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਨਾਮੁ ਤੁਮਾਰਾ ਪਿਆਰੇ ਸਾਧ ਸੰਗਿ ਰਸੁ ਪਾਇਆ ।

ਮਾਇਆ ਦਾ ਜੀਵਨ Natural ਝੂਠਾ, ਕੁਦਰਤੀ, ਖਿਨ ਭੰਗਰ, ਭਰਮ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੈ, ਮਨ ਮੁਖੀ ਜੀਵਨ ਹੈ । ਪਰ ਬਰਹਮ ਦਾ ਜੀਵਨ ਸਚਾ, ਸਦੀਵੀ ਤੇ ਗਿਆਨ ਦਾ ਗੁਰਮੁਖੀ ਜੀਵਨ ਹੈ । ਝੂਠਾ ਜੀਵਨ ਤਾਂ ਨਿਰੀ ਮੈਲ ਹੈ । ਆਪਣਾ ਕੀਤਾ ਮਨਮੁਖੀ ਕਰਨ ਮੈਲ ਭਰਿਆ ਜੀਵਨ ਹੈ । ਜਨਮ ਜਨਮ ਕੀ ਮੈਲ ਧੋਵੈ ਪਰਾਣੀ ਆਪਣਾ ਕੀਤਾ ਪਾਵੈ । ਈਹਾ ਸੁਖ ਨ ਦਰਗਹ ਢੋਈ ਜਮ ਪੁਰਿ ਜਾਇ ਪਚਾਵੈ ।

(੩)

ਜੀਵਨ ਕੀ ਹੈ ? ਇਹ (physical) ਬਿਉਹਾਰੀ ਜੀਵਨ ਤੇ ਸ਼ਰੀਰੀ ਸਨ-ਬੰਧ ? 'ਪਉਣੈ ਪਾਣੀ ਅਗਨੀ ਕਾ ਮੇਲੁ ।' ਫੇਰ ਵਿਚ ਇਸਦੇ ਚੰਚਲ ਚਪਲ ਬੁੱਧਿ ਕਾ ਖੇਲੁ । ਤਰਕੀਬ ਇਹਦੀ ? ਨਉ ਦਰਵਾਜੇ ਦਸਵਾਂ ਦੁਆਰੁ ।

ਸਭੂਤੇ ਗਿਆਨੀ ਏਹੁ ਬੀਚਾਰੁ । ਵਾਸ਼ਨਾਵਾਂ ਦੇ, ਜੀਵਨ ਦਿਆਂ ਅਭਿਆਸਾਂ ਦੇ ਨੌ ਕੇਂਦਰ, ਨੌ ਆਉਣ ਜਾਉਣ ਦੇ ਰਸਤੇ । ਬਸ ਇਹ ਜੀਵਨ ਹੈ । ਪਰ ਕੀ ਏਨ੍ਹਾਂ ਜਾਨਣ ਨਾਲ ਅਸੀਂ ਗਿਆਨੀ, ਜੀਵਨ ਗਿਆਨੀ ਹੋ ਗਏ [illegible] ਨਹੀਂ ਜੀਉਣ ਵਾਲੀ ਤੇ ਮਰਣ ਵਾਲੀ ਕੋਈ ਹੋਰ ਹੀ ਚੀਜ਼ ਹੈ । ਆਤਮਾ ਅਜਨਮ ਤੇ ਅਮਰ ਹੈ, ਓਹ ਨਿਤ ਜੀਵਨ ਹੈ, ਨਿਤਾਨੰਦ ਹੈ ਤੇ ਨਿਤਸੱਤ ਹੈ, ਜਿਸਨੂੰ ਅਸੀਂ ਜੀਵਨ ਕਹਿੰਦੇ ਹਾਂ, ਓਹ ਪੰਜਾਂ ਤੱਤਾਂ ਦਾ, ਕੁਝ ਸੰਸਕਾਰਾਂ ਦਾ ਤੇ ਪਰਮਾਤਮਾਂ ਦੇ ਪਰਤਬਿੰਬ ਦਾ ਮੇਲ ਹੈ ਜਿਹੜਾ ਦੇਸ਼ ਕਾਲ ਵਿਚ ਪਰਗਟ ਹੋ ਕੇ ਨਾਮ ਧਾਰੀ ਹੋ ਰਹਿਆ ਹੈ । ਏਸ ਮੇਲ ਨੂੰ ਹੋਣਾ ਹੈ ਤੇ ਰਹਿਣਾ ਹੈ ਮੁਕਰਰ ਕਾਲ ਤੇ ਦੇਸ਼ ਵਿਚ । ਏਹ ਮੇਲ ਜੀਵਨ ਮਰਨ ਦੇ ਚੱਕਰ ਵਿਚ ਫਸਿਆ ਹੁੰਦਾ ਤੇ ਨਾਂ ਹੁੰਦਾ ਜਾਇਗਾ । ਪਰ ਇਹ ਅਸਲੀ ਜੀਵਨ ਮਰਨ ਨਹੀਂ । ਅਸਲੀ ਜੀਵਨ ਜਗ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਲਿਵ

---

† ਸਿਮਰ ਸਿਮਰ ਪ੍ਰਭ ਬਾਰੰਬਾਰ, ਪ੍ਰਾਣ ਤਰਨ ਕਾ ਇਹੀ ਅਧਾਰ ।

ਲੀਨਤਾ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੈ, ਜਿਸ ਵਿਚ ਅਸੀਂ ਹਰ ਘੜੀ ਜੀਵਨ ਦੇ ਮੂਲ ਤੇ ਪਊੜੀ ਦੇ ਹੋਰ ਸਾਰੇ ਜੀਵਨ ਰੂਪਾਂ ਨਾਲ ਏਕਤਾ ਦਾ ਅਨੁਭਵ ਕਰਦੇ ਹਾਂ। (True life is a continuous, ever-expanding experience of the unity behind this infinite multiplicity. ਜਿੰਨਾਂ ਤੁਸੀਂ ਇਸ ਏਕਤਾ ਨੂੰ ਗੁਰੂ-ਮੁਖ ਗੁਰੂ ਵਲ ਹੋ ਕੇ ਅਨੁਭਵ ਕਰੋਗੇ, ਮਹਿਸੂਸ ਕਰੋਗੇ, ਉਨਾਂ ਹੀ ਸ਼ਾਂਤ, ਰਸਾ ਭਰਿਆ ਪਰਾ (fuller) ਤੇ ਸਭ ਲਈ ਮੁਫ਼ੀਦ ਤੇ ਸਾਂਝਾ ਤੁਹਾਡਾ ਜੀਵਨ ਹੋਵੇਗਾ। ਜੀਵਨ ਸਭ ਜੀਵਾਂ ਦੇ ਇਰਦ ਗਿਰਦ ਦੀਆਂ ਵਸਤੂਆਂ ਨਾਲ ਸਾਂਝੀ ਵਾਲਤਾ ਦੇ ਅਹਿਸਾਸ ਤੇ ਅਨੁਭਵ ਦਾ ਨਾਂਵ ਹੈ। True life is to share the multifarious life of the people and things about us and to make them partners in our ever-expanding life ਉਹਨਾਂ ਦੇ ਸਾਂਝੀਵਾਲ ਬਣੋ ਤੇ ਉਹਨਾਂ ਨੂੰ ਆਪਣਾ ਸਾਂਝੀਵਾਲ ਬਣਾਓ। ਏਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦਾ ਜੀਵਨ ਸੱਚਾ ਜੀਵਨ ਹੈ। ਜੀਵਣ ਮਰ ਰਹਿਣਾ ਹੈ। ਸੱਚਾ ਮਰਨਾ ਹੈ। ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਸਮਝਣ ਲਈ ਮਰਨ ਨੂੰ ਵੀ ਸਮਝਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ। ਮੈਂ ਸੱਚੇ ਜੀਵਨ ਦਾ ਜ਼ਿਕਰ ਕਰਦਾ ਰਹਿਆ ਹਾਂ। ਤੁਸੀਂ ਕਹੋਗੇ ਗੁਰਬਾਣੀ ਵਿਚ ਸੱਚੇ ਤੇ ਝੂਠੇ ਜੀਵਨ ਦਾ ਫ਼ਰਕ ਕਿਥੇ ਆਉਂਦਾ ਹੈ। ਲਓ, ਸੱਚਾ ਜੀਵਨ ਨਾਮ ਜੀਵਨ ਹੈ ਤੇ ਨਾਮ ਹਉਮੈ ਮਾਰ ਕੇ ਸਾਂਝੀਵਾਲਤਾ ਚਮਕਾਉਣ ਕਰਕੇ ਪਾਈਦਾ ਹੈ :—ਆਪੁ ਮਾਰੇ ਤਾਂ ਪਾਏ ਨਾਉ।

ਸਬਦਿ ਮਰੈ ਫਿਰਿ ਮਰਣੁ ਨ ਹੋਇ। ਬਿਨੁ ਮੂਏ ਕਿਉ ਪੂਰਾ ਹੋਇ॥

(ਸਾਡੇ ਪਾਸੇ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ) ਪੂਰਾ ਹੋ ਗਇਆ ਅਰਥਾਤ ਮਰ ਗਇਆ। ਪਰ ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਚੇਤਾਉਂਦੇ ਹਨ ਕਿ ਇਹ ਝੂਠਾ ਮਰਨਾ ਹੈ, ਸੋ ਪੂਰਾ ਹੋਣਾ ਨਹੀਂ। ਸ਼ਬਦਿ ਮੈਰ ਤਾਂ ਉਹ ਸਚਾ ਮਰਣਾ ਤੇ ਪੂਰਾ ਹੋਣਾ ਹੈ।)

ਪਰਪੰਚਿ ਵਿਆਪਿ ਰਹਿਆ ਮਨੁ ਦੋਇ। ਥਿਰੁ ਨਾਰਾਇਣੁ ਕਰੇ ਸੁ ਹੋਇ।
ਜਨਮੁ ਜੀਤਿ ਮਰਣਿ ਮਨੁ ਮਾਨਿਆ। ਆਪਿ ਮੂਆ ਮਨੁ ਮਨ ਤੇ ਜਾਨਿਆ।
ਸਤਿਗੁਰੁ ਮਿਲੈ ਸੁਮਰਣੁ ਦਿਖਾਏ। ਮਰਣੁ ਰਹਣ ਰਸੁ ਅੰਤਰਿ ਭਾਏ।
ਗਰਬੁ ਨਿਵਾਰਿ ਗਗਨੁ ਪੁਰੁ ਪਾਏ।

ਮਰਣੁ ਲਿਖਾਇ ਆਏ, ਨਹੀਂ ਰਹਣਾ। ਹਰਿ ਜਪਿ ਜਾਪਿ ਰਹਣੁ ਹਰਿ ਸਰਣਾ।
ਸਤਿਗੁਰੁ ਮਿਲੈ ਤ ਦੁਬਿਧਾ ਭਾਗੈ। ਕਮਲੁ ਬਿਗਾਸਿ ਮਨੁ ਹਰਿ ਪ੍ਰਭ ਲਾਗੈ।
ਜੀਵਤੁ ਮਰੈ ਮਹਾ ਰਸੁ ਆਗੈ।

ਜ਼ਾਹਿਰੀ ਜੀਵਨ, ਪੰਚ ਤਤ ਦੇ ਮੇਲ ਦਾ ਜੀਵਨ ਤਾਂ ਫ਼ਾਨੀ ਹੈ ਹੀ, ਉਸ ਨੂੰ ਤੁਸੀਂ ਕੀ ਵਧਾ ਘਟਾ ਸਕਦੇ ਹੋ, ਓਸ ਲਈ ਤਾਂ ਆਉਣਾ ਜਾਣਾ ਲਿਖਿਆ ਹੀ

ਹੈ। ਰਹਿਣ ਨਹੀਂ। ਪਰ ਹਰਿ ਜਪਿ ਜਾਪਿ, ਹਰਿ ਸਰਣਾ ਰਹਿਣ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਉਹ ਸੱਚਾ ਜੀਵਨ ਹੈ। ਪਰ ਏਸੇ ਜ਼ਾਹਿਰੀ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਰਹਿੰਦਿਆਂ ਹੀ ਉਸ ਨੂੰ ਜੋ ਅਮਰ ਜੀਵਨ ਹੈ, ਅਸੀਂ ਪਰਾਪਤ ਕਰ ਸਕਦੇ ਹਾਂ। ਕਾਲ ਨੂੰ ਕਾਲ ਵਿਚ ਰਹਿੰਦਿਆਂ ਹੀ ਜਿਤਣਾ ਹੈ। ਇਹਨਾਂ ਤਿੰਨਾਂ ਅਵਸਥਾਵਾਂ ਵਿਚ ਹੀ, ਇਹਨਾਂ ਨੂੰ ਲੰਘ ਕੇ ਹੀ ਚਉਥੀ ਤੇ ਚੜ੍ਹ ਸਕਦੇ ਹਾਂ, ਉਹ ਚਉਥੀ ਜਿਸ ਵਿਚ ਜਨਮ ਮਰਨ ਨਹੀਂ

ਜਨਮਿ ਮਰੇ ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਹਿਤਕਾਰੁ। ਚਾਰੇ ਬੇਦ ਕਥਹਿ ਆਕਾਰੁ।
ਤੀਨਿ ਅਵਸਥਾ ਕਹਹਿ ਵਖਿਆਨੁ। ਤੁਰੀਆਵਸਥਾ ਸਤਿਗੁਰ ਤੇ ਹਰਿ ਜਾਨੁ।

ਇਹ ਜੀਵਨ ਕੀ ਹੈ, ਮੇਲ ਤੇ ਵਿਛੋੜਾ, ਆਸਾ ਤੇ ਨਿਰਾਸਾ, ਬੰਧ ਤੇ ਮੁਕਤ, ਪਾਪ ਤੇ ਪੁੰਨ, ਸੁਖ ਤੇ ਦੁਖ। ਪਰ ਇਹ ਸੁਜੀਵਨ ਨਹੀਂ ਤੇ ਇਹਨਾਂ ਨੂੰ ਮਾਰ ਦੇਣਾ, ਬਿਲਕੁਲ ਅਨੁਭਵ ਹੀ ਨਾ ਕਰਨਾ ਸੁਮਰਣ ਨਹੀਂ। ਸੁਜੀਵਨ ਹੈ:—

ਆਸਾ ਮਾਹਿ ਨਿਰਾਸੁ ਬੁਝਾਇਆ। ਤੇ ਸੁਮਰਣ ਹੈ :—

ਜੀਵਤਿਆਂ ਮਰ ਰਹੀਏ।

ਜੀਵਨ ਕੀ ਹੈ। ਕਾਇਆ ਧਾਰੀ ਹੋਣਾ। ਆਕਾਰ ਵਾਲਾ ਹੋਣਾ। ਅਸੀਂ ਜੀਉਂਦੇ ਹਾਂ, ਸਾਡੀ ਕਾਇਆ ਹੈ, ਸਾਡਾ ਆਕਾਰ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਮਹਾਰਾਜ ਕਾਇਆ ਨੂੰ ਇਉਂ ਪਰਬੋਧਦੇ ਹਨ, ਕਿ ਭਾਈ ਜੇ ਤੂੰ ਸਮਝਦਾਰ ਹੈਂ ਤਾਂ ਐਉਂ ਕਰ:—

ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਕਾਇਆ ਰਹੈ ਸੁਖਾਲੀ ਬਾਜੀ ਇਹੁ ਸੰਸਾਰੋ।
ਲਬੁ ਲੋਭੁ ਮੁਚੁ ਕੂੜੁ ਕਮਾਵਹਿ ਬਹੁਤੁ ਉਠਾਵਹਿ ਭਾਰੋ।

ਹੇ ਕਾਇਆ ਤੇਰੇ ਪਾਸ ਤਾਕਤ ਤੇ ਖਰਚੀ ਮਹਦੂਦ ਗਿਣੀ ਮਿਥੀ ਹੈ, ਸੋ ਸੋਚ ਸਮਝ ਕੇ ਖਰਚ ਕਰ। ਏਹ ਲਬੁ ਲੋਭੁ ਕੂੜੁ ਹੰਕਾਰ ਆਦਿ ਤੇਰੇ ਬਲ ਨੂੰ ਖੀਣ ਕਰਨ ਵਾਲ, ਤੇਰੇ ਅੰਦੇਸ਼ਤੇ, ਜਮਾ ਨੂੰ ਚੁਰਾਣ ਖਿਸਕਾਣ ਵਾਲੇ ਹਨ। ਤੂੰ ਜ਼ਰੂਰਤ ਤੋਂ ਜ਼ਿਆਦਾ ਇਹ ਭਾਰ ਨਾ ਚੁਕ। ਇਕ ਰੋਟੀ ਜ਼ਰੂਰਤ ਹੈ ਤੇ ਦੂਜੀ ਹਵਸ, ਭਾਰ। ਸੁਕੀ ਜ਼ਰੂਰਤ ਹੈ, ਚੋਪੜੀ ਘਣਿਆਂ ਦੁਖਾਂ ਦਾ ਕਾਰਨ। ਜੇ ਬਹੁਤੀ ਦੇ ਮਗਰ ਲਗੋਗੇ ਤਾਂ ਭਉਂਦੇ ਰੁਲਦੇ ਰਹੋਗੇ।

ਤੂੰ ਕਾਇਆ ਮੈਂ ਰੁਲਦੀ ਦੇਖੀ ਜਿਉ ਧਰ ਊਪਰਿ ਛਾਰੋ।
ਸੁਣਿ ਸੁਣਿ ਸਿਖ ਹਮਾਰੀ।
ਸੁਕ੍ਰਿਤੁ ਕੀਤਾ ਰਹਸੀ ਮੇਰੇ ਜੀਅੜੇ ਬਹੁੜਿ ਨ ਆਵੈ ਵਾਰੀ।
ਹਉ ਤੁਧੁ ਆਖਾ ਮੇਰੀ ਕਾਇਆ ਤੂੰ ਸਿਖ ਹਮਾਰੀ।
ਨਿੰਦਾ ਚਿੰਦਾ ਕਰਹਿ ਪਰਾਈ ਝੂਠੀ ਲਾਇ ਤਬਾਰੀ।
ਜੀਉਂਦੇ ਰਹਿਣਾ ਜੇ ਤਾਂ ਨਿੰਦਾ ਛੱਡੋ ਤੇ ਚਿੰਤਾ ਛੱਡੋ।

ਹੁਕਮ ਮੰਨੋ, ਏਕਤਾ ਨਿਬ੍ਹਾਉ। ਹੋਰ:—

ਵੇਲਿ ਪਰਾਈ ਜੋਹਹਿ ਜੀਅੜੇ ਕਰਹਿ ਚੋਰੀ ਬੁਰੀਆਰੀ।
ਹੰਸੁ ਚਲਿਆ ਤੂੰ ਪਿਛੈ ਰਹੀਏਹਿ ਛੁਟੜਿ ਹੋਇਅਹਿ ਨਾਰੀ।
ਤੂੰ ਕਾਇਆ ਰਤੀਅਹਿ ਸੁਪਨੰਤਰਿ ਤੁਧੁ ਕਿਆ ਕਰਮ ਕਮਾਇਆ।
ਕਰਿ ਚੋਰੀ ਮੈ ਜਾ ਕਿਛੁ ਲੀਆ ਤਾ ਮਨਿ ਭਲਾ ਭਾਇਆ।
ਹਲਤਿ ਨ ਸੋਭਾ ਪਲਤਿ ਨ ਢੋਈ ਅਹਿਲਾ ਜਨਮੁ ਗਵਾਇਆ।
ਹਉ ਖਰੀ ਦੁਹੇਲੀ ਹੋਈ ਬਾਬਾ ਨਾਨਕ ਮੇਰੀ ਬਾਤ ਨ ਪੁਛੈ ਕੋਈ।

(੪)

ਜੋਗੀ ਜੋਗ ਦੁਆਰਾ ਏਸ ਕਾਇਆ ਨੂੰ ਅਮਰ ਕਰਦੇ ਕਹੇ ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਉਹ ਪਰਾਨਾਯਾਮ ਦੁਆਰਾ ਤੇ ਹੋਰ ਆਸਨ-ਬੰਧ ਦੁਆਰਾ ਇਸ ਨੂੰ ਮਿੱਟੀ ਤੋਂ ਕੰਚਨ-ਕਾਇਆ ਕਰ ਲੈਂਦੇ ਹਨ। ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਏਸ ਗਲ ਨੂੰ ਨਹੀਂ ਮੰਨਦੇ. ਕਿਉਂ ਜੋ ਅਮਰ ਕਾਇਆ ਵਾਲੇ ਜੋਗੀ ਕਿਥੇ ਗਏ? ਮਿੱਟੀ ਦੀ ਚੀਜ਼ ਕਦੀ ਸੋਨੇ ਦੀ ਤੇ ਮਰਨ ਵਾਲੀ ਅਮਰ ਨਹੀਂ ਹੋ ਸਕਦੀ। ਅਸਲੀ ਅਮਰਤ ਕੀ ਚੀਜ਼ ਹੈ ਤੇ ਕਿਵੇਂ ਅਮਰ ਕਾਇਆ ਸਾਨੂੰ ਮਿਲ ਸਕਦੀ ਹੈ? Immortality belongs to the Soul not to the body and immortality for the spirit lies in its self-realization, its realization of the fact that it is ever immortal. ਆਪਣਾ ਆਪ ਪਛਾਣਨ ਵਿਚ ਹੀ ਸੱਚਾ ਅਮਰਤਵ ਹੈ।

ਸਬਦਿ ਮਰੈ ਤਿਸੁ ਸਦਾ ਅਨੰਦ। ਸਤਿਗੁਰ ਭੇਟੇ ਗੁਰ ਗੋਬਿੰਦ।
ਨਾ ਫਿਰਿ ਮਰੈ ਨ ਆਵੈ ਜਾਇ। ਪੂਰੇ ਗੁਰ ਤੇ ਸਾਚਿ ਸਮਾਇ।
ਏਹਾ ਭਗਤਿ ਜਨੁ ਜੀਵਤੁ ਮਰੈ। ਗੁਰ ਪਰਸਾਦੀ ਭਵਜਲੁ ਤਰੈ।
ਗੁਰ ਕੇ ਬਚਨਿ ਭਗਤਿ ਥਾਇ ਪਾਇ। ਹਰਿ ਜੀਉ ਆਪਿ ਵਸੈ ਮਨਿ ਆਇ।

ਮੁਕਦੀ ਗਲ ਇਹ ਕਿ ਜੇ ਜੀਵਨ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ਤਾਂ ਜਗ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਮਨ ਵਿਚ ਵਸਾ ਲਓ। ਜੇ ਤੁਹਾਨੂੰ ਆਪਣੇ ਅੰਦਰ ਦੀ ਬਿਜਲੀ ਨੂੰ ਵਧਾਣ ਦਾ ਚਾਉ ਹੈ ਤਾਂ ਆਪਣੀ ਤਾਰ ਓਸ ਬਿਜਲੀ ਘਰ ਨਾਲ ਗੁਰੂ ਦੁਆਰਾ ਜੋੜ ਲਓ। ਫੇਰ ਕਦੀ ਘਾਟਾ ਨਹੀਂ ਹੋਵੇਗਾ। ਅਤੁਟ ਜੀਵਨ ਨਾਮ ਹੈ, ਸੋ ਗੁਰ ਵੀਚਾਰਿ ਪਾਇਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਗੁਰ ਜੇ ਵਡ ਨਾਮ ਦਾਤਾ ਤੇ ਜੀਵਨ ਦਾਤਾ ਹੋਰ ਨਹੀਂ। ਮਾਤ ਪਿਤਾ ਤਾਂ ਬਹੁਤ ਥੋਹੜਾ ਜੀਵਨ ਦੇਂਦੇ ਹਨ। ਉਹ ਭੀ ਦੁਖਾਂ ਨਾਲ ਲਿਬੜਿਆ ਹੋਇਆ। ਗੁਰੂ ਦਾ ਦਿਤਾ ਜੀਵਨ ਸਦੀਵੀ ਤੇ ਅਨੰਦਮਈ ਹੁੰਦਾ ਹੈ।

ਜਪਿ ਜਪਿ ਨਾਮੁ ਗੁਰਮਤਿ ਸਾਲਾਹੀ ਮਾਰਿਆ ਕਾਲੁ ਜਮ ਕੰਕਰ ਭੁਇਅੰਗਾ।

ਮੌਤ ਕੀ ਹੈ, ਇਕ ਸਪ ਹੈ, ਭੁਇਅੰਗਾ ਹੈ। ਏਸ ਸਪ ਨੂੰ ਕਿੱਦਾਂ ਮਾਰ ਸਕਦੇ

ਹੋ ? ਨਾਮ ਰੂਪੀ ਗਰੜ ਏਸ ਸਪ ਨੂੰ ਖਾ ਲਏਗਾ ਜਾਂ ਮਨ ਰੂਪ ਇੰਦਰ ਨਾਮ ਰੂਪੀ ਸੋਮ ਪੀ ਕੇ। ਏਸ ਵਰੱਤਿਰ ਨਾਮਕ ਸੱਪ ਨੂੰ ਮੁਕਾ ਛਡੇਗਾ । ਜੀਵਨ ਗਤਿ ਰਾਮ ਭਗਤਿ ਤੋਂ ਹੀ ਲਭਦੀ ਹੈ–

ਜਿਉ ਰਾਤੀ ਜਲਿ ਮਾਛੁਲੀ ਤਿਉ ਰਾਮ ਰਸਿ ਮਾਤੇ ਰਾਮ ਰਾਜੇ।
ਗੁਰ ਪੂਰੈ ਉਪਦੇਸਿਆ ਜੀਵਨ ਗਤਿ ਭਾਤੇ ਰਾਮ ਰਾਤੇ।
ਜੀਵਨ ਗਤਿ ਸੁਆਮੀ ਅੰਤਰਜਾਮੀ ਆਪਿ ਲੀਏ ਲੜਿ ਲਾਏ।
ਹਰਿ ਰਤਨ ਪਦਰਾਥੋ ਪਰਗਟੋ ਪੂਰਨੋ ਛੋਡਿ ਨ ਕਤਹੂ ਜਾਏ।
ਪ੍ਰਭੁ ਸੁਘਰੁ ਸਰੂਪੁ ਸੁਜਾਨੁ ਸੁਆਮੀ ਤਾ ਕੀ ਮਿਟੈ ਨ ਦਾਤੇ।
ਜਲ ਸੰਗਿ ਰਾਤੀ ਮਾਛੁਲੀ ਨਾਨਕ ਹਰਿ ਮਾਤੇ।

ਜੋ ਮਾਛੁਲੀ ਜਲ ਸੰਗਿ ਰੱਤੀ, ਸੋ ਮਰੇਗੀ, ਤੜਪੇਗੀ ਨਹੀਂ। ਨਾਨਕ ਹਰਿ ਸੰਗਿ ਰਤਿਆ ਸੋ ਅਮਰ ਹੋ ਗਇਆ। ਉਹ ਜਲ ਤਾਂ ਕੇਵਲ ਜਲ ਹੀ ਹੈ, ਸੁਕ ਵੀ ਸਕਦਾ ਹੈ ਪਰ ਹਰੀ ਦਾ ਸਾਗਰ ਤਾਂ ਸੁਘੜਤਾ ਸੁਰੂਪਤਾ, ਸੁਜਾਨਤਾ, ਸੁਗਮਤਾ ਤੇ ਪ੍ਰਭਤਾ ਦਾ ਸਾਗਰ ਹੈ।

ਚਾਤ੍ਰਿਕੁ ਜਾਚੈ ਬੂੰਦ ਜਿਉ ਹਰਿ ਪ੍ਰਾਨ ਅਧਾਰਾ ਰਾਮ ਰਾਜੇ।
ਮਾਲੁ ਖਜੀਨਾ ਸੁਤ ਭ੍ਰਾਤ ਮੀਤ ਸਭ ਹੂੰ ਤੇ ਪਿਆਰਾ ਰਾਮ ਰਾਜੇ।

ਪਰਾਨਾਂ ਤੋਂ ਵੀ ਪਿਆਰਾ ਹੈ, ਪਰਾਨ ਅਧਾਰ ਹੈ –

ਸਭ ਹੂੰ ਤੇ ਪਿਆਰਾ ਪੁਰਖੁ ਨਿਰਾਰਾ ਤਾ ਕੀ ਗਤਿ ਨਹੀਂ ਜਾਣੀਐ।
ਹਰਿ ਸਾਸਿ ਗਿਰਾਸਿ ਨ ਬਿਸਰੈ ਕਬਹੂੰ ਗੁਰ ਸਬਦੀ ਰੰਗੁ ਮਾਣੀਐ।
ਪ੍ਰਭੁ ਪੁਰਖੁ ਜਗ ਜੀਵਨੋ ਸੰਤ ਰਸੁ ਪੀਵਨੋ ਜਪਿ ਭਰਮ ਮੋਹ ਦੁਖ ਡਾਰਾ।
ਚਾਤ੍ਰਿਕੁ ਜਾਚੈ ਬੂੰਦ ਜਿਉ ਨਾਨਕ ਹਰਿ ਪਿਆਰਾ।

(੫)

ਜੀਵਨ ਦਾ ਉਦੇਸ਼ ਕੀ ਹੈ ? ਕਾਹਦੇ ਲਈ ਏਥੇ ਆਏ ਹਾਂ ? ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਜੁਆਬ ਦੇਂਦੇ ਹਨ, ਅਸੀਂ ਏਥੇ ਉਸਦਾ ਸਿਮਰਨ, ਗੁਣ ਗਾਇਣ, ਓਹਦੀ ਸਾਖੀ ਭਰਨ, ਉਸਦੀ ਖੇਡ ਵਿਚ ਹਿੱਸਾ ਲੈਣ ਲਈ ਆਏ ਹਾਂ। To glorify His name ਉਸਦੇ ਨਾਮ ਨੂੰ ਅਪਣੇ ਹਿਰਦੇ ਵਿਚ ਵਸਾਉਣ, ਉਹਦਾ ਕੀਰਤਨ ਕਰਨ ਆਏ ਹਾਂ। ਇਹਦੇ ਵਿਚ ਕੋਈ ਸ਼ਕ ਨਹੀਂ। ਸਾਫ਼ ਤੌਰ ਤੇ ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਹੁਕਮ ਕਰਦੇ ਹਨ। ਬੰਦਿਆ, ਉਹ ਕੰਮ ਕਰ ਜਿਹਦੇ ਲਈ ਤੂੰ ਆਇਆ ਹੈਂ। ਹੁਣ ਇਹ ਸਿਮਰਨ ਹੋਰ ਸਭ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦੇ ਕਰਮ Activity ਤੋਂ ਪਰਧਾਨ ਹੈ, ਇਹੀ ਸਭ ਤੋਂ ਚੰਗਾ, ਨਵਾਂ ਤੇ ਤਾਕਤਵਰ ਉਸਾਰੂ ਕੰਮ creative action, new action ਹੈ। ਨਿਤ ਨਵੇਂ ਚਾ ਨਾਲ ਸਿਮਰਨ ਕਰਨਾ ਸਾਰਾ ਜ਼ੋਰ ਤਨ

ਮਨ ਅਰ ਧਨ ਦਾ ਲਾ ਕੇ ਕਰਨਾ। ਬਾਕੀ ਸਭ ਕੰਮ ਫ਼ਾਲਤੂ ਹਨ। ਅਸਲੀ ਕੰਮ ਉਸਾਰੂ ਤੇ ਮੌਲਿਕ ਕੰਮ ਆਪਣੇ ਢੰਗ ਨਾਲ ਵਾਹ ਲਗਦਿਆਂ ਨਾਮ ਨਾਲ ਪਿਆਰ ਕਰਨਾ ਹੈ। ਇਹ ਮਤ ਸਮਝੋ ਕਿ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਵਾਹਿਗੁਰੂ ਰਾਮ ਰਾਮ ਹਰੀ ਹਰੀ ਕਰਨਾ ਤੇ ਢੋਲਕੀ ਛੈਣਿਆਂ ਸਿਤਾਰ ਚਿਮਟੇ ਤਬਲੇ ਨਾਲ ਕੀਰਤਨ ਕਰਨਾ ਨਿਰਾਰਥ, ਬੇ-ਉਸਾਰੂ, ਫ਼ਜ਼ੂਲ, ਵੇਹਲ ਦਾ ਕੰਮ ਹੈ। ਇਸ ਵਿਚ ਉਹੀ ਤਾਕਤ ਹੈ ਜੋ ਸਲਤਨਤਾਂ, ਸ਼ਾਹੀਆਂ ਬਣਾਣ ਢਾਹੁਣ ਵਾਲਿਆਂ ਵਿਚ ਹੋਇਆ ਕਰਦੀ ਹੈ। ਸਗੋਂ ਓਦੂੰ ਜ਼ਿਆਦਾ। ਅਜੇਹੀ ਕੀਰਤਨ ਨਾਮ ਦੁਆਰਾ ਪਰਾਪਤ ਕੀਤੀ ਤਾਕਤ ਨਾਲ ਬਿਨਾ ਜ਼ੁਲਮ ਕੀਤਿਆਂ ਸ਼ਾਹੀਆਂ ਬਣ ਢਹਿ ਸਕਦੀਆਂ ਹਨ। ਇਕਬਾਲ ਤੇ ਉਹਦੇ ਖ਼ਿਆਲ ਦੇ ਹਾਮੀ ਗ਼ਲਤ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ ਕਿ Struggle ਜਿਤ ਹਾਰ ਹੀ ਉਸਾਰੂ ਕੰਮ ਹੈ ਤੇ ਨਿਤ ਨਵੀਂ ਹਵਸ ਹੀ ਸੱਚਾ ਵਿਅਕਤਿਕ ਤੇ ਨਿਜੀ ਜੀਵਨ ਹੈ। ਪ੍ਰੇਮ ਸਿਮਰਣ ਸਭ ਤੋਂ ਵੱਧ Creative ਤੇ and New ਉਸਾਰੂ ਤੇ ਤਾਜ਼ਾ ਨਵੀਨ ਤੇ ਸੱਤਾ ਵਾਲਾ, ਵਿਅਕਤਿੱਤਵ ਵਧਾਊ, ਆਤਮੇ ਨੂੰ ਪਰਮਾਤਮਾ ਬਣਾਊ, ਬੂੰਦ ਤੋਂ ਸਾਗਰ ਸਿਰਜਣ ਵਾਲਾ ਜੀਵਨ ਹੈ। ਇਹ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਰੰਗ ਰਸ ਸਤਾ, ਸਭੋਂ ਚੀਜਾਂ ਸਹਜਿ ਸੁਭਾ ਦੇਣ ਵਾਲਾ ਕੰਮ ਹੈ, ਅਜੇਹੇ ਸਿਮਰਣ ਕੀਰਤਨ ਰਚੇ ਜੀਵਨ ਵਿਚੋਂ ਨੇਕੀ, ਸਚ, ਸਦਾਚਾਰ ਸਹਜਿ ਸੁਭਾ ਫੁਟ ਫੁਟ ਪੈਂਦਾ ਹੈ। ਉਹ ਜੋ ਕੁਝ ਕਰਦਾ ਹੈ, ਉਹ ਸਰਬਤ ਦੇ ਭਲੇ ਉਪਕਾਰ ਲਈ ਕੁਲ ਜਗਤ ਦੇ ਉਧਾਰ ਤੇ ਅਧਾਰ ਤੇ ਆਧਾਰ ਲਈ ਹੁੰਦਾ ਹੈ! Virtue is the spontaneous action of a Unity-charged soul ਨੇਕੀ ਉਹ ਹਰਕਤ ਹੈ ਜਿਹੜੀ ਏਕੰਕਾਰ ਦਾ ਰਸੀਆ ਸਹਜਿ ਸੁਭਾ ਕਰਦਾ ਹੈ। ਗੁਰਬਾਣੀ ਪੜ੍ਹ ਤੇ ਸੁਣੋ :—

ਏਕਤਾ ਏਕੰਕਾਰ ਦੇ ਰਸੀਏ ਬਣਨ ਨਾਲ ਤੇ ਨਾਮ ਦੇ ਚਾਖੀਏ ਬਣਨ ਨਾਲ ਅਸੀਂ ਚੇਲੇ ਤੋਂ ਗੁਰੂ ਤੇ ਗੁਰੂ ਤੋਂ ਸਤਿਗੁਰੂ ਬਣ ਜਾਂਦੇ ਹਾਂ ਅਰਥਾਤ ਸਾਡਾ ਆਪਾ ਵਿਚੋਂ ਨਿਕਲ ਖਲੋਂਦਾ ਹੈ ਤੇ ਅਸੀਂ ਗੁਰੂ ਪੀਰ ਹਰੀ ਰਾਮ ਨਾਲ ਸਾਂਝੀ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਾਂ, ਉਹੀ ਰੂਪ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਾਂ।

ਹਰਿ ਜੀ ਮਾਤਾ ਹਰਿ ਜੀ ਪਿਤਾ ਹਰਿ ਜੀਉ ਪ੍ਰਤਿਪਾਲਕ
ਹਰਿ ਜੀ ਮੇਰੀ ਸਾਰ ਕਰੇ ਹਮ ਹਰਿ ਕੇ ਬਾਲਕ
ਸਹਜੇ ਸਹਜਿ ਖਿਲਾਇਦਾ ਨਹੀ ਕਰਦਾ ਆਲਕ
ਅਉਗੁਣ ਕੋ ਨ ਚਿਤਾਰਦਾ ਗਲ ਸੇਤੀ ਲਾਇਕ
ਮੁਹ ਮੰਗਾ ਸੋਈ ਦੇਂਵਦਾ ਹਰਿ ਪਿਤਾ ਸੁਖ ਦਾਇਕ
ਗਿਆਨੁ ਰਸਿ ਨਾਮੁ ਧਨੁ ਸਉਪਿਓਨੁ ਇਸੁ ਸਉਦੇ ਲਾਇਕ
ਸਾਝੀ ਗੁਰ ਨਾਲਿ ਬਹਾਲਿਆ ਸਰਬ ਸੁਖ ਪਾਇਕ

ਮੈਂ ਨਾਲਹੁ ਕਦੇ ਨ ਵਿਛੁੜੈ ਹਰਿ ਪਿਤਾ ਸਭਨਾ ਗਲਾ ਲਾਇਕ ॥
ਜੀਵਨ ਮਿਲਾਪ ਹੈ, ਮੌਤ ਵਿਛੋੜਾ।
ਨਾਨਕ ਕਚੜਿਆ ਸਿਉ ਤੋੜਿ ਢੂਢਿ ਸਜਣ ਸੰਤ ਪਕਿਆ
ਓਇ ਜੀਵੰਦੇ ਵਿਛੁੜਹਿ ਓਇ ਮੁਇਆ ਨ ਜਾਹੀ ਛੋੜਿ।
ਖੋਜਤ ਖੋਜਤ ਸਹਜ ਉਪਜਿਆ ਫਿਰਿ ਜਨਮਿ ਨ ਮਰਣਾ।
ਪਹਿਲਾ ਮਰਣੁ ਕਬੂਲਿ ਜੀਵਣ ਕੀ ਛਡਿ ਆਸ।
ਹੋਹੁ ਸਭਨਾ ਕੀ ਰੇਣੁਕਾ ਤਉ ਆਉ ਹਮਾਰੈ ਪਾਸਿ।

ਇਹੀ ਗਲ ਹੋਰਥੇ ਆਖੀ ਹੈ ਗੁਰੂ ਜੀ ਨੇ। ਜੀਵਨ ਤਲਬ ਨਿਵਾਰ। ਜੀਵਨ ਦੀ ਤਲਬ, ਆਸ ਛਡ ਕੇ ਜੀਉਣਾ ਹੈ। ਨਿਰਭੈ ਤੇ ਨਿਰਵੈਰ ਹੋ ਕੇ ਜੀਉਣਾ ਹੈ।

ਮੁਆ ਜੀਵੰਦਾ ਪੇਖੁ ਜੀਵੰਦੇ ਮਰਿ ਜਾਨਿ।
ਜਿਨ੍ਹਾਂ ਮੁਹਬਤਿ ਇਕ ਸਿਉ ਤੇ ਮਾਣਸ ਪਰਧਾਨ।

ਜੀਵਨ ਸਭ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਹਿੱਕ ਤੋਂ ਹਿੱਕ ਵੱਲ ਜਾਂਦਾ ਸਮਝ ਕੇ ਜੀਉਣ ਦਾ ਨਾਂ ਹੈ।

ਹਿਕਸ ਕੂੰ ਤੂ ਆਹਿ ਪਛਾਣੂ ਭੀ ਹਿਕੁ ਕਰਿ।
ਨਾਨਕ ਆਸੜੀ ਨਿਬਾਹਿ ਮਾਨੁਖ ਪਰਥਾਈ ਲਜੀਵਦੋ।
ਨਿਹਚਲੁ ਨਾਮੁ ਨਿਧਾਨੁ ਹੈ ਜਿਸੁ ਸਿਮਰਤੁ ਹਰਿ ਲਾਧਾ।
ਨਿਹਚਲੁ ਕੀਰਤਨੁ ਗੁਣ ਗੋਬਿੰਦ ਗੁਰਮੁਖਿ ਗਵਾਧਾ।
ਸਚੁ ਧਰਮੁ ਤਪੁ ਨਿਹਚਲ ਦਿਨੁ ਰੈਨਿ ਅਰਾਧਾ।
ਦਇਆ ਧਰਮੁ ਤਪੁ ਨਿਹਚਲੋ ਜਿਸੁ ਕਰਮਿ ਲਿਖਾਧਾ।
ਨਿਹਚਲੁ ਮਸਤਕਿ ਲੇਖੁ ਲਿਖਿਆ ਸੋ ਟਲੈ ਨ ਟਲਾਧਾ।

ਲਿਖੇ ਕਰਮ ਕਰਨਾ, ਬਿਨ ਨਾਮ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਪਿਛਲੇ ਭੁਗਤਣਾ ਤੇ ਅੱਗੇ ਲਈ ਹੋਰ ਬੰਧਨ ਪਾਉਣਾ ਹੈ। ਅਜਿਹਾ ਜੀਉਣਾ ਜੀਵਨ ਮਰਨ ਦੇ ਚੱਕਰ ਨੂੰ ਹੋਰ ਪਕਿਆਂ ਕਰਨਾ ਹੈ ਤੇ ਜੀਉਂਦਿਆਂ ਮਰ ਕੇ ਸਹਜ ਸੁਭਾ ਸਹਜ ਕੰਮ ਕਰਦਿਆਂ ਜੀਉਣਾ ਜੀਵਨ ਮਰਨ ਤੋਂ ਜੀਉਂਦਿਆਂ ਛੁਟਣਾ ਤੇ ਸਦੀਵੀ ਜੀਵਨ ਪਰਾਪਤ ਕਰਨਾ ਹੈ। ਲੇਖ ਦਾ ਜੀਵਨ ਨਾ ਜੀਓ, ਹਵਸ ਦਾ, ਕਰਮ ਕਰਾਈ ਦਾ ਜੀਵਨ ਨਾ ਜੀਓ; ਸਹਿਜ ਦਾ, ਨਿਹਕਾਮਤਾ ਦਾ, ਨਾਮ ਸਿਮਰਨ ਦਾ ਜੀਵਨ, ਰਜ਼ਾ ਮੰਨਣ ਦਾ ਜੀਵਨ ਜੀਓ। ਸਾਰਾ ਆਪਾ ਇਣੇ ਛਡਕੇ ਜੀਓ। ਨੈਨ, ਪਗ, ਹਥ ਸਭ ਉਹਦੇ ਲਈ ਵਰਤੋ।

ਨੈਨੀ ਦੇਖਉ ਗੁਰਦਰਸਨੋ ਗੁਰ ਚਰਣੀ ਮਥਾ।
ਪੈਰੀ ਮਾਰਗਿ ਗੁਰ ਚਲਦਾ ਪੱਖਾ ਫੇਰੀ ਹਥਾ।
ਅਕਾਲ ਮਰਤਿ ਰਿਦੈ ਧਿਆਇਦਾ ਦਿਨ ਰੈਨਿ ਜਪੰਥਾ।

ਮੈ ਛਡਿਆ ਸਗਲ ਆਪਾਇਣੋ ਭਰਵਾਸੈ ਗੁਰ ਸਮਰਥਾ।
ਗੁਰਿ ਬਖਸਿਆ ਨਾਮੁ ਨਿਧਾਨੁ ਸਭੋ ਦੁਖੁ ਲਥਾ।
ਸਹਜੁ ਭਇਆ ਪ੍ਰਭੁ ਪਾਇਆ ਜਮ ਕਾ ਭਉ ਲਥਾ।

ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਇਹ ਨਹੀਂ ਕਹਿੰਦੇ ਕੰਮ ਨਾ ਕਰ। ਕਰ ਪਰ ਭਾਈ ਉਹ ਕੰਮ ਨਾ ਕਰ ਜਿਹੜੇ ਅਸਹਜਿ ਹਨ ਤੇ ਜਿਹਨਾਂ ਕੀਤਿਆਂ ਪਿਛੋਂ ਪਛਤਾਣਾ ਤੇ ਭੁਗਤਣਾ ਪਵੀ। ਐਸਾ ਕੰਮੁ ਮੂਲੇ ਨ ਕੀਚੈ ਜਿਤੁ ਅੰਤਿ ਪਛੋਤਾਈਐ। ਭਗਤ ਕਿਵੇਂ ਜੀਉਂਦੇ ਹਨ :—ਲਬੁ ਲੋਭੁ ਅਹੰਕਾਰੁ ਤਜਿ ਤ੍ਰਿਸਨਾ ਬਹੁਤੁ ਨਾਹੀ ਬੋਲਣਾ। ਗੁਰਪਰਸਾਦੀ ਜਿਨ੍ਹੀ ਆਪੁ ਤਜਿਆ ਹਰਿ ਵਾਸਨਾ ਸਮਾਣੀ। ਕਹੈ ਨਾਨਕੁ ਚਾਲ ਭਗਤਾਂ ਜੁਗਹੁ ਜੁਗੁ ਨਿਰਾਲੀ।

(੬)

ਜੀਵਨ ਰੂਪ ਹਰਿ ਚਰਣ (ਪੰਚਮ ਪਾਦਸ਼ਾਹ)

ਕੀ ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਇਕ ਲੜੀ ਮੰਨਦੇ ਸਨ, ਕੀ ਜਨਮ ਮਰਨ ਦੇ ਸਿਲਸਿਲੇ ਨੂੰ, ਪਰਿਨਾਮ ਨੂੰ, ਜੂਨ-ਚੱਕਰ ਨੂੰ, ਜੂਨ- ਗਿਣਤੀ ਨੂੰ, ਜੀਵਨ ਦੇ ਪਿਛੇ ਤੇ ਅੱਗੇ ਨੂੰ ਸ੍ਵੀਕਾਰਦੇ ਸਨ ? ਹਾਂ, ਜੀਵਨ ਤਾਂ ਜਗ-ਜੀਵਨ ਦੀ ਖੇਲ ਹੈ, ਖੇਲ ਬੇਅੰਤ ਹੈ, ਅਨੰਤ ਹੈ, ਖੇਲ ਖੇਲ ਅਖੇਲ ਖੇਲਨ ਅੰਤ ਕੋ ਫਿਰ ਏਕ। ਜੀਵਨ ਇਕ ਹੈ, ਅਨੰਤ ਹੈ, ਉਹਦੀ ਖੇਡ ਹੈ, ਜਿਹੜਾ ਖ਼ੁਦ ਅਨੇਕ ਹੁੰਦਿਆਂ ਇਕ ਹੈ ਤੇ ਖੇਡਿਦਿਆਂ ਅਖੇਡ ਅਖੇਲ ਹੈ, ਅੰਤ ਨੂੰ ਨਹੀਂ ਸਦਾ ਹੀ ਇਕ ਹੈ—ਸਦਾ ਸਦਾ ਇਕ ਏਕੰਕਾਰ।

ਜਨਮ ਮਰਣ ਅਨੇਕ ਬੀਤੇ ਪ੍ਰਿਅ ਸਗੁ ਬਿਨੁ ਕਛੁ ਨਹ ਗਤੇ।

ਕਈ ਜਨਮ ਮਰਣ ਸਾਡੇ ਪਿਆਰੇ ਦੇ ਸੰਗ ਬਾਝੋਂ ਗੁਜਰ ਚੁਕੇ ਹਨ ਜਦੋਂ ਸਾਡੀ ਦੁਰਗਤੀ ਹੁੰਦੀ ਰਹੀ। ਇਹ ਸਾਡਾ ਵਰਨਨ ਹੈ । ਜੀਵਨ, ਫ਼ਰਮਾਂਦੇ ਨੇ ਸਾਹਿਬ, ਪ੍ਰਿਅ ਬਿਨੁ ਜੀਵਨ ਹੀ ਨਹੀਂ। ਅਸੀਂ ਕਹਿੰਦੇ ਹਾਂ ਪਿਆਰ ਸਿਮਰਣ ਨਾ ਕਰਕੇ ਹੋਰ ਸਭ ਕੁਝ ਕਰਦਿਆਂ ਅਸੀਂ ਜੀਵਿਤ ਹਾਂ । ਉਹ ਜੀਵਨ ਨਹੀਂ, ਹਰਕਤ ਹੈ, ਲੋਥ ਦਾ ਚਲਦਿਆਂ ਫਿਰਦਿਆਂ ਰਹਿਣਾ ਹੈ।

ਮੀਨਾ ਜਲ ਹੀਨ ਮੀਨਾ ਜਲ ਹੀਨ ਹੇ ਓਹੁ ਬਿਛੁਰਤ
ਮਨ ਤਨ ਖੀਨ ਹੇ ਕਤ ਜੀਵਨੁ ਪ੍ਰਿਅ ਬਿਨੁ ਹੋਤ।

ਨਾਮ ਵੇਹਲ ਦਾ ਕੰਮ ਨਹੀਂ, ਨਾ ਫ਼ਾਲਤੂ ਪਰ ਮੁਫ਼ੀਦ ਕੰਮ ਹੈ। ਨਾਮ ਸਿਮਰਨ ਤਾਂ ਜੀਵਨ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੈ। ਨਾਮੁ ਵਰਤਣਿ ਨਾਮੋ ਵਾਲੇਵਾ ਨਾਮੁ ਨਾਨਕ ਪ੍ਰਾਨ ਅਧਾਰਾ। ਸਾਡਾ ਆਤਮਾ ਅਚੇਤ ਜੇ ਨਾਮ ਨ ਜਪਦਾ ਹੁੰਦਾ ਤਾਂ ਓਹ ਕਿਦਾਂ ਹਸਤ ਹੋ ਸਕਦਾ! ਨਾਮ ਕੇ ਧਾਰੇ ਸਗਲੇ ਜੰਤ। ਓਸ ਗੁਪਤ ਅਚੇਤ

ਨਾਮ ਤੇ ਸਿਮਰਨ ਨੂੰ ਅਸਾਂ ਪਰਗਟ ਪਾਹਾਰਾ ਕਰਨਾ ਹੈ। ਜਿਵੇਂ ਓਸ ਇਕ ਨੇ ਆਪਣੇ ਆਪ ਨੂੰ ਗੁਪਤੋਂ ਪਰਗਟ ਕੀਤਾ ਹੈ।

ਨਾਮ ਨੂੰ ਪਸ਼ੂ ਪਰੇਤ ਮੁਗਧ ਵੀ ਸੁਣਨ ਦੀ ਲੋੜ ਤੇ ਚਾਹਨਾ ਰਖਦੇ ਹਨ। ਜੀਵਨ ਦਾ ਵਿਗਾਸ, ਉਤਪੱਤੀ ਵਾਂਗਰ ਨਾਮ ਦੇ ਚੇਤ ਕੇ ਸਿਮਰਨ ਵਿਚ ਹੈ।

ਪਸ਼ੂ ਪਰੇਤ ਮੁਗਧ ਭਏ ਸ੍ਰੋਤੇ ਹਰਿ ਨਾਮਾ ਮੁਖਿ ਗਾਇਆ।

ਜਿਵੇਂ ਅਸਲੀ ਜੀਵਨ ਚੇਤਨ ਹੋਕੇ ਸਿਮਰਨ ਕਰਨ, ਏਕਤਾ ਮਹਿਸੂਸਨ ਦਾ ਨਾਉਂ ਹੈ ਤਿਵੇਂ ਜੀਵਨ ਦਾ ਉੱਦੇਸ਼ ਅਚਿੰਤ ਆਪਣੀਆਂ ਇਛਾਵਾਂ ਰਬ ਪਾਸੋਂ ਕੁਦਰਤ ਪਾਸੋਂ ਪੂਰੀਆਂ ਕਰਾਉਣ ਦਾ ਨਾਂ ਹੈ।

ਮਨ ਬਾਂਛਤ ਫਲ ਮਿਲੇ ਅਚਿੰਤਾ ਪੂਰਨ ਹੋਏ ਕਾਮਾ।

ਸਹਜੇ ਹੀ ਸਭ ਕੁਝ ਹੁੰਦਾ ਚਲਾ ਜਾਵੇ, ਸਾਡੀ ਮਰਜ਼ੀ ਮੂਜਬ, ਉਹਦੀ ਮਰਜ਼ੀ ਅਨੁਸਾਰ, ਰਜ਼ਾ ਵਿਚ ਆਈਂ ਤੇ ਉਹ ਮਿਲੇ ਰਹੀਏ। ਉਠਦਿਆਂ ਬਹਿੰਦਿਆਂ ਲਿਵ ਪਰਮਾਤਮਾ ਵਿੱਚ ਲਗੀ ਰਹੇ- ਇਹ ਹੈ ਜੀਵਨ, ਸੱਚਾ ਤੇ ਸੁਚਾ, ਕੰਮ ਕੋਈ ਵੀ ਹਥੋਂ ਤੇ ਮੂੰਹੋਂ ਹੁੰਦਾ ਰਹੇ। ਲਿਵ ਲਗਣੀ ਕੀ- ਪਰਮਾਤਮਾ ਦਾ ਖਿਆਲ ਰਹੇ, ਉਹਦੀ ਵਡਿਆਈ, ਕਾਮਲ ਮੁਤਲਕ ਤਾਕਤ ਦਾ ਇਹਸਾਸ ਉਹਦੇ ਬੇਅੰਤ ਗੁਣਾ ਦਾ ਵਿਚਾਰ :—

ਊਠਤ ਬੈਠਤ ਹਰਿ ਗੁਣ ਗਾਵੈ ਦੂਖੁ ਦਰਦੁ ਭ੍ਰਮੁ ਭਾਗਾ।
ਕਹੁ ਨਾਨਕ ਤਾਕੇ ਪੂਰ ਕਰੰਮਾ ਜਾ ਕਾ ਗੁਰ ਚਰਨੀ ਮਨੁ ਲਾਗਾ।

ਬੋਧਾਂ ਲਈ ਜੀਵਨ-ਆਦਰਸ਼ ਧਰਮ ਕਾਇਆਂ ਹੈ, ਗਿਆਨ ਕਾਇਆਂ ਹੈ। ਸਾਡੇ ਗੁਰਮਤ ਵਿੱਚ ਵੀ ਧਰਮ ਕਾਇਆਂ ਮੌਜੂਦ ਹੈ। ਕਾਚੀ ਦੇਹ ਦੀ ਥਾਂ ਅਸਾਂਨੇ ਕੰਚਨ ਦੇਹੀ ਹਾਸਿਲ ਕਰਨੀ ਹੈ।

ਸਿਮਰਹੁ ਹਰਿ ਹਰਿ ਨਾਮੁ ਪਰਾਨੀ। ਬਿਨਸੈ ਕਾਚੀ ਦੇਹ ਅਗਿਆਨੀ॥

ਇਹ ਕਾਚੀ ਦੇਹ ਸਾਨੂੰ ਮਿਲਦੀ ਰਹੇਗੀ ਕਰਮ ਫਲ ਨੂੰ ਮੁਕਾਉਣ ਖ਼ਾਤਰ, ਪਰ ਮੁਕਾਉਂਦਿਆਂ ਅਸੀਂ ਹੋਰ ਕਰਜ਼ ਚਾਹੜ ਲੈਂਦੇ ਹਾਂ, ਫਰ ਉਹਦਾ ਫਲ ਭੁਗਤਣਾ ਪੈਂਦਾ ਹੈ, ਸੋ ਇਹ ਕੋਈ ਜੀਉਂਣਾ ਹੈ?

ਬਹੁਤੁ ਜੋਨਿ ਭਰਮਤ ਦੁਖੁ ਪਾਇਆ ਹਉ ਮੈ ਬੰਧਨ ਕੇ ਭਾਰਾ।

ਤੁਸੀਂ ਕਹੋ ਮੈਂ ਹਈ ਨਹੀਂ, ਕਰਜ਼ਾ ਕੇਹਾ ਤੇ ਕਰਮ ਕੇਹੇ? ਹਉਂ ਮੈਂ ਛੱਡੋ ਕੋਈ ਬੰਧਨ ਨਹੀਂ। ਫੇਰ ਕਿਦਾਂ ਜੀਵੀਏ, ਕਿਦਾਂ ਹਉਂ ਮੈਂ ਮਾਰੀਏ, ਸੁਖ ਕਿਦਾਂ ਲਭੀਏ? ਮਾਮੂਲੀ ਜਹੀ ਦਵਾਈ ਹੈ, ਰੋਜ਼ ਖਾਣੀ ਹੈ, ਨਿਤ ਖਾਣੀ ਹੈ; ਬਿਨਾ ਇਸਦੀ ਮਹੱਤਾ ਸਮਝਿਆਂ ਵੀ ਖਾਣੀ ਹੈ:—

ਗੁਰ ਪੂਰੇ ਕੀ ਬਾਣੀ ਜਪਿ ਅਨਦ ਕਰਹੁ ਨਿਤ ਪ੍ਰਾਣੀ।

ਵੱਡੀ ਸਮਝਣ ਵਾਲੀ ਗਲ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਸਾਡਾ ਜੀਵਨ ਉਹ ਹੈ, ਜਿਹੜਾ ਜਗ ਜੀਵਨ ਹੈ। ਅਸੀਂ ਇਸ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਤੱਤਾਂ ਦਾ ਮੇਲ ਤੇ ਕਰਮਾਂ ਦਾ ਖੇਲ ਹੀ ਸਮਝ ਕੇ ਰਹਿ ਜਾਂਦੇ ਹਾਂ, ਅੱਗੇ ਨਹੀਂ ਤੁਰਦੇ ਕਿ ਕਰਮ ਕਿਉਂ ਹੋਂਦੇ ਹਨ ਤੇ ਕੌਣ ਕਰਾਉਂਦਾ ਹੈ, ਤੇ ਤੱਤ ਕਿੱਥੋਂ ਆਏ ਤੇ ਕੌਣ ਇਹਨਾਂ ਨੂੰ ਮਿਲਾਉਂਦਾ ਹੈ। ਸਰਬ ਨਿਵਾਸੀ ਸਦਾ ਅਲੇਪਾ ਸਭ ਮਹਿ ਰਹਿਆ ਸਮਾਇਓ। ਉਹ ਹੈ ਅਸਲੀ ਜੀਵਨ, ਓਸ ਦਾ ਚੈਤਨਤਾ ਪੂਰਬਕ ਮੇਲ—ਗਿਆਨ ਪੂਰਣ ਜੀਵਨ ਦਾਨ ਹੈ, ਸਾਡੇ ਲਈ। ਸਾਂਤਿ ਪਾਵਹਿ ਹੋਵਹਿ ਮਨ ਸੀਤਲ ਅਗਨਿ ਨਾ ਅੰਤਰਿ ਧੁਖੀ। ਸਾਡੇ ਅੰਦਰ ਹਰ ਵੇਲੇ ਅੱਗ ਧੁਖਦੀ ਬਲਦੀ ਰਹਿੰਦੀ ਹੈ, ਤਪੇ ਤਤੇ ਰਹਿੰਦੇ ਹਾਂ। ਇਹ ਕੋਈ ਜੀਵਨ ਹੈ?

ਇਸ ਤੋਂ ਜ਼ਿਆਦਾ ਖੋਹਲ ਕੇ ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਹੋਰ ਕੀ ਜੀਵਨ ਬਾਰੇ ਸਾਨੂੰ ਦੱਸ ਸਕਦੇ ਹਨ ;—

ਹਰਿ ਹਰਿ ਸਿਮਰਹੁ ਸੰਤ ਗੋਪਾਲਾ। ਸਾਧ ਸੰਗਿ ਮਿਲਿ ਨਾਮੁ ਧਿਆਵਹੁ ਪੂਰਨ ਹੋਵੈ ਘਾਲਾ॥ ਰਹਾਉ॥ ਸਾਰਿ ਸਮਾਲੈ ਨਿਤਿ ਪ੍ਰਤਿਪਾਲੈ ਪ੍ਰੇਮ ਸਹਿਤ ਗਲਿ ਲਾਵੈ। ਕਹੁ ਨਾਨਕ ਪ੍ਰਭ ਤੁਮਰੇ ਬਿਸਰਤ ਜਗਤ ਜੀਵਨੁ ਕੈਸੇ ਪਾਵੈ।

ਜੀਵਨ ਕਿਰਿਆ ਹੈ, ਸੁਖ ਦੀ ਖ਼ਾਤਰ ਪਰ ਨਾ ਇਹ ਘਾਲ ਥਾਇੰ ਪੈਂਦੀ ਹੈ ਕਿਰਿਆ ਸਫਲ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਮੁਕਦੀ ਹੈ ਤੇ ਨਾ ਹੀ ਸੁਖ ਪਰਾਪਤ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ਜਦ ਤੀਕ ਅਸੀਂ ਗੁਰ ਗੋਪਾਲ ਦੀ ਸਰਨੀ ਨਹੀਂ ਪੈਂਦੇ।

ਜਾ ਕੀ ਸਰਣਿ ਪਇਆਂ ਸੁਖੁ ਪਾਈਐ ਬਾਹੁੜਿ ਦੂਖੁ ਨ ਹੋਈ।

ਮੈਂ ਤੇ ਕਹਾਂਗਾ ਕਿ ਜੀਵਨ ਬੀਮਾਰੀ ਜੇ, ਤੇ ਵੈਦ ਜੇ ਗੁਰੂ।

ਮੇਰਾ ਬੈਦੁ ਗੁਰੂ ਗੋਵਿੰਦਾ।

ਹਰਿ ਹਰਿ ਨਾਮੁ ਅਉਖਧੁ ਮੁਖਿ ਦੇਵੈ ਕਾਟੈ ਜਮ ਕੀ ਫੰਦਾ।

ਜੀਵਨ ਭੁਖ ਹੈ, ਏਸ ਭੁਖ ਨੂੰ ਸਦਾ ਲਈ ਮਿਟਾਉਣ ਵਾਲੀ ਖ਼ੁਰਾਕ ਨਾਮ ਹੈ।

ਇਹ ਜੀਵਨ ਗਿਰਾਉ ਹੈ, ਮਾਇਆ ਵਿਚ Fall ਗਿਰਾਓ ਤੇ ਇਸਨੂੰ ਉਭਾਰਨ ਵਾਲਾ, ਇਸਦੀ ਟੇਕ ਅਧਾਰ ਨਾਮ ਹੈ;—

ਅਪੁਨਾ ਦਾਸੁ ਹਰਿ ਆਪਿ ਉਬਾਰਿਆ ਨਾਨਕ ਨਾਮ ਅਧਾਰਾ।

ਜੀਵਨ ਥਿਰਤਾ ਹੈ; ਨਾਮ ਹੀ ਅਸਥਿਰ ਕਰਨ ਵਾਲੀ ਚੀਜ਼ ਹੈ।

ਅਸਥਿਰ ਭਏ ਲਾਗਿ ਹਰਿ ਚਰਣੀ ਗੋਵਿੰਦ ਕੇ ਗੁਣ ਗਾਏ।

ਜੀਵਨ ਰਾਗ ਦੀ ਖੋਜ ਹੈ ਤੇ ਨਾਮ ਹੀ ਅਨਹਦ ਤੂਰਾ ਜੋ ਸੁਣ ਕੇ ਚੰਚਲ ਮਿਰਗ ਸਾਂਤਿ ਹੋ ਜਾਂਦਾ ਹੈ।

(ਚਲਦਾ)

गरुडपुराणान्तर्गतं राजनीतिप्रकरणम् ।

एम० ए०, एम० ओ० एल० इत्युपाधिजुषा जगदीशशास्त्रिणा सङ्कलितम् ।

(पूर्वतोनुवृत्तम्)

कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥३००॥
ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥३०१॥
नाश्नन्ति पितरो देवाः क्षुद्रस्य वृषलीपतेः ।
भार्याजितस्य नाश्नन्ति यस्याश्चोपपतिर्गृहे ॥३०२॥
अकृतज्ञमनार्यञ्च दीर्घरोषमनार्जवम् ।
चतुरो विद्धि चाण्डालान् जात्या जायेत पञ्चमः ॥३०३॥
नोपेक्षितव्यो दुर्बुद्धिः शत्रुरल्पोऽप्यवज्ञया ।
वह्निरल्पोप्यसंग्राह्यः कुरुते भस्मसाज्जगत् ॥३०४॥
नवे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः ।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ? ॥३०५॥
पन्थान इव विप्रेन्द्र ! सर्वमाधारणाः श्रियः ।
मदीया इति मत्वा वै नहि हर्षयुतो भव ॥३०६॥
चित्तायत्तं धातुवश्यं शरीरं
चित्ते नष्टे धातवो यान्ति नाशम् ।
तस्माच्चित्तं सर्वदा रक्षणीयं
स्वस्थे चित्ते धातवः सम्भवन्ति ॥३०७॥

इति गारुडे महापुराणे नीतिसारे चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ।

अथ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥

सूत उवाच—

कुभार्याञ्च कुमित्रञ्च कुराजानं कुपुत्रकम् ।
कुकन्याञ्च कुदेशञ्च दूरतः परिवर्जयेत् ॥३०८॥
धर्मः प्रव्रजितस्तपः प्रचलितं सत्यञ्च दूरङ्गतं
पृथ्वी वन्ध्यफला जनाः कपटिनो लौल्ये स्थिता ब्राह्मणाः ।
मर्त्याः स्त्रीवशगाः स्त्रियश्च चपला नीचा जना उन्नता
हा कष्टं खलु जीवितं कलियुगे धन्या जना ये मृताः ॥३०९॥

धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम् ।
परचित्तगतान् दारान् पुत्रं कुव्यसने स्थितम् ॥३१०॥
कुपुत्रे निर्वृतिर्नास्ति कुभार्यायां कुतो रतिः ?
कुमित्रे नास्ति विश्वासः कुराज्ये नास्ति जीवितम् ॥३११॥
परान्नञ्च परस्वञ्च परशय्याः परस्त्रियः ।
परवेश्मनि वासश्च शक्रादपि श्रियं हरेत् ॥३१२॥
आलापाद् गात्रसंस्पर्शात्संसर्गात्सहभोजनात् ।
आसनाच्छयनाद् यानात्पापं संक्रमते नृणाम् ॥३१३॥
स्त्रियो नश्यन्ति रूपेण तपः क्रोधेन नश्यति ।
गावो दूरप्रचारेण शूद्रान्नेन द्विजोत्तमः ॥३१४॥
आसनादेकशय्याया भोजनात्पङ्क्तिसङ्करात् ।
ततः सङ्क्रमते पापं घटाद् घट इवोदकम् ।३१५।
लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः ।
तस्माच्छिष्यं च पुत्रं च ताडयेन्नतु लालयेत् ॥३१६॥
अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
असम्भोगश्च नारीणां वस्त्राणामातपो जरा ॥३१७॥
अधमाः कलिमिच्छन्ति सन्धिमिच्छन्ति मध्यमाः ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ॥३१८॥
मानो हि मूलमर्थस्य माने सति धनेन किम् ?
प्रभ्रष्टमानदर्पस्य किं धनेन किमायुषा ? ॥३१९॥
अधमा धनमिच्छन्ति धनमानौ हि मध्यमाः ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ॥३२०॥
वनेऽपि सिंहा न नमन्ति कर्णं
बुभुक्षिता नांशनिरीक्षणाश्च ।
धनैर्विहीनाः सुकुलेषु जाता
न नीचकर्माणि समारभन्ति ॥३२१॥
नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते वने ।
नित्यमूर्जितसत्त्वस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥३२२॥
वणिक् प्रमादी भृतकश्च मानी
भिक्षुर्विलासी ह्यधनश्च कामी ।

वराङ्गना चाप्रियवादिनी च
न ते च कर्माणि समारभन्ति ॥३२३॥

दाता दरिद्रः कृपणोऽर्थयुक्तः पुत्रोऽविधेयः कुजनस्य सेवा ।
परापकारेषु नरस्य मृत्युः प्रजायते दुश्चरितानि पञ्च ॥३२४॥

कान्तावियोगः स्वजनापमानम् ऋणस्य शेषः कुजनस्य सेवा ।
दारिद्र्यभावाद्विमुखं च मित्रं विनाग्निना पञ्च दहन्ति तीव्रम् ॥३२५॥

चिन्तासहस्रेषु च तेषु मध्ये चिन्ताश्चतस्रोऽप्यसिधारतुल्याः ।
नीचावमानं क्षुधितं कलत्रं भार्या विरक्ता सहजोपरोधः ॥३२६॥

वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या अरोगिता सज्जनसङ्गतिश्च ।
इष्टा च भार्या वशवर्त्तिनी च दुःखस्य मूलोद्धरणानि पञ्च ॥३२७॥

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गा मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमाथी स कथं न घात्यो यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥३२८॥

अधीरः कर्कशः स्तब्धः कुचेलः स्वयमागतः ।
पञ्च विप्रा न पूज्यन्ते बृहस्पतिसमा यदि ॥३२९॥

आयुः कर्म चरित्रञ्च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतानि हि पच्यन्ते जायमानस्य देहिनः ॥३३०॥

पर्वतारोहणे तोये गोकुले दुष्टनिग्रहे ।
पतितस्य समुत्थाने शस्ता ह्येते गुणाः स्मृताः ॥३३१॥

अभ्रच्छाया खले प्रीतिः परनारीषु सङ्गतिः ।
पञ्चैते ह्यस्थिरा भावा यौवनानि धनानि च ॥३३२॥

अस्थिरं जीवितं लोके अस्थिरं धनयौवनम् ।
अस्थिरं पुत्रदाराद्यं धर्मः कीर्त्तिर्यशः स्थिरम् ॥३३३॥

शतं जीवितमत्यल्पं रात्रिस्तस्यार्द्धहारिणी ।
व्याधिशोकजरायासैरर्द्धं तदपि निष्फलम् ॥३३४॥

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्द्धं हृतं
तस्यार्द्धं स्थितकिञ्चिदर्द्धमधिकं बालस्य काले हृतम् ।
किञ्चिद्बन्धुवियोगदुःखमरणैर्भूपालसेवागतं
शेषं वारितरङ्गगर्भचपलं मानेन किं मानिनाम् ?॥३३५॥

अहोरात्रमयो लोके जरारूपेण सञ्चरेत् ।
मृत्युर्ग्रसति भूतानि पवनं पन्नगो यथा ॥३३६॥

गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतो न चेत् ।
सर्वसत्त्वहितार्थाय पशोरिव विचेष्टितम् ॥३३७॥
अहितहितविचारशून्यबुद्धेः
श्रुतिसमये बहुभिर्वितर्कितस्य ।
उदरभरणमात्रतुष्टबुद्धेः
पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः ॥३३८॥
शौर्ये तपसि दाने च यस्य न प्रथितं यशः ।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ॥३३९॥
यज्जीवितं क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभग्नमानैः ।
तन्नाम जीवितमिति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिरञ्च बलिञ्च भुङ्क्ते ॥३४०॥
किं जीवितेन धनमानविवर्जितेन
मित्रेण किं नु भवतीति सशङ्कितेन ।
सिंहव्रतञ्चरत गच्छत मा विषादं
काकोऽपि जीवति चिरञ्च बलिञ्च भुङ्क्ते ॥३४१॥
यो वात्मनीह न गुरौ नच भृत्यवर्गे
दीने दयां न कुरुते नच मित्रकार्ये ।
किं तस्य जीवितफलेन मनुष्यलोके
काकोऽपि जीवति चिरञ्च बलिञ्च भुङ्क्ते ॥३४२॥
यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च ।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥३४३॥
स्वाधीनवृत्तेः साफल्यं न पराधीनवृत्तिता ।
ये पराधीनकर्माणो जीवन्तोऽपि च ते मृताः ॥३४४॥
स्वपूरा वै कापुरुषाः स्वपूरो मूषकाञ्जलिः ।
असन्तुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥३४५॥
अभ्रच्छाया तृणादग्निर्नीचसेवा पथि जलम् ।
वेश्यारागः खले प्रीतिः षडेते बुद्बुदोपमाः ॥३४६॥
वाचा विहितसार्थेन लोको नच सुखायते ।
जीवितं मानमूलं हि माने म्लाने कुतः सुखम् ? ॥३४७॥

अबलस्य बलं राजा बालस्य रुदितं बलम् ।
बलं मूर्खस्य मौनत्वं तस्करस्यानृतं बलम ॥३४८॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथाऽस्य मेधा स्याद्विज्ञानञ्चास्य रोचते ॥२४६॥
यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मतिम् ।
तथा तथा हि सर्वत्र श्लिष्यते लोकसुप्रियः ॥३५०॥
लोभप्रमादविश्वासैः पुरुषो नश्यति त्रिभिः ।
तस्माल्लोभो न कर्त्तव्यः प्रमादो नो न विश्वसेत् ॥३५१॥
तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
उत्पन्ने तु भये तीव्रे स्थातव्यं वै ह्यभीतवत् ॥३५२॥
ऋणशेषञ्चाग्निशेषं व्याधिशेषं तथैव च ।
पुनः पुनः प्रवर्द्धन्ते तस्माच्छेषं न कारयेत् ॥३५३॥
कृते प्रतिकृतं कुर्याद् हिंसिते प्रतिहिंसितम ।
न तत्र दोषं पश्यामि दुष्टे दोषं समाचरेत् ॥३५४॥
परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं मायामयमरिं तथा ॥३५५॥
दुर्जनस्य हि सङ्गेन सुजनोऽपि विनश्यति ।
प्रसन्नमपि पानीयं कर्दमैः कलुषीकृतम् ॥३५६॥
सम्यग् भुङ्क्ते जनः सो हि द्विजायार्थी हि यस्य वै ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन द्विजः पूज्यः प्रयत्नतः ॥३५७॥
तद् भुज्यते यद् द्विजभुक्तशेषं
स बुद्धिमान् यो न करोति पापम् ।
तत्सौहृदं यत् क्रियते परोक्षे
दम्भैर्विना यः क्रियते स धर्मः ॥३५८॥
न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति
नैतत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम ॥३५६॥
ब्राह्मणोऽपि मनुष्याणामादित्यश्चैव तेजसाम् ।
शिरोऽपि सर्वगात्राणां व्रतानां सत्यमुत्तमम् ॥३६०॥

तन्मङ्गलं यत्र मनः प्रसन्नं तज्जीवनं यत्र परस्य सेवा।
तदर्जितं यत्स्वजनेन भुक्तं तद्गर्जितं यत्समरे रिपूणाम्॥३६१॥
सा स्त्री या न मदं कुर्यात् स सुखी तृष्णयोज्झितः।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः पुरुषः स जितेन्द्रियः॥३६२॥
तत्र मुक्तादरस्नेहो विलुप्तं यत्र सौहृदम्।
तदेव केवलं श्लाघ्यं यस्यात्मा क्रियते स्तुतौ॥३६३॥
नदीनामग्निहोत्राणां भारतस्य कुलस्य च।
मूलान्वेषो न कर्त्तव्यो मूलाद्दोषेण हीयते।३६४॥
लवणजलान्ता नद्यः स्त्रीभेदान्तञ्च मैथुनम्।
पैशुन्यं जनवार्त्तान्तं वित्तं दुःखकृतान्तकम्॥३६५॥
राज्यश्रीर्ब्रह्मशापान्ता पापान्तं ब्रह्मवर्चसम्।
आचारं घोषवासान्तं कुलस्यान्तं स्त्रियः प्रभोः॥३६६॥
सर्वे क्षयान्ता निलयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥३६७॥
यदीच्छेत पुनरागन्तुं नातिदूरमनुव्रजेत्।
उदकान्तान्निवर्त्तेत स्निग्धवर्णांश्च पादपात्॥३६८॥
अनायके न वस्तव्यं नवा च बहुनायके।
स्त्रीनायके न वस्तव्यं तथा च बालनायके॥३६९॥
पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थाविरे काले न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥३७०॥
त्यजेद् वन्ध्यामष्टमेऽब्दे नवमे तु मृतप्रजाम्।
एकादशे स्त्रीजननीं सद्यश्चाप्रियवादिनीम्॥३७१॥
अनर्थित्वान्मनुष्याणां भिया परिजनस्य च।
अर्थादपेतमर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु॥३७२॥
अश्वं श्रान्तं गजं मत्तं गावः प्रथमसूतिकाः।
अनूदके च मण्डूकान् प्राज्ञो दूरेण वर्जयेत्॥३७३॥
अर्थातुराणां न सुहृन्न बन्धुः कामातुराणां न भयं न लज्जा।
चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा क्षुधातुराणां न बलं न तेजः॥३७४॥
कुतो निद्रा दरिद्रस्य परप्रेष्यवरस्य च।
परनारीप्रसक्तस्य परद्रव्यहरस्य च॥३७५॥

सुखं स्वपित्यनृणवान् व्याधिमुक्तश्च यो नरः ।
सावकाशस्तु वै भुङ्क्ते यस्तु दारैर्न सङ्गतः ॥३७६॥
अम्भसः परिमाणेन उन्नतं कमलं भवेत् ।
स्वस्वामिना बलवता भृत्यो भवति गर्वितः ॥३७७॥
स्थानस्थितस्य पद्मस्य मित्रे वरुणभास्करौ ।
स्थानच्युतस्य तस्यैव क्लेशशोषणकारकौ ॥३७८॥
पदे स्थितस्य सुहृदः ते तस्य रिपुतां गताः ।
भानोः पद्मे जले प्रीतिः स्थलोद्धरणशोषणम् ॥३७९॥
स्थानस्थितानि पूज्यन्ते पूज्यन्ते च पदे स्थिताः ।
स्थानभ्रष्टा न पूज्यन्ते केशा दन्ता नखा नराः ॥३८०॥
आचारः कुलमाख्याति देशमाख्याति भाषितम् ।
सम्भ्रमः स्नेहमाख्याति वपुराख्याति भोजनम् ॥३८१॥
वृथा वृष्टिः समुद्रस्य तृप्तस्य भोजनं वृथा ।
वृथा दानं समृद्धस्य नीचस्य सुकृतं वृथा ॥३८२॥
दूरस्थोऽपि समीपस्थो यो यस्य हृदये स्थितः ।
हृदयादपि निष्क्रान्तः समीपस्थोऽपि दूरतः ॥३८३॥
मुखभङ्गः स्वरो दीनो गात्रस्वेदो महद्भयम् ।
मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचतः ॥३८४॥
कुब्जस्य कीटघातस्य वातान्निष्कासितस्य च ।
शिखरे वसतस्तस्य वरं जन्म न याचितम् ॥३८५॥
जगत्पतिर्हि याचित्वा विष्णुर्वामनतां गतः ।
कोऽन्योऽधिकतरस्तस्य योऽर्थी याति न लाघवम् ॥३८६॥
माता शत्रुः पिता वैरी बाला येन न पाठिताः ।
सभामध्ये न शोभन्ते हंसमध्ये वका यथा ॥३८७॥
विद्या नाम कुरूपरूपमधिकं विद्यातिगुप्तं धनं
विद्या साधुकरी जनप्रियकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनार्त्तिनाशनकरी विद्या परं दैवतं
विद्या राजसु पूजिता हि मनुजो विद्याविहीनः पशुः ॥३८८॥
गृहे चाभ्यन्तरे द्रव्यं लग्नं चैव तु दृश्यते ।
अशेषं हरणीयञ्च विद्या न ह्रियते परैः ॥३८९॥

शौनकाय नीतिसारं विष्णुः सर्वव्रतानि च ।
कथयामास वै पूर्वं तत्र शुश्राव शङ्करः ।
शङ्कराच्च श्रुतो व्यासो व्यासादस्माभिरेव च ॥३६०॥
इति गारुडे महापुराणे नीतिसारे पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥

अथ कालिकापुराणान्तर्गतं राजनीतिप्रकरणम् ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः ।

सगर उवाच—

यया नीत्या प्रयोक्तव्यः सुत आत्मा प्रिया तथा ।
तेषां विशेषैः सहितं सदाचारं वदस्व मे ॥ १ ॥

और्व उवाच—

क्रमेण शृणु राजेन्द्र ! यया नीत्या नियोजिताः ।
आत्मा सुतो वा भार्या वा तद्विशेषं शृणुष्व मे ॥ २ ॥
ज्ञानविद्यातपोवृद्धान् वयोवृद्धान्त्सुदक्षिणान् ।
सेवेत प्रथमं विप्रानसूयापरिवर्जितान् ॥ ३ ॥
तेभ्यश्च शृणुयान्नित्यं वेदशास्त्रविनिश्चयम् ।
यदूचुस्ते च तत्कार्यं प्राज्ञश्चैव नृपश्चरेत् ॥ ४ ॥
पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चाश्वाः शरीरं रथ उच्यते ।
आत्मा रथी कशा ज्ञानं सारथिर्मन उच्यते ॥ ५ ॥
अश्वान्त्सुदान्तान्कुर्वीत सारथिश्चात्मनो वशम् ।
कशा दृढा सदा कार्या शरीरस्थिरता तथा ॥ ६ ॥
अदान्तांस्तु समारुह्य सैन्धवान् स्यन्दनी यथा ।
अश्वानामिच्छया गच्छन्नुत्पथं प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥
तत्रावशः सारथिस्तु स्वेच्छया प्रेरयन्हयान् ।
नयेत्परवशं सम्यग्रथितं वीरमप्युत ॥ ८ ॥
तथेन्द्रियाणि नृपतिर्विषयाणां परिग्रहे ।
स्ववश्यानि प्रकुर्वीत मनोज्ञानं दृढं तथा ॥ ९ ॥

ज्ञाने दृढे कशायाश्च दृढायां नृपसत्तम !
सारथिः स्ववशो दान्तानीशः प्रेरयितुं ह यान ॥१०॥
अतो नृपः स्वेन्द्रियाणि वशे कृत्वा मनस्तथा ।
ज्ञानमार्गमधिष्ठाय प्रकुर्वीतात्मनो हितम् ॥११॥
भोक्तव्यं स्वेच्छया भूयो न कुर्याल्लोभमासवे ।
द्रष्टव्यमिति द्रष्टव्यं न द्रष्टव्यञ्च स्वेच्छया ॥१२॥
श्रोतव्यमिति श्रोतव्यं नाधिकं श्रवणे चरेत् ।
शास्त्रतत्त्वमृते धीरः श्रुतिवश्यो भवेन्नहि ॥१३॥
एवं घ्राणान्त्वचञ्चापि वशीकृत्येच्छया नृपः ।
स्वेच्छया नोपभुञ्जीत नोद्दामं विषयं व्रजेत् ॥१४॥
एवं यदि भवेद्राजा तदा स स्याज्जितेन्द्रियः ।
जितेन्द्रियत्वे हेतुश्च शास्त्रवृद्धोपसेवनम् ॥१५॥
अवृद्धसेव्यशास्त्रज्ञो नृपः शत्रुवशो भवेत् ।
तस्माच्छास्त्रमधिष्ठाय भवेद्राजा जितेन्द्रियः ॥१६॥
धृतिः प्रागल्भ्यमुत्साहो वाक्पटुत्वं विवेचनम् ।
दक्षत्वं धारयिष्णुत्वं दानं मैत्री कृतज्ञता ।
दृढशासनता सत्यं शौचम्मातिविनिश्चयम् ॥१७॥
पराभिप्रायवेदित्वं चारित्रं धैर्यमापदि ।
क्लेशधारणशक्तिश्च गुरुदेवद्विजार्चनम् ॥१८॥
अनसूया ह्यकोपित्वं गुणानेतान्नृपोऽभ्यसेत् ।
कार्याकार्यविभागञ्च धर्मार्थे काम एव च ॥१९॥
सततं प्रतिबुद्ध्येत कुर्यादवसरेऽपि तत् ।
साम दानं च भेदश्च दण्डश्चेति चतुष्टयम् ॥२०॥
ज्ञात्वोपायांस्तु तत्काले तदुपायान्प्रयोजयेत् ।
साम्नस्तु विषये भेदो मध्यमः परिकीर्तितः ॥२१॥
दानस्य विषये साम योग्यमेवोपलक्ष्यते ।
दानस्य विषये दण्डो ह्यधमः परिकीर्तितः ॥२२॥
दण्डस्य विषये दानं तदप्यधममुच्यते ।
साम्नस्तु गोचरे दण्डो ह्यधमादधमः स्मृतः ॥२३॥
सौजन्यं सततं ज्ञेयं भूभृतो भेददण्डयोः ।

साम्नो दानस्य च तथा सौजन्यं याति गोचरे ॥२४॥
कामः क्रोधश्च लोभश्च हर्षो मानो मदस्तथा।
एतानतिशयान्राजा शत्रूनिव विशातयेत् ॥२५॥
सेव्याः काले सुयुक्तौ ते लोभगर्वौ विवर्जयेत् ।
तेज एव नृपाणां तु तीव्रं सूर्यस्य वै यथा ॥२६॥
तत्र गर्वे रोगयुक्तं कायवांस्तं तु संत्यजेत्।
आखेटकादौ स्त्रीसेवा पानञ्चैवार्थदूषणम् ॥२७॥
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं सप्तैतानि विवर्जयेत् ।
परस्त्रीषु विरक्तासु सेवामेकान्ततस्त्यजेत ॥२८॥
सतीषु निजनारीषु युक्तं कुर्यान्निवेशनम् ।
रतीपुत्रफला दारास्तास्तु नैकान्ततस्त्यजेत् ॥२६॥
तयोः सिद्ध्यै स्त्रियः सेव्या वर्जयित्वाऽतिसक्तताम्।
मृगयां तु प्रमादानां स्थानं नित्यं विवर्जयेत् ॥३०॥
अक्षांस्तथा न कुर्वीत सत्कार्यासक्तिनाशनान्।
अन्यैः कृतं कदाचित्तु सेवेत नात्मना चरेत् ॥३१॥
अकार्यकरणे वीजं कृत्यानाञ्च विवर्जने ।
अकालमन्त्रभेदे च कलहे सत्कृतिक्षये ॥३२॥
वर्जयेत्सन्ततं पानं शौचमाङ्गल्यनाशनम् ।
अर्थक्षयकरं नित्यं त्यजेच्चैवात्मदूषणम् ॥३३॥
अभिशस्तेषु चौरेषु घातकेष्वाततायिषु ।
सततं पृथिवीपालो दण्डपारुष्यमाचरेत् ॥३४॥
नान्यत्र दण्डपारुष्यं कुर्यान्नृपतिसत्तमः ।
वाक्पारुष्यञ्च सर्वत्र नैव कुर्यात्कदाचन ॥३५॥
रक्षणीयं सदा सत्यं सत्यमेकम्परायणम् ।
क्षमा तेजस्वितां चैव प्रस्तावान्नृप आचरेत् ॥३६॥
यानासनाश्रयद्वैधसन्धयो विग्रहस्तथा ।
अभ्यसेत्षड्गुणानेतांस्तेषां स्थानञ्च शाश्वतम् ॥३७॥
यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
कोषे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥३८॥
कोषे जनपदे दण्डे चैकैकत्र त्रयं त्रयम् ।

प्रस्तावाद्विनियुञ्जीत रक्षोभैकान्ततस्त्विमान् ॥३९॥
मित्रे शत्रावुदासीने प्रभावं त्रिष्वपीरयेत् ।
उत्साहो विजिगीषायां धर्मकृत्येऽष्टवर्गके ॥४०॥
शरीरयात्रानिर्वाहे क्रियेत सततं नृपैः ।
मन्त्रनिश्चयसम्भूतां बुद्धिं सर्वत्र योजयेत् ॥४१॥
अमात्ये शात्रवे राज्ये पुत्रेष्वन्तःपुरेषु च ।
कृषिं दुर्गञ्च वाणिज्यं खन्यानां करसाधनम् ॥४२॥
आदानं सैन्यकरयोर्बन्धनं गजवाजिनोः ।
शून्ये मद्यमुखानां च योजनं सततं जनैः ॥४३॥
अयाणां मारसेतूनां बन्धनञ्चेति चाष्टमम् ।
एतदष्टसु वर्गेषु चारान्सम्यक् प्रयोजयेत् ॥४४॥
कार्याकार्यविभागाय चाष्टवर्गाधिकारिणाम् ।
अष्टौ चारान्नियुञ्जीयादष्टवर्गेषु पार्थिवः ॥४५॥
दशशून्येषु युञ्जीत क्रमतः शृणु तानि मे ।
स्वामिसचिवराष्ट्राणि मित्रं कोशो बलं तथा ॥४६॥
दुर्गं तु सप्तमं ज्ञेयं राज्याङ्गं गुरुभाषितम् ।
दुर्गयुक्तं चाष्टवर्गं चारान्नात्मनि योजयेत् ॥४७॥
तस्मादिमानि शेषाणि पञ्च चारपदानि च ।
शुद्धान्तेषु च पुत्रेषु मयूथादौ महानसे ॥४८॥
शत्रूदासीनयोश्चापि बलाबलविनिश्चये ।
अष्टादशसु चैतेषु चारान् राजा प्रयोजयेत् ॥४९॥
न यत्प्रकाशं जानीयात्तत्तच्चारैर्निरूपयेत् ।
निरूप्य तत्प्रतीकारमवश्यं छिद्रतश्चरेत् ॥५०॥
यथानियोगमेतेषां यो यो यत्रान्यथा चरेत् ।
ज्ञात्वा तत्र नृपश्चारैर्दण्डयेद्वा वियोजयेत् ॥५१॥
चारांस्तु मन्त्रिणा सार्द्धं रहस्ये संस्थितो नृपः ।
प्रदोषसमये पृच्छेत्तदानीमेव साधयेत् ॥५२॥
स्वपुत्रे चाथ शुद्धान्ते ये तु चारा महानसे ।
नियुक्तास्तान्मध्यरात्रे पृच्छेत्स्वेऽपि च मन्त्रिणि ॥५३॥
एतांश्चारान् स्वयं पश्येन्नृपतिर्मन्त्रिणा विना ।

अन्यांस्तु मन्त्रिणा सार्द्धं निरूप्य प्रदिशेत्फलम् ॥५४॥
नैकवेशधरश्चारो नैको नोत्साहवर्जितः ।
संस्तुतो नहि सर्वत्र नातिदीर्घो न वामनः ॥५५॥
सततं न दिवाचारी न रोगी नाप्यबुद्धिमान् ।
न वित्तविभवैर्हीनो न भार्यापुत्रवर्जितः ॥५६॥
कार्यश्चारो नृपतिना तत्त्वगुह्यविनिर्णये ।
अनेकवेशग्रहणात्तमं भार्यासुतैर्युतम् ॥५७॥
बहुदेशवचोऽभिज्ञं पराभिप्रायवेदकम् ।
दृढभक्तं प्रकुर्वीत चारं शक्तमसाध्वसम् ॥५८॥
अभितिष्ठेत्स्वयं राजा कृषिमात्मसमैस्तथा ।
वणिक्पथे तु दुर्गादौ तेषु शक्तान्नियोजयेत् ॥५९॥
अन्तःपुरे पितुस्तुल्यान् धीरान वृद्धान्नियोजयेत् ।
षण्डान पण्डांस्तथा वृद्धान स्त्रियो वा बुद्धितत्पराः॥६०॥
शुद्धान्ते द्वारि युञ्जीयात स्त्रियो वृद्धा मनीषिणीः ।
नैकः स्वपेत्कदाचित्तु नैको भुञ्जीत पार्थिवः ॥६१॥
नैकाकिनीं तु महिषीं व्रजेन्मैत्राय नैककः ।
अमात्यानुपधाशुद्धान्भार्याः पुत्रांस्तथैव च ॥६२॥
प्रकुर्यात्सततं भूपः सप्रसादं समाचरन ।
धर्मार्थकाममोक्षैश्च प्रत्येकं परिशोधनैः ॥६३॥
उपेत्य धीयते यस्मादुपधा सा प्रकीर्तिता ।
अर्थकामोपधाभ्यान्तु भार्यापुत्रांश्च शोधयेत् ॥६४॥
धर्मोपधाभिर्विप्रांस्तु सर्वाभिः सचिवान्पुनः ।
एभिर्यज्ञैस्तथा दानैरिहैव नृपतिर्भवेत् ॥६५॥
तस्माद्भवांस्तु राज्यार्थी धर्ममेवं समाचरेत् ।
अनेनैवाभिचारेण यज्ञैर्वा पार्थिवो ह्ययम् ॥६६॥
प्राणांस्त्यजति राजा त्वं भविष्यसि न संशयः ।
इति धर्मो नृपस्यैव अश्वमेधादिकश्च यः ॥६७॥
स्वयं न कुरुते भूपस्तस्मात्त्वं कुरु सत्तम !
एवं मन्त्रैर्मन्त्रयित्वा नृपः कार्यान्तिकाद् द्विजात् ॥६८॥
तैरज्ञातान् स्वयं ज्ञात्वा गृह्णीयात्तस्य तैर्मनः ।

यदि राज्याभिलाषेण सचिवो धर्ममाचरेत ॥६९॥
नृपतौ वाऽधिकं कुर्याद्धर्मं तं हीनतां नयेत ।
आभिचारिकमत्यर्थं कुर्वाणां तु विघातयेत् ॥७०॥
प्रवासयेद् ब्राह्मणां तु पार्थिवश्चाभिचारिकम् ।
एषा धर्मोपधा ज्ञेया तैरमात्यान्त्स ताञ्जयेत् ॥७१॥
एतादृशीं तथैवान्यामुपधां धर्मतश्चरेत ।
कोषाध्यक्षान्त्समामन्त्र्य राजामात्यान्प्रतारयेत् ॥७२॥
पुत्रानन्यान्प्रति तथा मन्त्रसंवरणाक्षमान् ।
अयं हि प्रचुरः कोषो मदायत्तो नरोत्तम ! ॥७३॥
आनये तव सम्मत्या तद्यदि त्वम्प्रतीच्छसि ।
तवार्थलग्नादस्माकञ्जीवनं च भविष्यति ॥७४॥
त्वञ्चापि प्रचुरैः कोषैः किं किं वा न करिष्यसि ।
एवमन्यैः कोषगतैरुपायैर्नृपसत्तमः ॥७५॥
पुत्रामात्यादिकान्सर्वान्सततं परिशोधयेत ।
कोपदोषकरान हन्यात्कर्तुमिच्छून्विवासयेत ॥७६॥
द्वैधचित्तान्विमन्येत कुर्याद्वै कोषरक्षणम ।
दासीश्च शिल्पिनीर्वृद्धा मेधा धृतिमतीः स्त्रियः । ७७॥
अन्तर्बहिश्च या यान्ति विदिताः सचिवादिभिः ।
ता राजा रहसि स्थित्वा भार्यादिभिरलक्षितः ॥७८॥
अभिमन्त्र्याथ सम्मन्त्र्य प्रेषयेत्सचिवान्प्रति ।
ता गत्वा हृदयं बुद्ध्वा स्त्रियो विज्ञाननतत्पराः ॥७९॥
महिषी प्रमुखा राज्ञस्त्वां वै कामयते शुभा ।
तत्राहं योजयिष्यामि यदि ते विद्यते स्पृहा ॥८०॥
सचिवस्त्वां कामयते त्वद्योग्यो वरवर्णिनि !
तं सङ्गमयितुं शक्ता यदि श्रद्धा तवास्त्यहम ॥८१॥
इत्यनेन प्रकारेण नानोपायैस्तथोत्तरैः ।
भार्याः पुत्रदुहित्रीश्च स्नुषाश्च प्रस्नुषास्तथा ॥८२॥
शोधयेत्सचिवान्पुत्रान्पौत्रादीन् सेवकांस्तथा ।
कामोपधाविशुद्धांस्तु घातयेदविचारयन् ।
स्त्रियस्तु योज्या दण्डेन ब्राह्मणांस्तु प्रवासयेत् ॥८३॥

मोक्षमार्गविसक्तं तु हिंसापैशुन्यवर्जितम् ।
धर्मैकसारं नृपतिः सचिवं परिवर्जयेत् ॥८४॥
मोक्षमार्गविषक्तांस्तु दण्ड्यानपि न दण्डयेत् ।
समबुद्धिस्तु सर्वत्र तस्मात् तं परिवर्जयेत् ॥८५॥
इति सूत्रश्लोपधानामुपधा बहुधा पुनः ।
विवेचिता चोशनसा तच्छास्त्रं तत्र बोधयेत् ॥८६॥
विग्रहे सततं राजा परैर्न सम्यगाचरेत् ।
भूवित्तमित्रलाभेषु निश्चितेष्वेव विग्रहाः ॥८७॥
सप्ताङ्गेषु प्रमादश्च सदा कार्यो नृपोत्तमैः ।
कोषस्य सञ्चयं रक्षां सततं सम्यगाचरेत् ॥८८॥
मन्त्रिणस्तु नृपः कुर्याद् विप्रान् विद्याविशारदान् ।
विनयज्ञान् कुलीनांश्च धर्मार्थकुशलान् ऋजून् ॥८९॥
मन्त्रयेत्तैः समं ज्ञानं नात्यर्थं बहुभिश्चरेत् ।
एकैकेनैव कर्तव्यो मन्त्रस्य च विनिश्चयः ॥९०॥
व्यस्तैः समस्तैश्चान्यस्य व्यपदेशैः समन्ततः ।
सुसंवृतं मन्त्रगृहं स्थलं वारुह्य मन्त्रयेत् ॥९१॥
अरण्ये निःशलाके वा न यामिन्यां कदाचन ।
शिशून्छाखामृगान्षण्डाञ्छुकान्वैसारिकांस्तथा ॥९२॥
वर्जयेन्मन्त्रगेहे तु मनुष्यान्विकृतांस्तथा ।
दूषणं मन्त्रभेदेषु नृपाणां यत्तु जायते ।
न तच्छक्यं समाधातुं दक्षैर्नृपशतैरपि ॥९३॥
दण्ड्यांस्तु दण्डयेद्दण्डैरदण्ड्यान्दण्डयेन्नहि ।
अदण्डयन्नृपो दण्ड्यान्न दण्ड्यांश्चापि दण्डयन् ॥९४॥
नृपतिर्वाच्यताम्प्राप्य चौरकिल्बिषमाप्नुयात् ।
दुर्गे तु समतां कुर्यात्प्राकाराट्टालतोरणैः ॥९५॥
भूषिताम्नगराद्राजा दूरे दुर्गाश्रयं चरेत् ।
दुर्गं बलं नृपाणां तु नित्यं दुर्गं प्रशस्यते ॥९६॥
शतमेको योधयति दुर्गस्थो यो धनुर्धरः ।
शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं प्रशस्यते ॥९७॥
जलदुर्गं भूमिदुर्गं वृक्षदुर्गं तथैव च ।

अरण्यबलदुर्गं च शैलजं परिखोद्भवम् ॥९८॥
दुर्गं कार्यं नृपतिना यथादुर्गं स्वदेशतः ।
दुर्गं कुर्वन्पुरं कुर्यात्त्रिकोणं धनुराकृति ॥९९॥
वर्तुलं च चतुष्कोणं नान्यथा नगरं चरेत् ।
मृत्तिकाकृतिदुर्गं तु सततं कुलनाशनम् ॥१००॥
यथा राक्षसराजस्य लङ्का दुर्गान्विता पुरा ।
बलेः पुरं शोणिताख्यं तेजोदुर्गैः प्रतिष्ठितम् ॥१०१॥
तद् यस्माद् व्यजनाकारं मनोभ्रष्टः शिवावलिः ।
सौभाग्यं सा तु राज्यस्य नगरं पञ्चकोणकम् ॥१०२॥
दिवि यद्वर्तते राज्यं तच्च भ्रष्टं भविष्यति ।
यच्चायोध्याह्वयम्भूप पुरमिक्ष्वाकुभूभृताम् ॥१०३॥
धनुराकृति तच्चापि ततोभूद्विजयप्रदम् ।
दुर्गभूमौ जयेद् दुर्गान्दिक्पालांश्चैव द्वारतः ॥१०४॥
पूजयित्वा विधानेन जयं भूपः समाप्नुयात् ।
अतो दुर्गं नृपः कुर्यात्सततं जयवृद्धये ॥१०५॥
न ब्राह्मणान्सदा राजा केनाप्यवमनीकृतान् ।
अवमान्य नृपो विप्रान् प्रेत्येह दुःखभाग्भवेत् ॥१०६॥
न विरोधस्तु तैः कार्यः स्वानि तेषां नचाददेत् ।
कृत्यकालेषु सततं तानेव परिपूजयेत् ॥१०७॥
नैषां निन्दां प्रकुर्वीत नाभ्यसूयां तथा चरेत् ।
एवं नृपो महाबुद्धिस्तत्तन्मण्डलसंयुतः ॥१०८॥
अप्रमादी चारचक्षुर्गुणवान्त्सुप्रियंवदः ।
प्रेत्येह महतीं सिद्धिं प्राप्नोति सुखभोगवान् ॥१०९॥
यैर्गुणैर्योजितश्चात्मा तैः पुत्रानपि योजयेत् ।
नृपस्य च स्वतन्त्रत्वं सततं स्वं विनाशयेत् ॥११०॥
स्वतन्त्रो भूपतनयो विकारं याति निश्चितम् ।
निर्विकाराय सततं वृद्धांश्च परियोजयेत् ॥१११॥
भोजने शयने याने पुरुषाणाञ्च वीक्षणे ।
नियोजयेत्सदा दारान्भूपः कामविचेष्टने ॥११२॥
अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः सततं पार्थिवेन तु ।

ता: स्वतन्त्राः स्त्रियो नित्यं ह्यनये सम्भवन्ति हि ॥११३॥
तस्मात्कुमारं महिषीमुपधाभिर्मनोहरैः ।
शोधयित्वा नियुञ्जीत यौवराज्यावरोधयोः ॥११४॥
अन्तःपुरप्रवेशे तु स्वतन्त्रत्वं निषेधयेत् ।
भूपपुत्रस्य भार्याया बहिःसारे तथैव च ॥११५॥
अयं विशेषः संक्षेपान्नृपधर्मो मयोदितः ।
पुत्राणां गुणविन्यासे भार्याणामपि भूपते ॥११६॥
उशना राजनीतीनां तन्त्राणि तु बृहस्पतिः ।
चकारान्यान्विशेषांस्तु तयोस्तन्त्रेषु बोधयेत् ॥११७॥
इति श्रीकालिकापुराणे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ।

विष्णुधर्मोत्तरपुराणान्तर्गतं राजनीतिप्रकरणम्

द्वितीयखण्डे द्वितीयोऽध्यायः ।

मार्कण्डेय उवाच—

सुखासीनो नरश्रेष्ठः पुष्करस्य निवेशने ।
पप्रच्छ पुष्करं रामो धर्मनित्यो जितेन्द्रियः ॥ १ ॥

राम उवाच—

राष्ट्रस्य किं कृत्यतमं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।
आदावेव महाभाग ! यादोगणनृपात्मज ! ॥ २ ॥

पुष्कर उवाच—

राष्ट्रस्य कृत्यं धर्मज्ञ ! राज्ञ एवाभिषेचनम् ।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥ ३ ॥
अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मावस्था न विद्यते ।
वर्णानामाश्रमाणां च व्यवस्थानं च भार्गव ! ॥ ४ ॥
अराजकेषु राष्ट्रेषु नैव कन्या प्रदीयते ।
विद्यते ममता नैव तथा वित्तेषु कस्यचित् ॥ ५ ॥
मात्स्यो न्यायः प्रवर्तेत विश्वलोपस्तथैव च ।
लोके न कश्चिद्विद्येत गुरोर्वचनकारकः ॥ ६ ॥
नाधीयीरंस्त्रयीं विद्यां त्रयो वर्णा द्विजातयः ।

देवानां यजनं न स्यादनावृष्टिस्ततो भवेत् ॥ ७ ॥
नृलोकसुरलोकौ च स्यातां संशयितावुभौ ।
जनमारी भवेद् घोरा यदि राजा न पालयेत् ॥ ८ ॥
प्रजानां रक्षणार्थाय विष्णुतेजोपबृंहितः ।
मानुष्ये जायते राजा देवसत्त्ववपुर्धरः ॥ ६ ॥
यस्मिन्प्रसन्ने देवस्य प्रसादस्तूपजायते ।
यस्मिन्क्रुद्धे जनस्यास्य क्रोधः समुपजायते ॥१०॥
महद्भिः पुण्यसम्भारैः पार्थिवो राम ! जायते ।
यस्यैकस्य जगत्सर्वं वचने राम ! तिष्ठति ॥११॥
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं तेषु देशेषु जायते ।
येषु देशेषु राजेन्द्र ! राजा भवति धार्मिकः ॥१२॥
मारकं न च दुर्भिक्षं नाग्निचौरभयं तथा ।
नच व्यालभयं तेषां येषां धर्मपरो नृपः ॥१३॥
आदौ विन्देत नृपतिं ततो भार्यां ततो धनम् ।
कुराजनि जनस्यास्य कुतो भार्या कुतो धनम् ॥१४॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन राष्ट्रमुख्यो नरेश्वरः ।
परीक्ष्य पूर्वैः कर्तव्यो धार्मिकः सत्यसङ्गरः ॥१५॥
येषां हि राजा भुवि धर्मनित्यस्तेषां न लोके भयमस्ति किञ्चित् ।
तस्मात्प्रयत्नेन नरेन्द्र ! कार्यो राष्ट्रप्रधानैर्नृपतिर्विनीतः ॥१६॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामं प्रति पुष्करवाक्ये राजप्रशंसा नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे तृतीयोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

सर्वलक्षणलक्षण्यो विनीतः प्रियदर्शनः ।
अदीर्घसूत्री धर्मात्मा जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥१७॥
स्थूललक्षो महोत्साहः स्मितपूर्वाभिभाषकः ।
सुरूपः कुलसम्पन्नः क्षिप्रकारी महाबलः ॥१८॥
ब्रह्मण्यश्चाविसंवादी दृढभक्तिः प्रियंवदः ।

अलोलुपस्संयतवाग्गंभीरः प्रियदर्शनः ॥१९॥
नातिदण्डो न निर्दण्डः चारचक्षुरजिह्मगः ।
व्यवहारे समः प्राप्ते पुत्रस्य रिपुणा सह ॥२०॥
रथे गजेऽश्वे धनुषि व्यायामे च कृतश्रमः ।
उपवासतपःशीलो यज्ञयाजी गुरुप्रियः ॥२१॥
मन्त्री सांवत्सराधीनः समरेष्वनिवर्तकः ।
कालज्ञश्च कृतज्ञश्च नृविशेषज्ञ एव च ॥२२॥
पूज्यं पूजयिता नित्यं दण्ड्यं दण्डयिता तथा ।
षाड्गुण्यस्य प्रयोक्ता च शक्त्युपेतस्तथैव च ॥२३॥
उक्तैरनुक्तैस्तु गुणैरनेकैरलङ्कृतो भूमिपतिश्च कार्यः ।
सम्भूय राष्ट्रप्रवरैर्यथावद्राष्ट्रस्य रक्षार्थमदीनसत्त्वः ॥२४॥
इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामं प्रति
पुष्करवाक्ये राजलक्षणं नाम तृतीयोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे चतुर्थोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

एवं गुणगणाकीर्णं वरयेयुर्नराधिपम् ।
सम्भूय राष्ट्रप्रवराः क्षत्रियं तु कुलोद्गतम् ॥२५॥
वृतश्च तैर्व्रतं राजा गृह्णीयाद्विजितेन्द्रियः ।
पालयिष्यामि वः सर्वान्धर्मस्थान्नात्र संशयः ॥२६॥
व्रतं गृहीत्वा राज्यार्थी वृणुयाद् ब्राह्मणोत्तमम् ।
सांवत्सरं सुखायास्य सर्वस्य जगतो नृपः ॥२७॥
सर्वलक्षणलक्षण्यं विनीतं प्रियदर्शनम् ।
सुरूपं वेषसम्पन्नं नित्यमूर्जितदर्शनम् ॥२८॥
अदीनवादिनं धीरं धर्मनित्यं जितेन्द्रियम् ।
अन्यङ्गं नाधिकाङ्गं च वेदवेदाङ्गपारगम् ॥२९॥
चतुःषष्ट्यङ्गतत्त्वज्ञमूहापोहविशारदम् ।
भूतभव्यभविष्यज्ञं गणितज्ञं विशेषतः ॥३०॥
विचन्द्रा शर्वरी यद्वन्मुकुटं च च्युतोपलम् ।

गणितेन तथा हीनं ज्योतिषं नृपसत्तम ! ॥३१॥
आस्तिकं श्रद्दधानं च अनुकूलं महीपतेः ।
सांवत्सरं नृपो गत्वा वरयेत्प्रयतः शुचिः ॥३२॥
येनाभिषिक्तो नृपतिर्विनष्टस्तु नराधिप !
सांवत्सरं न तं विद्वान् वरयेन्नृपसत्तम ॥३३॥
न हीनाङ्गं न वाचालं न च निष्प्रतिभं नृपः ।
कुवेषमलिनं मुण्डं नास्तिकं पापनिश्चयम् ॥३४॥
भिन्नवृत्तिं च वरयेद्वरयेत्सद्गुणं सदा ।
वरयित्वा तु वक्तव्याः स्वयमेव महीभुजा ॥३५॥
यथैवाग्निमुखा देवास्तथा राजमुखाः प्रजाः ।
यथैवाग्निमुखा मन्त्रा राज्ञां सांवत्सरास्तथा ॥३६॥
त्वं मे माता पिता चैव देशिकश्च गुरुस्तथा ।
दैवं पुरुषकारश्च ज्ञातव्यौ सततं त्वया ॥३७॥
समधर्मज्ञ ! भद्रं ते राज्यं साधारणं हि नौ ।
समानेयः शुभो देवस्त्वयैव मम सत्तम ! ॥३८॥
पौरुषेण परं कार्यं समरं च तथा मया ।
स चेत्तदभिमन्येत पार्थिवस्य महागुणम् ॥३९॥
अथवा गुणदोषेण प्रज्ञया चाशु यो नृणाम् ।
दैवोपघातसमरे विज्ञानं पौरुषस्य च ॥४०॥
वाडवं न च प्राज्ञस्तु तस्यैवानुमते तदा ।
तेनोद्दिष्टौ तु वरयेद्राजा मन्त्रिपुरोहितौ ॥४१॥
तेनोद्दिष्टां च वरयेन्महिषीं नृपसत्तमः ।
ततोऽभिषेकसम्भारांस्तस्य कुर्यात्स दैववित् ॥४२॥
कुञ्जरं तुरगं कुर्यात्तस्य राज्ञः परीक्षितौ ।
भद्रासनं च छत्रं च बालव्यजनमेव च ॥४३॥
खड्गरत्नं तथा चापं रत्नानि विविधानि च ।
राज्ञो मृतस्य ये त्वासन्सर्वाणि तु नराधिप ! ॥४४॥
ते न कार्या नरेन्द्रस्य तेन दैवविदा तथा ।
कामं संवत्सरं कार्या अलाभेऽन्यस्य भूभुजा ।
गुणाधिकस्य नो कार्या येऽन्यत्राभिहिता मया ॥४५॥

न तत्र नागाः सुभृता न योधा राज्ञो न माता न पिता न बन्धुः ।
यत्रास्य साध्यं भवतीह विद्वान्सांवत्सरो धर्मविदः प्रमत्तः ॥४६॥
इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामं प्रति
पुष्करकथासु सांवत्सरिकलक्षणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे पञ्चमोऽध्यायः ।

राम उवाच—

राज्ञः पुरोहितः कार्यस्तथा मन्त्री च कीदृशः ?
महिषी च तथा ज्येष्ठा तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥४७॥

पुष्कर उवाच—

अव्यङ्गं लक्षणोपेतमनुकूलं प्रियंवदम् ।
अथर्ववेदविद्वांसं यजुर्वेदविशारदम् ॥४८॥
द्विवेदं ब्राह्मणं राजा पुरोहितमथर्वणम् ।
पञ्चकल्पविधानज्ञं वरयेत सुदर्शनम् ॥४९॥
पञ्चकल्पविधानज्ञमाचार्यं प्राप्य भूपतिः ।
सर्वोत्पातप्रशान्तात्मा भुनक्ति वसुधां चिरम् ॥५०॥
स च राज्ञस्तथा कुर्यान्नित्यं कर्म सदैव तु ।
नैमित्तिकं तथा काम्यं दैवज्ञवचने रतः ॥५१॥
न त्याज्यस्तु भवेद्राजा दैवज्ञेन पुरोधसा ।
पतितस्तु भवेत्त्याज्यो नात्र कार्या विचारणा ॥५२॥
तथैव पतितौ राम ! न त्याज्यौ तौ महीभुजा ।
तयोस्त्यागेन राजेन्द्र ! राज्यभ्रंशो विनिर्दिशेत ॥५३॥
दुर्गतिः परलोके च बहुकालमसंशयम् ।
सांवत्सरविरुद्धस्तु त्याज्यो राज्ञा पुरोहितः ॥५४॥
पुरोहितोऽन्यथा राज्ञो यथा माता यथा पिता ।
अनिष्टमस्य व्यसनं हन्याद्दैवोपघातजम् ॥५५॥
ब्राह्मणो निष्कृतिस्तस्य कुत्र शक्या महीभुजा ।
यावन्न राज्ञा विद्वांसौ सांवत्सरपुरोहितौ ॥५६॥
वृत्तिच्छेदे तयो राज्ञः कुलं त्रिपुरुषं व्रजेत् ।

नरकं वर्जयेत्तस्माद् वृत्तिच्छेदं तयोः सदा ॥५७॥
स्थावरेण विभागश्च तयोः कार्यो विशेषतः ।
अनुरूपेण धर्मज्ञ ! सांवत्सरपुरोहितौ ॥५८॥
भाव्यं सदा भार्गववंशचन्द्र! पुरोहितस्यात्मसमस्य राज्ञा ।
राज्ञो यथापि स्वजनेन भाव्यो विद्वान्प्रभुः स्यान्नृपतेः पुरोधाः ॥५९॥
इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे
पुरोहितलक्षणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

द्वितीयखण्डे षष्ठोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

सर्वलक्षणलक्षण्यो मन्त्री राज्ञस्तथैव च ।
ब्राह्मणो वेदतत्त्वज्ञो विनीतः प्रियदर्शनः ॥ ६० ॥
स्थूललक्षो महोत्साहः स्वामिभक्तः प्रियंवदः ।
बृहस्पत्युशनःप्रोक्तां नीतिं जानाति सर्वतः ॥६१॥
रागद्वेषेण यत्कार्यं न वदन्ति महीक्षितः ।
लोकापवादाद्राजार्थे भयं यस्य न जायते ॥६२॥
क्लेशक्षमस्तथा यश्च विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
गूढमन्त्रश्च दक्षश्च प्राज्ञो भक्तजनप्रियः ॥६३॥
इङ्गिताकारतत्त्वज्ञ ऊहापोहविशारदः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च नच मानी विमत्सरः ॥६४॥
चारप्रचारकुशलः प्रणिधिप्रणयात्मवान ।
षाड्गुण्य विधितत्त्वज्ञ उपायकुशलस्तथा ॥६५॥
वक्ता विधाता कार्याणां नैव कार्यातिपातिता ।
समश्च राजभृत्यानां तथैव च गुणप्रियः ॥६६॥
कालज्ञः समयज्ञश्च कृतज्ञश्च जनप्रियः ।
कृतानामकृतानाञ्च कर्मणां चान्ववेक्षिता ॥६७॥
यथानुरूपमर्हाणां पुरुषाणां नियोजिता ।
राज्ञः परोक्षे कार्याणि सम्पराये भृगूत्तम ॥६८॥
कृत्वा निवेदिता राजन्कर्मणां गुरुलाघवम् ।

शत्रुमित्रविभागज्ञो विग्रहास्पदतत्त्ववित् ॥६९॥
स राज्ञः सर्वकार्याणि कुर्याद् भृगुकुलोद्वह !
विदितानि यथा कुर्यान्नाज्ञातानि महीक्षिता ॥७०॥
अज्ञातानि नरेन्द्रस्य कृत्वा कार्याणि भार्गव !
अचिरेणापि विद्वेषं स मन्त्री त्वधिगच्छति ॥७१॥
करोति यस्तु कार्याणि विविधानि महीपतेः ।
भेदो नो तस्य भवति कदाचिदपि भूभुजा ॥७२॥
एवंगुणो यस्य भवेच्च मन्त्री वाक्ये च तस्याभिरतस्य राज्ञः।
राज्यं स्थिरं स्याद्विपुला च लक्ष्मीर्यशश्च दीप्तो भुवनत्रयेऽपि॥७३॥
इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे
मन्त्रिलक्षणं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे सप्तमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

राज्ञाग्र्यमहिषी कार्या सर्वलक्षणपूजिता ।
विनीता गुरुभक्ता च ईर्ष्याक्रोधविवर्जिता ॥ ७४ ॥
राज्ञः प्रियहितासक्ता चारुवेशा प्रियंवदा ।
भृताभृतजनज्ञा च भृतानामन्ववेक्षिणी ॥ ७५ ॥
अभृतानां जनानां च भृतिकर्मप्रवर्त्तिनी ।
रागद्वेषवियुक्ता च सपत्नीनां सदैव या ॥ ७६ ॥
भोजनासनपानेन सर्वेषामन्ववेक्षणी ।
सपत्निपुत्रेष्वपि या पुत्रवत्परिवर्तते ॥ ७७ ॥
मन्त्रिसंवत्सरामात्यान्या च पूजयते सदा ।
ब्रह्मण्या च दयायुक्ता सर्वभूतानुकम्पिनी ॥ ७८ ॥
कृताकृतज्ञा राज्ञश्च विदिता मण्डलेष्वपि ।
परराजकलत्रेषु प्रीयमाणा मुदा युता ॥ ७९ ॥
दूतादिप्रेषणकरी राजद्वारेषु सर्वदा ।
तद्द्वारेण नरेन्द्राणां कार्यज्ञा च विशेषतः ॥८०॥
एवं गुणगणोपेता नरेन्द्रेण सहानघा ।

अभिषेच्या भवेद्राज्ये राज्यस्थेन नृपेण वा ॥८१॥
एवं यदा यस्य भवेच्च पत्नी
नरेन्द्रचन्द्रस्य महानुभावा ।
वृद्धिं व्रजेत्तस्य नृपस्य राष्ट्रं
सचारकं नात्र विचारणास्ति ॥८२॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे अग्रयमहिषीलक्षणं नाम सप्तमोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डेऽष्टादशोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

इति सम्भृतसम्भारो राज्ञस्सांवत्सरस्तथा ।
कालेऽभिषेचनं कुर्यात्तं कालं कथयामि ते ॥८३॥
मृते राज्ञि न कालस्य नियमोऽत्र विधीयते ।
तत्रास्य स्नपनं कार्यं विधिवत्तिलसर्षपैः ॥८४॥
घोषयित्वा जयं चास्य सांवत्सरपुरोहितौ ।
अन्यासनोपविष्टस्य दर्शयेतां जनं शनैः ॥८५॥
स सान्त्वयित्वा स्वजनं मुक्त्वा बन्धनगांस्तथा ।
अभयं घोषयित्वा च कालाकाङ्क्षी तथा भवेत् ॥८६॥
नाभिषेच्यो नृपश्चैत्रे नाधिमासे च भार्गव !
न प्रसुप्ते तथा विष्णौ विशेषात्प्रावृषि द्विज ! ॥८७॥
न च भौमदिने ! राम चतुर्थ्यां न तथैव च ।
नवम्यां नाभिषेक्तव्यः चतुर्दश्यां च भार्गव ! ॥८८॥
ध्रुवाणि वैष्णवं शाक्रं हस्तपुष्ये तथैव च ।
नक्षत्राणि प्रशस्यन्ते भूमिपालाभिषेचने ॥८९॥
नागश्चतुष्पदं विष्टिः किंस्तुघ्नः शकुनिस्तथा ।
करणानि न शस्यन्ते व्यतीपातदिनं तथा ॥९०॥
नक्षत्रमुल्काभिहतमुत्पाताभिहतं तथा ।
सौरसूर्यकुजाक्रान्तं परिविष्टिञ्च भार्गव ! ॥९१॥
मुहूर्ताश्चोक्तनक्षत्राः सर्वां मानहितप्रदाः ।

कुजहोरा तथा नेष्टा सर्वत्र कुलिकस्तथा ॥९२॥
वृषोऽथ कीटसिंहौ च कुम्भो लग्ने च शस्यते ।
एतेषां जन्मलग्नाभ्यां यः स्यादुपचयस्थितः । ९३॥
तारा द्वितीया षष्ठी च चतुर्थी चाष्टमी च या ।
नवमी च तथा शस्ता अनुकूलश्च चन्द्रमाः ॥९४॥
सौम्याः केन्द्रगता लग्ना शुभाश्चैव त्रिकोणयोः ।
पापाश्चोपचयस्थाने शस्तो लग्ने दिवाकरः ॥९५।
लग्ने नवांशः क्षितिजस्य वर्ज्यो वर्गस्तथा तस्य महानुभाव !
सूर्यस्य वर्गः सकलः प्रशस्तो राज्ञोऽभिषेके समहो नृपाणाम् ॥९६॥
इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे-
ऽभिषेककालनिर्णयं नामाष्टादशोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे एकविंशतितमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

स्नानं समाचरेद् राज्ञो होमकाले पुरोहितः ।
आदौ च स्वेच्छया स्नातः पुनर्मृद्भिः समाचरेत् ॥९७॥
पर्वताग्रमृदा तावन्मूर्धानं शोधयेन्नृपः ।
वल्मीकाग्रमृदा कर्णौ चन्दनैः केशवालकान ॥९८॥
चन्द्रालयमृदा ग्रीवां हृदयं तु नृपाजिरात् ।
करिदन्तोद्धृतमृदा दक्षिणं तु तथा भुजम् ।
वृषशृङ्गोद्धृतमृदा वामं चैव तदा भुजम् ॥९९॥
सरोमृदा तथा पृष्ठं चोदरं सङ्गमे मृदा ।
नदीकूलद्वयमृदा पार्श्वे संशोधयेत्तथा ॥१००॥
अश्वस्थानात्तथा जङ्घे राजा संशोधयेद् बुधः ।
रथचक्रोद्धृतमृदा तथैव च करद्वयम् ॥१०१॥
मृत्स्नातः स्नपनीयः स्यात्पञ्चगव्यजलेन तु ।
ततो भद्रासनगतं मुख्यामात्यचतुष्टयम् ॥१०२॥
वर्णप्रधानं भूपालमभिषिञ्चेद्यथाविधि ।
पूर्वतो हेमकुम्भेन घृतपूर्णेन ब्राह्मणः ॥१०३॥

रूप्यकुम्भेन याम्येन क्षीरपूर्णेन क्षत्रियः ।
दध्ना च ताम्रकुम्भेन वैश्यः पश्चिमतो द्विज ! ॥१०४॥
माहेयेन जलेनोदक् शूद्रामात्योऽभिषेचयेत् ।
ततोऽभिषेकं नृपतेर्बह्वृचप्रवरो द्विजः ॥१०५॥
कुर्वीत मधुना राम ! छन्दोगश्च कुशोदकैः ।
सम्पातवन्तं कलशं तथा हुत्वा पुरोहितः ॥१०६॥
विधाय वह्निरक्षां तु सदस्येषु यथाविधि ।
राजसूयाभिषेके तु ये मन्त्राः परिकीर्तिताः ॥१०७॥
तैस्तु दद्यान्महाभाग ! ब्राह्मणानां स्वनेन तु ।
ततो पुरोहितो गच्छेद्वेदिमूलं तदैव तु ॥१०८॥
विभूषितं तु राजानं सर्वतोभद्र आसने ।
शतच्छिद्रेण पात्रेण सौवर्णेन यथाविधि ॥१०९॥
अभिषिञ्चति धर्मज्ञ ! यजुर्वेदविशारदः ।
या ओषधीरौषधीभिः सर्वाभिः सुसमाहितः ॥११०॥
रथे अक्षेति गन्धैश्च आब्रह्मन् ब्रह्मणेति च ।
बीजैः पुष्पैस्तथा चैनं राम ! पुष्पवतीति च ॥१११॥
तेनैव चाभिमन्त्रेण फलैस्तमभिषेचयेत् ।
आशुः शिशान इत्येव सर्वरत्नैश्च भार्गव ! ॥११२॥
ये देवाः पुरस्सदेति कुशाभिः परिमार्जयेत् ।
ऋग्वेदकृत्ततो राज्ञो रोचनाया यथाविधि ॥११३॥
मूर्धानं च तथा कण्ठे गन्धद्वारेति संस्पृशेत् ।
ततो ब्राह्मणमुख्याश्च क्षत्रियाश्च विशस्तथा ॥११४॥
शूद्राश्च वारमुख्याश्च नानातीर्थसमुद्भवैः ।
नादेयैः सारसैः कौपैर्नानाकलशसंस्थितैः ॥११५॥
चतुस्सागरजैर्लाभादलाभाद् द्विजकल्पितैः ।
गङ्गायमुनयोश्चैव निर्झरैश्च तथोद्भिजैः ॥११६॥
छत्रपाणिर्भवेत्कश्चित्केचिच्चामरपाणयः ।
अमात्यमुख्यास्तं कालं केचिद्वेत्रकरास्तथा ॥११७॥
शंखभेरीनिनादेन वन्दीनां निस्वनेन च ।
गीतवादित्रघोषेण द्विजकोलाहलेन च ॥११८॥

राजानमभिषिञ्चेयुस्समेत्य सहिता जनाः ।
सर्वैः स्तुतोऽभिषिक्तश्च सम्मिश्रजलमिश्रितम् ॥११९॥
सर्वौषधियुतं पुण्यं सर्वगन्धयुतं तथा ।
रत्नबीजसमायुक्तं फलबीजयुतं तथा ॥१२०॥
ऊर्जितं सितसूत्रेण वेष्टितग्रीवमेव च ।
श्वेतवस्त्राम्रपत्रैश्च संवीतं सुविभूषितम् ॥१२१॥
क्षीरवृक्षलताच्छत्रं सुदृढं काञ्चनं नवम् ।
आदाय कलशं राज्ञा स्वयं सांवत्सरस्तथा ॥१२२॥
मन्त्रावसाने कलशं दद्याद् भृगुकुलोद्वह !
ततः पश्येन्मुखं राजा दर्पणे चाथ सर्पिषि ॥१२३॥
सोष्णीकः सितवस्त्रश्च मङ्गलालम्भनं ततः ।
कृत्वा सम्पूजयेद्विष्णुं ब्रह्माणं शङ्करं तथा ॥१२४॥
लोकपालान् ग्रहांश्चैव नक्षत्राणि च भार्गव !
ततः स्वपूजां कुर्वीत शयनीयं ततो व्रजेत् ॥१२५॥
व्याघ्रचर्मोत्तरं रम्यं सितवस्त्रोत्तरच्छदम् ।
पुरोधा मधुपर्केण तत्रस्थं तं समर्चयेत् ॥१२६॥
राजा चैवार्चयेत्तत्र सांवत्सरपुरोहितौ ।
मधुपर्केण धर्मज्ञस्ततस्तस्य सदैव हि ॥१२७॥
पट्टबन्धं प्रकुर्वीत मुकुटस्य च बन्धनम् ।
ततः स बद्धमुकुटः काले पूर्वं मयेरितम् ॥१२८॥
पराध्यास्तरणोपेते पञ्चचर्मोत्तरच्छदे ।
ध्रुवा द्यौ इति मन्त्रेण चोपवेश्यः पुरोधसा ॥१२९॥
वृकस्य वृषदंशस्य द्वीपिनश्च भृगूत्तम !
तेषामुपरि सिंहस्य व्याघ्रस्य च ततः परम् ॥१३०॥
तत्रोपविष्टस्य ततः प्रतीहारः प्रदर्शयेत् ।
अमात्यांश्च तथा पौरान्नैगमांश्च वणिग्वरान् ॥१३१॥
ततः प्रकृतयश्चान्या यथावदनुपूर्वशः ।
ततो ग्रहवराग्रेस्भतुरङ्गकनकोत्तमैः ॥१३२॥
गोजाविग्रहदानैश्च सांवत्सरपुरोहितौ ।
पूजयित्वा ततः पश्चात्पूजयद् ब्राह्मणात्रयम् ॥१३३॥

अनेनैव विधानेन येन राजाभिषेचितः ।
ततस्त्वमात्यान संपूज्य सांवत्सरपुरोधसः ॥१३४॥
ततो ब्राह्मणमुख्यानां पूजनं तु समाचरेत् ।
गोवस्त्रतिलरूप्यान्नफलकाञ्चनगोरसैः ॥१३५॥
मोदकाक्षतपुष्पैश्च महीदानैश्च पार्थिवः ।
मङ्गलालम्भनं कृत्वा गृहीत्वा सशरं धनुः ॥१३६॥
वह्निं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणिपत्य तथा गुरुम् ।
पृष्ठतो वृषमालभ्य गां सवत्सां च पार्थिवः ॥१३७॥
पूजयित्वा च तुरगं मन्त्रितं चाभिषेचितम् ।
मन्त्रितं दक्षिणे कर्णे स्वयं वेदविदा ततः ॥१३८॥
आरुह्य राजमार्गेण स्वपुरं तु परिभ्रमेत् ।
मुख्यामात्यैश्च सामन्तैः सांवत्सरपुरोहितैः ॥१३९॥
सहितः कुञ्जरारूढैरभिगच्छेच्च देवताः ।
तासां सम्पूजनं कृत्वा नगरे या निवेशिताः ॥१४०॥
प्रविशेत गृहं राजा प्रहृष्टनरवाहनः ।
दानमानानि सत्कारैर्गृह्णीयात् प्रकृतीस्ततः ॥१४१॥
सम्पूजितास्तास्तु विसर्जयित्वा गृहे स्वके स्यान्मुदितो महात्मा ।
विधानमेतत्समवाप्य राजा कृत्स्नां स पृथ्वीं वशगां हि कुर्यात् ॥१४२॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे
राज्याभिषेकविधिर्नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥

द्वितीयखण्डे चतुर्विंशोऽध्यायः ।

राम उवाच—

राज्ञोऽभिषिक्तमात्रस्य किन्नु कृत्यतमं भवेत् ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सर्वं वेत्ति यतो भवान् ॥१४३॥

पुष्कर उवाच—

अभिषेकार्द्रशिरसा राज्ञा राजीवलोचन !
सहायवरणं कार्यं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम् ॥१४४॥
यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।

पुरुषेणासहायेन किन्नु राज्यं महत्पदम् ॥१४५॥
तस्मात्सहायान्विरयेत्कुलीनान्नृपतिः स्वयम् ।
शूरानुत्तमजातीयान्बलयुक्ताञ्श्रुतान्वितान् ॥१४६॥
रूपसत्त्वगुणौदार्यसंयुक्तान्क्षमया युतान् ।
क्लेशक्षमान्महोत्साहान्धर्मज्ञांश्च प्रियंवदान् ॥१४७॥
हितोपदेशिकान्प्रज्ञान्स्वामिभक्तान्यशोर्थिनः ।
एवंविधान्सहायांस्तु शुभकर्मणि योजयेत् ॥१४८॥
गुणहीनानपि तथा विज्ञाय नृपतिः स्वयम् ।
कर्मस्वेव नियुञ्जीत यथायोग्येषु भार्गव ! ॥१४९॥
कुलीनाः शीलसम्पन्ना धनुर्वेदविशारदाः ।
हस्तिशिक्षाश्वशिक्षासु कुशलाश्श्लक्ष्णभाषितैः ॥१५०॥
निमित्ते शकुनज्ञाने वित्तवैद्यचिकित्सके ।
पुरुषान्तरविज्ञाने षाड्गुण्येन विनिश्चिताः ॥१५१॥
कृतज्ञाः कर्मणा शूरास्तथा क्लेशसह ऋजुः ।
व्यूहतत्त्वविधानज्ञः फल्गुसारविशेषवित् ॥१५२॥
राज्ञां सेनापतिः कार्यो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽथवा ।
प्रांशुः सुरूपो दक्षश्च प्रियवादी न चोद्धतः ॥१५३॥
चित्तग्राहश्च सर्वेषां प्रतीहारो विधीयते ।
यथोक्तवादी धूर्तः स्याद् देशभाषाविशारदः ॥१५४॥
शाब्दः क्लेशसहो वाग्मी देशकालविभाषिता ।
विज्ञाय देशं कालं वा हितं यत्स्यान्महीक्षितः ॥१५५॥
वक्तापि तस्य यः काले स दूतो नृपतिर्भवेत् ।
प्रांशवो व्यायताः शूरा दृढभक्ता निराकुलाः ॥१५६॥
राज्ञा तु रक्षिणः कार्यास्तदा क्लेशसहा हिताः ।
अहार्याश्चानृशंसाश्च दृढभक्ताश्च पार्थिवे ॥१५७॥
ताम्बूलधारी भवति नारी चाप्यथ तद्गुणा ।
षाड्गुण्यविधितत्त्वज्ञो देशभाषाविशारदः ॥१५८॥
सान्धिविग्रहिकः कार्यो राज्ञा नयविशारदः ।
आयव्ययज्ञो लोकज्ञो देशोत्पत्तिविशारदः ॥१५९॥
कृताकृतज्ञो भृत्यानां ज्ञेयः स्याद्रक्षरक्षिता ।

सुरूपस्तरुणः शूरो दृढभक्तः कुलोचितः १६०॥
शूरः क्लेशसहश्चैव खड्गधारी प्रकीर्तितः ।
शूरश्च बहुयुक्तश्च गजाश्वरथकोविदः ॥१६१॥
केशधारी भवेद्राज्ञः सदा क्लेशसहश्च यः ।
निमित्तशकुनज्ञानहयशिक्षाविशारदः ॥१६२॥
हयायुर्वेदतत्त्वज्ञो भूमिभागविशेषवित् ।
बलाबलज्ञो रथिनां स्थिरदृष्टिर्विशारदः ॥१६३॥
शूरश्च कृतविद्यश्च सारथिः परिकीर्तितः ।
अनाहार्यः शुचिर्दक्षश्चिकित्सकवचोरतः ॥१६४॥
सूदशास्त्रविधानज्ञः सूदाध्यक्षः प्रशस्यते ।
सूदशास्त्रविधानज्ञाः पराभेद्याः कुलोद्गताः ॥१६५॥
सर्वे महानसे कार्या नीचकेशनखा जनाः ।
समः शत्रौ च मित्रे च धर्मशास्त्रविशारदः ॥१६६॥
विप्रमुख्यः कुलीनश्च धर्माधिकरणो भवेत् ।
कार्यास्तथाविधास्तत्र द्विजमुख्याः सभासदः ॥१६७॥
सर्वदेशाक्षराभिज्ञाः सर्वशास्त्रविशारदाः ।
लेखकाः कथिता राम ! सर्वाधिकरणेषु वै ॥१६८॥
शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान् समश्रेणीगतान्समान् ।
अक्षरान् विलिखेद् यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः ॥१६९॥
उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः ।
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्याद् भृगूत्तम ! ॥१७०॥
पुरुषान्तरतत्त्वज्ञाः प्रांशवश्चाप्यलोलुपाः ।
धर्माधिकरणे कार्या जनाह्वानकरा नराः ॥१७१॥
एवंविधास्तथा कार्या राज्ञो दौवारिका जनाः ।
लोहवस्त्रादिधातूनां रत्नानां च विभागवित् ॥१७२॥
विज्ञाता फल्गुसाराणां त्वनाहार्यः शुचिस्सदा ।
निपुणश्चाप्रमत्तश्च धनाध्यक्षः प्रकीर्तितः ॥१७३॥
आयद्वारेषु सर्वेषु धनाध्यक्षसमा नराः ।
व्ययद्वारेषु सर्वेषु कर्तव्याः पृथिवीक्षिता ॥१७४॥
परं पारङ्गतो यः स्यादष्टाङ्गेषु चिकित्सिते ।

अनाहार्यस्स वैद्यः स्याद्धर्मात्मा च कुलोद्गतः ॥१७५॥
प्राणाचार्यस्स विज्ञेयो वचनं तस्य भूभुजा ।
राम ! स्नेहात्सदा कार्यं यथा कार्यं पृथग्जनैः ॥१७६॥
हस्तिशिक्षाविधानज्ञो वनजातिविशारदः ।
क्लेशक्षमस्तथा राज्ञो गजाध्यक्षः प्रशस्यते ॥१७७॥
एतैरेव गुणैर्युक्तो स्वाधीनश्च विशेषतः ।
गजारोहो नरेन्द्रस्य सर्वकर्मसु शस्यते ॥१७८॥
हयशिक्षाविधानज्ञस्तच्चिकित्सितपारगः ।
अश्वाध्यक्षो महीभर्तुः स्वासनश्च प्रशस्यते ॥१७९॥
अनाहार्यश्च शूरश्च तथा प्राज्ञः कुलोद्गतः ।
दुर्गाध्यक्षः स्मृतो राम ! उद्युक्तः सर्वकर्मसु ॥१८०॥
वास्तुविद्याविधानज्ञो लघुहस्तो जितश्रमः ।
दीर्घदर्शी च शूरश्च स्थपतिः परिकीर्तितः ॥१८१॥
यन्त्रमुक्ते पाणिमुक्ते अमुक्ते मुक्तधारिते ।
अस्त्राचार्यो नियुद्धे च कुशलश्च तथेष्यते ॥१८२॥
पञ्चाशदधिका नार्यः पुरुषाः सप्ततिस्तथा ।
अन्तःपुरचराः कार्या राज्ञा सर्वेषु कर्मसु ॥१८३॥
स्थविरा जातितत्त्वज्ञाः सततं प्रतिजाग्रतः ।
राज्ञः स्यादायुधागारे दक्षः कर्मसु चोद्यतः ॥१८४॥
कर्माण्यपरिमेयानि राज्ञां भृगुकुलोद्वह !
उत्तमाधममध्यानि बुद्ध्वा कर्माणि पार्थिव ! ॥१८५॥
उत्तमाधममध्यांस्तु पुरुषान्विनियोजयेत् ।
न कर्मणि विपर्यासाद्राजा नाशमवाप्नुयात् ॥१८६॥
नियुक्तपुरुषे भक्तिं श्रुतं शौर्यं बलं कुलम् ।
ज्ञात्वा वृत्तिर्विधातव्या पुरुषाणां महीक्षिता ॥१८७॥
पुरुषान्तरविज्ञाने तत्त्वमात्रनिबन्धनाः ।
नरेन्द्रलक्ष्या धर्मज्ञास्तत्रायत्तो भवेन्नृपः ॥१८८॥
स्वभृत्याश्च तथा पुष्टास्सततं प्रतिमानिताः ।
राज्ञा सहायाः कर्तव्याः पृथिवीं जेतुमिच्छता ॥१८९॥
यथार्हं चाथ सुभृतान्राजा कर्मसु योजयेत् ।

धर्मिष्ठान्धर्मकार्येषु शूरान्संग्रामकर्मणि ॥१६०॥
निपुणानर्थकृत्येषु सर्वत्र च तथा शुचीन् ।
स्त्रीषु षण्डान्नियुञ्जीत तीक्ष्णान्दारुणकर्मसु ॥१६१॥
धर्मे चार्थे च कामे च भये च भृगुनन्दन !
राजा यथार्हं कुर्यात्तान्ह्युपधाभिः परीक्षितान् ॥१६२॥
समतीतो यथार्हायां कुर्याद्धस्तिवनेचरान् ।
उत्पादान्वेषणे यत्तानध्यक्षाँस्तत्र कारयेत् ॥१६३॥
एवमादीनि कर्माणि यत्नैः कार्याणि भार्गव !
सर्वथा नेष्यते राज्ञस्तीक्ष्णोपकरणक्षयः ॥१६४॥
पापसाध्यानि कर्माणि यानि राज्ञां भृगूत्तम !
सन्तस्तानि न कुर्वन्ति तस्मात्तान्बिभृयान्नृपः ॥१६५॥
नेष्यते पृथिवीशानां तीक्ष्णोपकरणक्षयः ।
यस्मिन्कर्मणि यस्य स्याद्विशेषेण च कौशलम् ॥१६६॥
तस्मिन्कर्मणि तं राजा परीक्ष्य विनियोजयेत् ।
पितृपैतामहान्भृत्यान्सर्वकर्मसु योजयेत् ॥१६७॥
विना दायादकृत्येषु तत्र ते हि समासतः ।
राजा दायादकृत्येषु परीक्ष्य स्वकृतान्नरान् ॥१६८॥
नियुञ्जीत महाभागस्तस्य ते हितकारिणः ।
परराजगृहान्प्राप्ताञ्जनसंग्रहकाम्यया ॥१६९॥
दुष्टान्वाप्यथ वाऽदुष्टान्संश्रयेत प्रयत्नतः ।
दुष्टं विज्ञाय विश्वासं न कुर्यात्तत्र भूमिपः ॥२००॥
वृत्तिं तस्यापि वर्तेत जनसंग्रहकाम्यया ।
राजा देशान्तरप्राप्तं पुरुषं पूजयेद् भृशम् ॥२०१॥
सहायं देशसंप्राप्तं बहुमानेन चिन्तयेत् ।
कामं भृत्यार्जनं राजा नैव कुर्याद् भृगूत्तम ! ॥२०२॥
न वै वा संविभक्तं तु भृत्यं कुर्यात्कथञ्चन ।
शस्त्रमग्निं विषं सर्पान्निस्त्रिंशमपि चैकतः ॥२०३॥
भृत्या मनुजशार्दूल ! कुभृत्याश्च तथैकतः ।
तेषां चारेण विज्ञानं राजा विज्ञाय नित्यशः ॥२०४॥
गुणिनां पूजनं कुर्यान्निर्गुणानां च शासनम् ।

कथिताः सततं राम ! राजानश्चारचक्षुषः ॥२०५॥
स्वदेशे परदेशे च जातिशीलान् विचक्षणान् ।
अनाहार्यान्क्लेशसहान्नियुञ्जीत सदा चरान् ॥२०६॥
जनस्याविततान् सौम्यांस्तथा ज्ञातान्परस्परम् ।
वणिजो मन्त्रकुशलान्सांवत्सरचिकित्सितान् ॥२०७॥
तथा प्रव्रजिताकारान्राजा चारान्नियोजयेत् ।
नैकस्य राजा श्रद्दध्याच्चारस्यापि च भाषितम् ॥२०८॥
द्वयोस्संवादमाज्ञाय सन्दध्यान्नृपतिस्ततः ।
परस्परस्याविदितौ यदि स्यातां न तावुभौ ॥२०९॥
तस्माद्राजा प्रयत्नेन गूढांश्चारान् प्रयोजयेत् ।
राज्यस्य मूलमेतावद्यद्राज्ञश्चारदृष्टिता ॥२१०॥
चाराणामपि यत्नेन राज्ञा कार्यं परीक्षणम् ।
रागापरागौ भृत्यानां जनस्य च गुणागुणौ ॥२११॥
शुभानामशुभानां च विज्ञेयौ राम ! कर्मणाम् ।
सर्वं राज्ञां चरायत्तं तेष्वायत्तस्सदा भवेत ॥२१२॥
कर्मणा केन मे लोके जनस्सर्वोऽनुरज्यते ।
विरज्यते तथा केन विज्ञेयं तन्महीक्षिता ।
विरागजननं सर्वं वर्जनीयं प्रयत्नतः ॥२१३॥
जनानुरागप्रभवो हि लक्ष्यो
राज्ञां यशो भार्गववंशचन्द्र !
तस्मात्प्रयत्नेन नरेन्द्रमुख्यैः
कार्योऽनुरागो भुवि मानवेषु ॥२१४॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे सहायसम्पत्तिर्नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे पञ्चविंशोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

यथानुवर्तितव्यं स्याद्राम ! राजोपजीविभिः ।
तथा ते कथयिष्यामि निबोध गदतो मम ॥२१५॥

आज्ञा सर्वात्मना कार्या स्वशक्त्या भृगुनन्दन !
आक्षिप्य वचनं तस्य न वक्तव्यं तथा वचः ॥२१६॥
अनुकूलं प्रियं तस्य वक्तव्यं जनसन्निधौ ।
रहोगतस्य वक्तव्यमप्रियं यद्धितं भवेत् ॥२१७॥
परार्थमथ वक्तव्यं स्वस्थे चेतसि भार्गव !
स्वास्थ्यं सुहृद्भिर्वक्तव्यं न स्वयं तु कथञ्चन ॥२१८॥
कार्यातिपातकं कार्यं रक्षितव्यं प्रयत्नतः ।
नच हिंस्यधनं किञ्चिन्नियुक्तेन च कर्मणि ॥२१६॥
नोपेक्ष्यं तस्य मानं च तथा राज्ञः प्रियो भवेत् ।
राज्ञश्च न तथा कार्यं वेशभाषितचेष्टितम् ॥२२०॥
राजलीला न कर्तव्या तद्विष्टं च विवर्जयेत् ।
राज्ञस्समाधिकौ वेशौ नतु कार्यौ विजानता ॥२२१॥
द्यूतादिषु तथैवास्य कौशलं तु प्रदर्शयेत् ।
प्रदर्श्य कौशलं चास्य राजानं न विशेषयेत् ॥२२२॥
अन्तःपुरधनाध्यक्षैर्वैरिदूतैर्निराकृतैः ।
संसर्गं न व्रजेद्राम ! विना पार्थिवशासनम् ॥२२३॥
निस्नेहतां चावमानं तत्प्रयुक्तं च गोपयेत् ।
यच्च गुह्यं भवेद्राज्ञस्तन्न लोके प्रकाशयेत् ॥२२४॥
नृपेण श्रावितं यत्स्याद् गुह्याद् गुह्यं भृगूत्तम !
न तत्संश्रावयेल्लोके तथा राज्ञः प्रियो भवेत् ॥२२५॥
आज्ञाप्यमाने चान्यस्मिन्समुत्थाय त्वरान्वितः ।
अहं किङ्करवाणीति वाच्यो राजा विजानता ॥२२६॥
कार्यावस्थां तु विज्ञाय कार्यमेतत्तथा भवेत् ।
सततं क्रियमाणेऽस्मिंल्लाघवं तु व्रजेद् बुधः ॥२२७॥
राज्ञः प्रियाणि वाक्यानि न चात्यर्थं पुनः पुनः ।
न हास्यशीलश्च भवेन्न चापि भृकुटीमुखः ॥२२८॥
नातिवक्ता न निर्वक्ता नच मात्सरिकस्तथा ।
आत्मसम्भावितश्चैव न भवेत्तु कथञ्चन ॥२२६॥
दुष्कृतानि नरेन्द्रस्य नच सङ्कीर्तयेत्क्वचित् ।
वस्त्रं पत्रमलङ्कारं राज्ञा दत्तं तु धारयेत् ॥२३०॥

औदार्येण न तद्देयमन्यस्मिन्भूतिमिच्छता ।
न चैवाभ्यशनं राज्ञः स्वपनं चापि कारयेत् ॥२३१॥
नानिर्दिष्टे तथा द्वारे प्रविशेत कथञ्चन ।
नच पश्येत राजानमयोग्यासु च भूमिषु ॥२३२॥
राज्ञस्तु दक्षिणे पार्श्वे वामे चोपविशेत्तदा ।
पुरस्तात्तु यथा पश्चादासनं तु विगर्हितम् ॥२३३॥
जृम्भा निष्ठीवनं कामं कोपं पर्यङ्किकाश्रयम् ।
भृकुटं वातमुद्गारं तत्समीपे विवर्जयेत् ॥२३४॥
स्वयं तथा न कुर्वीत स्वगुणाख्यापनं बुधः ।
स्वगुणाख्यापने कुर्यात्परानेव प्रयोजकान् ॥२३५॥
हृदयं निर्मलं कृत्वा परां भक्तिमुपाश्रितैः ।
अनुजीविगणैर्भाव्यं नित्यं राज्ञामतन्द्रितैः ॥२३६॥
शाठ्यं लौल्यमपैशुन्यं नास्तिक्यं क्षुद्रतां तथा ।
चापल्यं च परित्याज्यं नित्यं राजानुजीविना ॥२३७॥
श्रुतेन विद्याशिल्पैश्च संयोज्यात्मानमात्मना ।
राजसेवां ततः कुर्याद् भूतये भीतिवर्धनः ॥२३८॥
नमस्कार्यास्सदा चास्य पुत्रवल्लभमन्त्रिणः ।
सचिवैश्चास्य विश्वासं नतु कार्यं कथञ्चन ॥२३९॥
अपृष्टश्चास्य न ब्रूयात्कामं ब्रूयात्तथापदि ।
हितं पथ्यं च वचनं हितैस्सह सुनिश्चितम् ॥२४०॥
चित्तं चैवास्य विज्ञेयं नित्यमेवानुजीविना ।
भर्तुराराधनं कुर्याच्चित्तज्ञो मानवः सुखम् ॥२४१॥
रागापरागौ चैवास्य विज्ञेयौ भूतिमिच्छता ।
त्यजेद्विरक्तं नृपतिं रक्ताद्वृत्तिं तु कामयेत् ॥२४२॥
कर्मोपकारयोर्नाशं विपक्षाभ्युदयं तथा ।
आशासंवर्धनं कृत्वा फलनाशं करोति च ॥२४३॥
अकोपोऽपि प्रकोपाभः प्रसन्नोऽपि च निष्फलः ।
वाक्यं समन्दं वदति वृत्तिच्छेदं करोति च ॥२४४॥
प्रवेशवाक्यानुदितौ न संभावयतीत्यथ ।
आराधनासु सर्वासु सुप्तवच्च विचेष्टते ॥२४५॥

कथासु दोषैः क्षिपति वाक्यच्छेदं करोति च ।
लक्ष्यते विमुखश्चैव गुणसङ्कीर्तने कृते ॥२४६॥
दृष्टिं क्षिपत्यथान्यत्र क्रियमाणे च कर्मणि ।
विरक्तलक्षणं श्रुत्वा शृणु रक्तस्य लक्षणम् ॥२४७॥
दृष्ट्वा प्रसन्नो भवति वाक्यं गृह्णाति चादरात् ।
कुशलादिपरिप्रश्ने संप्रयच्छति चासनम् ॥२४८॥
विविक्तदर्शने चास्य रहस्ये नच शङ्कते ।
जायते हृष्टवदनः श्रुत्वा यस्य तु सत्कथाम् ॥२४९॥
अप्रियाण्यपि वाक्यानि तदुक्तान्यभिनन्दति ।
उपायनं च गृह्णाति स्तोकमप्यादरात्तथा ॥२५०॥
कथान्तरेषु स्मरति प्रहृष्टवदनस्तथा ।
इति रक्तस्य कर्तव्या सेवा भृगुकुलोद्वह !
आपत्सु न त्यजेत्पूर्वं विरक्तमपि सेवितम् ॥२५१॥
मित्रं न चापत्सु तथा न भृत्यं
त्यजन्ति ये निर्गुणमप्रमेयम् ।
प्रभुं विशेषेण च ते व्रजन्ति
सुरेन्द्रधामासुरवृन्दजुष्टम् ॥२५२॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे अनुजीविवृत्तं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे षड्विंशोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

राजा सहायसंयुक्तः प्रभूतयवसेन्धनम् ।
रम्यमानतसामन्तः पशव्यं देशमावसेत् ॥२५३॥
वैश्यशूद्रजनप्रायमनाहार्यं तथा परैः ।
किञ्चिद्ब्राह्मणसंयुक्तं बहुकर्मकरं तथा ॥२५४॥
अदेवमातृकं कर्मस्वनुरक्तजनान्वितम् ।
करैरपीडितं चापि बहुपुष्पं फलं तथा ॥२५५॥
अगम्यं परचक्राणां तद्वादसहमापदि ।

समदुःखसुखं राज्ञः सततं च प्रिये स्थितम् ॥२५६॥
सरीसृपविहीनं च व्याधितस्करवर्जितम् ।
एवंविधं यथालाभं राजा विषयमावसेत् ॥२५७॥
तत्र दुर्गं नृपः कुर्यात्षण्णामेकतमं बुधः ।
धन्वदुर्गं महीदुर्गं नरदुर्गं तथैव च ॥२५८॥
वार्क्षं चैवाम्बुदुर्गं च गिरिदुर्गं च भार्गव !
सर्वेषामेव दुर्गाणां गिरिदुर्गं प्रशस्यते ॥२५६॥
दुर्गं च परिखोपेतं मृपाट्टालकसंयुतम् ।
शतघ्नीयन्त्रमुख्यैश्च शतशश्च तथा युतम् ॥२६०॥
गोपुरं सकपाटं च तत्र स्यात्सुमनोहरम् ।
सपताकगजारूढो येन राजा विशेत्पुरम् ॥२६१॥
चतस्रश्च तथा तत्र कार्याश्चापणवीथयः ।
एकस्मिंस्तत्र वीथ्यग्रे देववेश्म भवेद् दृढम् ॥२६२॥
वीथ्यग्रे च द्वितीये वै राजवेश्माभिधीयते ।
धर्माधिकरणं कार्यं वीथ्यग्रे च तृतीयके ॥२६३॥
चतुर्थे चैव वीथ्यग्रे गोपुरं च विधीयते ।
आयतं चतुरस्रं वा वृत्तं चाकारयेत्पुरम् ॥२६४॥
मुक्तिहीनं त्रिकोणं च यवमध्यं तथैव च ।
अर्धचन्द्रप्रकारं च वज्राकारं च वर्जयेत् ॥२६५॥
अर्धचन्द्रं प्रशंसन्ति नदीतीरे तु तद्वशात् ।
अन्यत्र तन्न कर्तव्यं प्रयत्नेन विजानता ॥२६६॥
राज्ञः कोशगृहं कार्यं दक्षिणे राजवेश्मनः ।
तस्यापि दक्षिणे भागे गजस्थानं विधीयते ॥२६७॥
गजानां प्राङ्मुखी शाला कर्तव्या चाप्युदङ्मुखी ।
आग्नेये च तथा भागे आयुधागार इष्यते ॥२६८॥
महानसं च धर्मज्ञः कर्मशालास्तथापराः ।
गृहं पुरोधसः कार्यं वामतो राजवेश्मनः ॥२६६॥
मन्त्रिदैवविदां चैव चिकित्साकर्तुरेव च ।
तत्रैव च तथाभागे कोष्ठागारं विधीयते ॥२७०॥
स्थानं गवां तु कर्तव्यं तुरगाणां तथैव च ।

उत्तराभिमुखी श्रेणी तुरगाणां विधीयते ॥२७१॥
प्राङ्मुखी चापि धर्मज्ञ ! परिशेषा विगर्हिता ।
तुरगाश्च तथा धार्याः प्रशस्तैः सार्वरात्रिकैः ॥२७२॥
कुक्कुटान्वानरांश्चैव मर्कटांश्च नराधिपः ।
धारयेदथ शालासु सवत्सां धेनुमेव च ॥२७३॥
अजाश्च धार्या यत्नेन तुरगाणां हितैषिणा ।
गोगजाश्वविशालासु तत्पुरीषस्य निष्क्रमम् ॥२७४॥
अस्तङ्गते न कर्तव्यं देवदेवे दिवाकरे ।
ततस्तत्र यथान्यायं राजा विज्ञाय सारवित् ॥२७५॥
दद्यादावसथस्थानं सर्वेषामनुपूर्वशः ।
योधानां शिल्पिनां चैव सर्वेषामविशेषतः ॥२७६॥
दद्यादावसथान्दुर्गे मन्त्रकालविदां सताम् ।
गोवैद्यानश्ववैद्यांश्च गजवैद्यांस्तथैव च ॥२७७॥
आहरेत भृशं राजा दुर्गे परबलारुजः ।
कुशीलवानां विप्राणां दुर्गे स्थानं विधीयते ॥२७८॥
न बहूनां न तैर्दुर्गे विना कार्यं तथा भवेत् ।
दुर्गे च यन्त्राः कर्तव्या नानाप्रहरणान्विताः ॥२७९॥
सहस्रघातिनो राम ! तैस्तु रक्षा विधीयते ।
दुर्गे द्वाराणि गुप्तानि कार्याण्यपि च भूभुजा ॥२८०॥
सञ्चयश्चात्र सर्वेषां चायुधानां प्रशस्यते ।
धनुषां क्षेपणीयानां तोमराणां च भार्गव ! ॥२८१॥
विचित्राश्चागदा धार्या विषस्य शमनास्तथा ।
रक्षोभूतादिशमनाः पापघ्नाः पुष्टिवर्धनाः ॥२८२॥
कलाविदश्च पुरुषाः पुरे धार्याः प्रयत्नतः ।
भीतान्प्रमत्तान्कुपितांस्तथैव च विमानितान् ।
कुभृत्यानकुलीनांश्च न राजा वासयेत्पुरे ॥२८३॥
यन्त्रायुधाट्टालचयोपपन्नं समग्रधान्यौषधसम्प्रयुक्तम् ।
वणिग्जनैः शोभनमावसेत दुर्गं सुगुप्तं नृपतिस्सदैव ॥२८४॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे पुष्कराख्याने
दुर्गसम्पत्तिर्नाम षड्विंशतितमोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डेऽष्टाविंशोऽध्यायः ।

राम उवाच—

राजरक्षारहस्यानि यानि दुर्गे निधापयेत् ।
कारयेद्वा महीभर्ता कथयस्वाशु तानि मे ॥२८५॥

पुष्कर उवाच—

शिरीषोदुम्बरशमीबीजपूरं घृतप्लुतम् ।
क्षुद्योगः कथितो राम ! मासार्धस्य पुरातनैः ॥२८६॥
कशेरुत्पलमूलानि इक्षुमूलं तथा विषम् ।
दूर्वाक्षीरघृतैर्मण्डः सिद्धोऽयं मासिकः परम् ॥२८७॥
शूलप्रोतं नरं प्राप्य तस्यास्थ्नामरणी भवेत् ।
कल्माषवेणुना तत्र जनयेत्तु विभावसुम् ॥२८८॥
गृहे त्रिरपसव्यं तत्क्रियते यत्र भार्गव !
नान्योऽग्निर्ज्वलते तत्र नात्र कार्या विचारणा ॥२८९॥
कर्पासास्थि भुजङ्गस्य तथा निर्मोचनं परम् ।
सर्पनिर्वासने धूपः प्रशस्तः सततं गृहे ॥२९०॥
सान्द्रसत्त्वा च वयसा विद्युद्दग्धा च मृत्तिका ।
तयानुलिप्तं यद्वेश्म नाग्निना दह्यते द्विज ! ॥२९१॥
दिवा च दुर्गे रक्ष्योऽग्निर्वाति वाते विशेषतः ।
विषाच्च रक्ष्यो नृपतिस्तत्र युक्तिं निबोध मे ॥२९२॥
क्रीडानिमित्तं नृपतेर्धार्याः स्युर्मृगपक्षिणः ।
अन्नं च प्राक् परीक्षेत वह्नावथ नरेषु च ॥२९३॥
वस्त्रं पत्रमलङ्कारं भोजनाच्छादने तथा ।
नापरीक्षितपूर्वं तु स्पृशेदपि महीपतिः ॥२९४॥
श्यावास्यवक्त्रः सन्तप्तः सोद्वेगं च परीक्षते ।
विषदेन विषं दत्तं यत्र तत्र निरीक्षते ॥२९५॥
स्रस्तोत्तरीयो विमनाः स्तम्भकुड्यादिभिस्तथा ।
प्रच्छादयति चात्मानं खिद्यते लज्जते तथा ॥२९६॥
भुवं विलिखते ग्रीवां तथा चालयते द्विज !
कण्डूयति च मूर्धानं परिलेह्यधरं तथा ॥२९७॥

क्रियासु त्वरते राम ! विपरीतास्वपि ध्रुवम् ।
एवमादीनि चिह्नानि विषदस्य परीक्षयेत् ॥२९८॥
ततो विचारयेदग्नौ तदन्नं त्वरयान्वितः ।
इन्द्रायुधसवर्णास्तु रूक्षस्फोटसमन्वितः ॥२९९॥
एकावर्तोऽथ दुर्गन्धी भृशं चटचटायते ।
तद्धूमसेवनाज्जन्तोः शिरोरोगश्च जायते ॥३००॥
सविषेऽन्ने निलीयन्ते नच भार्गव ! मक्षिकाः ।
निलीनाश्च विपद्यन्ते दृष्टे च सविषे तथा ॥३०१॥
विरज्यति चकोरस्य दृष्टिर्भार्गवसत्तम !
विकृतिं च स्वरो याति कोकिलस्य तथा द्विज ! ॥३०२॥
गतिः स्खलति हंसस्य भृङ्गराजश्च कूजति ।
क्रौञ्चो मदमथाभ्येति कृकवाकुर्विरौति च ॥३०३॥
विक्रोशति चकोरश्च शारिका वाशते तथा ।
चामीकरोऽन्यतो याति मृत्युं कारण्डवस्तथा ॥३०४॥
मेहते वानरो राम ! ग्लायते जीवञ्जीवकः ।
हृष्टरोमा भवेद् बभ्रुः पृषतश्चैव रोदिति ॥३०५॥
हर्षमायाति च शिखी सविषे दर्शने द्विज !
अन्नं च सविषं राम ! चिरेण च विपच्यते ॥३०६॥
तथा भवत्यतिस्रावं पक्वं पर्युषितोपमम् ।
व्यापन्नरसगन्धं च चन्द्रिकाभिस्तथा युतम् ॥३०७॥
व्यञ्जनानां च शुष्कत्वं द्रवाणां बुद्बुदोद्भवः ।
ससैन्धवानां द्रव्याणां जायते फेनमालिका ॥३०८॥
रसस्य राजिर्नीला स्यात्ताम्रा च पयसस्तथा ।
कोकिलाभा च मद्यस्य तोयस्य च भृगूत्तम ! ॥३०९॥
धान्याम्लस्य तथा कृष्णा कपिला कोद्रवस्य च ।
मधुश्यावा च तक्रस्य नीला पीता तथैव च ॥३१०॥
घृतस्योदकसंकाशा कपोताभा च मस्तुनः ।
हरिता माक्षिकस्यापि तैलस्य च तथारुणा ॥३११॥
फलानामप्यपक्वानां पाकः क्षिप्रं प्रजायते ।
प्रकोपश्चैव पक्वानां माल्यानां म्लानता तथा ॥३१२॥

मृदुता कठिनानां स्यान्मृदूनां च विपर्ययः ।
सूक्ष्मतन्तूपसदनं तथा चैवातिरोमता ॥३१३॥
श्मामभमण्डलता चैव वस्त्राणामविशेषतः ।
लोहानां च मणीनां च मलपङ्कोपदिग्धता ॥३१४॥
अनुलेपनगन्धानां स्नानानां च भृगूत्तम !
विगन्धता च विज्ञेया पर्णानां म्लानता तथा ॥३१५॥
पीता नीला सिता ज्ञेया तथा रामाञ्जनस्य च ।
दन्तकाष्ठत्वचः शान्तास्तन्तुसत्त्वं तथैव च ॥३१६॥
एवमादीनि चिह्नानि विज्ञेयानि भृगूत्तम !
तस्माद्राजा सदा तिष्ठेन्मणिमन्त्रौषधिगणैः ।
आप्तैः संरक्षितो राम ! प्रमादपरिवर्जकैः ॥३१७॥
प्रजातरोर्मूलमिहावनीश-
स्तद्रक्षणाद् वृद्धिमुपैति राष्ट्रम् ।
तस्मात्प्रयत्नेन नृपस्य रक्षा
सर्वेण कार्या भृगुवंशचन्द्र !॥३१८॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे राजरक्षावर्णनं नामाष्टाविंशतितमोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे एक[illegible]तमोऽध्यायः

पुष्कर उवाच—

राजधर्मव्रतं श्रेष्ठं कृत्वा पुरुषविग्रहम् ।
पुरुषान्विनियुञ्जीत चोत्तमाधमकर्मसु ॥३१९॥
ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामाधिपं तथा ।
शतग्रामाधिपं चापि तथैव विषयेश्वरम् ॥३२०॥
तेषां भागविभागश्च भवेत्कर्मानुरूपतः ।
नित्यमेव तथा कार्यं तेषां चारैः परीक्षयेत् ॥३२१॥
ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ग्रामेशः प्रशमं नयेत् ।
अशक्तो देशपालस्य स तु गत्वा निवेदयेत् ॥३२२॥
श्रुत्वा तु देशपालोऽपि तत्र युक्तिमुपाचरेत् ।

सोऽप्यशक्तः शतेशाय यथावद्विनिवेदयेत् ॥३२३॥
शतेशो विषयेशाय सोऽपि राज्ञे निवेदयेत् ।
अशक्तौ शक्तिमान् राम ! स्वयं युक्तिमुपाचरेत् ॥३२४॥
राजा सर्वात्मना कुर्याद्विषये राम ! रक्षणम् ।
वित्तमाप्नोति धर्मज्ञ ! विषयाच्च सुरक्षितात् ॥३२५॥
रिपुघातसमर्थः स्याद्वित्तवानेव पार्थिवः ।
परचक्रोपमर्देषु वित्तवानेव मुच्यते ॥३२६॥
वित्तवानेव सहते सुदीर्घमपि विग्रहम् ।
बहुदण्डानपि परांस्तथा भिन्द्याद्धनाधिपः ॥३२७॥
अन्ने प्राणाः प्रजाः सर्वा धने नच प्रतिष्ठितम् ।
धनवान्धर्ममाप्नोति धनवान्काममश्नुते ॥३२८॥
यस्यार्थस्तस्य मित्राणि यस्यार्थस्तस्य बान्धवः ।
यस्यार्थः स पुमांल्लोके यस्यार्थः सोऽपि पण्डितः॥३२९॥
अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥३३०॥
विशेषो नास्ति लोकेषु पतितस्याधनस्य च ।
पतितानां न गृह्णन्ति दरिद्रो न प्रयच्छति ॥३३१॥
धनहीनस्य भार्यापि नैव स्याद्वशवर्तिनी ।
गुणौघमपि चैवास्य नैव कश्चित्प्रकाशयेत् ॥३३२॥
बान्धवा विनिवर्तन्ते धनहीनात्तथा नरात् ।
यथा पुष्पफलैर्हीनाच्छकुन्ता द्विज ! पादपात् ॥३३३॥
दारिद्र्यमरणे चोभे केषांचित्सदृशे मते ।
सत्यं ह्यसाद्दरिद्रस्य मृत्युः श्रेयान्मते मम ॥३३४॥
कोशं राज्यतरोर्मूलं तस्माद् यत्नं तदर्जने ।
धर्मेणैव ततः कुर्यान्नाधर्मेण कथञ्चन ॥३३५॥
धनैरधर्मसम्प्राप्तैर्यद् दृढं हि पिधीयते ।
तदेव याति विस्तारं विनाशाय दुरात्मनाम् ॥३३६॥
सुकृतस्य पुराणस्य बलेन बलिनां वर !
यद्यधर्मात्फलं शीघ्रं नाप्नुवन्ति दुरात्मनः ॥३३७॥
तथापि पूर्वकर्मान्ते तेन पापेन कर्मणा ।

विनश्यन्ति समूलास्ते सपुत्रधनबान्धवाः ॥३३८॥
नरकेषु तथा तेषां यातना विविधाः स्मृताः ।
बहून्यब्दसहस्राणि ये नृपा राष्ट्रपीडकाः ॥३३६॥
नित्यं राज्ञा सदा भाव्यं गर्भिणीसहधर्मिणा ।
यथा स्वं सुखमुत्सृज्य गर्भस्य सुखमावहेत् ॥३४०॥
गर्भिणी तद्वदेवेह भाव्यं भूपतिना सदा ।
प्रजासुखं तु कर्तव्यं सुखमुद्दिश्य चात्मनः ॥३४१॥
किं यज्ञैस्तपसा तस्य प्रजा यस्य सुरक्षिताः ।
सुरक्षिताः प्रजास्तस्य स्वर्गस्तस्य गृहोपमः ॥३४२॥
अरक्षिताः प्रजा यस्य नरकं तस्य मन्दिरम् ।
राजा षड्भागमादत्ते सुकृताद् दुष्कृतादपि ॥३४३॥
धर्मो नाम महाभाग! सम्पद्रक्षणतत्परः ।
अरक्षितस्तथा सर्वः पापमाप्नोति भार्गव! ॥३४४॥
नैव किञ्चिदवाप्नोति पुण्यभाक्पृथिवीपतिः ।
आपन्नमपि धर्मिष्ठं प्रजा रक्षत्यथापदि ॥३४५॥
तस्माद्धर्मार्थकामेन प्रजा रक्ष्या महीक्षिता ।
सुभगैश्चाथ दुर्वृत्तराजवल्लभतस्करैः ॥३४६॥
भक्ष्यमाणाः प्रजा रक्ष्या कायस्थैश्च विशेषतः ।
रक्षितास्तद्भयेभ्यस्तु प्रजा राज्ञां भवन्ति ताः ॥३४७॥
अरक्षिता सा भवति तेषामेवेह भोजनम् ।
साधुसंरक्षणार्थाय राजा दुष्टनिबर्हणम् ॥३४८॥
तृणानामिव निर्माता सदा कुर्याज्जितेन्द्रियः ।
शास्त्रोक्तं बलिमादद्याद्धर्मं तत्तस्य जीवितम् ॥३४६॥
तस्य संत्यजनं राजा न समृद्धोऽपि कारयेत् ।
आकाराणि च सर्वाणि शुल्कं शास्त्रोदितो बलिः ॥३५०॥
दण्डं विनयनाद्राज्ञो धर्म्यं तत्तस्य जीवितम् ।
धर्ता कराणां सर्वेषां प्रभुरुक्तो महीपतिः ॥३५१॥
निधिं पुराणं सम्प्राप्य केशवं तु प्रवेशयेत् ।
अर्थं ब्राह्मणसात्कुर्याद्धर्मकामो महीपतिः ॥३५२॥
निधिं द्विजोत्तमः प्राप्य गृह्णीयात् सकलं तथा ।

जगतोऽस्य समस्तस्य प्रभुरुक्तो द्विजोत्तमः ॥३५३॥
निधिं ज्ञात्वा पुराणं तु क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ।
निवेदयेयुर्भूपाय राजा लब्ध्वापि तं निधिम् ॥३५४॥
चतुर्थमष्टमं चांशं तथा षोडशमं द्विज !
वर्णक्रमेण विसृजेदाख्यातं धर्मकारणम् ॥३५५॥
तेऽपि लब्ध्वा तदा तेन संविभज्य द्विजोत्तमान् ।
शेषेण कुर्युः कामार्थौ विदितौ पृथिवीपतेः ॥३५६॥
प्रकाशविभवो लोके यस्य राज्ञः स भूपतिः ।
अप्रकाशधनो यस्तु नरकं तस्य मन्दिरम् ॥३५७॥
ममेदमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ।
तस्याददीत नृपतिर्भागमब्राह्मणस्य तु ॥३५८॥
चतुर्विंशतिकं राम ! द्वादशं षष्ठमेव च ।
क्षत्रियाश्च तथा वैश्याः शूद्राश्च भृगुनन्दन ! ॥३५९॥
अनृतं च वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टकम् ।
प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ॥३६०॥
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ।
ममेदमिति यो ब्रूयादनुयुक्तो यथाविधि ॥३६१॥
सम्पाद्य रूपं द्रव्यादीन् स्वामी तद् द्रव्यमर्हति ।
अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ॥३६२॥
वर्णरूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ।
निधिवद्भागमादद्यात्प्रनष्टाधिगतान्नृपः ॥३६३॥
बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजा तु पालयेत् ।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावद्वातीतशैशवः ॥३६४॥
बालपुत्रेषु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥३६५॥
जीवन्तीनां तु तासां ये धारयेयुः स्वबान्धवाः ।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥३६६॥
सर्वेषामेव वर्णानां चौरैरपहृतं धनम् ।
तत्प्रमाणं स्वकात्कोशाद्दातव्यमविचारयन् ॥३६७॥
ततस्तु पश्चात्कर्तव्यं चौरान्वेषणमञ्जसा ।

चौररक्षाधिकारिभ्यो राजापि तदवाप्नुयात् ॥३६८॥
अहृते च तथा वित्ते हृतमित्येव वादिनम् ।
निर्धनं पार्थिवः कृत्वा विषयात्स्वाद्विवासयेत् ॥३६९॥
न तद्राज्ञा प्रदातव्यं गृहे यत्परिचारकैः ।
प्रच्छरद्भिर्हृतं द्रव्यं कार्यं तत्रान्ववेक्षणम् ॥३७०॥
स्वराष्ट्रपण्यादादद्याद्राजा विंशतिमं द्विज !
शुल्कांशं परदेशाच्च निबोध गदतो मम ॥३७१॥
क्षयव्ययप्रवासांश्च यथायामं द्विजोत्तम !
ज्ञात्वा तु कल्पयेत्तत्र शुल्कांशं पृथिवीपतिः ॥२७२॥
तथा कार्यं यथालाभं वणिजः समवाप्नुयुः ।
पुण्यच्छेदश्च नैव स्यात्स्वदेशे पृथिवीपतेः ॥३७३॥
व्ययं शुल्कप्रवासादि लङ्घयित्वा तथा द्विज !
विंशांशभागमादद्युर्दण्डनीया अतोऽन्यथा ॥३७४॥
दिशि दिश्येकमेव स्याच्छुल्कस्थानं नृपस्य तु ।
तदतिक्रमतो द्रव्यं राजगामि विधीयते ॥३७५॥
दूतानां ब्राह्मणानां च राजाज्ञागामिनां तथा ।
स्त्रीणां प्रव्रजितानां च तारशुल्कं विवर्जयेत् ॥३७६॥
भिन्नकर्षापणं शुल्कं न ग्राह्यं पृथिवीक्षिता ।
तारेषु दाशदोषेण नष्टं दाशात्प्रदापयेत् ॥३७७॥
दैवदोषविनष्टं च नष्टं यस्यैव तस्य तत् ।
शूकधान्येषु षड्भागं शिविधान्येष्वथाष्टकम् ॥३७८॥
राजा बल्यर्थमादद्याद्देशकालानुरूपकम् ।
राजांशभागमादद्याद्राजा पशुहिरण्ययोः ॥३७९॥
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ।
पत्रशाकतृणानां च वत्सरेण च चर्मणाम् ३८०॥
वैदलानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ।
षड्भागमेव चादद्याद् ब्राह्मणेभ्यस्तथा करम् ॥३८१॥
तेभ्यस्तद्धर्मलाभेन राज्ञो लाभः परं भवेत् ।
नच क्षुधावसीदेत श्रोत्रियो विषये वसन् ॥३८२॥
यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।

तस्य सीदति तद्राष्ट्रं दुर्भिक्षव्याधितस्करैः ॥३८३॥
अतवृत्ते तु विज्ञाय वृत्तिं तस्य प्रकल्पयेत् ।
रक्षेच्च सर्वतस्त्वेनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥३८४॥
संरक्ष्यमाणो राज्ञा यः कुरुते धर्मसंग्रहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥३८५॥
कर्म कुर्युर्नरेन्द्रस्य मासेनैकं च शिल्पिनः ।
भक्तमात्रेण ये चान्ये स्वशरीरोपजीविनः ॥३८६॥
स्नातानुलिप्ताश्च विभूषिताश्च
वेश्याङ्गना वारविवर्तितेन ।
संवीतगात्राः पृथिवीश्वरस्य
सदाभ्युपासां परितस्त्रिकुर्युः ॥३८७॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेयवज्रसंवादे द्वितीयखण्डे रामं प्रति पुष्करोपाख्याने राजधर्मवर्णनो नामैकषष्टितमोऽध्यायः ।

द्विषष्टितमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच —

धर्मश्चार्थश्च कामश्च पुरुषार्थः परः स्मृतः ।
अन्योन्यरक्षणात्तेषां सेवा कार्या महीक्षिता ॥३८८॥
धर्ममूलोऽर्थविटपस्तथा कामफलो महान् ।
त्रिवर्गपादपस्तस्य रक्षणात्फलभाग्भवेत् ॥३८९॥
धर्माविरोधिनी कार्या कामसेवा सदैव तु ।
मूलच्छेदे भवेन्नाशो विटपस्य फलस्य च ॥३९०॥
कामसेवाविहीनस्य धर्मार्थावपि निष्फलौ ।
ओषधीनां फलार्थाय कीनाशो यत्नवांस्तथा ॥३९१॥
आहारं मैथुनं निद्रा यैर्वृतं सकलं जगत् ।
असेवनादथैतस्य तथैवात्यन्तसेवनात् ॥३९२॥
रोगग्रामो नृणां देहे सम्भवत्यनिदारुणः ।
विश्वासमतिसक्तिश्च तीक्ष्णानां स्त्रीषु वर्जयेत् ॥३९३॥
न चाधिकारे कर्तव्या भूषणाच्छादनाशनैः ।

सुविभक्ताश्च कर्तव्या लालनीयास्तथैव च ॥३९४॥
ज्ञेयौ रागापरागौ च तथा तासां विशेषतः ।
नारी रागवते लोके मानृतेन विशिष्यते ॥३९५॥
विरक्ताभिर्महीपाल ! छद्मना बहवो हताः ।
द्विष्टान्याचरते या तु नाभिनन्दति तत्कथाम् ॥३९६॥
ऐक्यं द्विषद्भिर्व्रजति गर्वं वहति चोद्धता ।
चुम्बिता मार्ष्टि वदनं दत्तं न बहु मन्यते ॥३९७॥
स्वपित्यादौ प्रसुप्तापि तथा पश्चाद्विबुध्यति ।
स्पृष्टा धुनोति गात्राणि कान्तं चैव रुणद्धि या ॥३९८॥
ईषत्स्मितेन वाक्यानि प्रियाण्यपि पराङ्मुखी ।
नयस्यश्रुतवद्या तु जघनं च विगूहति ॥३९९॥
दृष्टे विवर्णवदना मित्रेष्वपि पराङ्मुखी ।
तत्कामितासु च स्त्रीषु मध्यस्थैव च लक्ष्यते ॥४००॥
ज्ञातमङ्गलकालापि न करोति च मण्डनम् ।
या सा विरक्ता रक्ता च निबोध गदतो मम ॥४०१॥
दृष्ट्वैव हृष्टा भवति वीक्षते च पराङ्मुखम् ।
दृश्यमाना तथाऽन्यत्र दृष्टिं क्षिपति चञ्चलाम् ॥४०२॥
तथाप्यपावर्तयति नैव शक्नोत्यशेषतः ।
विवृणोति तथाङ्गानि सुगुह्यान्यपि भार्गव ! ॥४०३॥
गर्हितं च तथैवाङ्गं प्रयत्नेन विगूहते ।
तद्दर्शनेन कुरुते बालालिङ्गनचुम्बनम् ॥४०४॥
आभाष्यमाणा भवति सत्यवाक्या तथैव च ।
स्पृष्टा पुलकितैरङ्गैः सस्वेदैर्वापि भज्यते ॥४०५॥
करोति च तथा राम ! सुलभद्रव्ययाचनम् ।
ततः स्वल्पमपि प्राप्य प्रयाति परमां मुदम् ॥४०६॥
नामसङ्कीर्तनादेव मुदिता बहु मन्यते ।
करजाङ्काङ्कितान्यस्य फलानि प्रेषयत्यपि ॥४०७॥
तत्प्रेषितानि हृदये विन्यस्यत्यपि चादरात् ।
आलिङ्गनैश्च गात्राणि लिम्पन्तीवामृतेन च ॥४०८॥
सुप्ते स्वपित्यथादौ तु तथा तस्य विबुध्यते ।

ऊरू स्पृशति चात्यर्थं सुप्तं चैनं विचुम्बते ॥४०६॥
एवं रक्तां तु विज्ञाय कामयेतात्मवान्नरः ।
कामं च भोजनं सख्यं ज्ञेयाः कृत्रिमपुत्रिकाः ॥४१०॥
स्वीकर्तुमिच्छन्बालायाः क्रीडनादिस्तथैव च ।
गन्धमाल्यप्रदानेन यौवनस्थां वशं नयेत् ॥४११॥
वस्त्रभूषणदानेन तथा यौवनविच्युताम् ।
क्रीडासाधुप्रिया बाला तथा यौवनविच्युता ॥४१२॥
रतिप्रिया तु विज्ञेया तरुणी चोभयप्रिया ।
आत्मसम्भावना स्त्रीषु न कर्तव्या कथञ्चन ॥४१३॥
असूया जायतेऽत्यर्थमात्मसम्भाविते नरे ।
न चासां दर्शनं देयं न चात्यन्तमदर्शनम् ॥४१४॥
उभयेनाप्यथैतासामुत्कण्ठा तु विहन्यते ।
हृद्यैः सुविहितैर्भोगैर्गन्धयुक्तैश्च कौशलैः ।
कार्यमाराधनं स्त्रीणां रतिकामैः सदैव तु ॥४१५॥
एवं सदा यस्तु करोति राम !
स्त्रीचेतसां स्वीकरणं मनुष्यः ।
तस्यान्तराया न भवन्ति किञ्चि-
त्स्त्रीद्वारमासाद्य सदासपत्नः ॥४१६॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामं प्रति पुष्करोपाख्याने अन्तःपुरचिन्ता नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ।

त्रिषष्टितमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच –

एवं कुर्यात्सदा स्त्रीणां रक्षणं पृथिवीपतिः ।
नचेमां विश्वसेज्जातु पुत्रमात्रा विशेषतः ॥४१७॥
न स्वपेत्स्त्रीगृहे रात्रौ विश्वासं कृत्रिमं व्रजेत् ।
राजपुत्रस्य रक्षा च कर्तव्या पृथिवीक्षिता ॥४१८॥
आचार्यैश्चास्य कर्तव्यं नित्यं युक्त्यैव रक्षणम् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां धनुर्वेदं च शिक्षयेत् ॥४१९॥
रथेऽश्वे कुञ्जरे चैनं व्यायामं कारयेत्सदा ।

शिल्पानि शिक्षयेच्चैनमाप्तैर्मिथ्याप्रियंवदैः ॥४२०॥
शरीररक्षाव्याजेन रक्षिणोऽस्य नियोजयेत् ।
न चास्य सङ्गो दातव्यः क्रुद्धलुब्धविमानितैः ॥४२१॥
तथा च विनयेदेनं यथा यौवनगं सुखे ।
विषयैर्यैर्न कृष्येत सतां मार्गात्सुदुर्गमात् ॥४२२॥
गुणाधानं न शक्यं तु यस्य कर्तुं स्वभावतः ।
बन्धनं तस्य कर्तव्यं गुप्तदेशे सुखान्वितम् ॥४२३॥
अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते ।
अधिकारेषु सर्वेषु विनीतं विनियोजयेत् ॥४२४॥
आदौ स्वल्पे ततः पश्चात्क्रमेणाथ महत्स्वपि ।
मृगया पानमक्षांश्च वर्जयेच्च महीपतिः ॥४२५॥
एतान्संसेवमानास्तु विनष्टाः पृथिवीक्षितः ।
बहवो भृगुशार्दूल ! येषां संख्या न विद्यते ॥४२६॥
दिवास्वापं वृथा वादं विशेषेण विवर्जयेत् ।
वाक्पारुष्यं न कर्तव्यं दण्डपारुष्यमेव च ॥४२७॥
परोक्षनिन्दा च तथा वर्जनीया महीक्षिता ।
अर्थस्य दूषणं राम ! द्विप्रकारं विवर्जयेत् ॥४२८॥
अर्थानां दूषणं चैकं तथा चार्थेन दूषणम् ।
प्राकाराणां समुच्छेदो दुर्गादीनां समक्रिया ॥४२९॥
अर्थानां दूषणं प्रोक्तं विप्रकीर्णत्वमेव च ।
अदेशकाले यद्दानमपात्रे दानमेव च ॥४३०॥
अर्थैस्तु दूषणं प्रोक्तमसत्कर्मप्रवर्तनम् ।
कामः क्रोधो मदो मानं लोभो हर्षस्तथैव च ॥४३१॥
जेतव्यमरिषड्वर्गमाहुस्तु पृथिवीक्षिताम् ।
एतेषां विजयं कृत्वा कार्यो भृत्यजयस्ततः ॥४३२॥
कृत्वा भृत्यजयं राजा पौरजानपदाञ्जयेत् ।
कृत्वा च विजयं तेषां शत्रून्बाह्यांस्ततो जयेत् ॥४३३॥
बाह्याश्च त्रिविधा ज्ञेयास्तुल्यानन्तरकृत्रिमाः ।
गुरवस्ते यथापूर्वं तेषु यत्नः सदा भवेत् ॥४३४॥
पितृपैतामहं मित्रमाश्रितञ्च तथा रिपोः ।

कृत्रिमं च महाभाग ! मित्रं त्रिविधमुच्यते ॥४३५॥
तथापि च गुरुः पूर्वं भवेत्तत्रापि चाश्रितम् ।
स्वाम्यमात्यजनपदा बलं दुर्गं तथैव च ॥४३६॥
कोशो मित्रं च धर्मज्ञ ! सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ।
सप्ताङ्गस्यापि राज्यस्य मूलं स्वामी प्रकीर्तितः ॥४३७॥
तन्मूलत्वात्तथाङ्गानां स तु रक्ष्यः प्रयत्नतः ।
षडङ्गरक्षा कर्तव्या तेन चापि प्रयत्नतः ॥४३८॥
अङ्गेभ्यो यस्त्वथैकस्य द्रोहमाचरतेऽल्पधीः ।
वधस्तस्य तु कर्तव्यः शीघ्रमेव महीक्षिता ॥४३९॥
न राज्ञा मृदुना भाव्यं मृदुर्हि परिभूयते ।
न भाव्यं दारुणेनापि तीक्ष्णादुद्विजते जनः ॥४४०॥
काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
राजा लोकद्वयापेक्षी तस्य लोकद्वयं भवेत् ॥४४१॥
भृत्यैः सह महीपालः परिहासं विवर्जयेत् ।
भृत्याः परिभवन्तीह नृपं हर्षवशङ्गतम् ॥४४२॥
व्यसनानि च सर्वाणि भूपतिः परिवर्जयेत् ।
लोकसंग्रहणार्थाय कृतकव्यसनी भवेत् ॥४४३॥
शौण्डीर्यस्य नरेन्द्रस्य नित्यमुत्क्षिप्तचेतसः ।
जनो विरागमायाति सदा दुःसेव्यभावतः ॥४४४॥
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात्सर्वस्यैव महीपतिः ।
वध्येष्वपि महाभागो भ्रुकुटिं न समाचरेत् ॥४४५॥
भाव्यं धर्मभृतां श्रेष्ठ ! स्थूललक्ष्येण भूभुजा ।
स्थूललक्ष्यस्य वशगा सर्वा भवति मेदिनी ॥४४६॥
अदीर्घसूत्रश्च भवेत्सर्वकर्मसु पार्थिवः ।
दीर्घसूत्रस्य नृपतेः कर्महानिर्ध्रुवं भवेत् ॥४४७॥
रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ।
अप्रिये चैव वक्तव्ये दीर्घसूत्रः प्रशस्यते ॥४४८॥
राज्ञा संवृतमन्त्रेण सम्भाव्यं द्विजसत्तम !
तस्यासंवृतमन्त्रस्य ज्ञेयाः सर्वापदो ध्रुवाः ॥४४९॥
कृतान्येव हि कर्माणि ज्ञायन्ते यस्य भूपतेः ।

नारब्धानि महाभाग ! तस्य स्याद्वसुधा वशे ॥४५०॥
मन्त्रमूलं सदा राज्यं तस्मान्मन्त्रः सुरक्षितः ।
कर्तव्यः पृथिवीपालैर्मन्त्रभेदभयात्सदा ॥४५१॥
मन्त्रवित्साधितो मन्त्रः संयतानां सुखावहः ।
मन्त्रभेदेन बहवो विनष्टाः पृथिवीक्षितः ॥४५२॥
आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च ज्ञायतेऽन्तर्गतं मनः ॥४५३॥
न यस्य कुशलैस्तस्य वशे सर्वा वसुन्धरा ।
भवतीह महीभर्तुः सदा भार्गवनन्दन ! ॥४५४॥
नैकस्तु मन्त्रयेन्मन्त्रं न राजा बहुभिः सह ।
बहुभिर्मन्त्रयेत्कामं राजा मन्त्रान्पृथक् पृथक् ॥४५५॥
मन्त्रिणामपि नो कुर्यान्मन्त्री मन्त्रप्रकाशनम् ।
कस्यचित्क्वचिद्विश्वास्यो भवतीह सदा नृणाम् ॥४५६॥
निश्चयश्च तथा मन्त्रे कार्य एकेन सूरिणा ।
भवेद्वा निश्चयावाप्तिः परबुद्ध्युपजीवनात् ॥४५७॥
एकस्यैव महीभर्तुर्भूयः कार्ये सुनिश्चिते ।
ब्राह्मणान्पर्युपासीत त्रयीं राम ! सुनींश्च तान् ॥४५८॥
नासच्छास्त्रवतो मूढांस्ते हि लोकस्य कण्टकाः ।
वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ॥४५९॥
तेभ्यो हि शिक्षेद्विनयं विनीतात्मा हि नित्यशः ।
समग्रां वशगां कुर्यात्पृथिवीं नात्र संशयः ॥४६०॥
बहवोऽविनयाद्भ्रष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥४६१॥
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भं च लोकतः ॥४६२॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥४६३॥
यजेत राजा क्रतुभिर्बहुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥४६४॥
सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ।

स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥४६५॥
आवृत्तानां गुरुकुलाद् द्विजानां पूजनं भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मो विधीयते ॥४६६॥
न तं स्तेना नाप्यमित्रा हरन्ति न च नश्यति ।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥४६७॥
समोत्तमाधमै राजा ह्याहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥४६८॥
संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां परिपालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां निःश्रेयसं परम् ॥४६९॥
कृपणानां च वृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगं क्षेमं च वृत्तिं च तथैव परिकल्पयेत् ॥४७०॥
वर्णाश्रमव्यवस्था तु तथा कार्या विशेषतः ।
स्वधर्मप्रच्युतान् राजा स्वधर्मे विनियोजयेत् ॥४७१॥
आश्रमेषु यथाकालं तैलभाजनभोजनम् ।
स्वयमेव नयेद्राजा सत्कृतान्नवमन्य च ॥४७२॥
तापसे सर्वकार्याणि राज्यमात्मानमेव च ।
निवेदयेत्प्रयत्नेन देववच्चैनमर्चयेत् ॥४७३॥
द्वे प्रज्ञे वेदितव्ये च ऋज्वी वक्रा च मानवैः ।
शठाञ्ज्ञात्वा न सेवेत प्रतिबोधं तथा गतान् ॥४७४॥
नास्य छिद्रं परो विद्याच्छिद्राच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥४७५॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥४७६॥
विश्वासयेच्चापि परं तत्त्वभूतेन हेतुना ।
बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत् ॥४७७॥
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ।
दृढप्रहारी च भवेत्तथा सूकरवन्नृपः ॥४७८॥
चित्राकारश्च शिखिवद् दृढभक्तस्तथाश्ववत् ।
भवेच्च मधुराभाषी शुककोकिलवन्नृपः ॥४७९॥
काकशंकी भवेन्नित्यं नाज्ञातवसतिं वसेत् ।

नापरीक्षितपूर्वं च भोजनं शयनं स्पृशेत् ॥४८०॥
वस्त्रं पुष्पमलङ्कारं यच्चान्यन्मनुजोत्तम !
न गाहेज्जनसंबाधं न चाज्ञातं जलाशयम् ॥४८१॥
नापरीक्षितपूर्वैस्तु पुरुषैराप्तकारिभिः ।
नारोहेत्कुञ्जरं व्यालं नादान्तं तुरगं तथा ॥४८२॥
नाविज्ञातां स्त्रियं गच्छेन्नैव चाशुभवाजसम् ।
नारोहेद्विषमां नावं नापरीक्षितनाविकाम् ॥४८३॥
ये चास्य भूमिं जयतो भवेयुः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥४८४॥
यथा न स्यात्कृशीभावः प्रजानामनवेक्षया ।
तथा राज्ञा विधातव्यं स्वराष्ट्रं परिरक्षता ॥४८५॥
मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यत्कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद् भ्रंशते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥४८६॥
भृतो वत्सो जातबलः कर्मयोग्यो यथा भवेत् ।
तथा राष्ट्रं महाभाग ! भृतं कर्मसहद्भवेत् ॥४८७॥
यो राष्ट्रमनुगृह्णाति राजा सुपरिरक्षति ।
तं प्रजाश्चोपजीवन्ति विन्दते स महत्फलम् ॥४८८॥
दुह्याद्धिरण्यं धान्यं च मही राज्ञा सुरक्षिता ।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च यथा माता यथा पिता ॥४८९॥
गोपिनो हि सदा कार्याः संविभागाः प्रियाणि च ।
अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं तेभ्यस्तथैव च ॥४९०॥
सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवपौरुषे ।
तयोर्दैवमचिन्त्यं हि पौरुषे विद्यते क्रिया ॥४९१॥
एवं महीं पालयतोऽस्य भर्तु-
र्लोकानुरागः परमो भवेत्तु ।
लोकानुरागप्रभवा हि लक्ष्मी-
र्लक्ष्म्या भवेच्चैव परश्च लोकः ४९२॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामपुष्करसंवादे राजधर्मवर्णनं नाम पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ।

———

द्वितीयखण्डे षट्षष्टितमोऽध्यायः

राम उवाच—

दैवे पुरुषकारे च किं ज्यायस्तद्वदस्व मे ।
अत्र मे संशयो देव ! संशयच्छिद्भवांस्तथा ॥४९३॥

पुष्कर उवाच—

स्वमेव कर्म दैवाख्यं विद्धि देहान्तरार्जितम् ।
तस्मात्पौरुषमेवेह श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥४९४॥
प्रतिकूलं तथा दैवं पौरुषेण विहन्यते ।
मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यमुत्थानशालिनाम् ॥४९५॥
येषां पूर्वकृतं कर्म सात्त्विकं मनुजोत्तम !
पौरुषेण विना तेषां केषाञ्चित् दृश्यते फलम् ॥४९६॥
कर्मणा प्राप्यते लोके राजन् ! सम्यक् तथा फलम् ।
पौरुषेणाप्यते राम ! मार्गितव्यं फलं नरैः ॥४९७॥
दैवमेव न जानाति नरः पौरुषवर्जितः ।
तस्मात्सत्कार्ययुक्तस्य दैवं तु सफलं भवेत् ॥४९८॥
पौरुषं चैव सम्पत्त्या काले फलति भार्गव !
दैवं पुरुषकारश्च कालश्च मनुजोत्तम ! ॥४९९॥
त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यात्फलावहम् ।
कृषिवृष्टिसमायोगाद् दृश्यन्ते फलसिद्धयः ॥५००॥
तास्तु कालेन दृश्यन्ते नैवाकाले कथञ्चन ।
तस्मात्सदैव कर्तव्यं सधर्मं पौरुषं नृभिः ॥५०१॥
विपत्तावपि यस्येह परलोके फलं ध्रुवम् ।
नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न च दैवपरायणाः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पौरुषे यत्नमाचरेत् ॥५०२॥
त्यक्त्वालसान्दैवपरान्मनुष्या-
नुत्थानयुक्तान्पुरुषान् हि लक्ष्मीः ।
अन्विष्य यत्नाद् वृणुते द्विजेन्द्र !
तस्मात्समुत्थानवता हि भाव्यम् ॥५०३॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामपुष्करसंवादे
पुरुषकाराध्यायो नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे सप्तषष्टितमोऽध्यायः।

राम उवाच—

उपायांस्त्वं समाचक्ष्व सामपूर्वान्महाद्युते !
लक्षणं च तथा तेषां प्रयोगं वरुणात्मज ! ॥५०४॥

पुष्कर उवाच—

सामभेदौ तथा राम ! दण्डं च मनुजोत्तम !
उपेक्षा च तथा माया इन्द्रजालं च भार्गव ! ॥५०५॥
प्रयोगाः कथिताः सप्त तन्मे निगदतः शृणु ।
द्विविधं कथितं साम तथ्यं चातथ्यमेव च ॥५०६॥
तत्रातथ्यमसाधूनामाक्रोशायैव जायते ।
तत्र साधुप्रियं ते च सामसाध्या न राम ! ते ॥५०७॥
महाकुलीना ऋजवो धर्मनिष्ठा जितेन्द्रियाः ।
सामसाध्या न चातथ्यं तेषु साम प्रयोजयेत् ॥५०८॥
तथ्यं च साम कर्तव्यं कुलशीलादिवर्णनम् ।
तथा तदुभयं राम ! कृतानां चैव वर्णनम् ॥५०९॥
अनयैव तथा युक्त्या कृतज्ञख्यापनं स्वकम् ।
एवं सान्त्वेन कर्तव्या वशगा धर्मतत्पराः ॥५१०॥
साम्ना यद्यपि रक्षांसि गृह्णन्तीति परा श्रुतिः ।
तथाप्येतदसाधूनां प्रयुक्तं नोपकारकम् ॥५११॥
अतिसन्धिकमित्येव पुरुषं सामवादिनम् ।
असाधवो विजानन्ति तस्मात्तत्तेषु वर्जितम् ॥५१२॥
ये शुद्धवंशा ऋजवः प्रतीता
धर्मे स्थिताः सत्यपरा विनीताः ।
ते सामसाध्याः पुरुषाः प्रदिष्टा
मानोन्नता ये सततं च राम ! ॥५१३॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे सामविधिर्नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः ।

———

द्वितीयखण्डेऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

परस्परं तु ये दुष्टाः क्रुद्धा भीतावमानिताः ।
तेषां भेदं प्रयुञ्जीत भेदसाध्या हि ते मताः ॥५१४॥
ये तु येनैव दोषेण परस्माद्राम ! बिभ्यति ।
ते तु तद्दोषपातेन भेदनीया भृशं ततः ॥५१५॥
आत्मीयाद्दर्शयेदाशां परस्माद्दर्शयेद्भयम् ।
एवं हि भेदयेद्भिन्नान्यथावद्वशमानयेत् ॥५१६॥
संहिता हि विना भेदं शक्रेणापि सुदुःसहा ।
भेदमेव प्रशंसन्ति तस्मान्नयविशारदाः ॥५१७॥
स्वमुखेनाथ यद्भेदं भेदं परमुखेन च ।
परीक्ष्य साधु मन्येऽहं भेदं परमुखाच्छ्रुतम् ॥५१८॥
भेद्याः स्वकार्यमुद्दिश्य कुशलैर्ये हि भेदिताः ।
भेदितास्ते विनिर्दिष्टा नैव राजार्थवादिभिः ॥५१९॥
अन्तःकोपबहिःकोपौ यत्र स्यातां महीक्षिताम् ।
अन्तःकोपो महांस्तत्र नाशनः पृथिवीक्षिताम् ॥५२०॥
सामन्तकोपो बाह्यस्तु कोपः प्रोक्तो मनीषिभिः ।
महिषीयुवराजाभ्यां तथा सेनापतेर्द्विज ! ॥५२१॥
अमात्यान्मन्त्रिपुत्राच्च राजपुत्रात्तथैव च ।
अन्तःकोपो विनिर्दिष्टो दारुणः पृथिवीक्षिताम् ॥५२२॥
बहिःकोपे समुत्पन्ने सुमहत्यपि पार्थिवः ।
शुद्धान्तस्तु महाभाग ! शीघ्रमेव जयेदरीन् ॥५२३॥
अपि शक्रसमो राजा कोपेनान्तर्विनश्यति ।
स्वान्तःकोपः प्रयत्नेन तस्माद्रक्ष्यो नरेश्वरैः ॥५२४॥
परान्तःकोपमुत्पाद्य भेदेन विजिगीषुणा ।
रक्ष्यश्चैव प्रयत्नेन ज्ञातिभेदस्तथात्मनः ॥५२५॥
ज्ञातयः परितप्यन्ते सततं यद्यपि श्रिया ।
तथापि तेषां कर्तव्यं सुगम्भीरेण चेतसा ॥५२६॥
ग्रहणं दानमानाभ्यां भेदस्तेभ्यो भयङ्करः ।

नाज्ञातिरनुगृह्णाति नाज्ञातिः स्नेहमिच्छति ॥५२७॥
ज्ञातिभिर्भेदनीयास्तु रिपवस्तेन पार्थिवैः ॥५२८॥
भिन्ना हि शक्या रिपवः प्रभूताः
स्वल्पेन सैन्येन निहन्तुमाजौ ।
सुसंहितेनाथ ततस्तु भेदः
कार्यो रिपूणां नयशास्त्रविद्भिः ॥५२९॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे भेदविधानं नामाष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥

द्वितीयखण्डे एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

सर्वेषामप्युपायानां दानं श्रेष्ठतमं मतम् ।
सुदत्तेनैव भवति दानेनोभयलोकजित् ॥५३०॥
स नास्ति राम ! दानेन वशगो यो न जायते ।
दानवान् गोचरं नैति तथा रामापदां क्वचित् ॥५३१॥
दानवानेव शक्नोति संहतान्भेदितुं परान् ।
यद्यप्यलुब्धा गम्भीराः पुरुषाः सागरोपमाः ॥५३२॥
न गृह्णन्ति तथाप्येते जायन्ते पक्षपातिनः ।
अन्यत्रापि कृतं दानं करोत्यन्यांस्तथा परैः ॥५३३॥
उपायेभ्यः प्रयच्छन्ति दानं श्रेष्ठतमं नराः ।
दानं संवर्धनं श्रेष्ठं दानं श्रेयस्करं परम् ।
दानवानेव लोकेषु पुत्रवत्प्रीयते सदा ॥५३४॥
न केवलं दानपरा जयन्ति
भूलोकमेकं पुरुषप्रवीर !
जयन्ति ते राम ! सुरेन्द्रलोकं
सुदुर्जयं यद्विबुधाधिवासम् ॥५३५॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयसंवादे दानविधिर्नामैकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥

द्वितीयखण्डे सप्ततितमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

न शक्या ये स्वयं कर्तुं चोपायत्रितयेन तु ।
दण्डेन तान् वशीकुर्याद्दण्डो हि वशकृत्परः ॥५३६॥
सम्यक्प्रणयनं तस्य सदा कार्यं महीक्षिता ।
धर्मशास्त्रानुसारेण सुसहायेन धीमता ॥५३७॥
तस्य सम्यक्प्रणयनं त्रिदशानपि पीडयेत् ।
वानप्रस्थांश्च धर्मज्ञ ! निर्द्देशान्निष्परिग्रहान् ॥५३८॥
स्वदेशे परदेशे च धर्मशास्त्रविशारदः ।
समीक्ष्य प्रणयेद्दण्डं सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् । ५३९॥
आश्रमी यदि वा वर्णी पूज्यो वाऽथ गुरुर्महान् ।
नादण्ड्यो राम ! राज्ञा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥५४०॥
अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
इह राज्यपरिभ्रष्टो नरकं प्रतिपद्यते ॥५४१॥
तस्माद्राज्ञा विनीतेन धर्मशास्त्रानुसारतः ।
दण्डप्रणयनं कार्यं लोकानुग्रहकाम्यया ॥५४२॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति निर्भयः ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥५४३॥
बालवृद्धातुरयतिद्विजास्त्रीविधवाबलाः ।
मात्स्यन्यायेन भक्ष्येरन् यदि दण्डो न पालयेत् ॥५४४॥
देवदैत्योरगगणाः सिद्धभूतपतत्त्रिणः ।
उत्क्रामेयुः स्वमर्यादां यदि दण्डो न पालयेत् ॥५४५॥
एष ब्रह्माभिशापेषु सर्वप्रहरणेषु च ।
सर्वविक्रमकोपेषु व्यवसाये च तिष्ठति ॥५४६॥
पूज्यन्ते दण्डिनो देवा न पूज्यन्ते त्वदण्डिनः ।
न ब्रह्माणं न धातारं न पूषार्यमणावपि ॥५४७॥
यजन्ते मानवाः केचित्प्रशान्ताः सर्वकर्मसु ।
रुद्रमग्निं च शक्रं च सूर्याचन्द्रमसौ तथा ॥५४८॥
विष्णुं देवगणांश्चान्ये दण्डिनः पूजयन्ति हि ।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ॥५४९॥
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ।
राजदण्डभयादेव पापाः पापं न कुर्वते ॥५५०॥
यमदण्डभयादन्ये परस्परभयादपि ।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् ॥५५१॥
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ।
तस्माद्दम्यान्दमयति उद्दण्डान् दण्डयत्यपि ।
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधाः ॥५५२॥
दण्डस्य भीतैस्त्रिदशैः समस्तै-
र्भागो धृतः शूलधरस्य यज्ञे ।
चक्रुः कुमारं ध्वजिनीपतिं च
वरं शिशूनां च भयाद् बलस्थम् ॥५५३॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे पुष्करोपाख्याने दण्डप्रशंसा नाम सप्ततितमोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे एकसप्ततितमोऽध्यायः ।

राम उवाच—

दण्डप्रणयनार्थाय राजा सृष्टः स्वयंभुवा ।
देवभागानुपादाय सर्वभूताभिगुप्तये ॥५५४॥
तेजसा यदयं कश्चिन्नैव शक्नोति वीक्षितुम् ।
तदा भवति लोकेषु राजा भास्करवत्प्रभुः ॥५५५॥
यदस्य दर्शने लोकः प्रसादमुपगच्छति ।
नयनानन्दकारित्वात्तदा भवति चन्द्रमाः ॥५५६॥
चारैर्यदायं व्याप्नोति सर्वलोकं यदृच्छया ।
तदा भवति लोकेषु राजा देवः समीरणः ॥५५७॥
यदाऽपराधिनां चैव विधत्ते निग्रहं नृपः ।
तदा भवति लोकेषु राजा वैवस्वतः सदा ॥५५८॥
यदा भवति माहात्म्यात् क्रुद्धबुद्धान्नरान्नृपः ।
अनिच्छन्नपि लोकेषु तदा भवति पावकः ॥५५९॥

करोति च यदा दानं धनानां सर्वतो नृपः ।
विसर्गार्थं सुरश्रेष्ठ ! तदा भवति वित्तदः ॥५६०॥
यदा च धनधाराभिर्वर्षन् प्लावयते जगत् ।
तदा स वरुणः प्रोक्तो राजा नयविशारदैः ॥५६१॥
क्षमाबलेन मनसा धारयन्सकलाः प्रजाः ।
अविशेषेण धर्मज्ञ ! पार्थिवः पार्थिवो भवेत् ॥५६२॥
यदाधिपत्येन जनान्समग्रान्परिरक्षति ।
तदा भवति देवेन्द्रः सर्वभूतानुकम्पिता ॥५६३॥
उत्साहमन्त्रशक्तिर्या प्रभुशक्तिश्च दैविकी ।
चतस्रः शक्तयस्तत्र वैष्णव्यः परिकीर्तिताः ॥५६४॥
कः समर्थः प्रजाः पातुं विना वैष्णवतेजसा ।
तिस्रस्तु शक्तयस्तस्य वैष्णव्यः पृथिवीपतेः ॥५६५॥
इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामवाक्याध्यायो
नामैकसप्ततितमोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे पञ्चचत्वारिंशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

राम उवाच—

किं नु कृत्यतमं राज्ञस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।
राज्यतन्त्रं कथं राज्ञा पालनीयं विपश्चिता ॥५६६॥

पुष्कर उवाच—

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य भावयुक्तेन भूभृता ।
एतावदेव कर्तव्यं राज्ञा तन्त्रं भृगूत्तम ! ॥५६७॥
साम दानं तथा दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च ।
मित्रं जनपदश्चैव राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥५६८॥
सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विघ्नकर्तॄन्विवासयेत् ।
अहितान्घातयेद्राजा क्षिप्रमेवाविचारयन् ॥५६९॥
सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य वृद्धिः कार्या सुमण्डले ।
मण्डलेषु च सर्वेषु कर्षणीया महीक्षिता ॥५७०॥

राम उवाच—

मण्डलानि समाचक्ष्व विजिगीषोर्यथाविधि ।
यान्याश्रित्य नृपैः कार्यं सन्धिविग्रहचिन्तनम् ॥५७१॥

पुष्कर उवाच—

आत्ममण्डलमेवात्र प्रथमं मण्डलं भवेत् ।
समन्तात्तस्य विज्ञेया रिपवो मण्डलस्य तु ॥५७२॥
अधिकृत्याभियोज्यं तु तत्रापि शृणु कल्पनम् ।
अभियोज्यः स्मृतः शत्रुस्तत्रापि च प्रतीक्षिता ॥५७३॥
तत्परस्तु सुहृज्ज्ञेयो मित्रं मित्ररिपुस्तथा ।
एतत्पुरस्तात्कथितं पश्चादपि निबोध मे ॥५७४॥
पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चात्ततस्त्वाक्रन्द उच्यते ।
आसारस्तु ततोऽप्यन्यस्त्वाक्रन्दासार उच्यते ॥५७५॥
जिगीषोः शत्रुयुक्तस्य वियुक्तस्य तथा द्विज !
निग्रहानुग्रहे शक्तो मध्यस्थः परिकीर्तितः ॥५७६॥
निग्रहानुग्रहे शक्तः सर्वेषामपि यो भवेत् ।
उदासीनः स कथितो बलवान्पृथिवीपतिः ॥५७७॥
एतावदेव ते राम ! प्रोक्तं द्वादशराजकम् ।
नात्रापि निश्चयः शक्यो वक्तुं मनुजपुङ्गव ! ॥५७८॥
नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते ।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥५७९॥
त्रिविधा रिपवः प्रोक्ताः कुल्यानन्तरकृत्रिमाः ।
पूर्वः पूर्वो गुरुस्तेषां दुश्चिकित्स्यतमो मतः ॥५८०॥
अनन्तरोऽपि यः शत्रुः सोऽपि मे कृत्रिमो मतः ।
पार्ष्णिग्राहो भवेद्राजा शत्रोर्मित्राभियोगिनः ॥५८१॥
पार्ष्णिग्राहमुपायैस्तु शमयेच्च तथा स्वकम् ।
मित्रेण शत्रोरुच्छेदं न शंसन्ति पुरातनाः ॥५८२॥
मित्रं हि शत्रुतामेति सामन्तत्वादनन्तरम् ।
शत्रुं जिगीषुरुच्छिन्द्यात्स्वयं शक्नोति चेद्यदि ॥५८३॥
प्रतापवृद्धौ तेनास्य न मित्राज्जायते भयम् ।
नान्यथा पृथिवीं जेतुं शक्त्या राम ! जिगीषुणा ॥५८४॥

प्रतापवृद्धिः कर्तव्या तस्माद्राज्ञा यथा तथा ।
यथास्य नोद्विजेल्लोके विश्वासश्च यथा भवेत् ॥५८५॥
जिगीषुर्धर्मविजयी तथा लोकं वशं नयेत् ।
यः स्यादधर्मविजयी तस्मादुद्विजते जनः ।
प्राप्यापि वसुधां कृत्स्नां न चिरं श्रियमश्नुते ॥५८६॥
धर्मेण यशो भवतीह वृद्धि-
र्धर्मेण वृद्धिश्च तथापरत्र ।
धर्मेण लब्धा वसुधा जितारि-
र्भुक्त्वा चिरं नाकमनुप्रयाति ॥५८७॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामं प्रति पुष्करोपाख्याने राज्यमण्डलवर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशदुत्तरशततमोऽध्यायः ॥

द्वितीयखण्डे षट्चत्वारिंशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

राम उवाच—

सामभेदौ तथा प्रोक्तौ दानदण्डौ तथैव च ।
दण्डः सुदेशे कथितः परदेशे ब्रवीहि मे ॥५८८॥

पुष्कर उवाच—

द्विविधः कथितो दण्डः परदेशे पुरातनैः ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च तं निबोध द्विजोत्तम ! ॥५८९॥
लुण्ठनं ग्रामघातश्च सस्यघातस्तथैव च ।
चतुरङ्गेण दण्डेन परेषां च तथा वधः ॥५९०॥
प्रकाशः कथितो दण्डः प्रत्यक्षं वह्निदीपनम् ।
अप्रकाशो विषं वह्निर्गूढैश्च पुरुषैर्वधः ॥५९१॥
दूषणं यवसादीनामुदकानां च दूषणम् ।
रसक्रियाश्च विविधाः सुभगा भेदनादिकम् ॥५९२॥
एवमादीनि कार्याणि परचक्रे महोक्षिता ।
स्वराष्ट्रे च द्विजश्रेष्ठ ! दूषणं बलिनामपि ॥५९३॥
चत्वार एते कथिता उपायाः
प्रधानभूता भुवि पार्थिवानाम् ।

अतः परं ते कथयामि राम !

शेषास्त्रयस्ते न मयेरिता ये ॥५६४॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे दण्डप्रणयनवर्णनो नाम षट्चत्वारिंशदुत्तरशततमोऽध्यायः ॥

द्वितीयखण्डे सप्तचत्वारिंशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

अभिमन्येत नृपतिरनेन मम विग्रहे ।
अनर्थायानुबन्धः स्यात्सन्धिना च तथा भवेत् ॥५६५॥
साम लज्जास्पदं चात्र दानं चात्र क्षयार्थकम् ।
भेदे दण्डेऽनुबन्धः स्यात्तदा पक्षं समाश्रयेत् ॥५६६॥
अवज्ञोपहतस्तत्र राज्ञा कार्यो रिपुर्भवेत् ।
उपेक्षयैव धर्मज्ञ ! श्रेयसे तव सा स्मृता ॥५६७॥
उपेक्षया यत्र तु शक्यमर्थं
क्षयव्ययवाया समता न तत्र ।
कार्यं भवेद् ब्राह्मणविग्रहेण
लज्जास्पदेनाप्यथ सन्धिना वा ॥५६८॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामं प्रति पुष्करोपाख्याने उपेक्षावर्णनो नाम सप्तचत्वारिंशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डेऽष्टचत्वारिंशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

उत्पातैरनृतैः कार्यं परस्योद्वेजनं नृपैः ।
अरातिशिबिरस्यात्र वसतिर्यस्य पक्षिणः ॥५६९॥
स्थूलस्य तस्य पुच्छस्थां कृत्वोल्कां विपुलां द्विज !
विसृज्यैनं ततस्तीरमुल्कापातं प्रदर्शयेत् ॥६००॥
अनेनैवात्र सारेण बुद्ध्या निश्चित्य यत्नतः ।
उत्पातानि तथान्यानि दर्शनीयानि पार्थिवैः ॥६०१॥
उद्वेजनं तथा कुर्यात्कुहकैर्द्विविधैर्द्विषाम् ।

सांवत्सरा अहार्यस्य नाशं ब्रूयुः परस्य च ॥६०२॥
जिगीषुः पृथिवीराज्ये तेन चोद्वेजयेत्परान् ।
दैवतानां प्रसादानि कीर्तनीयानि तस्य तु ॥६०३॥
स स्वप्नलाभांश्च तथा जिगीषुः परिकीर्तयेत् ।
दुःस्वप्नलाभं च तथा परेषामिति निश्चयः ॥६०४॥
आगतं नो मित्रबलं प्रहरध्वमभीतवत् ।
एवं ब्रूयाद्रणे प्राप्ते मया भग्नाः परे इति ॥६०५॥
क्ष्वेडाः किलकिलाशब्दं मम शत्रुर्हतस्तथा ।
देवाज्ञाबृंहितो राजा सन्नद्धः समरं प्रति ॥६०६॥
एवंप्रकारा द्विजवर्य ! मायाः
कार्या नरेन्द्रैररिपु प्रहृष्टैः ।
मायाहतः शत्रुरथ प्रसह्य
शक्यः सुखं हन्तुमदीनसत्त्वः ॥६०७॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामं प्रति पुष्करोपाख्याने उपाधिवर्णनं नामाऽष्टचत्वारिंशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे एकोनपञ्चाशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

चतुरङ्गं बलं राजा मायाजालेन दर्शयेत् ।
सहायार्थमनुप्राप्तान्दर्शयेत्त्रिदिवौकसः ॥६०८॥
रक्तवृष्टिश्च संदर्श्या परेषां शिविरं प्रति ।
छिन्नानि रिपुशीर्षाणि प्रासादाग्रेषु दर्शयेत् ॥६०९॥
आधित्सतासन्धिमहीनसत्त्व !
कार्यं भवेद्राम ! महेन्द्रजालम् ।
वक्ष्यामि तच्चोपनिषत्सु तुभ्यं
योगानि चान्यानि जयावहानि ॥६१०॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे मार्कण्डेयवज्रसंवादे इन्द्रजालवर्णनो नामैकोनपञ्चाशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे पञ्चाशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

पुष्कर उवाच—

सन्धिश्च विग्रहश्चैव द्वैगुण्यं कथितं बुधैः ।
यदाश्रित्य तथैवान्यैः षाड्गुण्यं परिकीर्तितम् ॥६११॥
सन्धिश्च विग्रहश्चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षाड्गुण्यं परिकीर्तितम् ॥६१२॥
पणाबन्धः स्मृतः सन्धिरपकारस्तु विग्रहः ।
जिगीषोः शत्रुविषये यानं यात्रा विधीयते ॥६१३॥
विग्रहेऽपि स्वके देशे स्थितिरासनमुच्यते ।
बलार्धेन प्रयाणं तु द्वैधीभावं तदुच्यते ॥६१४॥
उदासीने मध्यमे वा संश्रयात्संश्रयः स्मृतः ।
समेन सन्धिरन्वेष्यो हीनेन च बलीयसः ॥६१५॥
हीनेन विग्रहः कार्यः स्वयं राज्ञा बलीयसा ।
तत्रापि तस्य पार्ष्णिस्तु बलीयान्न समाश्रयेत् ॥६१६॥
आसीनः कर्मविच्छेदं शक्तः कर्तुं रिपुर्यदा ।
अशुद्धपार्ष्णिर्बलवान्द्वैधीभावं समाश्रयेत् ॥६१७॥
बलिना निगृहीतस्तु यो मन्येतेन पार्थिवः ।
संश्रयस्तेन कर्तव्यो गुणानामधमो गुणः ॥६१८॥
बहुक्षयव्ययायासं तेषां यानं प्रकीर्तितम् ।
बहुलाभकरम्भ स्यात्तदा राम ! समाश्रयेत् ॥६१९॥
सर्वशक्तिविहीनस्तु तदा कुर्यात्तु संश्रयम् ॥६२०॥
एवं च बुद्ध्वा नृपतिर्गुणानां
काले च देशे च तथा विभागे ।
समाश्रयेद् भार्गववंशमुख्यं
चैतावदुक्तं नृपतेस्तु कार्यम् ॥६२१॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामं प्रति पुष्करोपाख्याने षाड्गुण्यवर्णनो नाम पञ्चाशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

———

द्वितीयखण्डे एकपञ्चाशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

राम उवाच—

अजस्रं कर्म मे ब्रूहि राज्ञां राजीवलोचन !
यच्च कार्यं नरेन्द्राणां तथा च प्रतिवत्सरम् ॥६२२॥

पुष्कर उवाच—

द्विमुहूर्तविशेषायां रात्रौ निद्रां त्यजेन्नृपः ।
वेणुवीणामृदङ्गानां पटहानां च निःस्वनैः ॥६२३॥
वन्दिनां निःस्वनैश्चैव तथा मङ्गलवादिनाम् ।
ततः पश्येन्महीपालो गूढांश्च पुरुषान्निशि ॥६२४॥
विज्ञायन्ते न ये लोका तदीया इति केनचित् ।
आयव्ययस्य श्रवणं ततः कार्यं यथाविधि ॥६२५॥
वेगोत्सर्गं ततः कृत्वा राजा स्नानगृहं व्रजेत् ।
दत्ताभ्यङ्गः प्रदोषे तु कल्पमुत्सादितस्ततः ॥६२६॥
स्नानं कुर्यात्ततः पश्चाद्दन्तधावनपूर्वकम् ।
सौषधैर्मन्त्रपूतैस्तु पानीयैर्विविधैः शुभैः ॥६२७॥
सन्ध्यामुपास्य प्रयतः कृतजप्यः समाहितः ।
अग्न्यागारं प्रविश्याथ वह्नीन पश्येत्पुरोधसा ॥६२८॥
हुतान् सम्यक् ततः कुर्याद्वासुदेवस्य चार्चनम् ।
दुःस्वप्नशमनं कर्म तत्र कुर्यात्पुरोहितः ॥६२९॥
स्वयं चौपसदे वह्नौ पवित्रां जुहुयान्नृपः ।
तर्पयेदुदकैर्देवान् पितॄनथ यथाविधि ॥६३०॥
दद्याद् द्विजातये धेनुं सवत्सां च सकाञ्चनाम् ।
शक्त्या धनैः पूजयित्वा दत्ताशीः सततं द्विजैः ॥६३१॥
अनुलिप्तस्ततः स्रग्वी सुवासाश्चाप्यलङ्कृतः ।
दर्पणे च मुखं पश्येत्ससुवर्णे च सर्पिषि ॥६३२॥
आज्यं प्रसन्नं सुरभि यदि स्याद्विजयो भवेत् ।
दीयमाने च दुर्गन्धे पतिते च भयं भवेत् ॥६३३॥
विकृतं चेन्मुखं पश्येद्राजा मृत्युमवाप्नुयात् ।
सुप्रभं च यदा पश्येत्तदा तस्य शुभं भवेत् ॥६३४॥
ततस्तु शृणुयाद्राजा सांवत्सरमुखोद्गतम् ।

दिवसे तिथिनक्षत्रे सर्वाशुभविनाशनम् ॥६३५॥
भिषजां च वचः कुर्यात्ततस्त्वारोग्यवर्धनम् ।
मङ्गलालम्भनं कृत्वा ततः पश्येद् गुरून्नृपः ॥६३६॥
कृत्वाशीर्गुरुभिः पश्चाद्राजा गच्छेत्समन्ततः ।
तत्रस्थान्ब्राह्मणान्पश्येदमात्यान्मन्त्रिणस्तथा ॥६३७॥
प्रकृतीश्च महाभाग ! प्रतीहारनिबोधनः ।
तत्रेतिहासश्रवणं कुर्यात्किञ्चिदतन्द्रितः ॥६३८॥
ततः कार्यार्थिनां कुर्याद् यथाधीः कार्यनिर्णयम् ।
व्यवहारांस्ततः पश्येत्समो भूत्वारिमित्रयोः ।
त्यक्त्वा सभां ततः कुर्यान्मन्त्रं तु सह मन्त्रिभिः ॥६३९॥
यत्रास्य कश्चित्तं मन्त्रं शृणुयान्न कथञ्चन ।
एकेन सह तं कुर्यान्न कुर्याद् बहुभिः सह ॥६४०॥
नच मूर्खैर्न चानाप्तैस्तथा नाधार्मिकैर्नृपः ।
मन्त्रं स्वधिष्ठितं कुर्याद् येन राष्ट्रं न धावति ॥६४१॥
राज्ञां विनाशमूलस्तु कथितो मन्त्रविभ्रमः ।
नाशहेतुर्भवेन्मन्त्रः कुप्रयुक्तस्त्वमन्त्रवत् ॥६४२॥
मन्त्रे सुनिश्चिते सिद्धिः कथिता पृथिवीक्षिताम् ।
क्रियमाणानि कर्माणि यस्य वेत्ति न कश्चन ॥६४३॥
कृतान्येव विजानाति स राजा पृथिवीपतिः ।
पृथक् च मन्त्रिभिर्मन्त्रं कृतं वै संहितैः पुनः ॥६४४॥
विचार्यमात्मनः साधु पश्चात्तत्र समाश्रयेत् ।
प्रज्ञाभिमानी नृपतिर्न मन्त्रिवचने रतः ॥६४५॥
क्षिप्रं विनाशमायाति तडागमिव काजलम् ।
आकारगूहनैः राज्ञो मन्त्ररक्षा परा मता ॥६४६॥
आकारैरिङ्गितैः प्राज्ञा मन्त्रं जानन्ति पण्डिताः ।
सांवत्सराणां वैद्यानां मन्त्रिणां वचने रतः ॥६४७॥
राजा विभूतिमाप्नोति चिरं यशसि तिष्ठति ।
त एनं मृगयासक्तं धारयन्ति विपश्चितः ।६४८॥
स्त्रीषु माने तथाक्षेषु वृथा ज्यायांश्च भार्गव !
करप्रणयने सक्तं हिंसायां च नराधिपम् ॥६४९॥

तथा परोक्षनिन्दायां बलवद्विग्रहेऽपि च ।
अन्येषु चाप्यनर्थेषु प्रसक्तं वारयन्ति तम् ॥६५०॥
मन्त्रं कृत्वा ततः कुर्याद् व्यायामं पृथिवीपतिः ।
रथे नागे तथैवाश्वे खड्गे धनुषि चाऽप्यथ ॥६५१॥
अन्येषु चैव शस्त्रेषु नियुद्धेषु ततः परम् ।
पद्भ्यामुद्वर्तितः स्नातः पश्येद्विष्णुं सुपूजितम् ॥६५२॥
हुतं च पावकं पश्येद्विप्रान्पश्येत् सुपूजितान् ।
स्वामिनो दक्षिणाभिश्च पूजितान् भृगुनन्दन ! ॥६५३॥
ततोऽनुलिप्तः सुरभिः स्रग्वी रुचिरभूषणः ।
सुवासा भोजनं कुर्याद् गीतं च शृणुयात्तदा ॥६५४॥
आप्तं परीक्षितं वह्नौ मृगपक्षीङ्गितैस्तथा ।
पूर्वं परीक्षितं चान्यैर्जाङ्गुल्या चाभिमन्त्रितम् ॥६५५॥
विषघ्नांश्च मणीन् राजा धारयन्नौषधीस्तथा ।
भुक्त्वा गृहीतताम्बूलः परिक्रम्य विशेषतः ॥६५६॥
शयने वामपार्श्वेन ततः शास्त्राणि चिन्तयेत् ।
कोष्ठागारायुधागारान् प्रति चाम्र्यं च वाहनम् ॥६५७॥
योधांश्च दृष्ट्वा चान्वास्या ततः सन्ध्या च पश्चिमा ।
कार्याणि चिन्तयित्वा च प्रेषयित्वा ततश्चरान् ।
अन्तःपुरचरो भूत्वा लघु भुक्त्वा तथा हितम् ॥६५८॥
सवेणुवीणापटहस्वनेन
संसेवेत निद्रां कृतपूर्वरक्षाम् ।
एतद् यशस्यं हि नराधिपाना-
माजस्रिकं ते कथितं विधानम् ॥६५९॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामं प्रति पुष्करोपाख्याने आजस्रिको नामैकपञ्चाशदुत्तरशततमोऽध्यायः ।

द्वितीयखण्डे त्रिषष्ट्युत्तरशततमोऽध्यायः।

राम उवाच—

भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! सर्वशास्त्रविदां वर !
यात्राकालविधानं मे कथयस्व महीक्षिताम् ॥६६०॥

पुष्कर उवाच—

यदा मन्येत नृपतिराक्रन्देन बलीयसा ।
पार्ष्णिग्राहोऽभिभूतो मे तदा यात्रां प्रयोजयेत् ॥६६१॥
पुष्टा मेऽद्य भृता भृत्या प्रभूतं च बलं मम ।
मूलरक्षासमर्थोऽस्मि तदा यात्रां प्रयोजयेत् ॥६६२॥
पार्ष्णिग्राहाधिकं सैन्यं मूले निक्षिप्य वा व्रजेत् ।
चैत्रं वा मार्गशीर्षं वा यात्रां यायान्नराधिपः ॥६६३॥
शत्रोर्वा व्यसने यायात्काल एष सुदुर्लभः ।
दिव्यान्तरिक्षक्षितिजैरुत्पातैः पीडितं भृशम् ॥६६४॥
स्वबलव्यसनोपेतं तथा दुर्भिक्षपीडितम् ।
सम्भूतान्तरकोपं च क्षिप्रं यायादरिं नृपः ॥६६५॥
क्व यासि तिष्ठ मा गच्छ किं तत्र गमनस्य च ।
अन्ये शब्दाश्च ये दृष्टास्ते विपत्तिकरा अपि ॥६६६॥
अथेष्टानि प्रवक्ष्यामि मङ्गल्यानि तथानघ !
आस्तिक्यं श्रद्दधानत्वं तथा पूज्याभिपूजनम् ।
शस्तान्येतानि धर्मज्ञ ! यच्च स्यान्मनसः प्रियम् ॥६६७॥
मनसस्तुष्टिरेवात्र परमं जयलक्षणम् ।
एकतः सर्वलिङ्गानि मनस्तुष्टिरथैकतः ॥६६८॥
यानोत्सुकत्वं मनसः प्रहर्षः
सुस्वप्नलाभो मनसः प्रसादः ।
मङ्गल्यलब्धिश्रवणं च राम !
ज्ञेयानि नित्यं विजयावहानि ॥६६९॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे यात्राशकुनवर्णनं नाम त्रिषष्ट्युत्तरशततमोऽध्यायः ।

———

द्वितीयखण्डे सप्तसप्तत्युत्तरशततमोऽध्यायः ।

राम उवाच— सांग्रामिकमहं त्वत्तः श्रोतुमिच्छामि भूभुजः ।
सर्वं वेत्सि महाभाग ! त्वं देव ! परमेष्ठिवत् ॥६७०॥

पुष्कर उवाच—द्वितीयेऽहनि संग्रामो भविष्यति यदा तदा ।
गजाश्वान् स्नापयेद्राजा सर्वौषधिजलैः शुभैः ॥६७१॥
गन्धमाल्यैरलंकुर्यात्पूजयेच्च यथाविधि ।
नृसिंहं पूजयेद्विष्णुं राजलिङ्गान्यशेषतः ॥६७२॥
छत्रं ध्वजं पताकाश्च धर्मांश्चैव महाभुज !
आयुधानि च सर्वाणि तथा पूज्यानि भूभुजा ॥६७३॥
तेषां सम्पूजनं कृत्वा रात्रौ प्रमथपूजनम् ।
कृत्वा तु प्रार्थयेद्राजा विजयायेतरे यथा ॥६७४॥
प्रमथांश्च सहायार्थं धरणीं च महाभुज !
भिषक्पुरोहितामात्यमन्त्रिमध्ये तथा स्वपेत् ॥६७५॥
संहतो ब्रह्मचारी च नृसिंहं संस्मरन्हरिम् ।
रात्रौ दृष्टे शुभे स्वप्ने समरारम्भमाचरेत् ॥६७६॥
रात्रिशेषे समुत्थाय स्नातः सर्वौषधिजलैः ।
पूजयित्वा नृसिंहं तु वाहनास्त्रमशेषतः ॥६७७॥
पुरोधसा हुतं पश्येज्ज्वलितं जातवेदसम् ।
पुरोधाः पूर्ववत्तत्र मन्त्रांस्तु जुहुयात्ततः ॥६७८॥
दक्षिणाभिः शुचिर्विप्रान्पूजयेत पृथिवीपतिः ।
ततोऽनुलिम्पेद् गात्राणि गन्धद्वारेति पार्थिवः ॥६७९॥
चन्दनागुरुकर्पूरकान्ताकालीयकैः शुभैः ।
मूर्ति कण्ठे समालभ्य रोचनां च तथा शुभाम् ॥६८०॥
आयुष्यं वर्चसं चैव मन्त्रेणानेन मन्त्रितम् ।
अलङ्करणमाबध्याच्छ्रियं धातुरिति स्रजम् ॥७८१॥
या ओषधय इत्येवं धारयेदोषधीः शुभाः ।
नवो नवेति वस्त्रं च कार्पासं बिभृयाच्छुभम् ॥६८२॥
ऐन्द्राग्नेति ततश्चर्म धन्वनागेति वै धनुः ।
ततो राज्ञः समादद्यात्सशरं त्वभिमन्त्रितम् ॥६८३॥
कुञ्जरं वा रथं वाश्वमारुहेदभिमन्त्रितम् ।

आरुह्य शिबिराद्राजा निष्क्रम्य समये शुभे ॥६८४॥
देशे त्वदृश्यः शत्रूणां कुर्यात्प्रकृतिकल्पनाम् ।
संहतान् योधयेदल्पान कामं विस्तारयेद् बहून् ॥६८५॥
सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह ।
व्यूहाः प्राण्यङ्गरूपाश्च द्रव्यरूपाश्च कल्पिताः ॥५८६॥
गारुडो मकरव्यूहश्चक्रं श्येनस्तथैव च ।
अर्धचन्द्रश्च चन्द्रश्च शकटव्यूह एव च ॥६८७॥
व्यूहश्च सर्वतोभद्रः सूचीव्यूहस्तथैव च ।
पद्मश्च मण्डलव्यूहः प्राधान्येन प्रकीर्तिताः ॥६८८॥
व्यूहानामथ सर्वेषां पञ्चधा सैन्यकल्पना ।
द्वौ पक्षौ बन्धपक्षौ द्वावौरस्यः पञ्चमो भवेत् ॥६८९॥
अनेन यदि वा द्वाभ्यां भागाभ्यां युद्धमाचरेत् ।
भागत्रयं स्थापयेत्तु तेषां रक्षार्थमेव च ॥६९०॥
न व्यूहे कल्पना कार्या राज्ञो भवति कर्हिचित् ।
पत्रच्छेदे फलच्छेदे वृक्षच्छेदावकल्पने ॥६९१॥
पुनः प्ररोहमायाति मूलच्छेदे विनश्यति ।
स्वयं राज्ञा न योद्धव्यमपि सर्वास्त्रशालिना ॥६९२॥
नित्यं लोके हि दृश्यन्ते शक्तेभ्यः शक्तिमत्तराः ।
सैन्यस्य पश्चात्तिष्ठेत्तु क्रोशमात्रे महीपतिः ॥६९३॥
भग्नसन्धारणां तत्र योधानां परिकीर्तितम् ।
प्रधानभङ्गे सैन्यस्य नावस्थानं विधीयते ॥६९४॥
न भग्नान्पीडयेच्छत्रूनेकायनगता हि ते ।
मरणे निश्चिताः सर्वे हन्युः शत्रूंश्चमूरपि ॥६९५॥
न संहतान्नविरलान्योधान् व्यूहे प्रकल्पयेत् ।
आयुधानां च सम्मर्दो यथा न स्यात्परस्परम् ॥६९६॥
तथा तु कल्पना कार्या योधानां भृगुनन्दन !
भेत्तुकामः परानीकं संहतैरेव भेदयेत् ॥६९७॥
भेद्यरक्षापरेणापि कर्तव्या संहता तथा ।
स्वेच्छया कल्पयेद् व्यूहं ज्ञात्वा वा रिपुकल्पितम् ॥६९८॥
व्यूहे भेदावहं कुर्याद्रिपुव्यूहस्य पार्थिवः ।

गजस्य देया रक्षार्थं चत्वारस्तु तथा द्विज ! ॥६९९॥
रथस्य चाश्वाश्चत्वारोऽश्वस्य तस्य च वर्मिणः ।
वर्मिभिश्च समास्तत्र धन्विनः परिकीर्तिताः ॥७००॥
पुरस्ताद्वर्मिणो देया देयास्तदनु धन्विनः ।
धन्विनामनु चाश्वीयं रथांस्तदनु योजयेत् ॥७०१॥
रथानां कुञ्जराश्चानु दातव्याः पृथिवीक्षिता ।
पदातिकुञ्जराश्वानां वर्म कार्यं प्रयत्नतः ॥७०२॥
अवर्मयित्वा यो बाहुं चात्मानं वर्मयेन्नरः ।
स राम नरकं याति स्वकृतेनापि कर्मणा ॥७०३॥
शूराः प्रमुखतो देया न देया भीरवः क्वचित् ।
शूरान्वा मुखतो दत्त्वा स्कन्दमात्रप्रदर्शनम् ॥७०४॥
कर्तव्यं भीरुसंघेन शत्रुविद्रावकारकम् ।
दारयन्ति पुरस्तात्तु विद्रुता भीरवः पुरः ॥७०५॥
प्रांशवः शुकनासाश्च ये च जिह्मेक्षणा नराः ।
संहतभ्रूयुगाश्चैव क्रोधनाः कलहप्रियाः ।
नित्यं हृष्टाश्च हृस्वाश्च शूरा ज्ञेयाश्च कामिनः ॥७०६॥
दाक्षिणात्याश्च विज्ञेयाः कुशलाः खड्गवर्मिणः ।
वङ्कला धन्विनो ज्ञेयाः पार्वतीयास्तथैव च ॥७०७॥
पाषाणयुद्धकुशलास्तथा पर्वतवासिनः ।
पाञ्चालाः शूरसेनाश्च रथेषु कुशला नराः ॥७०८॥
काम्बोजा ये च गान्धाराः कुशलास्ते हयेषु च ।
प्रायशश्च तथा म्लेच्छा विज्ञेयाः पाशयोधिनः ॥७०९॥
अङ्गा वङ्गा कलिङ्गाश्च ज्ञेया मातङ्गयोधिनः ।
आहतानां हतानां च रणापनयनक्रिया ॥७१०॥
पत्तियोधगजानाञ्च तोयदानादि यञ्च यत् ।
आयुधानयनञ्चैव पत्तिकर्म विधीयते ॥७११॥
रिपूणां भेदकामानां स्वसैन्यस्य च रक्षणम् ।
भेदनं संहतानां च चर्मिणां कर्म कीर्तितम् ॥७१२॥
विमुखीकरणं युद्धे धन्विनां च तथोच्यते ।
चर्मिभिः क्रियते शूरैर्भिन्नानामपि संहतिः ॥७१३॥

शूरापसरणं यावत्तसाश्रीयम्य तथोच्यते ।
त्रासने रिपुसैन्यानां रथकर्म तथोच्यते ॥७१४॥
प्राकारगोपुराट्टालद्रुमभङ्गाश्च भार्गव !
गजानां कर्म निर्दिष्टं यदसह्यं तथा परैः ॥७१५॥
पत्तिभूर्विषमा ज्ञेया रथाश्वस्य तथा समा ।
शर्मा द्रुमा च नागानां युद्धभूमिरुदाहृता ॥७१६॥
एवं विरचितव्यूहः कृतपृष्ठदिवाकरः ।
तथानुलोमशुक्रो वा दिक्पालबुधमारुताः ॥७१७॥
योधानुत्तेजयेत्सर्वान्नामगोत्रापदानतः ।
भोगप्राप्तिश्च विजये स्वर्गप्राप्तिर्मृतस्य च ॥७१८॥
धन्यानि तु निमित्तानि वदन्ति विजयं द्विज !
स्पन्दनं शुभगात्राणां शुभस्वप्ननिदर्शनम् ॥७१९॥
निमित्तं च गजाश्वस्य सर्वतो दृश्यते शुभम् ।
शकुना मङ्गलाश्चैव दृश्यन्ते हि मनोऽनुगाः ॥७२०॥
विपरीतसरीसर्पान्मृत्युः स्पृशति नान्यथा ।
भवन्तोऽपि कुले जाताः सर्वशस्त्रास्त्रपारगाः ॥७२१॥
गान्धर्वे च परा नित्यं नित्यं सन्मार्गमाश्रिताः ।
अनाहार्याः परैर्नित्यं कथं न स्याज्जयो मम ॥७२२॥
राजश्रीर्भवतामेव भवद्भिः केवलं मम ।
द्वे चामरेऽधिके शूराच्छत्रं चर्मामेत्र च ॥७२३॥
जित्वारीन्भोगसम्प्राप्तिर्मृतस्य च परा गतिः ।
निष्कृतिः स्वामिपिण्डस्य नास्ति युद्धसमा गतिः ॥७२४॥
शूराणां यद्विनिर्याति रक्तमाबाधतः क्वचित् ।
तेनैव सह पाप्मानं सर्वं त्यजति धार्मिक ! ॥७२५॥
तथा बाधचिकित्सायां वेदनासहिते तथा ।
ततो नास्त्यधिकं लोके किञ्चित्परमदारुणम् ॥७२६॥
मृतस्य नाग्निसंस्कारो नाशौचं नोदकक्रिया ।
कर्तुमिच्छन्ति यस्येह संग्रामादधिकं नु किम् ॥७२७॥
तपस्विनो दानपरा यज्वानो बहुदक्षिणाः ।
शूराणां गतिमिच्छन्ति दृष्ट्वा भोगाननुत्तमान् ॥७२८॥

वराप्सरःसहस्राणि शूरमायोधने हतम् ।
अभिद्रवन्ति कामार्ता मम भर्ता भविष्यति ॥७२९॥
स्वामी सुकृतमादत्ते भग्नानां विनिवर्तताम् ।
ब्रह्महत्याफलं तेषां तथा प्रोक्तं पदे पदे ॥७३०॥
यः सहायान् परित्यज्य स्वस्तिमान् गन्तुमिच्छति ।
अस्वस्ति तस्य कुर्वन्ति देवाः शक्रपुरोगमाः ॥७३१॥
अश्वमेधफलं प्रोक्तं भग्नानामनिवर्तताम् ।
पदे पदे महाभाग ! सम्मुखानां महात्मनाम् ॥७३२॥
देवस्त्रियस्तथा लक्ष्मीः पाप्मानमयशस्तथा ।
प्रतीक्षन्ते महाभाग ! संग्रामे समुपस्थिते ॥७३३॥
पराङ्मुखा मया ग्राह्या जीवन्तोऽप्यथवा मृताः ।
इत्येवमयशस्तस्य पाप्मना सह तिष्ठति ॥७३४॥
लक्ष्मीः सन्तिष्ठते तस्य जीवतः कृतकर्मणः ।
मृतस्य चापि तिष्ठन्ति विमानस्थाः सुरस्त्रियः ।
एवमुद्घोषणां कृत्वा धर्मेणोच्छेज्जयं रणे ॥७३५॥
अधर्मविजयो राज्ञा नृप ! लोके भयावहः ।
अधर्मविजयादर्थैर्यच्छिद्रमुपधीयते ॥७३६॥
छिद्रादेव परं छिद्रं तस्य स्यान्नात्र संशयः ।
न कर्णी न तथा दिग्धः शरः स्याद्धर्मयोधिनाम् ॥७३७॥
नास्थिशल्यः शरः कार्यो दारुशल्यश्च भार्गव !
समः समेन योद्धव्यो नापचारो रणे द्विज ! ॥७३८॥
सन्नद्धेन च सन्नद्धः साश्वश्चाश्वगतेन तु ।
रथी च रथिना राम ! पदातिश्च पदातिना ॥७३९॥
कुञ्जरस्थो गजस्थेन योद्धव्यो भृगुनन्दन !
विमुखो भग्नशस्त्रश्च स्त्रीबालपरिरक्षिता ॥७४०॥
व्यायुधो भग्नगात्रश्च तथैव शरणागतः ।
परेण युध्यमानश्च युद्धप्रेक्षक एव च ॥७४१॥
आर्तस्तोयप्रदाता च दण्डपाणिस्तथैव च ।
एते रणे न हन्तव्याः क्षत्रधर्ममभीप्सता ॥७४२॥
दुर्दिने नच युद्धानि कर्तव्यानि महाबल !

प्रवृत्ते समरे राम ! परेषां नामकारणात् ॥७४३॥
बाहू प्रगृह्य विक्रोशेद्भग्ना भग्नाः परे त्विति ।
प्राप्तं मित्रबलं भूरि नायकोऽत्र निपातितः ॥७४४॥
सेनानीर्निहतश्चायं सर्वा सेनापि विद्रुता ।
एवं वित्रासनं कुर्यात् परेषां भृगुनन्दन ! ॥७४५॥
विद्रुतानां तु योधानां सुविघातो विधीयते ।
धनुर्वेदविधानेन कल्पना च तथा भवेत ॥७४६॥
पापाश्च देया धर्मज्ञ ! तथैव परमोहनाः ।
पताकाभ्युच्छ्रयः कार्यः स्वबले च तथा शुभः ॥७४७॥
संस्कारश्चैव कर्तव्यो वादित्राणां भयावहः ।
एतस्य वर्षं वक्ष्यामि तवोपनिषदि द्विज ! ॥७४८॥
सम्प्राप्य विजयं युद्धे कार्यं दैवतपूजनम् ।
पूजयेद् ब्राह्मणांश्चात्र गुरूनपि च पूजयेत् ॥७४९॥
रत्नानि राजगामीनि चर्म वाहनमायुधम् ।
सर्वमन्यद्धवेत्तस्य यद्येनैव रणे हृतम् ॥७५०॥
कुलस्त्रियस्तु विज्ञेयास्तथा राम ! न कस्यचित् ।
स्वदेशे परदेशे वा साध्वीं यत्नात्र दूषयेत ॥७५१॥
अन्यथा संकरो घोरो भवतीह क्षयावहः ।
देशे देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ॥७५२॥
स एव परिपाल्यः स्यात्प्राप्य देशं महीक्षिता ।
नृणां प्रदर्शयेद्राजा समरेऽपि हते रिपौ ॥७५३॥
न मे प्रियं कृतं तेन येनायं समरे हतः ।
किन्तु पूजां करोम्यस्य स्वच्छन्दमविजानतः ॥७५४॥
हतोऽयं मद्धितार्थाय प्रियं यद्यपि नो मम ।
अपुत्राश्च स्त्रियश्चैव नृपतिः परिपालयेत ॥७५५॥
ततस्तु स्वपुरं प्राप्य नृपतिः प्रविशेद् गृहम् ।
यात्राविधानविहितं भूयो दैवतपूजनम् ॥७५६॥
पितृणां पूजनं चैव तथा कुर्याद्विशेषवित् ।
संविभागं परावाप्तैः कुर्याद्भृत्यजनस्य तु ॥७५७॥

इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मार्कण्डेयवज्रसंवादे रामं प्रति पुष्करोपाख्याने शत्रुप्रत्यभिगमनो नाम सप्तसप्तत्युत्तरशततमोऽध्यायः ।

ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਿਜ ਮੇਗਜ਼ੀਨ, ਲਾਹੌਰ।

ਹਿੱਸਾ ੧੯ ਵਾਂ ਨੰਬਰ ੪ | ਅਗਸਤ ੧੯੪੩ | ਕੁਲ ਨੰ: ੭੪

ਐਡੀਟਰ—ਬਲਦੇਵ ਸਿੰਘ

ਲੇਖ ਸੂਚੀ।

ਨ: ਪੰਨਾ

ਕੁਝ ਜ਼ਰੂਰੀ ਗੱਲਾਂ

ਇਸ ਮੈਗਜ਼ੀਨ ਵਿਚ ਕੇਵਲ ਖੋਜ ਤੇ ਡੂੰਘੀ ਵਿਚਾਰ ਭਰੇ ਲੇਖ ਹੀ ਛਾਪਨ ਦਾ ਜਤਨ ਕੀਤਾ ਜਾਵੇਗਾ ॥

(੨) ਇਹ ਪਤ੍ਰਿਕਾ ਸਾਲ ਵਿੱਚ ਚਾਰ ਵਾਰੀ ਅਥਵਾ ਕਾਲਜ ਦੀ ਪੜ੍ਹਾਈ ਦੇ ਸਾਲ ਅਨੁਸਾਰ, ਨਵੰਬਰ, ਫ਼ਰਵਰੀ, ਮਈ ਅਤੇ ਅਗਸਤ ਵਿੱਚ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਿਤ ਹੋਵੇਗੀ ॥

(੩) ਇਸ ਦਾ ਸਾਲਾਨਾ ਚੰਦਾ ੩) ਹੋਵੇਗਾ ਅਰ ਵਿਦਯਾਰਥੀਆਂ ਕੋਲੋਂ ਕੇਵਲ ੧॥) ਹੀ ਲਿਆ ਜਾਵੇਗਾ ॥

(੪) ਚੰਦਾ ਪ੍ਰਿੰਸੀਪਲ ਸਾਹਿਬ, ਪੰਜਾਬ ਯੂਨੀਵਰਸਿਟੀ ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਿਜ, ਲਾਹੌਰ ਦੇ ਨਾਮ ਭੇਜਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ॥

ਐਡੀਟਰ

ਜੀਵਨ

[ਡਾ: ਮੋਹਨਸਿੰਘ, ਓਰੀਐਂਟਲ ਕਾਲਿਜ, ਲਾਹੌਰ]

(ਪਿੱਛੇ ਤੋਂ ਅੱਗੇ)

ਸਾਂਤਿ ਸਹਜ ਆਨੰਦ ਨਾਮੁ ਜਪਿ ਵਾਜੇ ਅਨਹਦ ਤੂਰਾ ।

ਜੀਵਨ ਖ਼ਤਰਾ ਹੈ, ਦਮ ਦਮ ਦਾ ਤੇ ਨਾਮ—ਗੁਰੂ ਰਖਵਾਰੇ ਹਨ । ਜੀਵਨ ਪਰਾਚੀਨਤਾ, ਪੁਰਾਣਾ—ਪਨ ਤੇ ਨਾਮ ਨਵਾਂਪਾ ਹੈ, ਨਿਤ ਨਵੀਂ ਜਵਾਨੀ ਹੈ! ਜੀਵਨ ਅਨਿਤਤਾ ਹੈ ਤੇ ਨਾਮ ਨਿਤਤਾ ।

ਮੇਰੇ ਗੁਰੁ ਰਖਵਾਰੇ ਮੀਤ ।

ਦੂਣ ਚਊਣੀ ਦੇ ਵਡਿਆਈ ਸੋਭਾ ਨੀਤਾ ਨੀਤ ।

ਲੋਕੀ ਕਹਿੰਦੇ ਨੇ ਸੇਵਾ ਕਰਦੇ ਹਾਂ, ਨਾਮ ਜਪਦੇ ਹਾਂ, ਪਰ ਕੋਈ ਕੰਮ ਸਊਰਦੇ ਨਹੀਂ । ਭਾਈ, ਗੁਰੂ ਮਹਾਰਾਜ ਦਾ ਹੁਕਮ Imperative ਹੈ, ਵਾਹਿਦਾ ਹੈ, ਬਚਨ ਹੈ—

ਜਾ ਕੀ ਸੇਵ ਨ ਬਿਰਥੀ ਜਾਈ ।

ਬਿਰਥੀ ਨਹੀਂ ਜਾਂਦੀ । ਵਕਤ ਉੱਤੇ ਮਿਲਦਾ ਹੈ, ਵਕਤ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਕਦੀ ਨਹੀਂ । ਅਲਬੱਤਾ ਸਾਡਾ ਵਕਤ ਸਾਡੇ ਜੀਵਨ ਦੇ ਵੰਗ ਕਾਲ ਦੇਸ਼,ਛੋਟੇ, ਓਹਦਿਆਂ ਤੋਂ ਮੁਖ਼ਤਲਿਫ਼ ਹਨ । ਤੇ ਫੇਰ ਫਲ ਕੀ ਨਾਮ ਦਾ, ਨਾਮ ਦਾ ਸਿਮਰਨ ਦਾ ਫਲ ਕੋਈ ਲਡੂ ਨਹੀਂ, ਰੋਟੀ ਨਹੀਂ । ਤਰੱਕੀ ਨਹੀਂ, ਰੰਨ ਕੰਨ ਨਾਮ ਨਮੂਸ਼ ਮਾਲ ਧਨ ਸਭ ਕੁਝ ਹੁੰਦਿਆਂ ਦੇਂਦਿਆਂ ਵੀ ਤੁਸੀ ਨਹੀਂ ਮੁਲ ਖ਼ਰੀਦ ਸਕਦੇ । ਨਾਮ ਦੇ ਦੋ ਫਲ ਹਨ :—ਸ਼ਾਨਤੀ ਤੇ ਭਵਸਾਗਰ ਤਰਨਾ ।

ਸਾਧੂ ਸੰਗਿ ਭਇਆ ਮਨਿ ਉਦਮੁ ਨਾਮੁ ਰਤਨੁ ਜਸੁ ਗਾਈ ।

(੧) ਮਿਟਿ ਗਈ ਚਿੰਤਾ ਸਿਮਰਿ ਅਨੰਤਾ ।

(੨) ਸਾਗਰੁ ਤਰਿਆ ਭਾਈ ।

(੩) ਸੁਖੁ ਪਾਇਆ ।

(੪) ਸਹਜ ਧੁਨਿ ਉਪਜੀ ।

(੫) ਰੋਗਾ ਘਾਣਿ ਮਿਟਾਈ ।

ਰੋਗਾਂ ਦੀ ਘਾਣਿ, ਘਾਣਿ ਜਾਣਦੇ ਹੋ ਪੁਠੋਹਰ ਵਿਚ ਕਿਹਨੂੰ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ ?

ਨਾਮ ਨਾਲ ਇਹ ਇਨਆਮ ਮਿਲਦੇ ਜੇ । ਰੱਬ ਕੋਲ ਜੋ ਕੁਝ ਹੈ ਉਹ ਤਾਂ ਉਹੀ ਦੇਵੇਗਾ, ਮਾਇਆ ਚਾਹੀਦੀ ਹੈ, ਮਾਇਆ ਲਈ ਭਟਕੋ, ਮਿਲ ਹੀ ਜਾਏਗੀ ਕਦੇ ਨ ਕਦੇ ਤਰਸਾ ਤੜਪਾ ਕੇ ਪਰ ਫੇਰ ਖਾਲੀ ਜਾਇਗੀ । ਐਹੋ ਨੁਕਸ ਹੈ, tragedy ਏ, ਵਖ਼ਤ ਏ, ਮੁਸੀਬਤ ਏ, ਘਾਟਾ ਤੋਟਾ ਏ । ਰੋ ਪਿਟ ਕੇ ਮਿਲਦੀ ਹੈ ਪਰ ਥੋੜੇ

ਚਿਰ ਲਈ। ਅਸੀਂ ਚਾਹੁੰਦੇ ਹਾਂ ਸਦੀਵੀ ਜੀਵਨ। ਮਾਇਆ ਪਾਸ ਸਿਰਫ਼ ਸੌ ਵਰਹੇ ਦਾ ਜੀਉਣਾ ਹੈ, ਉਹ ਵੀ ਪਿਟਣ ਪਿਟਾਣ ਦਾ, ਧੰਧੇ ਰੌਲੇ ਦਾ, ਪਾਪ ਪੁੰਨ ਦਾ, ਹਾਸੇ ਅਥਰੂਆਂ ਦਾ ਮਿਲਿਆ ਜੁਲਿਆ, ਗਿਣਤੀਆਂ ਮਿਣਤੀਆਂ ਦਾ।

ਤਾਪ ਜਾਂਦਾ ਹੈ, ਜੀਵਨ ਤਾਪ ਤੇ ਸੰਸਾਰ ਮਿਟਦਾ ਹੈ, ਇਹ ਦੋ ਫਲ ਮੈਂ ਦੱਸੇ ਹਨ। ਹੋਰ ਗਵਾਹੀ ਸੁਣੋ :—

ਸਤਿਗੁਰਿ ਤਾਪੁ ਗਵਾਇਆ, ਭਾਈ, ਠਾਂਢਿ ਪਈ ਸੰਸਾਰਿ।
ਨਾਨਕ ਪ੍ਰਭੂ ਧਿਆਈਐ ਭਾਈ ਮਨੁ ਤਨੁ ਸੀਤਲੁ ਹੋਇ।

ਕਿਉਂ ਭਾਈ ਰਾਮ ਜਨੋ, ਅੱਗ ਵਿਚ ਸੜੀਂਦੇ ਹੋ, ਜੇ ਸੜੀਂਦ ਹੋ, ਮਾਨਸਕ ਅੱਗ ਵਿਚ ਸਰੀਰਕ ਅੱਗ ਵਿਚ, ਤਾਂ ਠੰਡ ਵਰਤਾਉਣ ਵਾਲਾ ਜੀਵਨ-ਦਾਰੂ ਨਾਮ ਜਪੋ।

ਗੁਰਿ ਪੂਰੇ ਤਾਪੁ ਗਵਾਇਆ ਆਪਣੀ ਕਿਰਪਾ ਧਾਰੀ।

ਨਾਮ ਸਾਨੂੰ ਜੀਵਨ ਦੀ ਦਵੰਦਤਾ, ਊਚ ਨੀਚ, ਪਾਪ ਪੁੰਨ, ਗੁਣ ਅਉਗੁਣ ਤੋਂ ਪਰੇ ਸਚੇ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਲੈ ਜਾਂਦਾ ਹੈ।

ਹਲਤੁ ਪਲਤੁ ਪ੍ਰਭ ਦੀਏ ਸਵਾਰੇ ਹਮਰਾ ਗੁਣੁ ਅਵਗੁਣੁ ਨ ਬਿਚਾਰਿਆ।

ਜੀਵਨ ਲੇਖਾ ਹੈ, ਅਲੇਖ ਦਾ ਪਿਆਰ ਸਾਨੂੰ ਲੇਖਿਆਂ ਤੋਂ ਫ਼ਾਰਿਗ ਕਰ ਦੇਵੇਗਾ।

ਜੀਵਨ ਹਉਮੈ ਦਾ ਖੇਲ ਹੈ, ਲੇਖਾ ਹੈ।

ਤੁਧੁ ਆਪੇ ਜਗਤੁ ਉਪਾਇ ਕੈ ਆਪਿ ਖੇਲੁ ਰਚਾਇਆ।
ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਆਪੁ ਸਿਰਜਿਆ ਮਾਇਆ ਮੋਹੁ ਵਧਾਇਆ।
ਵਿਚਿ ਹਉਮੈ ਲੇਖਾ ਮੰਗੀਐ ਫਿਰਿ ਆਵੈ ਜਾਇਆ।

ਜੀਵਨ ਦਿਵਾਨਾਪਨ ਹੈ, ਤੁਸੀਂ ਮੈਂ ਸਾਰੇ ਕਮਲੇ ਫਿਰਦੇ ਹਾਂ। ਕਿਉਂ, ਬਿਨ ਨਾਵੇਂ ਹਾਂ।

ਬਿਨੁ ਨਾਵੈ ਜਗੁ ਕਮਲਾ ਫਿਰੈ ਗੁਰਮੁਖਿ ਨਦਰੀ ਆਇਆ।

Life is a Madding Crowd. ਕਿੱਦਾਂ ਫਿਰਦੇ ਹਾਂ ਤੇ ਕਿਉਂ ਕਮਲੇ ਹੋ ਰਹੇ ਹਾਂ?

ਜਿਉ ਕਸਤੂਰੀ ਮਿਰਗੁ ਨ ਜਾਣੈ ਭ੍ਰਮਦਾ ਭਰਮਿ ਭੁਲਾਇਆ, ਤੇ ਅਸਲੀ ਜੀਵਨ ਉਸ ਕਮਲੇ ਪਨ ਦਾ ਇਲਾਜ ਹੋਰ ਕੁਝ ਨਹੀਂ ਸਿਰਫ਼ ਇਕ ਮਾਨਸਕ ਸੋਝੀ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਜੋ ਅਸੀਂ ਲਭਦੇ ਹਾਂ ਜੀਂਉਂਕੇ, ਉਹ ਸਾਡੇ ਅੰਦਰ ਹੈ ਤੇ ਸਭ ਦੇ ਅੰਦਰ ਹੈ—ਇਕ ਹੈ। ਬਸ—

ਗਰਮਖਿ ਵਿਰਲੇ ਸੋਝੀ ਪਾਈ ਤਿਨਾਂ ਅੰਦਰਿ ਬ੍ਰਹਮ ਦਿਖਾਇਆ।

ਸੱਚਾ ਜੀਵਨ ਬ੍ਰਹਮ ਨੂੰ ਅੰਦਰ ਸੁਝਣਾ ਹੈ, ਇਹ ਸੁਝੇ ਤਾਂ ਕੀ ਹੁੰਦਾ ਹੈ ?

ਤਨੁ ਮਨੁ ਸੀਤਲੁ ਹੋਇਆ ਰਸਨਾ ਹਰਿ ਸਾਦੁ ਆਇਆ ।
ਬਿਨੁ ਸਬਦੈ ਸਭੁ ਜਗੁ ਬਉਰਾਨਾ ਬਿਰਥਾ ਜਨਮੁ ਗਵਾਇਆ ।

ਓਸ ਬ੍ਰਹਮ ਨੂੰ ਕਿਵੇਂ ਅੰਦਰ ਬੁਝੀਏ ?

ਸੋ ਹਰਿ ਪੁਰਖੁ ਅਗੰਮੁ ਹੈ ਕਹੁ ਕਿਤੁ ਬਿਧਿ ਪਾਈਐ ?
ਤਿਸੁ ਰੂਪੁ ਨ ਰੇਖ ਅਦ੍ਰਿਸਟੁ ਕਹੁ ਜਨ ਕਿਉ ਧਿਆਈਐ ?
ਨਿਰੰਕਾਰੁ ਨਿਰੰਜਨੁ ਹਰਿ ਅਗਮੁ ਕਿਆ ਕਹਿ ਗੁਨ ਗਾਈਐ ।
ਜਿਸੁ ਆਪਿ ਬੁਝਾਏ ਆਪਿ ਸੁ ਹਰਿ ਮਾਰਗਿ ਪਾਈਐ ।
ਗੁਰਿ ਪੂਰੈ ਵੇਖਾਲਿਆ ਗੁਰ ਸੇਵਾ ਪਾਈਐ ।

ਰੱਬ ਦੀ ਮੇਹਰ ਤੇ ਗੁਰੂ ਦੀ ਸੇਵਾ ਨਾਲ ਉਹ ਜਗਤ ਜੀਵਨ ਪਾ ਸਕੀਦਾ ਹੈ, ਓਸ ਨਾਲ ਚਤੇ ਹੋਇ ਇਕ ਹੋ ਸਕੀਦਾ ਹੈ, ਓਸ ਨੂੰ ਸਭ ਥਾਂ ਵੇਖ ਸਕੀਦਾ ਹੈ ।

ਝੂਠਾ ਜੀਵਨ ਤਾਂ ਅਸੀਂ ਵੇਖ ਚੁਕੇ ਹਾਂ ਕਿ ਇਕ ਮੁਸ਼ੱਕਤ ਹੈ, ਇਕ ਰੋਣ ਪਿੱਟਣ ਹੈ, ਇੱਕ ਖਿਝਾਣ ਵਾਲਾ ਅਮੁੱਕ ਝੂਟਾ ਹੈ । ਪਰ ਸੱਚਾ ਜੀਵਨ, ਸੁਜੀਵਨ, ਅਧਿਆਤਮਿਕ, ਸਾਤਵਿਕ ਜੀਵਨ, ਏਕਤਾ ਦਾ, ਸਹਜ ਦਾ, ਨਾਮ ਗਿਆਨ ਦਾ ਜੀਵਨ ਕੇਹੋ ਜੇਹਾ ਹੈ ? ਉਹ ਇਕ (੧) ਅਨੰਦ ਹੈ, ਇਕ (੨) ਬਿਸਮਾਦ ਹੈ, ਇਕ (੩) ਪੂਰਣਤਾਈ ਤਥਾ ਸੁੰਦਰਤਾ ਹੈ । ਇਕ (੪) ਗਿਆਨ ਜਾਂ ਸੋਝੀ ਹੈ । ਇਕ (੫) ਸੱਤਾ-ਵਾਲਤਾ, (੬) ਸਾਂਝੀਵਾਲਤਾ ਹੈ । ਇਕ (੭) ਪਰ ਉਪਕਾਰ ਉਮਾਹ ਹੈ । ਜੀਵਨ ਦੀ ਅਸਲੀ ਸ਼ਾਨ ਨੂੰ ਬ੍ਰਹਮ ਗਿਆਨੀ ਦੇ ਜੀਵਨ ਵਿੱਚ ਵੇਖੋ । ਜੀਵਨ ਦੇ ਕਮਾਲ ਗੁਰੂ ਮਹਾਰਾਜ ਨੇ ਬ੍ਰਹਮ ਗਿਆਨੀ ਦੇ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਵਰਨਨ ਕਰਦਿਆਂ ਚਿਤਰ ਹਨ । ਸਾਡੇ ਸਾਹਮਣੇ ਬ੍ਰਹਮ ਗਿਆਨੀ ਦੇ ਜੀਵਨ ਦਾ ਲਖਸ਼ ਹੀ ਹੋਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ।

ਅਨੰਦ ਭਇਆ ਮੇਰੀ ਮਾਏ ਸਤਿਗੁਰੂ ਮੈ ਪਾਇਆ । ਕੀ ਸਾਡੇ ਵਿਚ ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇ ਸਿਖ ਹੋਣ ਦੇ ਖਿਆਲ ਨਾਲ ਨਿਤ ਅਨੰਦ ਦੀ ਨਵੀਂ, ਤਾਜ਼ਾ, ਤਾਕਤਵਰ ਲਹਿਰ ਉਠਦੀ ਹੈ ? ਜੇ ਨਹੀਂ ਤਾਂ ਅਸੀਂ ਗੁਰੂ ਪਾਇਆ ਹੀ ਨਹੀਂ, ਅਸੀਂ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਛਕਿਆ ਹੀ ਨਹੀਂ ।

ਫੇਰ ਬਿਸਮਾਦ—ਕੀ ਸਾਡਾ ਮਨ ਹਰੇਕ ਚੀਜ਼ ਨੂੰ ਦੇਖ ਕੇ, ਉਸ ਨੂੰ ਉਹਦੀ ਕੁਦਰਤ ਸਮਝ ਕੇ ਬਿਸਮਾਦ ਮੰਡਲ ਵਿਚ ਉਡਾਰੀਆਂ ਲਾਉਂਦਾ ਹੈ ? ਕੀ ਸਾਡਾ ਹਿਰਦਾ ਕਦੀ ਜੀਵਨ-ਮਸਤੀ ਵਿਚ ਚੌਂਕ ਉਠਦਾ ਹੈ ।

ਬਿਸਮਾਦੁ ਉਝੜ ਬਿਸਮਾਦੁ ਰਾਹ ।
ਬਿਸਮਾਦੁ ਨੇੜੈ ਬਿਸਮਾਦੁ ਦੂਰਿ । ਬਿਸਮਾਦੁ ਨਾਂਗੇ ਫਿਰਹਿ ਜੰਤ ।

ਵਾਹ ਓਏ ਉਝੜ ਵਿਚ ਪਾਣ ਵਾਲਿਆ ਤੇ ਵਾਹ ਓਏ ਸਿਧੇ ਰਸਤੇ ਲਾਣ ਵਾਲਿਆ, ਵਾਹ ਓਏ ਕਪੜਿਓ ਤੇ ਵਾਹ ਓਏ ਨੰਗੇਜ਼ਾ? ਜੇ ਬਿਸ-ਮਾਦ ਦੇ ਨਸ਼ੇ ਵਿਚ ਅਸੀਂ ਚੂਰ ਹੋਕੇ ਸਭ ਦਿਸਦੇ ਨੂੰ ਵਾਹ ਵਾਹ ਨਹੀਂ ਆਖਿਆ ਤਾਂ ਸਾਡਾ ਜੀਵਨ ਕੁਜੀਵਨ ਹੀ ਰਹਿ ਗਇਆ ਹੈ।

ਪੂਰਣਤਾ ਵਿਚ ਹੀ ਸੁੰਦਰਤਾ ਹੈ ਤੇ ਸੁੰਦਰਤਾ ਦਾ ਇਕ-ਅਰਥਾ ਸ਼ਬਦ ਸੰਵਰਿਆ ਹੈ। ਗਿਆਨ ਦਾ ਇਕ-ਅਰਥਾ ਸੋਝੀ ਹੈ। ਵੇਖੋ।

ਸੇਵਕ ਭਾਇ ਸ ਜਨ ਮਿਲੇ ਗੁਰ ਸਬਦਿ ਸਵਾਰੇ।
ਜਨ ਨਾਨਕ ਕਉ ਸਭ ਸੋਝੀ ਪਾਈ ਹਰਿ ਦਰ ਕੀਆ ਬਾਤਾਂ ਆਖਿ ਸੁਣਾਏ ॥
ਜਿਸ ਕੈ ਮਸਤਕਿ ਹਥੁ ਧਰਿਆ ਗੁਰਿ ਪੂਰੈ ਸੋ ਪੂਰਾ ਹੋਈ ॥
ਗੁਰ ਕੀ ਵਡਿਆਈ ਨਿਤ ਚੜੈ ਸਵਾਈ ਅਪੜਿ ਕੋ ਨ ਸਕੋਈ ॥

ਜੋ ਕੁਝ ਸੋਝੀ ਸਾਨੂੰ ਪੈਣੀ ਹੈ, ਜੋ ਕੁਝ ਸੁੰਦਰਤਾ, ਪੂਰਣਤਾ ਅਸਾਂ ਹਾਸਿਲ ਕਰਨੀ ਹੈ ਸੋ ਏਸੇ ਜੀਵਨ ਏਸੇ ਕਾਇਆਂ ਵਿਚੋਂ ਕਰਨੀ ਹੈ।

ਵਿਣੁ ਕਾਇਆ ਜਿ ਹੋਰ ਥੈ ਧਨੁ ਖੋਜਦੇ ਸੇ ਮੂੜ ਬੇਤਾਲੇ।

ਜੇ ਸੁਜੀਵਨ ਵਿਚ ਲਗੋ ਤਾਂ ਇਹ ਕਾਇਆਂ ਸੁੰਦਰ, ਅਮਰ, ਧਰਮ ਕਾਇਆਂ ਹੋ ਜਾਏਗੀ ਨਹੀਂ ਤਾਂ ਨਿਰੀ ਲੋਥ ਹੈ, ਤੇ ਤੁਹਾਡਾ ਜੀਉਣਾ, ਤੁਹਾਡਾ ਧੰਧਾ ਪਿਟਣਾ ਕੋਲਹੂ ਦੇ ਬੈਲ ਦਾ ਫਿਰਨ ਹੈ।

ਓਹੁ ਤੇਲੀ ਸੰਦਾ ਬਲਦੁ ਕਰਿ ਨਿਤ ਭਲਕੇ ਉਠਿ ਪ੍ਰਭਿ ਜੋਇਆ।

ਲਉ ਧਰਮ ਕਾਇਆਂ ਕੀ ਹੈ ਤੇ ਕਿਵੇਂ ਬਣਦੀ ਹੈ :

ਇਹੁ ਸਰੀਰੁ ਸਭੁ ਧਰਮੁ ਹੈ ਜਿਸੁ ਅੰਦਰਿ ਸਚੇ ਕੀ ਵਿਚ ਜੋਤਿ।
ਗੁਹਜ ਰਤਨ ਵਿਚਿ ਲੁਕਿ ਰਹੇ ਕੋਈ ਗੁਰਮੁਖਿ ਸੇਵਕੁ ਕਢੈ ਖੋਤਿ
ਸਭੁ ਆਤਮਰਾਮੁ ਪਛਾਣਿਆ ਤਾਂ ਇਕੁ ਰਵਿਆ ਇਕੋ ਓਤਿਪੋਤਿ ॥

ਇਕ ਹੋਰ ਲਫ਼ਜ਼ ਅਕਸਰ ਆਉਂਦਾ ਹੈ, ਅਨੰਦ ਦੀ ਥਾਂ, ਰੱਸ ਤੇ ਰਹਸ।

ਨਾਉ ਸੁਣ ਮਨ ਰਹਸੀਐ।
ਸਭਿ ਰਸ ਤਿਨ ਕੇ ਰਿਦੈ ਮਹਿ ਜਿਨ ਹਰਿ ਵਸਿਆ ਮਨ ਮਾਹਿ।

ਸਤਾ—ਵਾਲਤਾ। ਸੱਤਾ ਵਾਲੇ ਚੰਗੇ ਜੀਵਨ ਦਾ ਮਾਲਕ ਓਸ ਰੱਬੀ ਸੱਤਾ ਦੇ ਆਸਰੇ ਨਿਰਭਉ ਹੋ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਸਚਾ ਜੀਵਨ ਨਿਰਭੈਤਾ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੈ। ਡਰ ਦਾ ਨਹੀਂ। ਡਰ ਹੀ ਝੂਠ, ਫ਼ਰੇਬ, ਮਕਰ, ਧਰੋਹ ਦਾ ਕਾਰਨ ਹੈ। ਮਰ—ਜੀਵੜਾ ਨਿਡਰ ਹੈ, ਸੂਰਬੀਰ ਹੈ। ਨਾ ਭਉ ਖਾਂਦਾ ਹੈ ਨਾਂ ਦੇਂਦਾ ਹੈ।

ਜਿਨ ਨਿਰਭਉ ਨਾਮੁ ਧਿਆਇਆ ਤਿਨ ਕਉ ਭਉ ਕੋਈ ਨਾਹਿ।

ਹਰੀ ਦੇ ਸੇਵਕ ਅਨੰਦ, ਬਿਸਮਾਦ, ਪੂਰਣਤਾ, ਸੋਝੀ, ਸੱਤਾ ਤੋਂ ਇਲਾਵਾ ਸਾਂਝੀ ਵਾਲਤਾ ਤੇ ਪਰ ਉਪਕਾਰ ਦੇ ਦੀਵਾਨੇ ਹੁਦੇ ਹਨ।

ਓਇ ਆਪਿ ਤਰੇ ਸਭੁ ਕੁਟੰਬ ਸਿਉ, ਤਿਨ ਪਿਛੈ ਸਭੁ ਜਗਤੁ ਛਡਾਹਿ।

ਬ੍ਰਹਮ ਗਿਆਨੀ ਪਰ ਉਪਕਾਰ ਉਮਾਹਾ।

ਸਾਂਝੀ ਵਾਲਤਾ ਦਾ ਕਮਾਲ ਇਹ ਕਿ ਦੂਜਿਆਂ ਦੇ ਦੁਖ ਵੰਡਾਂਣੇ ਤੇ ਆਪਣਾ ਅਨੰਦ ਉਹਨਾਂ ਵਿਚ ਵੰਡਣਾਂ। ਸੁਕਿਆਂ ਨੂੰ ਆਪਣੀ ਤਰਾਵਤ ਨਾਲ ਹਰਿਆਂ ਕਰ ਦੇਣਾ। ਬਾਬੇ ਇਹੀ ਕੀਤਾ ਸੀ।

ਸਾ ਧਰਤੀ ਭਈ ਹਰੀਆਵਲੀ ਜਿਥੈ ਮੇਰਾ ਸਤਿਗੁਰੁ ਬੈਠਾ ਆਇ।

ਸੇ ਜੰਤ ਭਲੇ ਹਰੀਆਵਲੇ ਜਿਨੀ ਮੇਰਾ ਸਤਿਗੁਰੂ ਦੇਖਿਆ ਜਾਇ।

ਸਚੇ ਜੀਵਨ ਵਾਲੇ ਦੀ ਸਾਂਝ ਗੁਣਾਂ ਦੀ ਤੇ ਫਲ ਦੀ ਸਾਂਝ ਹੁੰਦੀ ਹੈ, ਗੁਣਾਂ ਦੀ ਰਬ ਨਾਲ, ਤੇ ਫਲ ਦੀ ਬੰਦਿਆਂ ਨਾਲ। ਰੱਬ ਦੇ ਗੁਣ ਉਹ ਧਿਆਨ ਦੁਆਰਾ ਆਪਣੇ ਅੰਦਰ ਖਿਚ ਲਿਆਉਂਦੇ ਹਨ, ਤੇ ਆਪਣੀ ਕਮਾਈ ਨੂੰ ਆਪਣੇ ਤਪ–ਫਲ ਨੂੰ ਉਹ ਬੰਦਿਆਂ ਨਾਲ ਵੰਡ ਛਕਦੇ ਹਨ। ਇਹ ਹੈ ਸੱਚੀ ਸਾਂਝੀ–ਵਾਲਤਾ। ਫਲ – ਸਾਂਝ ਦਾ ਨਾਂ ਪਰ ਉਪਕਾਰ, ਪਰ ਸੁਆਰਥ, ਧਰਮ, ਦਇਆ, ਸ਼ੀਲ ਹੈ। ਸ਼ੀਲ ਤੇ ਦਇਆ ਤੇ ਧਰਮ ਜੀਵਨ ਦੇ ਤਿੰਨ ਥੰਮ ਹਨ, ਚੌਥਾ ਵਿਗਿਆਨ ਹੈ। ਬੁਧ ਮਤ ਵਿਚ ਵੀ (ਏਸਦੀ ਮਹਾਯਾਨ ਸ਼ਾਖਾ ਵਿਚ ਖਾਸ ਕਰਕੇ) ਇਹ ਹੀ ਚਾਰ ਥੰਮ ਹਨ। ਇਹੋ ਹੀ ਸ਼ਬਦ ਵਰਤੇ ਗਏ ਹਨ ਜਿਹੜੇ ਗੁਰਮਤ ਵਿਚ ਹਨ।

ਸੁੰਦਰਤਾ ਦਾ ਇਕ ਸਬੂਤ, ਕੇਹਾ ਗ਼ਜ਼ਬ ਦੀ ਸਜਦੀ ਫਬਦੀ ਤਸ਼ਬੀਹ ਦਿਤੀ ਹੈ:

ਸਚਾ ਸਬਦੁ ਭਤਾਰੁ ਹੈ ਸਦਾ ਸਦਾ ਰਾਵੇਇ।

ਜਿਉ ਉਖਲੀ ਮਜੀਠੈ ਰੰਗੁ ਗਹ ਗਹਾ ਤਿਉ ਸਚੇ ਨੋ ਜੀਉ ਦੇਇ।

ਰੰਗਿ ਚਲੂਲੈ ਅਤਿ ਰਤੀ ਸਚੇ ਸਿਉ ਲਗਾ ਨੇਹੁ।

ਰੰਗ ਤੇ ਮਸਤੀਆਂ ਤੇ ਰੂਪ ਜੋਬਨ ਤੇ ਲਹਰਾਂ ਤੇ ਮੌਜਾਂ ਬਹਾਰਾਂ ਇਹ ਸਭ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਆਉਂਦੇ ਹਨ ਜੇ ਕਰ ਅਸੀਂ ਸਚੇ ਅਧਿਆਤਮਕ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਜੀਉਣ ਦਾ ਫ਼ੈਸਲਾ ਕਰੀਏ।

ਫੇਰ, ਇਹ ਸੁੰਦਰਤਾ ਕਿਤੇ ਛਪਾਈ ਲੁਕਾਈ ਜਾ ਸਕਦੀ ਹੈ? ਨਹੀਂ, ਏਸ ਭੰਡਾਰ ਨੂੰ ਤਾਂ ਵੰਡ ਕੇ ਹੀ ਸੁੰਦਰ ਨੂੰ ਅਨੰਦ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਦੋਹਾਂ ਹਥਾਂ ਨਾਲ ਵੰਡਦਾ ਹੈ। ਪਰ ਉਪਕਾਰ ਦੇ ਦਰਿਆ ਵਹਾ ਦੇਂਦਾ ਹੈ:

ਓਇ ਪੁਰਖ ਪ੍ਰਾਣੀ ਧੰਨਿ ਜੋ ਹਰਿ ਉਪਦੇਸੁ ਕਰਹਿ ਪਰ ਉਪਕਾਰਿਆ ।
ਹਰਿ ਨਾਮੁ ਦ੍ਰਿੜਾਵਹਿ ਹਰਿ ਨਾਮੁ ਸੁਣਾਵਹਿ ਹਰਿ ਨਾਮੇ ਜਗੁ ਨਿਸਤਾਰਿਆ ।

ਦੁਨੀਆਂ ਦਾ ਸੱਚਾ, ਪੱਕਾ, ਅਚੱਲ, ਅਟਲ, ਮੂਲ ਉਪਕਾਰ ਤਾਂ ਨਾਮ ਦਾ ਸੰਦੇਸਾ ਦੇਣ ਵਿਚ, ਨਾਮ ਜਪਾਣ ਵਿਚ, ਸਹਜ ਅਵਸਥਾ ਵਲ ਲਿਵ ਖਿੱਚਣ ਵਿਚ ਤੇ ਏਕੰਕਾਰ ਦੇ ਗੁਣ ਗਾਣ ਗਵਾਣ ਵਿਚ ਹੈ । ਬਾਕੀ ਉਪਕਾਰ ਸਾਰੇ ਹੇਠਾਂ, ਥੁੜ–ਜੀਵੇ ਤੇ ਕੱਚੇ ਹਨ, ਭਾਵੇਂ ਲੋੜ ਬਾਕੀਆਂ ਦੀ ਵੀ ਹੈ। ਦਾਨਾਂ ਸਿਰ ਦਾਨ ਜਿਹੜਾ ਅਸਾਂ ਲੈਣਾ ਵੀ ਤੇ ਦੇਣਾ ਵੀ ਹੈ ਉਹ ਮਹਾਂ-ਦਾਨ ਆਤਮ–ਦਾਨ, ਨਾਮ ਦਾਨ, ਕੀਰਤਨ ਦਾਨ ਹੈ, ਵਾਹ ਵਾਹ ਜੀਉ, ਭਿਜ ਜਾਈਏ, ਇਹ ਜੀਵਨ ਸੁਕਾ, ਕੌੜਾ, ਖੌਹਰਾ, ਮਲੀਨ ਤੇ ਕਰੂਪ ਤੇ ਵੱਟਾਂ ਵਾਲਾ ਨਾਂ ਰਹੇ । ਇਹੀ ਅਭਿਲਾਖਾ ਹੈ । ਤਾਂ ਫੇਰ ਕੇਹੋ ਜੇਹਾ ਹੋ ਜਾਵੇ ? ਰਸਭਿੰਨਾ ਹੋ ਜਾਏ, ਸਾਰੇ ਰਸ ਇਹਦੇ ਵਿਚ ਆ ਜਾਣ, ਮਿੱਠਾ ਬਣ ਜਾਏ । ਨਰਮ, ਨਿਰਮਲ, ਸੁੰਦਰ, ਹਸੂੰ ਹਸੂੰ ਕਦਰਾ, ਖਿੜਿਆ ਜੀਵਨ ਬਾਣ ਜਾਏ । ਪਰ ਕਿਵੇਂ ਬਣੇਂ ?

ਸਚੁ ਸਚੇ ਕੀ ਸਿਫਤਿ ਸਲਾਹ ਹੈ ਸੋ ਕਰੇ ਜਿਸੁ ਅੰਦਰੁ ਭਿਜੈ ।
ਜਿਨੀ ਇਕ ਮਨਿ ਇਕੁ ਅਰਾਧਿਆ ਤਿਨ ਕਾ ਕੰਧੁ ਨ ਕਬਹੂ ਛਿਜੈ ।
ਧਨੁ ਧਨੁ ਪੁਰਖ ਸਾਬਾਸਿ ਹੈ ਜਿਨ ਸਚੁ ਰਸਨਾ ਅੰਮ੍ਰਿਤੁ ਪਿਜੈ ।
ਸਚੁ ਸਚਾ ਜਿਨ ਮਨਿ ਭਾਵਦਾ ਸੇ ਮਨਿ ਸਚੀ ਦਰਗਹ ਲਿਜੈ ।
ਧਨੁ ਧਨੁ ਜਨਮੁ ਸਚਿਆਰੀਆ ਮੁਖੁ ਉਜਲ ਸਚੁ ਕਰਿਜੈ ।

ਰੌਸ਼ਨ ਜੀਵਨ, ਉਚਾ ਜੀਵਣ, ਰਸ ਭਿੰਨਾ ਜੀਵਨ, ਸੱਚ ਮਨ–ਭਾਵਣ ਕਰਨ ਨਾਲ, ਇਕ ਧਿਆਉਣ ਨਾਲ ਮਿਲਦਾ ਹੈ ।

ਤੇ ਇਹ ਸੱਚ ਭਾਵਣਾ, ਅਰਾਧਣਾਂ, ਮੰਨਣਾ, ਜਾਗਦਿਆਂ ਹੀ ਨਹੀਂ ਸੁੱਤਿਆਂ ਵੀ ਸੁਤੇ ਸਿਧ ਵੀ ਕਰਨਾਂ ਹੈ, ਕਿਉਂ ਜੋ ਅਸਲੀ ਦੁਸ਼ਮਨ ਸਚੇ ਜੀਵਨ ਦਾ ਤਾਂ ਸਾਡੇ ਛਪੇ ਲੁਕੇ ਸੰਸਕਾਰ, ਸਾਡੀਆਂ ਅੰਦਰਲੀਆਂ ਖ਼ਾਹਿਸ਼ਾਂ, ਬਿਰਤੀਆਂ, ਸਾਡਾ ਅਚੇਤ ਭਾਗ (Subconscious) ਹੈ ਜਿਹੜਾ ਕਿ ਸੁਪਨਿਆਂ ਵਿਚ ਨੰਗਾ ਹੋ ਖਲੋਂਦਾ ਤੇ ਖੇਡਦਾ ਹੈ । ਏਸ ਨੂੰ ਫ਼ਤਹ ਕਰਨ ਲਈ, ਸੁਧਾਰਨ ਲਈ ਅਸਾਂ (੧) ਸਾਸ ਸਾਸ ਸਿਮਰਨਾ ਹੈ ਤੇ (੨) ਸੁਤਿਆਂ ਵੀ ਸਿਮਰਨਾ ਹੈ । ਵਾਹ ਵਾਹ, ਸਤਿਗੁਰੂ ਫ਼ਰਮਾਂਦੇ ਹਨ ।

ਸਚੁ ਸੁਤਿਆਂ ਜਿਨੀ ਅਰਾਧਿਆ ਜਾ ਉਠੇ ਤਾ ਸਚੁ ਚਵੇ ।
ਸੇ ਵਿਰਲੇ ਜੁਗ ਮਹਿ ਜਾਣੀਅਹਿ ਜੋ ਗੁਰਮੁਖਿ ਸਚੁ ਰਵੇ ।
ਜਿਨ ਮਨਿ ਤਨਿ ਸਚਾ ਭਾਵਦਾ ਸੇ ਸਚੀ ਦਰਗਹ ਗਵੇ ।
ਜਨੁ ਨਾਨਕੁ ਬੋਲੈ ਸਚੁ ਨਾਮੁ ਸਚੁ ਸਚਾ ਸਦਾ ਨਵੇ ।

ਇਕਬਾਲ ਸਦਾ ਨਵਾਂ ਜੀਵਨ ਚਦਾ ਹੈ ਤੇ ਸਿਰਜੂ ਜੀਵਨ New Life and Creative Action। ਜੇ ਸਦਾ ਨਵੇਂ ਹੋਣਾ ਚਾਂਹੁੰਦੇ ਹੋ ਤਾਂ ਸਚ ਨਾਮ, ਸਤ ਨਾਮ ਦਾ ਜਾਪ ਕਰੋ, ਸਤ ਨਾਮ ਮੰਨ ਵਿਚ ਵਸਾਓ। ਜੇ ਸੌਣ ਜਾਗਣ ਸ੍ਵਾਸ ਗਰਾਸ ਵਿਚ ਸਤਿਨਾਮ ਦਾ ਸਿਮਰਨ ਕਰੋਗੇ ਤਾਂ ਤੁਹਾਨੂੰ ਨਿਤ ਨਵਾਂ ਜੀਵਨ ਤੇ ਨਿਤ ਨਵੇਂ ਬੁਲਹੇ ਮਿਲਣਗੇ।

ਕਿਆ ਸਵਣਾ ਕਿਆ ਜਾਗਣਾ ਗੁਰਮੁਖਿ ਤੇ ਪਰਵਾਣੁ।
ਜਿਨਾ ਸਾਸਿ ਗਿਰਾਸਿ ਨ ਵਿਸਰੇ ਸੇ ਪੂਰੇ ਪੁਰਖੁ ਪਰਧਾਨ॥
ਸਤ ਨਾਮ ਤੇ ਨਾਲੇ ਵਾਹਿਗੁਰੂ। ਕਿਦਾਂ ?
ਸਉਦੇ ਵਾਹੁ ਵਾਹੁ ਉਚਰਹਿ ਉਠਦੇ ਭੀ ਵਾਹੁ ਕਰੇਨਿ।
ਨਾਨਕ ਤੇ ਮੁਖ ਉਜਲੇ ਜਿਨਿ ਤਉ ਉਠਿ ਸੰਮਾਲੇਨਿ।
ਤੇ ਅਸੀਂ ਕੀ ਸਉਦਿਆਂ ਉਠਦਿਆਂ ਉਚਰਦੇ ਹਾਂ—
ਵਾਹੁ ਵਾਹੁ ਦੀ ਥਾਂ ਹਾਏ ਹਾਏ ! ਓਏ ਓਏ, ਊਂ ਓਂ, ਹਵਾ ਹਵਾ (ਲਾਲਚ, ਹਵਸ)। ਅਸੀਂ ਉਲਟੀ ਮਤ ਵਾਲੇ,

ਕਲ ਮੁੱਹੇਂ ਸੱਚਾ ਜੀਵਨ ਕੀ ਜਾਣੀਏ, ਤਾਂਹੀਓਂ ਤਾਂ ਧੰਨੁ ਧੰਨੁ ਦੀ ਥਾਂ ਸਾਨੂੰ ਦੁਰ ਦੁਰ ਹੁੰਦੀ ਹੈ ਤੇ ਜੂਨੀ ਤੇ ਜੂਨੀ ਸਾਨੂੰ ਭੋਗਣੀ ਪੈਂਦੀ ਹੈ।

ਬਿਨੁ ਗੁਰ ਮਨੂਆ ਨਾ ਟਿਕੈ ਫਿਰਿ ਫਿਰਿ ਜੂਨੀ ਪਾਇ।

ਜੀਵਨ ਨਾਮ ਟਿਕਾਉ ਦਾ ਹੈ, ਜਿਨਾ ਬਹੁਤਾ ਟਿਕਾਉ ਹੈ ਉੱਨਾ ਹੀ ਬਹੁਤਾ ਸੰਘਣਾਂ ਜੀਵਨ ਰਸ ਹੈ, ਪਰ ਸਾਨੂੰ ਹਵਸ ਲਾਲਚ ਦਿਆਂ ਮਾਰਿਆਂ ਨੂੰ ਟਿਕਾਉ ਕਿਥੇ, ਜੀਵਨ ਤਪਤ ਹੈ।

ਨਾਨਕ ਨਾਵੈਂ ਕੀ ਮਨਿ ਭੁਖ ਹੈ ਮਨੁ ਤ੍ਰਿਪਤੈ ਹਰਿ ਰਸੁ ਗਾਇ।
ਸਚੁ ਗੁਰਮੁਖਿ ਜਿਨੀ ਸਲਾਹਿਆ ਤਿਨ੍ਹਾ ਭੁਖਾ ਸਭਿ ਗਵਾਈਆ।

ਜੀਵਨ ਟਿਕਾਉ ਹੈ ਪਰ ਟਿਕਾਉ ਕਿਸੇ ਟੇਕ ਨਾਲ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਇਸ ਨਾਮ ਟੇਕ ਬਿਨਾ ਅੰਨ੍ਹ ਮੁੰਨੇ ਦੇ ਹਥ ਵਿਚ ਕੋਈ ਟੇਕ ਦਿਓ ਜੇ ਟਿਕਾਉ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ, ਪਰ ਅਸੀਂ ਆਕੜ ਵਿਚ ਰੁੱੜੇ ਟੇਕ ਕਿਸੇ ਦੀ ਨਹੀ, ਫੜਦੇ, ਹਤਕ ਸਮਝਦੇ ਹਾਂ ਕਿਸੇ ਦੀ ਟੇਕ ਲੈਣੀ, ਮੰਨ ਅੰਧਲੇ ਨੂੰ ਨਾਮ ਦੀ ਟੇਕ ਚਾਹੀਦੀ ਹੈ, ਤਾਂ ਹੀ ਟਿਕ ਸਕਦਾ ਹੈ। ਗੁਰੂ ਦੀ ਟੇਕ ਚਾਹੀਦੀ ਹੈ।

ਮਾਇਆ ਧਾਰੀ ਅਤਿ ਅੰਨਾ ਬੋਲਾ

ਅੰਨ੍ਹੇ ਨੂ ਨਾਮਣੀ ਟੇਕ ਦਿਓ, ਨਾਂਮ ਦਾ ਸ਼ਬਦ ਸੁਣਾਓ, ਤਾਂ ਜੋ ਵੇਖਣ ਨਾਲ ਤੇ ਸੁਣਨ ਨਾਲ ਬਲਕਿ ਸੁਣਨ ਨਾਲ, ਵੇਖਣ ਨਾਲ, ਗੁਰ ਦਰਸ਼ਨ ਕਰਨ ਨਾਲ ਇਹ ਮਕਤੀ ਪਰਾਪਤ ਕਰ ਲਏ

ਸਬਦੁ ਨ ਸੁਣਈ ਬਹੁ ਰੋਲ ਘਚੋਲਾ ॥
ਹਰਿ ਨਾਮ ਸੁਣਿ ਮੰਨੇ ਹਰਿ ਨਾਮਿ ਸਮਾਏ।
ਜੋ ਤਿਸੁ ਭਾਵੈ ਸੁ ਕਰੇ ਕਰਾਇਆ।
ਨਾਨਕ ਵਜਦਾ ਜੰਤੁ ਵਜਾਇਆ ॥

ਜੀਵਨ ਇੱਕ ਰਾਗ ਹੈ, ਪਰ ਕਿਸ ਜੰਤਰ ਉਤੇ ਤੇ ਕਿਵੇਂ ਵੱਜ ਸਕਦਾ ਹੈ। ਕਿਸ ਚੀਜ਼ ਨਾਲ ਵਜਾਇਆ ਜਾਵੇ? ਚੂਨੀਆਂ ਦੇ ਵਜਾਇਆਂ ਏਸ ਜੀਵਨ ਵਿਚੋਂ ਮਾੜਾ, ਕੋਝਾ, ਝਗੜੇ ਪਾਊ ਸ਼ਬਦ, ਰਾਗ ਨਿਕਲੇਗਾ। ਜੋ ਰੱਬ ਦੀ ਰਜ਼ਾ, ਹੁਕਮ, ਦੇ ਵਜਾਇਆ ਵਜਿਆਂ ਤਾਂ ਇਹ ਜੰਤਰ ਸੱਚਾ ਰਾਗ, ਪੰਜ ਸ਼ਬਦ ਉਪਜਾਏਗਾ।

ਫ਼ਰੀਦ ਸ਼ਕਰ ਗੰਜ ਨੇ ਲਿਖਿਆ ਸੀ :

ਫਰੀਦਾ ਦੁਨੀ ਵਜਾਈ ਵਜਦੀ ਤੂੰ ਭੀ ਵਜਹਿ ਨਾਲਿ।
ਸੋਈ ਜੀਉ ਨ ਵਜਦਾ ਜਿਸੁ ਅਲਹੁ ਕਰਦਾ ਸਾਰ ॥

(੮)

ਕਾਮਯਾਬ ਜੀਵਨ, ਸਫਲ ਸੁੰਦਰ ਜੀਵਨ ਵਾਸਤੇ ਸਭ ਤੋਂ ਜ਼ਰੂਰੀ ਚੀਜ਼ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਮਰਨ ਨੂੰ ਯਾਦ ਰਖਿਆ ਜਾਏ, ਜੀਵਨ ਮਰਨ ਦੋਹਾਂ ਤੋਂ ਪਰੇ ਪਹੁੰਚਣ ਦੀ, ਅਮਰ ਪੁਰੀ ਵਿਚ ਏਥੇ ਹੀ ਵਸਣ ਦੀ ਕੋਸ਼ਿਸ਼ ਕੀਤੀ ਜਾਏ ਤੇ ਜੀਵਨ ਤਲਬ ਨਿਵਾਰੀ ਜਾਏ। ਏਸੇ ਤੋਂ ਮੈਂ ਆਪਣੀ ਵਿਆਖਿਆ ਸ਼ੁਰੂ ਕੀਤੀ ਸੀ, ਬਹੁਤੇ ਜੀਵਨ, ਬਹੁਤੇ ਸੁਖੀ ਜੀਵਨ ਦੀ ਆਸਾ ਹੀ ਸਾਥੋਂ ਗੰਦੀਆਂ ਗਲਾਂ ਕਰਾਉਂਦੀ ਹੈ। ਭਾਣਾ ਮਨਣਾ ਹੀ ਏਸ ਜੀਵਨ ਤਲਬ ਨੂੰ ਨਿਵਾਰਨਾ ਤੇ ਸੱਚੇ ਜੀਵਨ ਵਲ ਵੱਗ ਤੁਰਨਾ ਹੈ।

ਜਿਨ ਸਤਿਗੁਰ ਕਾ ਭਾਣਾ ਮੰਨਿਆ ਤਿਨ ਚੜੀ ਚਵਗਣਿ ਵੰਨੇ।

ਜੇ ਹੇਠਲੀਆਂ ਗੱਲਾਂ ਵਿੱਚੋਂ ਕੋਈ ਵੀ ਤੁਹਾਡੇ ਵਿਚ ਹੈ ਤਾਂ ਤੁਸੀਂ ਕੁਜੀਵਨ ਜੀਉਂ ਰਹੇ ਹੋ।

ਮਨਮੁਖੁ ਅਗਿਆਨੁ ਦੁਰਮਤਿ ਅਹੰਕਾਰੀ।
ਅੰਤਰਿ ਕ੍ਰੋਧੁ ਜੂਐ ਮਤਿ ਹਾਰੀ ॥
ਕੂੜੁ ਕੁਸਤੁ ਓਹੁ ਪਾਪ ਕਮਾਵੈ ॥
ਕਿਆ ਓਹੁ ਸੁਣੈ ਕਿਆ ਆਖਿ ਸੁਣਾਵੈ ॥
ਅੰਨ੍ਹਾ ਬੋਲਾ ਖੁਇ ਉਝੜਿ ਪਾਇ।
ਜਿਨ ਕੇ ਚਿਤ ਕਠੋਰ ਹਹਿ ਸੇ ਬਹਹਿ ਨ ਸਤਿਗੁਰ ਪਾਸਿ।
ਓਥੈ ਸਚੁ ਵਰਤਦਾ ਕੂੜਿਆਰਾ ਚਿਤ ਉਦਾਸਿ।

ਓਇ ਵਲੁ ਛਲੁ ਕਰਿ ਝਤਿ.ਕਢਦੇ ਫਿਰਿ ਜਾਇ ਬਹਹਿ ਕੂੜਿਆਰਾ ਪਾਸਿ।
ਲੈ ਫਾਹੇ ਰਾਤੀ ਤੁਰਹਿ ਪ੍ਰਭੁ ਜਾਣੈ ਪ੍ਰਾਣੀ।
ਤਕਹਿ ਨਾਰਿ ਪਰਾਈਆ ਲੁਕਿ ਅੰਦਰਿ ਠਾਣੀ।
ਸੰਨ੍ਹੀ ਦੇਨਿ ਵਿਖੰਮ ਥਾਇ ਮਿਠਾ ਮਦੁ ਮਾਣੀ।
ਕਰਣੀ ਆਪੋ ਆਪਣੀ ਆਪੇ ਪਛੁਤਾਣੀ।
ਅਜਰਾਈਲੁ ਫਰੇਸਤਾ ਤਿਲ ਪੀੜੇ ਘਾਣੀ।
ਨਿੰਦਾ ਕਰਦਾ ਪਚਿ ਮੁਆ ਵਿਚਿ ਦੇਹੀ ਭਖੈ।
ਨਰਕ ਘੋਰ ਬਹੁ ਦੁਖ ਘਣੇ ਅਕਿਰਤ ਘਣਾ ਕਾ ਥਾਨੁ।
ਕਾਮ ਕ੍ਰੋਧ ਬੁਰਿਆਈਆਂ ਸੰਗਿ ਸਾਧੂ ਤੁਟੁ॥

ਸਚੇ ਜੀਵਨ ਵਾਲਿਆਂ ਨੂੰ ਨਿਰਾ ਸਾਇੰਸੀ ਗਿਆਨ ਹੀ ਨਹੀ ਹੁੰਦਾ। ਉਹਨਾਂ ਨੂੰ ਤਾਂ ਤਿੰਨਾਂ ਲੋਕਾਂ ਦੀ ਸੋਝੀ ਵੀ ਹੈ। ਕੰਨ ਖੋਹਲ ਕੇ ਸੁਣੋ :—

ਗੁਰ ਸੇਵਾ ਤੇ ਤ੍ਰਿਭਵਣ ਸੋਝੀ ਹੋਇ।
ਆਪੁ ਪਛਾਣਿ ਹਰਿ ਪਾਵੈ ਸੋਇ।
ਸਾਚੀ ਬਾਣੀ ਮਹਲੁ ਪਰਾਪਤਿ ਹੋਇ।

ਸਭ ਕੁਝ ਜਾਣ ਕੇ ਉਹ ਫੇਰ ਕਿਸੇ ਮਤਲਬ, ਗਰਜ਼ ਵਾਸਤੇ ਓਸ ਸੋਝੀ ਸਾਂਤੀ ਨੂੰ ਨਹੀਂ ਵਰਤਦੇ, ਖ਼ਾਸ ਕਰ ਦੂਜਿਆਂ ਆਦਮੀਆਂ, ਮੁਲਕਾਂ, ਕੌਮਾਂ ਨੂੰ ਜਿਤਣੇ ਵਾਸਤੇ ਜਿਵੇਂ ਅੱਜ ਕਲ ਦੇ ਸਾਇੰਸਦਾਨ ਕਰਦੇ ਹਨ ਨਾਂ ਹੀ ਉਹ ਆਪਣੇ ਐਸ਼ ਲਈ ਬਲਕਿ ਬ੍ਰਹਮ ਗਿਆਨੀ ਤਾਂ ਸਰਬ-ਸੋਝੀ ਹੋਕੇ ਨਿਰਾਸਾ ਹੋ ਜਾਂਦਾ, ਸਭ ਆਸਾਂ ਛਡ ਹੀ ਦੇਂਦਾ ਹੈ।

ਆਸਾ ਆਸ ਕਰੇ ਸਭੁ ਕੋਈ। ਹੁਕਮ ਬੂਝੈ ਨਿਰਾਸਾ ਹੋਈ।
ਆਸਾ ਵਿਚਿ ਸੁਤੇ ਕਈ ਲੋਈ। ਸੋ ਜਾਗੈ ਜਾਗਾਵੈ ਸੋਈ।

ਉਹ ਤਾਂ ਭਗਵਾਨ ਦੇ ਹਥਿਆਰ, ਕਾਹਨ ਦੀ ਮੁਰਲੀ ਬਣ ਖਹਿੰਦੇ ਹਨ, ਜੋ ਨਾਚ ਉਹ ਨਚ੍ਵਾਵੇ ਨਚਦੇ ਹਨ, ਕੀਰਤਨ ਵਿਚ ਮਸਤ ਰਹਿੰਦੇ ਹਨ ਤੇ ਲੋਕਾਂ ਨੂੰ ਨਾਮ ਚਿਤਾਉਂਦੇ ਹਨ। ਬਹੁਤ ਕਰਮ ਨਹੀਂ ਭਗਤ ਤੇ ਨਾਮ-ਧਾਰੀਏ ਲਈ ਕਿਉਂ ਕਿ

ਮੂਰਖ ਪੜਿ ਪੜਿ ਦੂਜਾ ਭਾਉ ਦ੍ਰਿੜਾਇਆ।
ਬਹੁ ਕਰਮ ਕਮਾਵੈ ਦੁਖੁ ਸਬਾਇਆ॥

(੯)

ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਸਚ ਕਮਾਉਣ ਤੇ ਜ਼ੋਰ ਦਿਤਾ ਹੈ। ਸਚ ਕੀ ਹੈ, ਉਹ Reality ਹੈ: ਪਰਮਾਤਮਾ ਦੀ ਸਭ ਤੋਂ ਸੱਚੀ ਤਾਰੀਫ਼

ਇਹੀ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਸਚ ਹੈ ਤੇ ਜਗ–ਜੀਵਨ ਹੈ।

ਇਹ ਮੁਸਬਤ ਤਾਰੀਫ਼ ਹੈ ਮਨਫ਼ੀ ਹੀ ਨਹੀਂ, ਅਰਥਾਤ ਇਹੀ ਨਹੀਂ ਕਹਿਆ ਗਇਆ ਕਿ ਉਹ ਅਗੰਮ ਹੈ, ਅਲੇਖ, ਨੇਤ–ਨੇਤ, ਬਲਕਿ ਸਾਫ਼ ਦਸਿਆ ਗਇਆ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਔਹ ਹੈ ਤੇ ਐਹ ਹੈ। ਜੇ ਓਹ ਸੱਚ ਹੈ ਤੇ ਜਗ–ਜੀਵਨ, ਸਾਂਝਾ ਸਾਰੇ ਚਰਾਚਰ ਜੀਵਨ ਤਾਂ ਸਾਡੇ ਜੀਵਨ ਉਦੇਸ਼ ਦੀ ਪੂਰਤੀ ਇਸੇ ਵਿਚ ਹੀ ਹੈ ਕਿ ਅਸੀਂ ਵੀ ਸਚ ਬੋਲੀਏ ਤੇ ਸਾਂਝਾ ਜੀਵਨ ਜੀਉਣ ਦੀ ਕੋਸ਼ਿਸ਼ ਕਰੀਏ। ਆਪਣੇ ਨਿਜੀ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਦੂਜਿਆਂ ਨਾਲ ਸਾਂਝਾ ਕਰਕੇ ਜੀਵੀਏ। ਅਰਥਾਤ ਉਹਨਾਂ ਦੇ ਰੋਵਣ ਤੇ ਹਾਸ, ਘਾਟੇ ਤੇ ਨਫ਼ੇ ਵਿਚ ਸ਼ਰੀਕ ਹੋਵੀਏ ਤੇ ਏਸੇ ਤਰਾਂ ਆਪਣੇ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਦੂਣਾ, ਚਉਣਾ, ਬੇਅੰਤ ਗੁਣਾਂ ਬਣਾ ਲਈਏ।

ਵਿਚਹੁ ਆਪੁ ਗਵਾਏ ਫਿਰਿ ਕਾਲੁ ਨ ਖਾਏ ਗੁਰਮੁਖਿ ਏਕੋ ਜਾਤਾ।
ਕਾਮਣਿ ਇਛ ਪੁੰਨੀ ਅੰਤਰਿ ਭਿੰਨੀ ਮਿਲਿਆ ਜਗ ਜੀਵਨੁ ਦਾਤਾ।
ਸਚੜਾ ਸਾਹਿਬੁ ਸਬਦਿ ਪਛਾਣੀਐ ਆਪੇ ਲਏ ਮਿਲਾਏ।
ਪਿਰੁ ਸਚਾ ਮਿਲੈ ਆਏ ਸਾਚੁ ਕਮਾਏ ਸਾਚਿ ਸਬਦਿ ਧਨ ਰਾਤੀ
ਕਦੇ ਨ ਰਾਂਡ ਸਦਾ ਸੋਹਾਗਣਿ ਅੰਤਰਿ ਸਹਜਿ ਸਮਾਧੀ

ਓਸ ਜਗ ਜੀਵਨ ਤੀਕ ਪਹੁੰਚਣ ਲਈ ਸਾਨੂੰ ਜੀਵਨ ਮੁਕਤ ਹੋਣਾ ਜ਼ਰੂਰੀ ਹੈ। ਜੀਵਨ ਦਾ ਢੰਗ ਜੇ ਕਰ ਬਦਲਣ ਦੀ ਤੁਹਾਨੂੰ ਲੋੜ ਪਈ ਹੈ, ਤੇ ਜਦੋਂ ਵੀ ਪਏਗੀ, ਤੁਹਾਨੂੰ ਜੀਵਨ–ਮੁਕਤ ਵਿਚ ਹੀ ਆਪਣੀ ਇੱਛਾ ਪੂਰਤੀ ਨਜ਼ਰ ਆਵੇਗੀ। ਹਾਲਾਂ ਤੁਹਾਨੂੰ ਫਿਕਰ ਨਹੀਂ ਲੱਗੀ, ਹਾਲੀਂ ਤੁਸੀਂ ਮਾਇਆ ਵਿਚ ਖਚਤ ਕੁਜੀਵਨ ਜੀਉ ਰਹੇ ਹੋ, ਜੀਵੀਂ ਜਾਓ। ਜਦੋਂ ਇਸ ਜੀਵਨ ਤੋਂ ਅਸੰਤੋਖ ਤੁਹਾਡੇ ਮਨ ਵਿਚ ਪੈਦਾ ਹੋਵੇਗਾ ਤਦੋਂ ਹੀ ਤੁਸੀਂ ਇਹ ਪੁਸਤਕਾਂ ਪੜ੍ਹੋਗੇ ਤੇ ਬਾਣੀ ਘੋਖੋਗੇ। ਤਦੋਂ ਤੁਹਾਨੂੰ ਮਾਲੂਮ ਹੋਵੇਗਾ ਕਿ ਓਹੋ, ਸਚਾ ਜੀਵਣ ਤਾਂ ਹੋਰ ਹੀ ਚੀਜ਼ ਹੈ। ਜੀਵਣ ਮੁਕਤ ਜਿਸ ਰਿਦੈ ਹਰਿ ਨਾਮ।

ਜੀਵਨ ਤਾਂ ਇਕ ਵੇਛੋੜਾ ਹੈ। ਜੀਵੰਦਿਆਂ ਮਰ ਕੇ ਜੀਉਂਦਿਆਂ ਹੀ ਵਿਸਾਲ, ਮਿਲਾਪ ਹਾਸਿਲ ਕਰ ਲਓ।

ਜੰਮਣੁ ਮਰਣੁ ਵਡਾ ਵੇਛੋੜਾ ਬਿਨਸੈ ਜਗੁ ਸਬਾਏ।
ਬਾਬਾ ਸਚੜਾ ਮੇਲੁ ਨ ਚੁਕਈ ਪ੍ਰੀਤਮ ਕੀਆ ਦੇਹ ਅਸੀਸਾਹੇ।
ਆਸੀਸਾਂ ਦੇਵੋ ਭਗਤਿ ਕਰੇਵਹੋ ਮਿਲਿਆ ਕਾ ਕਿਆ ਮੇਲੋ।

ਸਚਾ ਮੇਲ ਤੁਹਾਡੇ ਅੰਦਰ ਹੀ ਹੋਵੇਗਾ। ਪੂਰਾ ਜੀਵਨ ਤੁਹਾਡੇ ਅੰਦਰ ਹੈ।

ਅੰਦਰੋਂ ਹੀ ਜਗ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਲੱਭ ਕੇ ਆਪਣੇ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਅਨੰਤ, ਸੁੰਦਰ ਕਲਿ-ਆਨ-ਕਾਰੀ; ਸਤ, ਬਣਾ ਲਓ।

(੧੦)

ਮੁਸਲਮਾਣਾਂ ਦੀ ਤੇ ਪੱਛਮੀਆਂ ਦੀ ਵੇਖਾ ਵੇਖੀ ਤੇ ਰੀਸ ਪਰੀਸੀ ਅਸੀਂ ਵੀ ਕਰਮ ਭਰੇ, ਜੁਸ਼ੀਲੇ, ਚੁਸਤ ਤੇ ਮਾਇਆ ਮੋਹ ਵਿਚ ਅਚੇਤ ਡੁਬੇ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਸਲਾਹੁੰਦੇ ਹਾਂ ਤੇ ਵੈਰਾਗ ਦੇ ਉਦਾਸੀਨਤਾ ਦੇ, ਮਰਜੀਉੜੇ ਦੇ, ਬੇਤਅਲੁਕੀ ਦੇ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਮੁਰਦਾ, passive, ਨਿਰ-ਰਸ, ਹਾਰੂ ਜੀਵਨ ਕਹਿ ਕੇ ਠੋਕਰਦੇ ਹਾਂ। ਪਰ ਇਹ ਸਾਡੀ ਭੁਲ ਹੈ। ਮਾਇਆ-ਪੁਤਰ, ਇਸਤਰੀ, ਭਰਾ, ਨਾਤੇਦਾਰ, ਹਮ ਕੌਮ, ਮੁਲਕ ਵਾਲੇ, ਦੁਨੀਆਵਾਲੇ ਕਿੰਨੀਂ ਕੁ ਵਫ਼ਾ ਸਾਡੇ ਨਾਲ ਕਰਦੇ ਹਨ; ਸਾਡੇ ਪਿਆਰ ਨੂੰ ਉਹ ਕਿਸ ਤਰਹਾਂ ਧਿਕਾਰਦੇ ਤੇ ਓਸ ਤੋਂ ਨਾਜਾਇਜ਼ ਫ਼ਾਇਦੇ ਉਠਾਂਦੇ ਹਨ, ਫੇਰ ਇਨਸਾਨੀਅਤ ਨੂੰ ਕਿਸ ਤਰਹਾਂ ਬਜ਼ਾਰੀਂ ਵੇਚਦੇ ਹਨ ਤੇ ਯੁਸਫ਼ੀ ਦਾ ਮੁਲ ਅਟੇਰੀ ਪਾਂਦੇ ਹਨ। ਜੇ ਅਸੀਂ ਨਾਜ਼ਕ ਹਿਸ ਵਾਲੇ ਹੋ ਕੇ ਵੇਖੀਏ ਤਾਂ ਹਰ ਪਾਸੋਂ ਸਾਨੂੰ ਬੇਵਫ਼ਾਈ, ਅਕਿਰਤਘਾਣਤਾ, ਫ਼ਰੇਬ, ਬਾਣੀਏਪਨ ਦੁਆਰਾ ਸੱਟਾਂ ਵੱਜ ਰਹੀਆਂ ਤੇ ਚਿਤਾਉਣੀਆਂ ਮਿਲ ਰਹੀਆਂ ਹਨ। ਹੱਕ ਖੁਸਦੇ, ਖੁਬਦੇ ਹਨ, ਜ਼ੁਲਮ ਹੁੰਦੇ ਹਨ, ਛੋਟੀ ਮਛੀ ਵਡੀ ਦੇ ਤੇ ਵਡੀ ਵਡੇਰੀ ਦੇ ਮੂੰਹ ਪਈ ਜਾਂਉਂਦੀ ਹੈ, ਦਿਲ ਪੈਰਾਂ ਥਲੇ ਮਿਧੇ ਪਏ ਜਾਂਦੇ ਹਨ, ਰੱਬ ਤੇ ਭਗਤ ਨੂੰ ਦੁਰਕਾਰਿਆ ਜਾਂਦਾ ਹੈ। ਇਹ ਸਭ ਕੁਛ ਇਨਸਾਨੀ ਫ਼ਿਤਰਤ ਦਾ ਰਜੋਗੁਣ-ਪਨ ਤੇ ਤਮੋਗੁਣ-ਪਨ ਵੇਖ ਕੇ ਵੀ ਅਸੀਂ ਸਤੋਗੁਣ ਵਲ ਨਹੀਂ ਮੂੰਹ ਫੇਰਦੇ। ਗੱਲ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਜਿਹੜੇ ਮਨੁਖ, ਜਿਹੜੀ ਕੌਮ ਰਜੋਗੁਣ ਜਾ ਤਮੋ ਗੁਣ ਦੇ ਦਰਜੇ ਉੱਤੇ ਹੈ ਉਹ ਕਿਵੇਂ ਸਤੋ ਗੁਣ, ਉਚਤਾ ਨੂੰ ਵੇਖ, ਪਛਾਣ ਤੇ ਮਾਣ ਸਕਦੀ ਹੈ। ਕਮ ਕਰਨਾ, ਜਾਂ ਨਾ ਕਰਨਾ ਇਹਵੀ ਮੰਨਜ਼ਿਲਾਂ ਹਨ, ਜ਼ਰੂਰੀ, ਇਹਨਾਂ ਤੋਂ ਲੰਘਣਾ ਹੀ ਪੈਂਦਾ ਹੈ ਹਰ ਕੌਮ ਤੇ ਆਦਮੀ ਨੂੰ। ਸਿਆਣਾ ਉਹ ਹੈ ਜਿਹੜਾ ਜਾਂ ਬੈਂਤ ਜਾਂ ਡੰਡਾ ਖਾ ਕੇ ਟੁਰਣ ਤੀਕਰ ਨੌਬਤ ਹੀ ਨਾਂ ਲਿਆਵੇ। ਆਪ ਹੀ ਟੁਰਦਾ ਰਹੇ। ਸਾਨੂੰ ਬੁੱਧੀ ਦੁਆਰਾ, ਗੁਰ-ਬਚਨ ਦੁਆਰਾ, ਤਾਰੀਖ਼ ਤੇ ਦੁਨਿਆ ਦੇ ਤਜਰਬੇ ਦੁਆਰਾ ਇਹ ਬੁੱਝ ਲੈਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ਕਿ ਇਹ ਜੀਵਨ ਤਿਨ ਗੁਣਾਂ ਦਾ ਜੀਵਣ, alternating ਸੁਖ ਦੁਖ, ਵਫ਼ਾ ਬੇਵਫ਼ਾਈ, ਪਿਆਰ ਨਫ਼ਰਤ ਦਾ ਜੀਵਨ ਤਿਆਗਣ ਜੋਗ, ਲਾਹਨਤ ਜੋਗ ਹੈ। ਪਰ ਅਸੀਂ ਗੁਰ ਹੁਕਮ ਨੂੰ, ਦੂਜਿਆਂ ਦੇ ਤਜਰਬੇ ਨੂੰ ਨਹੀਂ ਕੰਨ ਵਿਚ ਥਾਂ ਦੇਂਦੇ। ਅਸੀਂ ਕਹਿੰਦੇ ਹਾਂ ਇਕਬਾਲ ਦੇ ਨਾਲ ਤੇ ਨੀਟਸ਼ੇ ਦੇ ਨਾਲ ਸੁਰਨਾਲ ਸੁਰ ਮੇਲ ਕੇ ਕਿ ਤਿਸ਼ਨਾ ਦਾ, ਖ਼ੁਦੀ ਦਾ, ਮੋਹ ਦਾ, ਮਮਤਾ ਦਾ, ਅੱਗ ਦਾ ਜੀਵਨ ਉੱਤਮ ਹੈ ਤੇ

।ਬਰ, ਸੰਤੋਖ, ਬੇਖ਼ੁਦੀ, ਨਿਰਮੋਹਤਾ ਦਾ, ਬਰਫ਼, ਤਿਆਗ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੋਰ, ਤੁੱਛ ਹੈ । ਸਤਿਗੁਰ ਦੀ ਕੀ ਲੋੜ ਹੈ–

ਇਕਬਾਲ–

ਖ਼ੁਦੀ ਕੋ ਕਰ ਬੁਲੰਦ ਇਤਨਾ ਕਿ ਹਰ ਤਕਦੀਰ ਸੇ ਪਹਿਲੇ
ਖ਼ੁਦਾ ਬੰਦੇ ਸੇ ਖ਼ੁਦ ਪੂਛੇ ਬਤਾ ਤੇਰੀ ਰਜ਼ਾ ਕਯਾ ਹੈ ।।
ਦੀਵਾਨਾ ਖ਼ੁਦੀ ਤੇਰਾ ਇਸ਼ਾਰਾ ਹੈ ਤੋ ਬੇਖ਼ੁਦੀ ਕਰਮ ਤੇਰਾ ।
ਮਜਾਲਿ ਦਮ ਜ਼ਦਨ ਕਹਾਂ, ਤੇਰਾ ਖ਼ਿਆਲ ਦਮ ਤੇਰਾ ।।
ਜੋ ਫੇਰਾ ਤੁਝ ਸੇ ਮੂੰਹ ਕਿਸੀ ਨੇ ਵੁਹ ਭੀ ਥੀ ਤੇਰੀ ਅਦਾ ।
ਤੇਰੀ ਤਰਫ਼ ਬੜ੍ਹਾ ਕਦਮ ਜੋ ਵੁਹ ਭੀ ਥਾ ਕਦਮ ਤੇਰਾ ।।
ਜਹਾਂ ਕਿ ਮਰ ਰਹਾ ਹੈ ਇਲਮੋ ਐਸ਼ੋ ਦਮ ਕੀ ਚਾਹ ਮੇਂ ।
ਖ਼ਬਰ ਨਹੀਂ ਉਸੇ ਕਿ ਅਸਲ ਮੇਂ ਯਹ ਗ਼ਮ ਹੈ ਗ਼ਮ ਤੇਰਾ ।।

ਗੁਰ ਵਾਕ ਸਪਸ਼ਟ ਹਨ ਕਿ ਬੰਦਿਆ, ਕਰਮ ਕਰਨਾਂ, ਕਰਮ ਕਰਨ ਦੀ ਤਾਕਤ ਓਸੇ ਦੇ ਹੱਥ ਤੇ ਓਸੇ ਦੇ ਹੁਕਮ ਵਿਚ ਹੈ । ਤੇਰੀ ਖ਼ੁਦੀ ਬੇਖ਼ੁਦੀ ਦੋਹਾਂ ਦਾ ਵਿਕਾਸ ਪਰਗਾਸ ਓਹਦੇ ਇਰਸ਼ਾਦ ਉੱਤੇ ਨਿਰਭਰ ਹੈ । ਜਦ ਜੀਵਨ ਹੀ ਓਸੇ ਦਾ ਹੈ, ਹਉਮੈਂ ਅੰਦਰ ਓਸੇ ਦੀ ਪਾਈ ਹੋਈ ਹੈ ਤਾਂ ਓਸ ਹਉਮੈਂ ਦਾ ਜੀਵਨ ਮਰਣ ਵੀ ਕਿਦਾਂ ਓਹਦੇ ਹੁਕਮੋਂ ਬਾਹਰ ਹੋ ਸਕਦਾ ਹੈ, ਤੇ ਓਸ ਤੋਂ ਵੱਧ ਸਾਡੀ ਹੋਮੈਂ ਦੀ ਜਿੰਦ ਜਾਨ, ਸਾਡੇ ਜੀਵਨ ਦਾ ਲਖਸ਼, ਉੱਦੇਸ਼ ਹੋਰ ਕੀ ਹੋ ਸਕਦਾ ਹੈ ।

Imperative ਹੁਕਮ ਸੁਣੋ—

ਸੁਣਿ ਮਨ ਮੋਰੇ ਤੱਤੁ ਗਿਆਨੁ
ਦੇਵਣ ਵਾਲਾ ਸਭ ਬਿਧਿ ਜਾਣੈ ਗੁਰਮੁਖਿ ਪਾਈਏ ਨਾਮੁ ਨਿਧਾਨੁ ।
ਸਤਿਗੁਰ ਭੇਟੇ ਕੀ ਵਡਿਆਈ । ਜਿਨਿ ਮਮਤਾ ਅਗਨਿ ਤ੍ਰਿਸ਼ਨਾ ਬੁਝਾਈ ।
ਸਹਜੇ ਮਾਤਾ ਹਰਿ ਗੁਣ ਗਾਈ । ਵਿਣੁ ਗੁਰ ਪੂਰੇ ਕੋਈ ਨ ਜਾਣੀ ।
ਮਾਇਆ ਮੋਹਿ ਦੂਜੈ ਲੋਭਾਂਣੀ । ਗੁਰਮੁਖਿ ਨਾਮੁ ਮਿਲੈ ਹਰਿ ਬਾਣੀ ।
ਗੁਰ ਸੇਵਾ ਤੇ ਤ੍ਰਿਭਵਣ ਸੋਝੀ ਹੋਇ । ਆਪੁ ਪਛਾਣਿ ਹਰਿ ਪਾਵੈ ਸੋਇ ।।

ਉਹ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ ਕੁਦਰਤ ਨੇ ਸਾਨੂੰ ਵਿਕਾਸ ਦਿੱਤਾ । ਕੁਦਰਤ ਕੀਹਦੀ ਹੈ ? ਜੀਉ ਪਾਇ ਪਿੰਡੁ ਜਿਨਿ ਸਾਜਿਆ ਦਿਤਾ ਪੈਨਣੁ ਖਾਣੁ । ਖ਼ਾਲੀ ਜੀਉ ਹੀ ਨਹੀਂ ਪਿੰਡੁ ਹੀ ਨਹੀਂ, ਸਾਸ ਦੇ ਨਾਲ ਗਿਰਾਸ ਵੀ ਗਿਣ ਮਿਥ ਦਿੱਤੇ ।

ਮੈਂ ਉਤੇ ਅਰਜ਼ ਕੀਤਾ ਹੈ ਕਿ ਦਮ ਮਾਰਨ ਦੀ, ਗਲਾਂ ਕਰਨ ਦੀ, ਜੀਉਨ ਦੀ, ਸਾਡੀ ਮਜਾਲ (ਵਖਰਿਆਂ) ਹੈ ਹੀ ਕਿਥੇ ਜਦ ਦਮ ਵੀ ਉਹਦਾ ਹੈ, ਤੇ ਹਰਫ਼

ਵੀ ਉਹਦੇ ਬਣਾਏ, ਅਵਾਜ਼ਾਂ ਵੀ ਉਹਦੀਆਂ ।

ਰਵਿਦਾਸ ਭਗਤ ਕਹਿੰਦਾ ਹੈ--

ਨਾਨਾ ਖਿਆਨ ਪੁਰਾਨ ਬੇਦ ਬਿਧਿ ਚਉਤੀਸ ਅਖਰ ਮਾਂਹੀ ।
ਬਿਆਸ ਬਿਚਾਰਿ ਕਹਿਓ ਪਰਮਾਰਥੁ ਰਾਮ ਨਾਮ ਸਰਿ ਨਾਹੀ ॥

ਸਾਡੀ-ਮਾਇਆ ਦੀ ਪੁਜੀਸ਼ਨ ਤਾਂ ਮਹਿਜ਼ ਫੁਲ ਦੀ ਖ਼ੁਸ਼ਬੂ ਦੀ ਤੇ ਸੂਰਜ ਦੇ ਚਾਨਣ ਦੀ ਹੈ । ਉਹ ਸੂਰਜ ਹੈ, ਫੁਲ ਹੈ । ਉਹ ਹੈ ਤਾਂ ਅਸੀਂ ਹਾਂ, ਉਹ ਨਹੀਂ ਤਾਂ ਅਸੀਂ ਨਹੀਂ । ਉਹ ਹੈ ਰਜ਼ਾ, ਕੁਦਰਤ, ਹੁਕਮ, ਕਾਨੂਨ, ਜਗ ਜੀਵਨ, ਆਦੇਸ਼, ਕਾਲ..................

ਰਵਿਦਾਸ—ਜਬ ਹਮ ਹੋਤੇ ਤਬ ਤੂ ਨਾਹੀ ਅਬ ਤੂ ਹੀ ਮੈਂ ਨਾਂਹੀਂ ।

ਅਸਲੀ ਗਲ ਇਹ ਹੈ ਕਿ ਅਸੀਂ ਮਾਇਆ ਦੇ ਏਜੰਟ ਮਨ ਦੀ ਸੁਣਦੇ ਹਾਂ ਤੇ ਵਿਚਾਰ ਤੇ ਗੁਰਬਾਣੀ ਅੱਗੇ ਪੱਲਾ ਨਹੀਂ ਡਾਂਹਦੇ । ਮਨ ਕੀ ਮਤਿ ਤਿਆਗੀਐ, ਸੁਣੀਐ ਉਪਦੇਸੁ ।

ਮਨ ਕਹਿੰਦਾ ਹੈ ਹਰ ਵੇਲੇ ਦਫਤਰ ਦਾ ਕੰਮ ਕਰਦਿਆਂ ਮੈਂ ਕਿੱਦਾਂ ਓਸ ਬੰਨ੍ਹਣਹਾਰੇ ਦਾ ਨਾ ਚੇਤੇ ਰਖਾਂ । ਉਏ ਝੂਠਿਆ, ਮੱਕਾਰਾ :

ਸਿਮਰਤ ਸਿਮਰਤ ਸਿਮਰੀਐ ਸੋ ਪੁਰਖੁ ਦਾਤਾਰੁ ।
ਮਨ ਤੇ ਕਬਹੁ ਨ ਵੀਸਰੈ ਸੋ ਪੁਰਖੁ ਅਪਾਰੁ ।

ਤੂੰ ਤੇ ਭੋਲਿਆ, ਜਾਂ ਭੁਲਾਵਿਆ, ਸਿਰਮਣ ਨੂੰ ਜੀਵਨ—ਤਰੋ—ਤਾਜ਼ਾ ਜੀਵਨ—ਸਮਝਦਾ ਹੀ ਨਹੀਂ । ਇਸਨੂੰ ਮਹਿਜ਼ ਇਕ ਬੇਕਾਰ ਕਾਰ ਸਮਝਦਾ ਹੈਂ ਹਾਲਾਂਕਿ ਹੈ ਇਹ ਸਿਮਰਨ ਜੀਵਨ-ਜੋਤੀ, ਜੀਵਨ-ਤਰਾਣ । ਹਾਂ, ਹਾਂ, ਪਰਮਾਨੰਦ ਹੈ, ਤੇ ਅਨੰਦ ਕਿਹਨੂੰ ਨਹੀਂ ਚਾਹੀਦਾ ?

ਨਾਨਕ ਕਬਹੁ ਨ ਵੀਸਰੈ ਪ੍ਰਭ ਪਰਮਾਨੰਦ ।
ਤ੍ਰਿਸਨ ਬੁਝੀ ਮਮਤਾ ਗਈ ਨਾਠੇ ਭੈ ਭਰਮਾ ।
ਥਿਤਿ ਪਾਈ ਆਨੰਦੁ
ਭਇਆ ਗੁਰਿ ਕੀਨੇ ਧਰਮਾ ।
ਗੁਰੁ ਪੂਰਾ ਆਰਾਧਿਆ ਬਿਨਸੀ ਮੇਰੀ ਪੀਰ ।
ਤਨੁ ਮਨੁ ਸਭੁ ਸੀਤਲੁ ਭਇਆ ਪਾਇਆ ਸੁਖੁ ਬੀਰ ।

ਸਿਮਰਨ ਵਿਚੋਂ ਹੀ ਬੀਰਤਾ ਵੀ ਧੀਰਤਾ ਦੇ ਨਾਲ ਨਾਲ ਮਿਲਦੀ ਹੈ । ਦਸਮ ਪਿਤਾ ਸਿਮਰਨ ਬੀਰ ਵੀ ਸਨ । ਸਿਮਰਨ ਤੋਂ ਬੀਰ ਬਣੀਦਾ ਹੈ ।

ਸੋਵਤ ਹਰਿ ਜਪਿ ਜਾਗਿਆ ਪੇਖਿਆ ਬਿਸਮਾਦੁ ।
ਕਦੀ ਸਤਿਆਂ ਜਪ ਕੇ ਵੇਖਿਆ ਜੇ ?

ਨਾਉਂ ਸਿਮਰਨ ਜੀਵਨ ਹੈ, ਉੱਤੇ ਮੈਂ ਲਿਖਿਆ ਸੀ। ਲੋ ਸ਼ਹਾਦਤ ਵੀ ਵੀ ਮਿਲ ਗਈ --

ਤਾਣੁ, ਦੀਬਾਣੁ, ਪਰਵਾਰ, ਧਨੁ ਤੇਰਾ ਨਾਉ।

ਲਓ ਭਾਈ ਤਾਣੁ ਦੀਬਾਣੁ ਪਰਵਾਰ ਤੇ ਧਨ ਦਿਓ ਭੁਖਿਓ, ਨਾਮ ਲੌ, ਇਹ ਹੀ ਓਹ ਚੀਜ਼ਾਂ ਹਨ ਜੇਹੜੀਆਂ ਤੁਸੀਂ ਲੋਚਦੇ ਹੋ, ਜਿਹਨਾਂ ਦੇ ਥੋੜੇ ਥੋੜੇ ਭਾਗ ਲਈ ਵੀ ਤੁਸੀਂ ਲਿਲ੍ਹਕੜੀਆਂ ਕੱਢਦੇ ਹੋ। ਜੇ ਦੁਸ਼ਮਨ ਮਰਵਾਉਣਾ ਜੇ ਤਾਂ ਵੀ ਉਸੇ ਇਕ ਦਾ ਨਾਂ ਜਪੋ।

ਕਥਾ ਪੁਰਾਤਨ ਇਉ ਸੁਣੀ ਭਗਤਨ ਕੀ ਬਾਨੀ।
ਸਗਲ ਦੁਸਟ ਖੰਡ ਖੰਡ ਕੀਏ ਜਨ ਲੀਏ ਮਾਨੀ।
ਸਤਿ ਬਚਨ ਨਾਨਕੁ ਕਹੈ ਪਰਗਟ ਸਭ ਮਾਹਿ।
ਪ੍ਰਭ ਕੇ ਸੇਵਕ ਸ਼ਰਣਿ ਪ੍ਰਭ ਤਿਨ ਕਉ ਭਉ ਨਾਹਿ।

ਨਿਰਵੈਰ ਹੀ ਨਹੀਂ ਹੋ ਜਾਂਦੇ, ਸੇਵਕ ਨਿਰਭੈ ਵੀ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਨ।

ਬੰਧਨ ਕਾਟੈ ਸੋ ਪ੍ਰਭੂ ਜਾਕੈ ਕਲ ਹਾਥ।
ਅਵਰ ਕਰਮ ਨਹੀ ਛੂਟੀਐ ਰਾਖਹੁ ਹਰਿ ਨਾਥ॥
ਆਸਾ ਭਰਮ ਬਿਕਾਰ ਮੋਹ ਇਨੁ ਮਹਿ ਲੋਭਾਨਾ।
ਝੂਠੁ ਸਮਗ੍ਰੀ ਮਨਿ ਵਸੀ ਪਾਰ ਬ੍ਰਹਮੁ ਨ ਜਾਨਾ॥
ਪਰਮ ਜੋਤਿ ਪੂਰਨ ਪੁਰਖ ਸਭ ਜੀਆ ਤੁਮ੍ਹਾਰੇ।
ਜਿਉ ਤੂ ਰਾਖਹਿ ਤਿਉ ਰਹਾ ਪ੍ਰਭ ਅਗਮ ਅਪਾਰੇ॥

ਇਹ ਮਨ ਸਹੁਰਾ ਕਾਬੂ ਨਹੀਂ ਆਉਂਦਾ। ਇਹਨੂੰ ਖ਼ੂਬ ਲੱਦੋ।

ਮਨ ਖੁਟ ਹਰ ਤੇਰਾ ਨਹੀਂ ਬਿਸਾਸੁ ਤੂ ਮਹਾ ਉਦਮਾਦਾ।
ਖਰ ਕਾ ਪੈਖਰੁ ਤਉ ਛੁਟੈ ਜਉ ਊਪਰਿ ਲਾਦਾ॥
ਜਪ ਤਪ ਸੰਜਮ ਤੁਮੁ ਖੰਡੇ ਜਮ ਕੇ ਦੁਖ ਡਾਂਡ।
ਸਿਮਰਹਿ ਨਾਹੀ ਜੋਨਿ ਦੁਖ ਨਿਰਲੱਜ ਭਾਂਡ॥
ਹਰਿ ਸੰਗਿ ਸਹਾਈ ਮਹਾ ਮੀਤੁ ਤਿਸ ਸਿਉ ਤੇਰਾ ਭੇਦੁ।
ਬੀਧਾ ਪੰਚ ਬਟਵਾਰਹੀ ਉਪਜਿਓ ਮਹਾ ਖੇਦੁ॥
ਨਾਨਕ ਤਿਨ ਸੰਤਨ ਸਰਣਾਗਤੀ ਜਿਨ ਮਨੁ ਵਸਿ ਕੀਨਾ।
ਤਨੁ ਧਨੁ ਸਰਬ ਸੁ ਆਪਣਾ ਪ੍ਰਭਿ ਜਨ ਕਉ ਦੀਨਾ॥
ਜੀਵਨ ਦੇਵੀਏ ਤਾਂ ਪੂਰਨ ਜੀਵਣ ਮਿਲਦਾ ਹੈ।

(੧੧)

ਪੜਨ ਵਾਲੇ ਕੁਦਰਤੀ ਤੌਰ ਤੇ ਮੈਥੋਂ ਪੁੱਛਣਗੇ ਕਿ ਭਈ, ਤੁ ਗਲ ਤਾਂ

ਅਜੇ ਤੀਕ ਸਾਫ਼ ਨਹੀਂ ਕੀਤੀ। ਅਸੀਂ ਹੁਕਮ ਤੇ ਰਜ਼ਾ ਤੇ ਛਡ ਦਈਏ ਕਿ ਉਦੱਮ ਕਰੀਏ। ਮਾਇਆ ਨੂੰ ਲੱਤਾਂ ਮਾਰ ਕੇ ਵੈਰਾਗ ਧਾਰਨ ਕਰੀਏ ਕਿ ਮਾਇਆ ਨੂੰ ਸੁਧਾਰਨ ਵਿਚ ਤੇ ਇਸਦੇ ਉਪਕਾਰ ਵਿਚ ਜੁਟ ਜਾਈਏ। ਕਰਮ ਕਰੀਏ, ਨਿਰਮਲ ਹੀ ਸਹੀ, ਕਿ ਕੇਵਲ ਸਿਮਰਨ ਤੇ ਪ੍ਰਭੂ ਸਰਣਾਗਤੀ ਜਿਹੜੇ ਸਭ ਤੋਂ ਵੱਧ ਨਿਰਮਲ ਕਰਮ ਹਨ, ਉਹਨਾਂ ਦੇ ਹੋ ਰਹੀਏ। ਮੇਰਾ ਨੀਵੀਂ ਸਹਿਤ ਜੁਆਬ ਇਹੋ ਹੀ ਹੈ ਕਿ ਭਾਈ ਪਹਿਲੀ ਗੱਲ ਪਹਿਲਾਂ ਰਖਣਾ, ਮੁਕੱਦਮ ਨੂੰ ਮੁਕੱਦਮ, ਮੂਲ ਨੂੰ ਮੂਲ ਸਮਝਣਾ ਤੇ ਦੂਜੀ ਨੂੰ ਦੂਜੀ। ਪਿਛਲੀ ਨੂੰ ਪਿਛਲੀ ਤੇ ਸਾਖ਼ਾ ਨੂੰ ਸਾਖ਼ਾ ਸਮਝਣ ਵਿਚ ਹੀ ਜੀਵਨ ਦੀ ਸਫਲਤਾ ਹੈ। ਪਹਿਲਾਂ ਗੱਲ ਕਿਹੜੀ ਹੈ? ਤੁਸੀ ਪੁੱਛਦੇ ਹੋਂ। ਮੈਂ ਮੋੜ ਕੇ ਸੁਆਲ ਕਰਦਾ ਹਾਂ, ਰੱਬ ਅੱਗੇ ਹੈ ਕਿ ਦੁਨੀਆਂ, ਗੁਰੂ ਅੱਗੇ ਹੈ ਕਿ ਲੀਡਰ? ਧਰਮ ਅੱਗੇ ਹੈ ਕਿ ਅਰਥ? ਅਨੰਦ ਅੱਗੇ ਹੈ ਕਿ ਮਾਇਆਵੀ ਖ਼ੁਸ਼ੀ? ਅਨੰਤ ਤੇ ਅਸੀਮ ਅੱਗੇ ਹੈ ਕਿ ਤੁੱਛ ਤੇ ਮਹਿਦੂਦ ਤੇ ਫ਼ਾਨੀ? ਇਹ ਜੋ ਤੁਸੀ ਤਾਹਨਾ ਦੇਂਦੇ ਹੋ ਕਿ ਭਾਈ ਤੂੰ ਉਡਦੀਆਂ ਦੇ ਮਗਰ ਲਗਦਾ ਹੈਂ ਤੇ ਹੱਥ ਦੀਆ ਖ਼ਾਹਮੁਖ਼ਾਹ ਛੱਡਦਾ ਏਂ, ਇਹ ਤੁਹਾਡੀ ਭੁੱਲ ਤੇ ਗ਼ਫ਼ਲਤ ਹੈ। ਰਬ ਉਡਦੀ ਵਿਚੋਂ ਨਹੀਂ, ਨਿਰਵੈਰਤਾ, ਨਿਰਭੈਤਾ, ਅਮਰਤਵ ਇਹ ਉਡਦੀਆਂ ਚਿੜੀਆਂ ਨਹੀਂ ਹਨ। ਬਾਰ ਬਾਰ ਗੁਰੂ ਜੀ ਨੇ ਸਮਝਾਇਆ ਹੈ ਕਿ ਇਹ ਤਾਂ ਹੱਥ ਦੀਆਂ ਹਨ। ਸਾਡੇ ਅੰਦਰ ਹਨ। ਸਾਡੇ ਹਰ ਤਰਹਾਂ ਦੇ ਜੀਵਨ ਦਾ ਜੀਵਨ, ਕਾਰਨ, ਮਖ਼ਰਜ, ਨਿਕਾਸ, ਨਿਧ ਹਨ। ਸੋ ਇਹ ਪਹਿਲਾਂ ਹਨ। ਅਨੰਦ ਅੰਦਰ ਹੈ, ਜੇ ਉਤੋਂ ਘਚੋਲਿਆ ਮੈਲਾ ਅਨੰਦ ਅਰਥਾਤ ਖ਼ੁਸ਼ੀ ਤੁਹਾਨੂੰ ਪਸੰਦ ਹੈ ਤਾਂ ਤੁਹਾਡਾ ਕਸੂਰ ਹੈ। ਜੇ ਖਲੋਤਾ, ਨਿਰਮਲ, ਡੂੰਘਾ ਹੇਠਾਂ ਦਾ ਅਨੰਦ ਪਾਣੀ ਪੀਉ ਤਾਂ ਇਹ ਤੁਹਾਡੀ ਅਕਲਮੰਦੀ ਹੈ। ਖ਼ੁਸ਼ੀ ਵੀ, ਦੁਨਿਆਵੀ ਸੁਖ ਵੀ, ਆਤਮਕ ਅਨੰਦ ਹੀ ਦੀ ਇਕ ਨਿੱਕੀ, ਨਿਮ੍ਹੀਂ, ਥੋੜ੍ਹੀ, ਫ਼ਾਨੀ ਜਹੀ ਝਲਕ ਹੈ। ਗੱਲ ਤਾਂ ਏਨੀ ਹੀ ਹੈ ਕਿ ਥੋੜ੍ਹੀ ਉਤੇ ਹੀ ਨਾ ਸਾਬਰ ਹੋ ਜਾਉ, ਕੋੜੀ ਨੂੰ ਹੀ ਨਾ ਫੜ ਲਓ ਤੇ ਪਾਪ ਪੁੰਨ, ਸੁੰਦਰਤਾ, ਕੋਝਤਾ, ਅੰਦਰ ਬਾਹਰ, ਮਾਇਆ ਈਸ਼ਵਰ ਨੂੰ ਦੋ ਨਾ ਸਮਝੋ, ਇਕ, ਦੋਹਾਂ ਤੇ ਪਰੇ, ਇਕ ਸਮਝਕੇ ਚੌਥੇ ਪਦ ਵਿਚ ਪਹੁੰਚ ਜਾਓ। ਗੁਰਮੁਖ ਚੌਥੇ ਪਉੜੇ ਤੇ ਹੀ ਅੱਖ ਰਖਦਾ ਹੈ।

ਏਕੋ ਪੁਰਖੁ ਏਕੋ ਪ੍ਰਭੁ ਜਾਤਾ ਦੂਜਾ ਅਵਰੁ ਨ ਕੋਈ।

ਦਸਾਂ ਦਿਸ਼ਾਵਾਂ ਵਿਚ ਜਿਹੜਾ ਤੁਸੀਂ ਭਰਮਦੇ ਹੋ, ਇਹ ਵੀ ਹੁਕਮੋਂ ਬਾਹਰ ਨਹੀਂ। ਹੁਕਮ ਨੂੰ ਤੋੜਨਾ ਵੀ ਓਹਦੇ ਹੁਕਮ, ਓਹਦੀ ਰਜ਼ਾ ਦੇ ਜੱਫੇ ਕਲਾਵੇ ਤੋਂ ਬਾਹਰ ਨਹੀਂ। ਆਪੇ ਹੀ ਮੁਕਰਾਉਂਦਾ ਵੀ ਹੈ ਤੇ ਆਪੇ ਕਹਿ ਦੇਂਦਾ ਹੈ, ਮੁਕਰਿਆਂ ਏਂ, ਹੁਣ ਲੈ ਸਜ਼ਾ ਮੁਕਰਣ ਦੀ। ਕਿਉਂ ਇਹ ਕਰਦਾ ਹੈ? ਉਹਦੀ ਲੀਲਾ ਹੈ,

ਖੇਡ ਹੈ, ਖੇਡ ਜਦ ਠੀਕ ਦੋ ਧੜੇ ਦੋ ਪਾਸੇ ਨਾ ਹੋਣ, ਨਹੀਂ ਹੋ ਸਕਦੀ । ਸੋ ਓਸ ਨੇ ਦੋ ਪਾਸੇ ਈਸ਼ਰ ਤੇ ਮਾਇਆ ਦੇ ਕਰਕੇ ਖੇਡ ਸ਼ੁਰੂ ਕਰ ਦਿੱਤੀ ਹੈ, ਆਪ ਦੋ ਹੋ ਕੇ ਵੀ ਇਕ ਹੈ, ਅਵਿਅਕਤ ਹੈ, ਨਾਲੇ ਸਾਨੂੰ ਖੇਲ ਚੋਂ ਨਿਕਲ ਕੇ ਆਪਣੀ ਵਲ, ਆਪਣੇ ਦਰ ਆਉਣ ਲਈ ਕੰਨਾਂ ਵਿਚ ਚਿਤਾਉਣੀਆਂ ਵੀ ਫੂਕੀ ਜਾ ਰਹਿਆ ਹੈ, ਕਿਉਂ ਜੇ ਹਦੋਂ ਪਰੇ ਵੀ ਸਾਨੂੰ ਖੇਲ ਵਿਚ ਖਚਿਤ ਤੇ ਆਪਣੇ ਤੋਂ ਦੂਰ ਜਾਣਾ ਉਹ ਨਹੀਂ ਵੇਖ ਸਕਦਾ ਭਾਵੇਂ ਦੂਰ ਵੀ ਉਹੀ ਤੇ ਨੇੜੇ ਵੀ ਉਹੀ ਹੈ। ਸੋ ਸਤਗੁਰ ਜਾਂ ਮਿਹਰ ਜਾਂ ਸੱਟ ਦੇ ਰੂਪ ਵਿਚ ਸਾਨੂੰ ਕੋਲ ਖਿਚ ਲਿਆਉਂਦਾ ਹੈ।

ਇਹੁ ਮਨੁ ਖੇਲੈ ਹੁਕਮ ਕਾ ਬਾਧਾ ਇਕ ਖਿਨ ਮਹਿ ਦਹ ਦਿਸ ਫਿਰਿ ਆਵੈ।
ਜਾਂ ਆਪੇ ਨਦਰਿ ਕਰੇ ਹਰਿ ਪ੍ਰਭੁ ਸਾਚਾ, ਤਾਂ ਇਹੁ ਮਨੁ ਗੁਰਮੁਖਿ ਤਤ ਕਾਲ ਵਸਿ ਆਵੈ।
ਇਸੁ ਮਨ ਕੀ ਬਿਧਿ ਮਨ ਹੂ ਜਾਣੈ ਬੂਝੈ ਸਬਦਿ ਵੀਚਾਰਿ।
ਨਾਨਕ ਨਾਮੁ ਧਿਆਇ ਸਦਾ ਤੂ ਭਵ ਸਾਗਰੁ ਜਿਤੁ ਪਾਵਹਿ ਪਾਰਿ ॥

ਇਹ ਗ਼ਲਤ ਹੈ ਕਿ ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਨੇ ਸਾਡੇ ਉਸ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਲਖ਼ਸ਼, ਸਾਡੇ ਪਰੀਤਮ ਨੂੰ ਸਿਰਫ਼ ਐੜੇ ਆਏ ਨਾਲ ਹੀ ਸਲਾਹਿਆ ਹੈ ਤੇ ਜੀਵਨ ਦੇ ਮੂਲ ਤੇ ਜੀਵਨ ਦੇ ਆਦਰਸ਼ ਨੂੰ ਬਿਨਾ ਸਾਫ਼ ਦਸੇ Positive Characterization ਦੇ ਛੱਡ ਦਿੱਤਾ ਹੈ। ਉਹ ਤਾਂ ਸਾਫ਼ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ ਕਿ ਅਦ੍ਰਿਸ਼ਟ ਹੈ ਪਰ ਗੁਰਮੁਖਿ ਨਦਰੀ ਆਉਂਦਾ ਹੈ, ਅਗੋਚਰੁ ਹੈ ਪਰ ਗੁਰਮੁਖਿ ਦਰਿਸ਼ਟੀ ਗੋਚਰ ਹੁੰਦਾ ਹੈ, ਅਪਰੰਪਾਰੁ ਹੈ ਪਰ ਗੁਰਮੁਖਿ ਪਾਰ ਪਾਈਦਾ ਹੈ। ਅਲਖ ਤੇ ਅਕਥ ਹੈ ਪਰ ਗੁਰਮੁਖਿ ਲਖੀਦਾ ਹੈ ਤੇ ਉਸ ਦੀ ਕਥਾ ਕਥ ਸਕੀਦਾ ਹੈ। ਓਸ ਅਗਤ ਤੇ ਅਮਿਤ ਦੀ ਗਤ ਤੇ ਮਿਤ ਪਾ ਲਈਦਾ ਹੈ ਗੁਰੂਦੁਆਰਾ—

ਗੁਰਬਚਨੀ ਸਚੁ ਕਾਰ ਕਮਾਵੈ ਗਤਿ ਮਤਿ ਤਬ ਹੀ ਪਾਈ।

ਕੰਮ ਕਰੋ, ਸਚਾ ਕੰਮ। ਸਚੀ ਕਾਰ ਕਰੋ। ਇਹ ਅਸੀਂ ਨਹੀਂ ਕਹਿੰਦੇ ਕਿ ਜੀਵਨ ਵੇਹਲਿਆਂ ਬਹਿਣ ਦਾ ਨਾਂ ਹੈ, ਜਗਤ ਤੋਂ ਭਜਣ ਨਸਣ ਦਾ ਨਾਂ ਹੈ। ਪਰ ਨਾਲ ਹੀ ਅਸੀਂ ਇਹ ਵੀ ਕਹਿੰਦੇ ਹਾਂ ਕਿ ਜੀਵਨ ਜੀਵਨ ਤਲਬ ਵਿਚ ਮਰ ਮੁੱਕਣ ਤੇ ਤਨ, ਮਨ, ਧਨ ਸਭ ਏਸ ਤੋਂ ਵਾਰ ਦੇਣ ਦਾ ਨਾਂ ਨਹੀਂ। ਤਨ ਨਾਲ ਵੀ ਮਨ ਨਾਲ ਵੀ ਲੋੜੀਂਦਾ ਕੰਮ ਕਰ ਲਉ, ਜਿਸ ਨਾਲ ਉਦਰ ਪੂਰਨਾ ਹੋ ਜਾਵੇ। ਬਸ! ਜੋੜਨ ਦੇ, ਵਾਧੇ ਦੇ, ਮਗਰ ਲਗੋ ਨਹੀਂ ਤੇ ਗੀਤਾ ਫਲੀ ਨਹੀਂ। ਜੇ ਤੁਸੀਂ ਪੂਰਾ ਤਨ ਮਨ ਏਧਰ ਕਰ ਹੀ ਲਾ ਦਿੱਤਾ ਤਾਂ ਓਹਦੇ ਅੱਗੇ ਕਿੱਦਾਂ ਤੇ ਕੀ ਰਖੋਗੇ?

ਮਨੁ ਤਨੁ ਪ੍ਰਾਨ ਧਰੀਂ ਤਿਸੁ ਆਗੈ ਨਾਨਕ ਆਪੁ ਗਵਾਈ।

ਇਹ ਕਰਣੀ ਹੈ, ਸਚੁ, ਸੰਜਮੁ ਤੇ ਹਰਿ ਕੀਰਤ। ਇਹ ਦਿਨੇ ਰਾਤੀਂ ਸਭ

ਕੰਮਾ ਦੀ ਫ਼ਹਿਸਤ ਵਿਚ ਪਹਿਲਾਂ ਆਉਂਣ, ਪਿਛਲੇ ਪਿੱਛੋਂ ਆਉਂਣ। ਭਾਈਓ, ਰੋਜ਼ ਜਿਹੜਾ ਦੂਜੇ ਕੰਮ ਕਰਕੇ ਜ਼ਹਿਰ ਖਾਂਦੇ ਹੋ, ਓਸਦਾ ਨਾਲੋ ਨਾਲ ਹੀ ਉਤਾਰਾ ਵੀ ਖਾਂਦੇ ਜਾਓ ਤੇ ਦਿਨ ਬਦਿਨ ਜ਼ਹਰ ਘਟਾਂਦੇ ਅੰਮ੍ਰਿਤ ਵਧਾਂਦੇ ਜਾਓ। ਹਉ ਮੈ ਬਿਖੁ ਮਨੁ ਮੋਹਿਆ ਲਦਿਆ ਅਜਗਰ ਭਾਰੀ। ਗਰੁੜੁ ਸਬਦੁ ਮੁਖਿ ਪਾਇਆ ਹਉ ਮੈ ਬਿਖੁ ਹਰਿ ਮਾਰੀ। ਮਨ ਰ ਹਉ ਮੈ ਮੋਹੁ ਦੁਖੁ ਭਾਰੀ। ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਗਾਇਆ ਮੋਹੁ ਪ੍ਰਸਾਰਾ ਸਭ ਵਰਤੈ ਆਕਾਰੀ। ਤੁਰੀਆ ਗੁਣੁ ਸਤ ਸੰਗਤਿ ਪਾਈਐ ਨਦਰੀ ਪਾਰਿ ਉਤਾਰੀ।

ਕੰਮ ਤੇ ਬੇ ਕੰਮੇ ਜੀਵਨ ਬਾਰੇ ਫੇਰ ਤੀਜੇ ਮਹੱਲੇ ਦਾ ਫ਼ੈਸਲਾ ਸੁਣ ਲੋ–

ਇਹੁ ਮਨੁ ਗਿਰਹੀ ਕਿ ਇਹੁ ਮਨੁ ਉਦਾਸੀ ?
ਕਿ ਇਹੁ ਮਨੁ ਚੰਚਲੁ ਕਿ ਇਹੁ ਮਨੁ ਬੈਰਾਗੀ।
ਇਸੁ ਮਨ ਕਉ ਮਮਤਾ ਕਿਥਹੁ ਲਾਗੀ।
ਮਾਇਆ ਮਤਤਾ ਕਰਤੈ ਲਾਈ।
ਏਹੁ ਹੁਕਮੁ ਸ੍ਰਿਸਟਿ ਉਪਾਈ।
ਗੁਰ ਪਰਸਾਦੀ ਬੂਝਹੁ ਭਾਈ।
ਸਦਾਂ ਰਹੁ ਹਰਿ ਕੀ ਸਰਣਾਈ।
ਸੋ ਪੰਡਿਤੁ ਜੋ ਤਿਹਾਂ ਗੁਣਾਂ ਕੀ ਪੰਡ ਉਤਾਰੈ।
ਅਨਦਿਨੁ ਏਕੋ ਨਾਮੁ ਵਖਾਣੈ।
ਸਤਿਗੁਰ ਕੀ ਓਹੁ ਦੀਖਿਆ ਲੇਇ।
ਸਦਾ ਅਲਗੁ ਰਹੇ ਨਿਰਬਾਣੁ।
ਸਭਨਾ ਮਹਿ ਏਕੋ ਏਕੁ ਵਖਾਣੈ।
ਕਹਤ ਨਾਨਕੁ ਕਵਨ ਬਿਧਿ ਕਰੇ ਕਿਆ ਹੋਇ ਕੋਇ।
ਸੋਈ ਮੁਕਤਿ ਜਾ ਕਉ ਕਿਰਪਾ ਹੋਇ।
ਅਨ੍ਹਦਿਨੁ ਹਰਿ ਗੁਣ ਗਾਵੈ ਸੋਇ।
ਸਾਸਤ੍ਰ ਬੇਦ ਕੀ ਫਿਰਿ ਕੂਕ ਨ ਹੋਇ।

(੧੨)

ਪੂਰਨ ਜੀਵਨ ਵਾਸਤੇ ਦੋ ਚੀਜ਼ਾਂ ਦੀ ਜ਼ਰੂਰਤ ਹੈ, ਨਾਮ ਤੇ ਵਿਚਾਰ ਜਾਂ ਸਹਜ ਤੇ ਗਿਆਨ। ਨਾਮ ਤੇ ਸਹਜ ਹਨ ਉਸ ਏਕੰਕਾਰ ਤੇ ਉਸਦੇ ਪਸਾਰੇ ਨਾਲ ਏਕਤਾ ਦਾ ਅਹਿਸਾਸ, ਤੇ ਗਿਆਨ-ਵਿਚਾਰ ਹੈ ਉਸ ਏਕਤਾ ਦੇ ਅਹਿਸਾਸ ਨੂੰ ਅਮਲ ਲਈ ਰਹਿਬਰ ਤੇ ਆਗੂ ਬਣਾਨਾ। ਗੁਰੂ ਦੀ ਸ਼ਰਣ ਨਾਲ, ਹੌਲੇ ਹੌਲੇ ਦੋਵੇਂ ਕੰਮ ਸਿੱਧ੍ਰ ਹੋ ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਸਤਿਗੁਰੂ ਰੱਬ ਦੇ ਮਿਲਾਇਆਂ ਮਿਲਦਾ ਹੈ।

ਸਤਿਗੁਰ ਤੇ ਗੁਣ ਊਪਜੈ ਜਾ ਪ੍ਰਭੁ ਮੇਲੈ ਸੋਇ।
ਸਹਜੇ ਨਾਮੁ ਧਿਆਈਐ ਗਿਆਨੁ ਪਰਗਟੁ ਹੋਇ।
ਏ ਮਨ ਮਤ ਜਾਣਹਿ ਹਰਿ ਦੂਰਿ ਹੈ ਸਦਾ ਵੇਖੁ ਹਦੂਰਿ।
ਸਦ ਸੁਣਦਾ ਸਦ ਵੇਖਦਾ ਸਬਦਿ ਰਹਿਆ ਭਰਪੂਰਿ।
ਰਹਾਉ

ਗੁਰਮੁਖਿ ਆਪੁ ਪਛਾਣਿਆ ਤਿਨੀ ਇਕ ਮਨਿ ਧਿਆਇਆ।
ਸਦਾ ਰਵਹਿ ਪਿਰ ਆਪਣਾ ਸਚੈ ਨਾਮਿ ਸੁਖੁ ਪਾਇਆ।

ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਵਿਚਾਰ ਏਸ ਗਲ ਦਾ ਹੋਣਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ ਕਿ ਉਹ ਹੈ, ਹਾਜ਼ਰ ਨਾਜ਼ਰ ਹੈ ਤੇ ਉਹਦੇ ਬਗੈਰ ਹੋਰ ਕੋਈ ਆਸਰਾ ਨਹੀਂ। ਇਹ ਸ੍ਵੈਮਾਨਤਾ ਦਾ Self-dependence ਦਾ ਸਬਕ ਹੈ।

ਏ ਮਨ ਤੇਰਾ ਕੋ ਨਹੀਂ ਕਰਿ ਵੇਖੁ ਸਬਦਿ ਵੀਚਾਰੁ।
ਹਰਿ ਸਰਣਾਈ ਭਜਿ ਪਉ ਪਾਇਹਿ ਮੋਖ ਦੁਆਰੁ।

ਵਿਚਾਰ ਸਬਦ ਦਾ ਹੈ, ਗੁਰ ਸਬਦ ਦਾ ਤੇ ਉਹੀ ਵਿਚਾਰ ਨਾਮ ਹੈ ਤੇ ਡੂੰਘਾ ਹੋ ਕੇ ਸਹਜ ਸੁਭਾ ਬਣਾ ਜਾਂਦਾ ਹੈ।

ਏਸ ਜੁਗ ਵਿਚ ਇਹਦਾ ਬਹੁਤ ਵੱਡਾ ਮਹਾਤਮ ਹੈ -

ਇਸੁ ਜੁਗ ਮਹਿ ਸੋਭਾ ਨਾਮ ਕੀ ਬਿਨੁ ਨਾਵੈ ਸੋਭ ਨ ਹੋਇ।
ਇਹ ਮਾਇਆ ਕੀ ਸੋਭਾ ਚਾਰਿ ਦਿਹਾੜੇ ਜਾਦੀ ਬਿਲਮੁ ਨ ਹੋਇ।

ਵਿਚਾਰ ਬਿਨਾ ਜੀਵਨ ਹੈਵਾਨੀ ਜੀਵਨ ਹੈ, ਬਲਕਿ ਏਦੂੰ ਵੀ ਬੁਰਾ, ਅੰਨ੍ਹਾ ਬੋਲਾ ਜੀਵਨ ਹੈ :—

ਬਿਨੁ ਸਬਦੈ ਸੁਣੀਐ ਨ ਦੇਖੀਐ ਜਗੁ ਬੋਲਾ ਅੰਨ੍ਹਾ ਭਰਮਾਇ।

ਸਬਦ ਕੀ ਹੈ ਜਿਸ ਦੀ ਏਨੀ ਮਹਿਮਾ ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬਾਂ ਨੇ ਗਾਵੀਂ ਹੈ, ਤੀਜੀ ਪਾਤਸ਼ਾਹੀ ਬਿਲਕੁਲ ਸਪਸ਼ਟ ਕਰਕੇ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ ਕਿ ਇਹ ਸਤਗੁਰਾਂ ਦੀ ਬਾਣੀ ਹੈ। ਕਿਸੇ ਇਲਹਾਮੀ ਬਾਣੀ ਦਾ ਵਿਚਾਰ ਹੈ:—

ਜਿਨ ਬਾਣੀ ਸਿਉ ਚਿਤੁ ਲਾਇਆ ਸੇ ਜਨ ਨਿਰਮਲ ਪਰਵਾਣੁ।
ਨਾਨਕ ਨਾਮੁ ਤਿਨ੍ਹਾਂ ਕਦੇ ਨ ਵੀਸਰੈ ਸੇ ਦਰਿ ਸਚੇ ਜਾਣੁ।

ਸਚੀ ਬਾਣੀ ਕਿਹਨਾਂ ਦੀ ਹੈ ? ਭਗਤਾਂ ਦੀ। ਗੁਰਾਂ ਦੀ, ਉਹ ਜੇਹੜੇ ਭਗਵਾਨ ਦੇ ਅਨੰਨ ਭਗਤ ਹਨ, ਉਹ ਸੱਚੀ ਬਾਣੀ ਬੋਲਦੇ ਹਨ ਤੇ ਸਾਨੂੰ ਓਸ ਸੱਚੀ ਬਾਣੀ ਦੇ ਵਿਚਾਰ ਨੇ ਜੀਵਨ-ਅੰਨ੍ਹੇਰੇ ਵਿਚ ਚਾਨਣ ਮੁਨਾਰੇ ਦਾ ਕੰਮ ਦੇਣਾ ਹੈ :—

ਸਬਦੇ ਹੀ ਭਗਤ ਜਾਪਦੇ ਜਿਨ੍ਹ ਕੀ ਬਾਣੀ ਸੱਚੀ ਹੋਇ।
ਵਿਚਹੁ ਆਪੁ ਗਇਆ ਨਾਉਂ ਮੰਨਿਆ ਸਚਿ ਮਿਲਾਵਾ ਹੋਇ।

ਜੀਵਨ ਇਕ ਪਾਸੇ ਉਸ ਦੀ ਰਜ਼ਾ ਦਾ ਖੇਲ ਹੈ, ਦੂਜੇ ਪਾਸੇ ਹਰ ਜੀਵ ਦੀ ਹਉ ਮੈ। ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਹਉ ਮੈ ਤੇ ਜਾਤਿ Individuality ਵਾਸਤੇ ਵਰਤਦੇ ਹਨ। ਏਸ ਹਉ ਮੈ.ਜਾਤ ਦੇ ਗੁਣ Characteristics ਹਨ :—

ਹਉ ਮੈ ਮੇਰਾ ਜਾਤਿ ਹੈ ਅਤਿ ਕ੍ਰੋਧੁ ਅਭਿਮਾਨ। Anger and Pride ਮੈ ਦਾ ਅਭਿਮਾਨ ਜਿਸ ਵੇਲੇ ਦੂਜੇ ਮੈ ਦੇ ਅਭਿਮਾਨ ਨਾਲ ਟਕਰੰਦਾ ਹੈ ਤਾਂ ਕ੍ਰੋਧ ਦਾ ਰੂਪ ਧਾਰਨ ਕਰਦਾ ਹੈ ਤੇ ਕ੍ਰੋਧ ਵੱਡਾ ਚੰਡਾਲ ਹੈ, ਪਾਪ ਮੂਲ ਦੀ ਖਾਨ। ਕਿਸੇ ਨੇ ਕਹਿਆ ਹੈ।

ਏਸ ਕ੍ਰੋਧ ਤੇ ਅਭਿਮਾਨ ਨੂੰ ਮਾਰਨਾ, ਹਉਮੈ ਨੂੰ ਮਾਰਨਾ, ਆਪਾ ਭੁਲਣ ਤੇ ਨਾਮ ਜਪਣ ਦੁਆਰਾ ਹੀ ਵਿਦਿਮਾਨ ਹੋ ਸਕਦਾ ਹੈ :—

ਸਬਦਿ ਮਰੈ ਤਾ ਜਾਤਿ ਜਾਇ ਜੋਤੀ ਜੋਤਿ ਮਿਲੈ ਭਗਵਾਨੁ।

ਏਹ ਦੋ ਸਬਦ ਜਾਤ ਤੇ ਜੋਤ ਬਹੁਤ ਹੀ ਮਹੱਤਾ ਵਾਲੇ ਹਨ। ਇਕ ਜੋਤ ਕਈ ਜਾਤਾਂ ਹੋ ਰਹੀ ਹੈ। ਵਿਚਾਰ, ਗਿਆਨ ਏਨਾਂ ਹੀ ਮਨ ਵਿਚ ਵਸਾਣਾ ਹੈ ਕਿ

ਜਾਤਿ ਮੈਂ ਜੋਤ ਜੋਤ ਮੈਂ ਜਾਤਾ, ਅਕਲ ਕਲਾ ਭਰਪੂਰ ਰਹਿਆ।

ਜਾਤ ਜਾਏ ਤਾਂ ਜੋਤ ਰਹਿ ਗਈ, ਸੋ ਜੋਤ ਜੋਤ ਨਾਲ ਇਕ ਹੈ ਸੀ, ਹੈ ਤੇ ਇਕ ਹੀ ਰਹੇਗੀ। ਅਹੰਕਾਰ, ਅਭਿਮਾਨ, ਜਾਤ ਮਰਦੀ ਹੈ ਤਾਂ ਭਗਤੀ ਨਾਲ, ਕਿਸੇ ਦੇ ਹੋ ਰਹਿਣ ਨਾਲ।

ਭਗਤੀ ਸਾਰ ਨ ਜਾਣਨੀ ਮਨਮੁਖ ਅਹੰਕਾਰੀ।

ਭਗਤੀ ਤਦ ਹੋ ਸਕਦੀ ਹੈ ਜਦ ਕਿਸੇ ਨਾਲ ਅਸੀਂ ਪਿਆਰ ਪਾਈਏ।

ਬਿਨੁ ਪਿਆਰੈ ਭਗਤਿ ਨ ਹੋਵਈ ਨਾ ਸੁਖੁ ਹੋਇ ਸਰੀਰ।

ਵਖਣਾ ਕਿ ਸਰੀਰ ਦੇ ਸੁਖ ਨੂੰ ਗੁਰੂ ਮਹਾਰਾਜ ਰੱਦਦੇ ਨਹੀਂ, ਏਹ ਨਿਹਮਤ ਹੈ ਤੇ ਹੋਰ ਨਿਆਮਤਾਂ ਦੇ ਨਾਲ ਏਸ ਨੂੰ ਵੀ ਪਿਆਰ ਦੁਆਰਾ ਪਾਈਦਾ ਹੈ। ਭਗਤਿ, ਪਿਆਰ, ਪ੍ਰੇਮ ਤਿੰਨਾਂ ਦੇ ਵੱਖ ਵੱਖ ਅਰਥ ਹਨ:—

ਬਿਨੁ ਪ੍ਰਿਆਰੈ ਭਗਤਿ ਨ ਹੋਵਈ ਨਾ ਸੁਖੁ ਹੋਇ ਸਰੀਰਿ।
ਪ੍ਰੇਮ ਪਦਾਰਥੁ ਪਾਈਐ ਗੁਰ ਭਗਤੀ ਮਨ ਧੀਰਿ।
ਜਿਸ ਨੋ ਭਗਤਿ ਕਰਾਏ ਸੋ ਕਰ ਗੁਰ ਸਬਦ ਵੀਚਾਰਿ।
ਹਿਰਦੈ ਏਕੋ ਨਾਮ ਵਸੈ ਹਉਮੈ ਦੁਬਿਧਾ ਮਾਰਿ।

ਦੋ ਦਲੀਲੀਆਂ ਦਾ, ਦੁਬਿਧਾ ਦਾ, ਦੁਚਿੱਤਤਾ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੀ ਦੁਖਦਾਈ ਜੀਵਨ ਹੈ, ਕੁਮਰਣ ਹੈ, ਸਾਰੀ ਮੁਸੀਬਤ ਫੈਲਾਈ ਹੋਈ, ਬੀਜੀ ਹੋਈ ਏਸ ਦੁਬਿਧਾ ਦੀ ਹੈ, ਜਿਹੜੀ ਇਕ ਦੇ ਅਹਿਸਾਸ ਦੇ ਉਲਟ ਹੈ।

ਕਬੀਰ ਜੀ ਤੇ ਜੀਵਨ

ਕਬੀਰ ਜੀ ਜੀਵਨ ਬਾਰੇ ਕੀ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨ ? ਓਹੀ ਜੋ ਸਤਗੁਰੂ ਫ਼ਰਮਾਂਦੇ ਹਨ। ਜਗ ਦਾ ਜੀਵਨ ਝੂਠਾ, ਦੁਖ-ਮਈ ਤੇ ਛਿਨ ਭੰਗਰ ਹੈ ; ਪ੍ਰੇਮ, ਭਗਤੀ, ਵਿਚਾਰ, ਏਕਤਾ ਦਾ ਜੀਵਨ ਸੱਚਾ, ਅਨੰਦ-ਮਈ ਤੇ ਸਦੀਵੀ ਜੀਵਨ ਹੈ। ਅਸੀਂ ਜੀਵਨ ਤੋਂ ਨਹੀਂ ਭਜਦੇ, ਅਸੀ ਤਾਂ ਝੂਠੇ ਜੀਵਨ ਤੋਂ ਦੂਰ ਨਸਦੇ ਹਾਂ।

ਆਸਾ

ਜਗਿ ਜੀਵਨੁ ਐਸਾ ਸੁਪਨੇ ਜੈਸਾ ਜੀਵਨੁ ਸਪਨ ਸਮਾਨੰ।
ਸਾਚੁ ਕਰਿ ਹਮ ਗਾਠਿ ਦੀਨੀ ਛੋਡਿ ਪਰਮ ਨਿਧਾਨੰ ॥੧॥
ਬਾਬਾ ਮਾਇਆ ਮੋਹ ਹਿਤੁ ਕੀਨੁ।
ਜਿਨਿ ਗਿਆਨੁ ਰਤਨੁ ਹਿਰਿ ਲੀਨੁ ॥ ੧ ॥

ਰਹਾਉ

ਨੈਨਿ ਦੇਖਿ ਪਤੰਗੁ ਉਰਝੈ ਪਸੁ ਨ ਦੇਖੈ ਆਗਿ।
ਕਾਲ ਫਾਸ ਨ ਮੁਗਧੁ ਚੇਤੈ ਕਨਿਕ ਕਾਮਿਨਿ ਲਾਗਿ ॥ ੨ ॥
ਕਰਿ ਵਿਚਾਰੁ ਬਿਕਾਰ ਪਰਹਰਿ ਤਰਨ ਤਾਰਨ ਸੋਇ।
ਕਹਿ ਕਬੀਰ ਜਗੁ ਜੀਵਨੁ ਐਸਾ ਦੁਤੀਆ ਨਾਹੀ ਕੋਈ ॥੩।੫।੨੭॥

ਕਬੀਰ ਸਾਹਿਬ ਵੀ ਭਗਵਾਨ ਨੂੰ ਜਗ ਜੀਵਨ ਕਹਿੰਦੇ ਹਨਃ—

ਕੀਉ ਸਿੰਗਾਰੁ ਮਿਲਨ ਕੇ ਤਾਈ।
ਹਰਿ ਨ ਮਿਲੇ ਜਗ ਜੀਵਨ ਗੁਸਾਈ ॥

ਇਕ ਪੁਰਾਣੀ ਹਥ ਲਿਖੀ ਵਿੱਚੋਂ ਕਬੀਰ ਜੀ ਦੀਆਂ "ਸੁਜੀਵਨ" ਸੁਰਖ਼ੀ ਹੇਠਾਂ ਜਿੰਨੀਆਂ ਸਾਖੀਆਂ ਹਨ, ਲੈ ਕੇ ਹੇਠਾਂ ਦਰਜ ਕੀਤੀਆਂ ਜਾਂਦੀਆਂ ਹਨ। ਕਬੀਰ ਮਤ ਦਾ ਜੀਵਨ ਸਨਬੰਧੀ ਏਹ ਸਾਖੀਆਂ (ਦੋਹੇ) ਸਾਰ ਸਮਝੋ।

ਜਹਾਂ ਜੁਰ੍ਾ ਮਰਣ ਬਜਾਪੈ ਨਹੀਂ ਮੂਵਾ ਨ ਸੁਣਿਯੇ ਕੋਇ।
ਚਲਿ ਕਬੀਰ ਤਿਹਿ ਦੇਸੜੈ ਜਹਾਂ ਬੈਦ ਬਿਧਾਤਾ ਹੋਇ।
ਕਬੀਰ ਜੋਗੀ ਬਨਿ ਬਸਜਾ ਖਣ ਖਾਏ ਕੰਦ ਮੂਲ।
ਨਾਂ ਜਾਣੋਂ ਕਿਸ ਜੜੀ ਥੈਂ ਅਮਰ ਭਯਾ ਅਸਬੂਲ।
ਕਬੀਰ ਹਰਿ ਚਰਣੋਂ ਚਲਜਾ ਮਾਯਾ ਮੋਹ ਥੈਂ ਟੂਟਿ।
ਗਗਨ ਮੰਡਲ ਆਸਣ ਕੀਯਾ ਕਾਲ ਗਯਾ ਸਿਰ ਕੂਟਿ।
ਕਬੀਰ ਯਹੁ ਮਨ ਪਟਕਿ ਪਛਾੜਿ ਲੈ ਸਬ ਆਪਾ ਮਿਟਿ ਜਾਇ।
ਪੰਗੁਲ ਹੈ ਪੀਵ ਪੀਵ ਕਰੈ ਪੀਛੈਂ ਕਾਲ ਨ ਖਾਇ।
ਕਬੀਰ ਮਨ ਤੀਖਾ ਕੀਯਾ ਬਿਰਹ ਲਾਇ ਖਰ ਸਾਂਣ।

ਚਿੱਤ ਚਰਣੂੰ ਮੈਂ ਚੁਭਿ ਰਹਯਾ ਤਹਾਂ ਨਹੀਂ ਕਾਲ ਕਾ ਪਾਂਣ।
ਕਬੀਰ ਤਰਵਰ ਤਾਸ ਬਿਲੰਬਿਯੇ ਬਾਰਹ ਮਾਸ ਫਲੰਤ।
ਸੀਤਲ ਛਾਯਾ ਗਹਰ ਫਲ ਪੰਖੀ ਕੇਲਿ ਕਰੰਤ।
ਕਬੀਰ ਦਾਤਾ ਤਰਵਰ ਦਯਾ ਫਲ ਉਪਕਾਰੀ ਜੀਵੰਤ।
ਪੰਖੀ ਚਲੇ ਦਿਸਾਵਰਾਂ ਬਿਰਖਾ ਸੁਫਲ ਫਲੰਤ।

ਉਪਕਾਰ ਦਾ, ਆਪਾ-ਮੇਟਣ ਦਾ, ਨਾਮ ਅਭਿਆਸ ਦਾ, ਮਨ ਮਾਰ ਕੇ ਸੁਰਜੀਤ ਕਰਨ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੀ ਸੁਜੀਵਨ ਹੈ।

ਕਾਮਯਾਬੀ ਦਾ ਜੀਵਨ, ਕਾਲ ਉਤੇ ਵਿਜਈ ਹੋਣਾ ਹੈ। ਨਿਹਾਇਤ ਸ਼ਾਨਦਾਰ ਜੀਵਨ ਫ਼ਲਸਫ਼ਾ ਹੈ, ਇਹ ਗੁਰੂ ਜੀ ਦਾ ਤੇ ਕਬੀਰ ਸਾਹਿਬ ਦਾ।

ਪਹਿਲੇ ਗੁਰੂ ਜੀ ਫ਼ਰਮਾਂਦੇ ਹਨ :—

ਕਾਇਆ ਨਗਰੀ ਇਹੁ ਮਨੁ ਰਾਜਾ ਪੰਚ ਵਸਹਿ ਵੀਚਾਰੀ।
ਸਬਦਿ ਰਵੈ ਆਸਣਿ ਘਰਿ ਰਾਜਾ ਅਦਲ ਕਰੇ ਗੁਣਕਾਰੀ।
ਕਾਲੁ ਬਿਕਾਲੁ ਕਹੇ ਕਹਿ ਬਪੁਰੇ ਜੀਵਤ ਮੂਆ ਮਨੁ ਮਾਰੀ।
ਬ੍ਰਹਮਾ ਬਿਸ਼ਨੁ ਮਹੇਸ਼ ਇਕ ਮੂਰਤਿ ਆਪੇ ਕਰਤਾ ਕਾਰੀ।
ਕਾਇਆ ਸੋਧਿ ਤਰੈ ਭਵਸਾਗਰੁ ਆਤਮ ਤਤੁ ਵੀਚਾਰੀ।
ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਮੇਟੇ ਚਉਥੈ ਵਰਤੈ ਏਹਾ ਭਗਤਿ ਨਿਰਾਰੀ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਜੋਗ ਸਬਦਿ ਆਤਮੁ ਚੀਨੈ ਹਿਰਦੈ ਏਕੁ ਮੁਰਾਰੀ।
ਮਨੂਆ ਅਸਥਿਰੁ ਸਬਦੇ ਰਾਤਾ ਏਹਾ ਕਰਣੀ ਸਾਰੀ।
ਸਬਦਿ ਮਰੈ ਮਨੁ ਮਾਰੈ ਅਉਧੂ ਜੋਗੁ ਜੁਗਤਿ ਵੀਚਾਰੀ।
ਸਬਦਿ ਸੂਰ ਜੁਗ ਚਾਰੇ ਅਉਧੂ ਬਾਣੀ ਭਗਤਿ ਵੀਚਾਰੀ।
ਏਹੁ ਮਨੁ ਮਾਇਆ ਮੋਹਿਆ ਅਉਧੂ ਨਿਕਸੈ ਸਬਦਿ ਵੀਚਾਰੀ।

ਉੱਤੇ ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਤੇ ਬ੍ਰਹਮਾ ਆਦਿ ਦਾ ਵਰਨਨ ਹੈ। ਤੀਜੀ ਪਾਤਸ਼ਾਹੀ ਏਸ ਨੂੰ ਤੇ ਚੌਥੇ ਪਦ ਨੂੰ ਹੋਰ ਖੋਹਲ ਕੇ ਲਿਖਦੇ ਹਨ।

ਏਹੁ ਸਰੀਰ ਸਰਵਰੁ ਹੈ ਸੰਤਹੁ ਇਸਸਾਨੁ ਕਰੇ ਲਿਵ ਲਾਈ।
ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਅਚੇਤ ਨਾਮੁ ਚੇਤਹਿ ਨਾਹੀ ਬਿਨੁ ਨਾਵੈ ਬਿਨਸਿ ਜਾਈ।
ਬ੍ਰਹਮਾ ਬਿਸਨੁ ਮਹੇਸੁ ਤ੍ਰੈ ਮੂਰਤਿ ਤ੍ਰਿਗੁਣਿ ਭਰਮਿ ਭੁਲਾਈ।
ਗੁਰ ਪ੍ਰਸਾਦੀ ਤ੍ਰਿਕੁਟੀ ਛੂਟੈ ਚਉਥੈ ਪਦਿ ਲਿਵ ਲਾਈ।

(੧੩)

ਕਾਦਰ ਦੀ ਸਿਫ਼ਤ ਸਲਾਹ ਵਿਚ ਉਸਦੀ ਕੁਦਰਤ ਦੀ ਸਿਫ਼ਤ ਸਲਾਹ ਵੀ ਸ਼ਾਮਿਲ ਹੈ। ਗੁਰਮੁਖਿ ਅੱਖਾਂ ਨਹੀਂ ਮੀਟਦਾ ਤੇ ਕੰਨਾਂ ਵਿਚ ਰੂੰ ਨਹੀਂ ਦੇਂਦਾ ਨਾ

ਹੀ ਉਹ ਦਿਸਦੇ ਦੀ ਸੁੰਦਰਤਾ ਤੇ ਉਪਯੋਗਤਾ, ਇਸਦਾ ਰਜੋ ਤੇ ਤਮੋ ਤੇ ਸਤੋ ਗੁਣਾਂ ਦਾ ਪੁੰਜ ਹੋਣਾ ਭੁੱਲਦਾ ਹੈ। ਗੁਰਮੁਖ Misogynist and ascetic ਦੁਨੀਆਂ ਨੂੰ ਆਪਣੀ ਜਾਤੀ ਨੂੰ ਦੁਰਕਾਰਨ ਵਾਲਾ ਤੇ ਹੱਦੋਂ ਵੱਧ ਤਪੀਸ਼ਰ ਨਹੀਂ ਹੁੰਦਾ। ਪੰਜਵੀਂ ਪਾਤਸ਼ਾਹੀ ਨੇ ਕੇਹੇ ਖੁਲ੍ਹੇ ਤਰੀਕੇ ਨਾਲ ਤੇ ਸ਼ਬਦਾਂ ਵਿਚ ਕੁਦਰਤ ਦੀ ਸੁੰਦਰਤਾ ਦੇ ਸੋਹਿਲੇ ਗਾਉਣ ਲਈ ਸਾਨੂੰ ਫ਼ਰਮਾਨ ਕੀਤਾ ਹੈ। ਜੀਵਨ ਵਿਚ ਕਈ ਲੋੜਾਂ ਨੂੰ ਕੇਵਲ ਕੁਦਰਤ ਦੇ ਹੁਸਨ ਦੀ ਤਾਰੀਫ਼ ਹੀ ਭਰ ਸਕਦੀ ਹੈ।

ਜਸੁ ਗਾਵਹੁ ਵਡਭਾਗੀਹੋ ਕਰਿ ਕਿਰਪਾ ਭਗਵੰਤ ਜੀਉ।
ਰੁਤੀ ਮਾਹ ਮੂਰਤ ਘੜੀ ਗੁਣ ਉਚਰਤ ਸੋਭਾਵੰਤ ਜੀਉ।

ਕੁਦਰਤ ਉਸਦੀ ਸੋਭਾ ਕਰ ਕਰ ਕੇ ਸੁੱਕੀ ਤੋਂ ਹਰੀ ਹੋ ਗਈ। ਅਸੀਂ ਕੁਦਰਤ ਦੀ ਤੇ ਓਸ ਦੀ ਹਰਿਆਵਲ ਦੀ ਵਾਹ ਵਾਹ ਕਰਾਂਗੇ ਤੇ ਅਸੀਂ ਆਪ ਵੀ ਸੁੱਕਿਓਂ ਹਰੇ ਹੋ ਜਾਂਵਾਂਗੇ।

ਸੂਕੇ ਤੇ ਹਰਿਆ ਥੀਆ ਨਾਨਕ ਜਪਿ ਭਗਵੰਤ।

ਕੁਦਰਤ ਨੂੰ ਸਲਾਹੁਣ ਲਈ ਗੁਰੂ ਮਹਾਰਾਜ ਕਈ ਥਾਈਂ ਪਰੇਰਦੇ ਹਨ। ਪਰ ਕੁਦਰਤ ਦੀ ਸੁਹਬਤ ਦਾ ਸਵਾਦ ਕਾਦਰ ਦੇ ਨਾਮ ਦੀ ਝੋਲੀ ਵਿਚ ਹੀ ਬਹਿ ਕੇ ਆਉਂਦਾ ਹੈ। ਬਿਛੋਹ ਮਾਰੀ ਨੂੰ ਸਾਵਣ ਮਾਂਹ ਵਿਚ ਵੀ ਕੋਈ ਅਨੰਦ ਨਹੀਂ।

ਰੁਤਿ ਬਰਸੁ ਸੁਹੇਲੀਆ ਸਾਵਣ ਭਾਦ ਦੇ ਅਨੰਦ ਜੀਉ।
ਘਣਉ੍ਰ ਨਦਿ ਵੁਠੇ ਜਲ ਥਲ ਪੂਰਿਆ ਮਕਰੰਦ ਜੀਉ।
ਬਿਨ ਕੰਤ ਪਿਆਰੇ ਨਹ ਸੂਖ ਸਾਰੇ ਹਾਰ ਕੰਙਨ ਧ੍ਰਿਗੁ ਬਨਾ।
ਸੁੰਦਰਿ ਸੁਜਾਣਿ ਚਤੁਰਿ ਬੇਤੀ ਸਾਸ ਬਿਨੁ ਜੈਸੇ ਤਨਾ।

ਗੁਰਮੁਖ ਨਾਂ ਕੇਵਲ ਕੁਦਰਤ ਵਲੋਂ ਮੁਖ ਨਹੀਂ ਮੋੜਦਾ। ਦੁਨੀਆਂ ਦੇ ਫ਼ਰਜਾਂ ਵਲ ਵੀ ਪਿਠ ਨਹੀਂ ਕਰਦਾ। ਸਗੋਂ ਜੀਵਨ ਨੂੰ ਹੋਰ ਸਚਾਈ ਪਕਿਆਈ ਤੇ ਬੀਰਤਾ ਨਾਲ ਜੀਉਂਦਾ ਹੈ। ਗੁਰਮੁਖ ਕਾਇਰ ਨਹੀਂ। ਹਾਂ ਉਹਦੀ ਬੀਰਤਾ ਅਮਿਟ ਬੀਰਤਾ ਹੈ ਜਿਸਦੀ ਬੁਨਿਆਦ ਜਾਣਨ, ਗਿਆਨ ਉੱਤੇ ਹੈ:–

ਨਾਨਕ ਭ੍ਰਮ ਭੈ ਮਿਟਿ ਗਏ ਰਮਣ ਰਾਮ ਭਰਪੂਰਿ।
ਹਰਿ ਧਨੁ ਪਾਇਆ ਸੋਹਾਗਣੀ ਡੋਲਤ ਨਾਹੀ ਚੀਤ।
ਜਿਨ ਜਾਨਿਆ ਸੇਈ ਤਰੇ ਸੇ ਸੂਰੇ ਸੇ ਬੀਰ।

ਗੁਰੂ ਮਹਾਰਾਜ ਜਗਤ ਲੀਲਾ ਦਾ ਜਿਉਂ ਜਿਉਂ ਭੇਦ ਤੇ ਵਰਨਨ ਬਦਲਦੇ ਹਨ ਤਿਉਂ ਤਿਉਂ ਜਗ ਕਰਤਾ ਦੇ ਨਾਂ ਵੀ ਬਦਲ ਕੇ ਯੋਗ ਤੇ ਮੁਨਾਸਿਬ ਕਰਦੇ ਜਾਂਦੇ ਹਨ। ਵੇਖੋ ਏਥੇ ਸ੍ਰੀ ਰੰਗ ਸੁਆਮੀ ਵਰਤਿਆ ਹੈ, ਕਿਉਂ ਜੋ ਜ਼ਿਕਰ ਜੋ

ਰੁਤਾਂ ਦਾ ਤੇ ਅਨੰਦ ਦਾ, ਸੁੰਦਰਤਾ ਦਾ ਹੋ ਰਹਿਆ ਹੈ।

ਤਜਿ ਆਪੁ ਸਰਣੀ ਪਰੇ ਚਰਣੀ ਸਰਬ ਗੁਣ ਜਗਦੀਸਰੈ।
ਗੋਬਿੰਦ ਗੁਣ ਨਿਧਿ ਸ੍ਰੀ ਰੰਗ ਸੁਆਮੀ ਆਦਿ ਕਉ ਆਦੇਸੁ ਜੀਉ।

ਜੀਵਨ ਦੇ ਪੂਰੇ ਭੇਤ ਸਮਝਣ ਲਈ ਬੰਦੇ ਨੂੰ ਗੁਰਮੁਖਿ ਹੋਣਾ ਗੁਰੂ ਵਲ ਮੁਖ ਕਰਨਾ ਚਾਹੀਦਾ ਹੈ। ਜੇ ਆਪ ਹੁਦਰਾ ਬਣੇਗਾ, ਮਨ ਵਲ ਮੂੰਹ ਕਰੇਗਾ ਤਾਂ ਮਨੁਮੁਖਿ ਅਖਾਏਗਾ। ਸਚਾ ਜੀਵਨ ਗੁਰਮੁਖਿ ਜੀਵਨ ਹੈ; ਪਹਿਲੀ ਪਾਤਸ਼ਾਹੀ ਗੁਰਮੁਖਿ ਤੇ ਮਨ ਮੁਖਿ ਜੀਵਨ ਦੇ ਫ਼ਰਕ ਨੂੰ ਜਿਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਦਸਦੇ ਹਨ ਓਸ ਤੋਂ ਜੀਵਨ ਦੀਆਂ ਸਾਰੀਆਂ ਨਿਕੀਆਂ ਤੇ ਬਾਰੀਕ ਘੁੰਡਿਆਂ ਖੁਲ੍ਹ ਜਾਂਦੀਆਂ ਹਨ, ਤੇ ਪਾਠਕ ਨਿੱਤ ਦੇ ਵਿਹਾਰ ਲਈ ਉੱਤਮ ਸਿਖਿਆ ਪਾ ਲੈਂਦਾ ਹੈ:–

ਮਨਮੁਖਿ	ਗੁਰਮੁਖਿ
ਮਨਮੁਖਿ ਭੂਲੈ ਜਮ ਕੀ ਕਾਣਿ।	ਗੁਰਮੁਖਿ ਸਾਚੇ ਕਾ ਭਉ ਪਾਵੈ।
ਪਰ ਘਰੁ ਜੋਹੈ ਹਾਣੇ ਹਾਣਿ।	ਗੁਰਮੁਖਿ ਨਿਰਮਲ ਹਰਿਗੁਣ ਗਾਵੈ।
ਮਨਮੁਖਿ ਭਰਮ ਭਵੈ ਬੇਬਾਣਿ।	ਗੁਰਮੁਖਿ ਪਰਚੈ ਬੇਦ ਬੀਚਾਰੀ।
ਵੇ ਮਾਰਗਿ ਮੂਸੈ ਮੰਤ੍ਰਿ ਮਸਾਣਿ।	ਗੁਰਮੁਖਿ ਨਿਬਹੈ ਸਪਰਵਾਰ।
ਸਬਦੁ ਨ ਚੀਨੈ ਲਵੈ ਕੁਬਾਣਿ।	ਗੁਰਮੁਖਿ ਧਰਤੀ ਸਾਚੈ ਸਾਜੀ।
	ਤਿਸ ਮਹਿ ਓਪਤਿ ਖਪਤਿ ਸੁਬਾਜੀ।

ਗੁਰਮੁਖਿ

ਗੁਰਮੁਖਿ ਅਸਟ ਸਿਧੀ ਸਭਿ ਬੁਧੀ। ਗੁਰਮੁਖਿ ਸਰ ਅਪਸਰ ਬਿਧਿ ਜਾਣੈ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਪਰਵਿਰਤ ਨਿਰਵਿਰਤ ਪਛਾਣੈ। ਨਾਮ ਰਤੇ ਸਿਧਿ ਗੋਸਟਿ ਹੋਇ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਸਾਚੀ ਕਾਰ ਕਮਾਇ। ਨਾਨਕ ਗੁਰਮੁਖਿ ਚੋਟ ਨ ਖਾਵੈ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਨਾਮ ਦਾਨ ਇਸਨਾਨੁ। ਗੁਰਮੁਖਿ ਕਰਣੀ ਕਾਰ ਕਮਾਏ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਵੈਰ ਵਿਰੋਧ ਗਵਾਵੈ। ਗੁਰਮੁਖਿ ਸਗਲ ਗਣਤ ਮਿਟਾਵੈ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਬਾਂਧਿਓ ਸੇਤੁ ਬਿਧਾਤੈ। ਲੰਕਾ ਲੂਟੀ ਦੈਤ ਸੰਤਾਪੈ।
ਰਾਮਚੰਦਿ ਮਾਰਿਓ ਅਹਿ ਰਾਵਣੁ। ਭੇਦੁ ਬਭੀਖਣ ਗੁਰਮੁਖਿ ਪਰਚਾਇਣੁ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਖੋਟੇ ਖਰੇ ਪਛਾਣੁ। ਗੁਰਮੁਖਿ ਹਉਮੈ ਸਬਦਿ ਜਲਾਏ।

ਨਾਨਕ ਗੁਰਮੁਖਿ ਸਗਲ ਭਵਣ ਕੀ ਸੋਝੀ ਹੋਇ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਬੋਲੈ ਤਤੁ ਵਿਰੋਲੈ ਚੀਨੈ ਅਲਖ ਅਪਾਰੋ।
ਤ੍ਰੈ ਗੁਣ ਮੇਟੈ ਸਬਦੁ ਵਸਾਏ ਤਾ ਮਨਿ ਚੂਕੈ ਅਹੰਕਾਰੋ।
ਅੰਤਰਿ ਬਾਹਰਿ ਏਕੋ ਜਾਣੈ ਤਾ ਹਰਿ ਨਾਮਿ ਲਗੈ ਪਿਆਰੋ।
ਸੁਖਮਨਾ ਇੜਾ ਪਿੰਗੁਲਾ ਬੂਝੈ ਜਾ ਆਪੇ ਅਲਖੁ ਲਖਾਏ।

ਗੁਰਮੁਖਿ ਹਉ ਮੈ ਵਿਚਹੁ ਖੋਵੈ ਤਉ ਨਾਨਕ ਸਹਜਿ ਸਮਾਵੈ ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਹੋਵੈ ਸੁਗਿਆਨੁ ਤਤੁ ਬੀਚਾਰੈ ਹਉਮੈ ਸਬਦਿ ਜਲਾਏ ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਸਾਚੁਸਬਦੁ ਬੀਚਾਰੈ ਕੋਇ ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਨਾਨਕ ਏਕੋ ਜਾਣੈ
ਗੁਰਮੁਖਿ ਮਨੁ ਜੀਤਾ ਹਉਮੈ ਮਾਰਿ ।
ਗੁਰਮੁਖਿ ਜਗੁ ਜੀਤਾ ਜਮ ਕਾਲੁ ਮਾਰਿ ਬਿਦਾਰਿ ।

ਕਲਜੁਗ ਖਾਣ ਜੀਣ ਦੀ ਬਹੁਤੀ ਆਸ ਹੈ ਤੇ ਓਸ ਰਸ ਲਈ ਬਲ ਬੁਧ ਦੀ ਚਤੁਰਾਈ ਵੱਧ ਰਹੀ ਹੈ । ਗੁਰੂ ਸਾਹਿਬ ਅਜਹਿਆਂ ਨੂੰ ਤੰਬੀਹ ਕਰਦੇ ਹਨ:—

ਝੂਠੀ ਜਗ ਹਿਤ ਕੀ ਚਤੁਰਾਈ । ਬਿਲਮ ਨ ਲਾਗੈ ਆਵੈ ਜਾਈ ।
ਨਾਮੁ ਵਿਸਾਰਿ ਚਲਹਿ ਅਭਿਮਾਨੀ । ਉਪਜੈ ਬਿਨਧਿ ਖਪਾਇਆ ।

ਵੇਖੋ, ਏਹ ਜੀਵਨ ਦੇ ਤਲਬਗਾਰ ਕਿਸ ਤਰ੍ਹਾਂ ਕੱਟ ਵੱਢ ਕੇ ਮਰ ਰਹੇ ਹਨ। ਕੀ ਉਪਜਣ ਬਿਨਸਣਾ ਹੀ ਓਹ ਆਦਰਸ਼ ਜੀਵਨ ਹੈ, ਜਿਸ ਲਈ ਪੱਛਮ ਵਾਲੇ ਤੜਪ ਰਹੇ ਸਨ ?

ਉਪਜਹਿ ਬਿਨਸਹਿ ਬੰਧਨੇ ਬੰਧੇ । ਹਉਮੈ ਮਾਇਆ ਕੇ ਗਲਿ ਫੰਧੇ ।

ਕੀ ਏਹ ਸਚਮੁਚ ਆਜ਼ਾਦ ਹਨ ਕਿ ਮਾਇਆ ਦੀਆਂ ਫਾਹੀਆਂ ਨਾਲੇ ਜਕੜੇ ਹੋਏ ਭਰਪੂਰ ਕੈਦੀ ?

ਗੁਰਮੁਖਿ ਹੋਕੇ ਗੁਰਮਤ ਨਾਲ ਸਹਿਜੇ ਹੀ ਉਹ ਸਭ ਕੰਮ ਹੋ ਜਾਣਗੇ ਜਿਹਨਾਂ ਦ ਕਰਨ ਲਈ ਤਹਿਜ਼ੀਬ ਏਨੀ ਕੀਮਤ ਅਦਾ ਕਰਕੇ ਵੀ ਨਿਸ਼ਫਲ ਨਾਮੁਰਾਦ ਡੁੱਬੀ ਜਾ ਰਹੀ ਹੈ ?

ਰਾਮਚੰਦਰ ਜੀ ਨੇ ਸੇਤਬੰਧ ਬੰਧਿਆ ਗੁਰਮੁਖ ਹੋਕੇ:—ਕ੍ਰਿਸ਼ਨਜੀ ਨੇ ਗੋਵਰਧਨ ਧਾਰਿਆ ਗੁਰਮਤ ਨਾਲਿ । ਓਹਨਾ ਨਾਲੋਂ ਵੱਧ ਵਿਜਈ ਤੇ ਮੁਹੱਜਿਬ ਕੌਣ ਹੈ ?

ਗੁਰਮਤਿ ਕ੍ਰਿਸ਼ਨਿ ਗੋਵਰਧਨ ਧਾਰੇ । ਗੁਰਮਤਿ ਸਾਇਰਿ ਪਾਹਣ ਤਾਰੇ ।
ਗੁਰਮਤਿ ਲੇਹੁ ਤਰਹੁ ਸਚੁ ਤਾਰੀ । ਆਤਮ ਚੀਨਹੁ ਰਿਦੈ ਮੁਰਾਰੀ ।
ਜਮ ਕੇ ਫਾਹੇ ਕਾਟਹਿ ਹਰਿ ਜਪਿ ਅਕੁਲ ਨਿਰੰਜਨੁ ਪਾਇਆ ।

ਗੁਰਮੁਖ ਜੀਵਨ ਰਜ਼ਾ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੈ, ਆਪਾ ਚੀਨ੍ਹਣ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੈ, ਤੇ ਸਾਰੇ ਨਾਲ ਇਕਮਿਕਤਾ ਦਾ ਜੀਵਨ ਹੈ। ਇਹ ਸਾਰੀ ਬਹਿਸ ਦਾ ਖੁਲਾਸਾ ਹੈ:

ਜੋ ਬ੍ਰਹਮੰਡਿ ਖੰਡਿ ਸੋ ਜਾਣਹੁ । ਗੁਰਮੁਖਿ ਬੂਝਹੁ ਸਬਦਿ ਪਛਾਣਹੁ ।
ਕਾਮੁ ਕ੍ਰੋਧੁ ਪਰਹਰੁ ਪਰਨਿੰਦਾ । ਲਬੁ ਲੋਭੁ ਤਜਿ ਹੋਹੁ ਨਿਚਿੰਦਾ । ।
ਭ੍ਰਮ ਕਾ ਸੰਗਲੁ ਤੋੜਿ ਨਿਰਾਲਾ, ਹਰਿ ਅੰਤਰਿ ਹਰਿ ਰਸੁ ਪਾਇਆ ।
ਅੰਮ੍ਰਿਤੁ ਰਸੁ ਪਾਏ ਤ੍ਰਿਸਨਾ ਭਉ ਜਾਏ । ਅਨਭਉ ਪਦੁ ਪਾਵੈ ਆਪੁ ਗਵਾਏ ।